प्रस्तावना

दत्तोपंत ठेंगडी

शन

प्रस्तावना

प्रस्तावना

दत्तोपंत ठेंगडी

सम्पादक :

भानुप्रताप शुक्ल

डा० गौरीनाथ रस्तोगी

संकलन :

रामदास पांडे

प्रकाशक :

जानकी प्रकाशन

नई दिल्ली

प्रकाशक :
रामदास पांडे
जानकी प्रकाशन
१२९-साउथ एवेन्यू
नई दिल्ली-११००११

सर्वाधिकार : प्रकाशकाधीन

वितरक :
भारतीय मजदूर संघ
"रामनरेश भवन"
तिलक गली, चूना मण्डी
पहाड़ गंज, नई दिल्ली-११००५५

प्रथम संस्करण
महाशिवरात्रि फागुन १३, विक्रम संवत् २०५०
गुरुवार, १० मार्च, १९९४

मूल्य : १२५/- रुपये

मुद्रक :
सियाराम प्रिंटर्स
१५६२, मेन बाजार, पहाड़ गंज
नई दिल्ली-११००५५
दूरभाष : ७७७३५०४

प्रस्तुती

१.	कृतज्ञता	७
२.	समर्पण	९
३.	प्रस्तावना	१५
४.	पुण्याहवाचन (हाइकु)	२७
५.	एषः पंथा (लघुकथा वृत्त)	११७
६.	अथतो तत्वजिज्ञासा (पं. दीनदयाल विचार दर्शन)	१३९
७.	प्राक्कथन (इण्डियाज ग्लोब्ड पावरटी)	२६५
८.	अबोधगम्य (हिन्दुकला हस्ति)	३२१
९.	देहली-दीपक (आपात कालीन संघर्ष गाथा)	३७३

कृतज्ञता

श्री समर्थ रामदास ने कहा है—

सामर्थ्य आहे चळवळीचे।
जो जो करील तयाचे॥
परन्तु तेथे भगवंताचे।
अधिष्ठान पाहिजे॥

भावार्थ :—

आन्दोलन में सामर्थ्य है।
जो- जो आन्दोलन करेगा उसको सामर्थ्य प्राप्त होगा। किन्तु आन्दोलन में भगवान का अधिष्ठान चाहिये।

जानकी प्रकाशन ने वैचारिक साहित्य के क्षेत्र में प्रबुद्ध पाठकों एवं प्रकाशकों के बीच विश्वसनीयता का सम्बन्ध प्रस्थापित किया है। इसकी अपनी एक अलग पहचान है। अभी तक वैचारिक स्तर पर इस प्रकाशन ने परमपूजनीय डा० हेडगेवार, पूज्य श्री गुरुजी, पं० दीनदयाल उपाध्याय, डा० एम. जी. बोकरे, श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी आदि के विचारों को प्रकाशित करके उचित मूल्य पर प्रबुद्ध पाठकों को उपलब्ध कराया है। कई प्रकाशनों के लोकार्पण समारोह में पूज्य श्री बालासाहब देवरस ने शुभाशीर्वाद प्रदान किये है। "हिन्दू इकॉनॉमिक्स" के लेखक डा० एम.जी.बोकरे को "अनंत शेवडे स्मृति" पुरस्कार प्रदान कर भारत के राष्ट्रपति डा० शंकरदयाल जी शर्मा ने प्रकाशन को गौरवान्वित किया है। यह पुस्तक विविध विषयों पर विविध विद्वान लेखकों द्वारा लिखी गई पुस्तकों की मान्यवर दत्तोपंत जी ठेंगड़ी द्वारा लिखी गई प्रस्तावनाओं का संकलन है। " जानकी प्रकाशन" का यह एक अभिनव प्रयास है। प्रस्तावना 'मूल पुस्तक के विचारों का बिम्ब' होता है। यह संकलन सागर में गागर भरने जैसा

प्रयास मात्र है। जानकी प्रकाशन की मूल कल्पना को मूर्तरूप प्रदान करने में अनेक व्यक्तियों का अमूल्य सहयोग तथा मार्गदर्शन प्राप्त होता रहा है। श्री भानुप्रताप शुक्ल जी ने संपादन करके इस कार्य को सुगम एवं सरल बनाया तो हमारे सहयोगी के रूप में डा० गौरीनाथ जी रस्तोगी का महत्वपूर्ण योगदान मिलता रहता है। मान्यवर श्री दत्तोपंत जी ठेंगड़ी ने प्रवास में व्यस्त रहते हुए भी अल्पकाल में इस प्रस्तावना पुस्तक की 'प्रस्तावना' लिखने का कष्ट करके असीम कृपा की है।

सियाराम प्रिंटर्स के श्री योगेन्द्र जी, श्री संजय जी ने पूर्व की भांति इस बार भी इसे अपना कार्य मानकर यथासमय पूर्ण किया।

सम्पादक और प्रकाशक का यह सुचिंतित प्रयास रहा है कि संकलित सामग्री यथासंभव लेखक की भाषा-शैली में यथावत प्रस्तुत की जाये, तथापि यदा-कदा जहां आवश्यक लगा, संशोधन करने का प्रयास भी किया है। अंत में मैं पाठकों से यह निवेदन करूंगा कि यदि प्रस्तुत संकलित सामग्री में कुछ अशुद्धियां रह गई हों तो हमें न केवल क्षमा करेंगे, अपितु जिस भावना से यह संकलन प्रस्तुत किया गया है उसी कसौटी पर इसे परखेंगे और यदि ऐसा किया गया तो मैं समझूंगा कि हमारा परिश्रम अकारथ नहीं गया। इसी हार्दिक कृतज्ञता के साथ जानकी प्रकाशन इस संकलन को लोकार्पित कर रहा है।" **त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पयेत।**

मकर संक्रान्ति
तृतीया माघ, २०५०
१४ जनवरी, १९९४

रामदास पांडे

समर्पण

साधकों के लिए गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर एक मंत्र दे गए हैं— "जब तक कार्य सम्पन्न न हो जाय तब तक उसके विषय में प्रचार मत करो, और यदि कार्य सिद्ध हो गया तो उसके प्रचार की कोई आवश्यकता ही नहीं होगी। कर्म की वाणी जिह्वा से अधिक सशक्त, प्रभावी और परिणामकारी होती है।"

ऐसा लगता है कि श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी ने गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर प्रणीत यह मंत्र सिद्ध कर लिया है। जितनी बार और जब-जब उनके सामने उनके समग्र लेखन, विशेषकर विभिन्न पुस्तकों, पत्रिकाओं, स्मारिकाओं आदि में प्रकाशित उनके द्वारा लिखी प्रस्तावनाओं का संकलन प्रकाशित करने का प्रस्ताव किया, वातावरण एक अजीब सी उदासीनता से भर गया और बात कुछ इस प्रकार टल या टाल दीगई कि जैसे किसी ने कुछ कहा-सुना ही न हो।

कभी-कभी यह भी सुनने को मिला कि 'मेरे लेखन में प्रकाशित करने जैसा है ही क्या ? कुछ मौलिक नहीं है उसमें। अपने विज्ञजनो, ऋषियों-संतों, पूज्य श्री गुरु जी और पंडित दीनदयाल जी आदि से जो सुना, उनका लिखा जो कुछ पढ़ा, उसी को शब्द रूप देने का प्रयत्न करता रहता हूं। यदि उसमें कुछ मेरा अपना होता तो मुझे बार-बार अपने कथन की पुष्टि के लिए अनेक विज्ञजनों के उद्धरणों की साक्षी न देनी पड़ती। और फिर अपने यहां तो अपौरुषेय परम्परा है। अनाम रहकर कार्य करना और अज्ञात ही इस संसार एवं शरीर की यात्रा पूर्ण करके चले जाना ही अपने यहां श्रेयस्कर माना गया है। अतएव इस प्रकार के कार्यों में समय नष्ट करने की आवश्यकता नहीं है, और न ही यह आवश्यक है कि यदि कुछ लिखो, करो तो उसके आरम्भ या अंत में अपना नाम लिख दिया जाय या किसी पत्थर पर खोद दिया जाय कि यह अमुक-अमुक की रचना अथवा कृति है।'

यह प्रसंग जब-जब छिड़ा, अस्वीकार का पक्ष प्रत्येक बार पहले से अधिक प्रभावी बनकर उभरा। कई बार यह भी अनुभव में आया कि भारतीय मजदूर संघ, भारतीय किसान संघ, सामाजिक समरसता मंच और स्वदेशी जागरण मंच आदि की बैठकों-अधिवेशनों में समाचार पत्रों के प्रतिनिधि आते हैं तो वह उनसे मित्रवत् बात तो करते हैं, उनके साथ चाय-पान, भोजन, उनके रहन-सहन की देखरेख भी करते हैं; किंतु समाचार पत्र के लिए कुछ बोलने-कहने का प्रसंग आता है तो टाल जाते हैं "अरे भाई, अभी हमने किया ही क्या है। जब कुछ कर लेंगे तो आपको अपने आप पता चल जाएगा। और फिर हमारे कार्य-विस्तार का माध्यम समाचार पत्र अथवा प्रचार तंत्र नहीं है। इसका व्याप और प्रभाव इस बात पर निर्भर है कि कारखाने के अंदर हमारे कितने लोग हैं और कारखाने के द्वार पर हमें सुनने या हमसे मिलने वे कितनी संख्या में आते हैं। ग्रामों और खेत की मेड़ से हमारा कितना निकट का नाता है। यह क्षेत्र समाचार पत्रों के माध्यम से संचालित और निर्देशित नहीं होता। यदि समाचार पत्रों में एक भी पंक्ति न छपे तो भी और प्रतिदिन बड़े-बड़े समाचार छपें तो भी यहां उसका कोई प्रभाव और परिणाम नहीं होता। हां, इससे दूसरे लोग अवश्य प्रभावित होते हैं, किंतु उनके प्रभावित होने का परिणाम इस क्षेत्र पर न के बराबर होता है। हमारे लिए समाचार बनने और प्रचार करने का महत्त्व है ही नहीं। आप लोग आए हैं; अच्छा किया, आपसे मिलकर आनंद आया, अच्छा लगा।"

और बिना किसी समाचार या 'साक्षात्कार' के हर बार पत्रकारों को वापस आना पड़ता है। सार्वजनिक रूप से चर्चित प्रस्तावों-भाषणों के अतिरिक्त उनको और कुछ नहीं मिलता और आज भी उनसे कोई समाचर मिलने की संभावना दिखाई नहीं देती।

अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करूं तो ठीक वही स्थिति बनती है जो न्यूटन और वैज्ञानिक हैले के बीच बनी थी। इस संकलन का प्रसंग भी विज्ञान के क्षेत्र में 'प्रिंसिपिया' (Principia) नामक ग्रंथ के प्रकाशन के प्रसंग और इतिहास के समान ही है। यह सर्वविदित है कि यदि वैज्ञानिक हैले न्यूटन की उदासीनता और उपेक्षा का संत्राश सहन करके भी उनके पीछे न पड़ा रहता तो विज्ञान को 'प्रिंसिपिया' ग्रंथ प्राप्त न होता। आइजक न्यूटन आत्मविलोपी, अन्तर्मुखी, अपने विचारों में डूबे रहने वाले, प्रचार और प्रसिद्धि से सर्वथा दूर एक खोजी पुरुष थे। वाह्याडम्बर और वाह्यजगत की प्रसिद्धि से वे पूर्ण विरक्त थे। चाहें तो उन्हें उनके समय का विरक्त शिरोमणि भी कह सकते हैं। उनकी वैज्ञानिक साधना और सिद्धि से केवल एक व्यक्ति अवगत था और वह था वैज्ञानिक हैले। उसे पता था कि न्यूटन ने बहुत ही कठिन श्रम और साधना करके एक नवीन शोध किया है और उस शोध प्रबंध की पांडुलिपि कई वर्षों से न्यूटन की मेज के खाने में उपेक्षित और विस्मृत सी ठुंसी पड़ी है। न्यूटन न कभी उसकी झाड़-पोंछ करते हैं और न किसी से उसकी चर्चा करके उसके प्रकाशन की इच्छा ही व्यक्त करते हैं। एक प्रकार से वह उसे भूल चुके हैं। उन्हें उस शोध प्रबंध के विषय में कुछ भी स्मरण नहीं रहा है। वैज्ञानिक हैले न्यूटन को बार-बार उस पांडुलिपि का स्मरण कराता। उनसे निवेदन करता— "कभी तो उसे बाहर निकाला करिए। उसे झाड़-पोंछ कर देख दिया कीजिए। उसको सम्पादित-संशोधित करके किसी प्रकाशक को सौंप दीजिए। वह विज्ञान जगत की एक अनुपम उपलब्धि तो

सिद्ध होगी ही और आपको प्रसिद्धि भी प्राप्त होगी।"

वैज्ञानिक हैले की इस बात पर न्यूटन उससे पूछते— "प्रसिद्धि ! यह क्या और कौन सी बला है ? क्या यह कोई अच्छी वस्तु है ? मान लीजिए कल आप दुनिया में प्रसिद्ध हो गए, तो यही होगा न कि आपको जानने और आपकी वाहवाही करने वालों की संख्या बढ़ जाएगी। किन्तु क्या इससे वह कार्य आसानी से किया जा सकेगा, जिसे एकान्तिक भाव, एकाग्र मन और स्थिर बुद्धि से किया जाना है ? नहीं, प्रसिद्धि इस कार्य में बाधक बनेगी। मेरी यह बात अनुभव सिद्ध है कि यदि कार्य करना है तो प्रसिद्धि से बचो ही नहीं, उससे सर्वदा और सर्वथा दूर भी रहो।"

न्यूटन के यह कहने के बाद भी हैले ने हार नहीं मानी। उसने कहा— "प्रसिद्धि नहीं, मैं तो उस पांडुलिपि के विषय में कह रहा हूं। ज्ञान और विज्ञान को अपनी उदासीनता का बंदी बनाकर आप किसका हित साधन करना चाहते हैं ? भावी पीढ़ियों का मार्ग आप क्यों अवरुद्ध करना चाह रहे हैं ?"

हैले द्वारा बार-बार आग्रह करते रहने के कारण न्यूटन ऊब गए और अपनी एकान्ति साधना में किये जा रहे इस निरंतर व्यवधान के कारण एक दिन उत्तेजित होकर उठे, मेज का ड्रावर खोला, धूल में लिपटी पांडुलिपि निकाली और हैले के सामने उसे पटकते हुए बोले— "यह रही वह पांडुलिपि। मेरा पीछा छोड़ो। इसे तुरंत यहां से ले जाओ। इसका क्या होगा ? यह कहां छपेगी ? इसे कौन छापेगा ? यह सब तुम जानो। इस विषय की कोई चर्चा अब मुझसे मत करना। तुम्हें ही यह बखेड़ा झेलना पड़ेगा। यह झंझट मेरे बस का नहीं है। लेखक की जगह मेरा नाम देने की आवश्यकता नहीं। इसका ग्रंथरूप प्रकाशन तुम अपने ही नाम से करना।" उत्तेजित न्यूटन अपनी बात पूरी करते-करते एकदम ऐसे सहज हो गये थे कि जैसे 'जान बची लाखो पाये।'

न्यूटन जितना सहज हो गए थे, हैले उतना ही चकित और अवाक्। वह सोचने लगा "कैसा है विज्ञान विश्व का यह महानतम व्यक्ति। अपने ही ग्रंथ का लेखक बनने में उसे कोई रुचि नहीं है। 'नाम' को वह कोई महत्त्व ही नहीं देता; जबकि दुनिया 'नाम' के पीछे दौड़ती और मरती ही नहीं, किसी और के किए को भी अपना 'नाम' देकर 'नाम' कमाना चाहती है ?"

यह है प्रसिद्धि पराङ्मुखता का चरम बिन्दु। प्रसिद्धि विमुखता, कर्मप्रवणता और ध्येयनिष्ठा का अप्रतिम उदाहरण। न्यूटन ने कभी इस बात की चिन्ता नहीं की कि उसका कथ्य सुनने वालों को रुचता भी है कि नहीं। वे उसकी निन्दा करते हैं कि स्तुति। प्राध्यापक के नाते भी वह अपनी कक्षा में छात्रों को सदैव खोज विषयक कुछ ऐसी नवीन बातें बताया करते थे कि वे उन्हें बहुत ही अरुचिकर लगती थीं; उनकी बातें छात्रों को रास नहीं आती थीं। अनेक बार ऐसा भी होता था कि छात्र उनकी कक्षा में न आकर वह समय इधर-उधर घूम कर बिता दिया करते थे, तो भी एक स्थितप्रज्ञ योगी की तरह छात्रों के इस आचरण से न्यूटन सदा अप्रभावित ही नहीं रहते थे; बल्कि व्याख्यान कक्ष में जाकर जब यह देखते कि वहां एक भी छात्र नहीं है तो बिना क्षुब्ध हुए या बिना किसी से कोई शिकायत किये चुपचाप लौट आया करते थे। यह एक ज्वलन्त प्रमाण है इस बात का कि किसी व्यक्ति की पहचान या उसका

मूल्यांकन उसके साधना काल अथवा उसके जीवित रहते कर पाना समकालीन लोगों के लिए असंभव की सीमा तक कठिन होता है।

मैं वैज्ञानिक हैले तो नहीं हूं, किन्तु श्री ठेंगड़ी जी के संदर्भ में यह न्यूटन-प्रसंग शब्दशः सत्य है। उनकी मान्यता है कि 'मनुष्य जो कुछ करता है, वह सब उस अदृश्य नियन्ता का निर्देश होता है— पूर्णतः विधि विहित कर्म। भारत के ऋषियों और प्रज्ञा पुरुषों ने यह कभी नहीं कहा कि "यह मेरी मौलिक रचना है और इसे पहली बार मैं ही कह रहा हूं।" प्रत्येक ऋषि, द्रष्टा और प्रज्ञापुरुष ने अपनी प्रत्येक बात को अपने पूर्व ऋषि से जोड़कर कहा है कि "जो बात अमुक-अमुक ऋषि ने, अमुक-अमुक समय पर, अमुक-अमुक व्यक्ति को बतायी थी, वही बात आज मैं तुम्हें बता रहा हूं।" इसी ऋषि प्रवृत्ति, चिन्तन और चरित्र के कारण वेद अपौरुषेय कहे गए कि उनकी रचना किसी व्यक्ति ने नहीं की। वे सबकी सांझी अनुभूति की निधि हैं। किसी एक परम्परा से जुड़े किसी आचार्य की हस्ताक्षरित पुस्तक न होने के कारण भी वे सर्वमान्य और निर्विवाद हैं। हमारे ऋषियों का दृष्टापन, उनकी अनुभूतियां, उनका ज्ञान-प्रकाश और उनके द्वारा बनाए एवं बताए गए प्रतीक ही ज्ञान के वाहक बने। उन्होंने जिस सत्य का साक्षात्कार किया, वही कालान्तर से वेद की ऋचाएं बना, वहीं हिरण्यमय रूप सर्वशक्तिमान श्री परमेश्वर का दर्शन करने की आत्मविश्वासपूर्ण घोषणा बनकर गूंजा। उनका, सृष्टि के 'सर्वशक्तिमान' से कभी साकार तो कभी निराकार रूप में जीवन्त सम्पर्क सदा बना रहा था और वे उसके साथ प्रत्यक्ष वार्तालाप करते रहे थे।

श्री ठेंगड़ी जी नहीं चाहते थे, तो भी उनकी इच्छा के विरुद्ध और यह जानते हुए भी कि इसके कारण वह क्षुब्ध होंगे, दुःखी भी होंगे, उन्हें अटपटा भी लगेगा, हमने यह कार्य केवल इस सदेच्छा से किया है कि उनके द्वारा लिखा गया जो कुछ इधर-उधर बिखरा पड़ा है और जो कल देश के उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करने का आधार बन सकता है, उसे एक स्थान पर बटोर दिया जाय तो सम्भव है वह भारतीय जीवन-दर्शन की एक नवीन प्रिंसिपिया (Princpia) बन जाय। और कल जब 'हम भारत के लोग' अपने भारत की मृत्युंजयी यात्रा का अर्थ, उद्देश्य और मर्म जानना चाहें तो वह उन्हें संकेत रूप में ही सही, उपलब्ध हो सके।

श्री ठेंगड़ी कार्यकर्ता भी हैं और मार्गदर्शक भी। वह नेतृत्व करते हैं किन्तु आधुनिक अर्थ में नेता नहीं हैं। भविष्य को भांपने और देख लेने की उनमें अद्भुत अर्न्तदृष्टि है। अध्ययन और अनुभव के आधार पर वे अनागत को पूरी तरह पढ़ लेते हैं। हमें इसका अनुभव हुआ १९८९ में नागपुर में सम्पन्न एक कार्यक्रम में। न वह कार्यक्रम सामान्य था और न अवसर। श्रोता-वक्ता सभी एक विशिष्ट ध्येय के साधक थे। प्रसंग था राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक पूज्य डा. हेडगेवारजी की जन्मशताब्दी के शुभारम्भ का। उस समय पांच हजार से अधिक हिन्दुराष्ट्रार्पित प्रचारकों की उपस्थिति में उन्होंने यह घोषणा की थी कि "हिन्दू राष्ट्र की इस छोटी से प्रतिकृति के समक्ष राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय घटनाओं, और परिदृश्य के आधार तथा वास्तविकता की ठोस धरती पर खड़े होकर मैं यह कह रहा

हूं कि अगली शताब्दी अर्थात् एक जनवरी २००१ का सूर्योदय होगा तो सूर्यनारायण को यह देखकर प्रसन्नता होगी कि बीसवीं शताब्दी की समाप्ति के पूर्व ही हिन्दुस्थान के आर्थिक क्षेत्र में गुलाबी लाल रंग से लेकर (From pink red to dark red) गहरे लाल रंग तक के सभी झण्डे हिन्दू राष्ट्र के सनातन भगवाध्वज में आत्मसात और विलीन हो चुके हैं।" यही बात उन्होंने मार्च १९६३ में कानपुर में भी कही थी। और यह अब सत्य सिद्ध होने को है। मास्को से लाल झण्डा गायब हो चुका है। पूर्वी यूरोप ने कम्युनिज़्म से पिण्ड छुड़ा लिया है। हिन्दुस्थान में कम्युनिज़्म पूंजीवादी व्यवस्था का बोझ ढो रहा है और किसी भी समय यहां से भी उसका बोरिया- बिस्तर सिमट सकता है।

श्री ठेंगड़ी हिन्दू राष्ट्र के अनन्य साधक, चिन्तक, परिव्रांजक और श्रमशील व्यक्ति हैं। उन्हीं के शब्दों में उनको और उनके ध्येय चिन्तन को देखना हो तो वह इस प्रकार है— "हिन्दू राष्ट्र के लिए यह समाधान का विषय है कि इस रणक्षेत्र में सक्रिय सभी लोग— सिपाही हों या सेनापति स्वयं को साधक-पथिक- की भूमिका में ही रख रहे हैं और अविचल मन से विशुद्ध साधना के मार्ग पर आगे बढ़ रहे हैं। परमपूजनीय श्री गुरु जी के दिए हुए मार्गदर्शन के प्रकाश में वे यह साधना एवं संघर्ष चला रहे हैं। ध्येयवाद की पारसमणि का स्पर्श हृदयों को होने के कारण लोहे का परिवर्तन सोने में हो गया है। मनुष्य स्वभाव सुलभ दुर्बलताओं का स्पर्श इन हृदयों को नहीं हो रहा है। साधकों की इस विशाल एवं सर्वव्यापी सेना को देखकर तीन सौ पचास वर्ष पूर्व का दृश्य मनः चक्षुओं के सामने उभर आता है। **समर्थ गुरु रामदास कहते हैं "त्रिखण्डी चालल्या फौजा—हरिभक्तांच्या'** अर्थात् 'हरिभक्तों की सेना त्रिखण्ड में संचार कर रही है।' 'इस सेना का सम्बल साधन नहीं, साधना है। साधना सघनता जितनी बढ़ती जाएगी, विजय श्री उतना ही निकट आती-जाएगी।"

साधना की सघनता उत्पन्न करने और विजय श्री को निकट लाने के उद्देश्य से प्रकाशित यह संकलन यदि श्री ठेंगड़ी जी की प्रसिद्धि विमुखता में व्यवधान डालने का अपराध है तो इसका एकमेव अपराधी मैं ही हूं। सनातन हिन्दू राष्ट्र के साधकों के सबल हाथों में यह संकलन समर्पित करते हुए मेरा यह निवेदन है कि यदि यह सचमुच अपराध है तो इस अपराध के लिए मैं क्षमा प्रार्थी नहीं हूं। आप इसके लिए मुझे दण्ड देंगे तो मैं गौरवान्वित होऊंगा। अपराध मेरा, दण्ड आपका।

श्री ठेंगड़ी जी से भी मैं क्षमायाचना नहीं करता, यदि न्यूटन की तरह उत्तेजित होकर उन्होंने यह नहीं कहा होता कि "मैं कुछ नहीं जानता— जो चाहो वह करो" और बाद में हमारी प्रार्थना से द्रवित होकर इस संकलन की प्रस्तावना न लिखते तो ध्येय-पथ को आलोकित करने वाली यह 'चिन्तन-ज्योति' एक साथ और एक स्थान पर पूंजीभूत न हो पाती। स्तुति-निन्दाविरहित गुरुजनों के श्रीचरणों में प्रणाम सहित।

रक्षा बंधन
श्रावणी पूर्णिमा
युगाब्द ५०९५, विक्रमी २०५०
(२ अगस्त, १९९३)

भानुप्रताप शुक्ल

प्रस्तावना

नॉटरडॅम का कुबड़ा समझ नहीं पाता कि लोग उसका उपहास क्यों करते हैं। वह सोचता है कि "आखिर मेरे अन्दर कमी क्या है ? दिखने में जैसे बाकी लोग हैं वैसा ही मैं भी हूं। नाक, कान, आंखें, चेहरा, सब कुछ अन्य लोगों के समान ही तो है। हां, थोड़ा कूबड़ है, तो उतने मात्र से क्या फर्क पड़ता है। नासमझी के कारण लोग मेरा उपहास कर रहे हैं।"

किन्तु आगे के घटनाक्रम में एक प्रसंग ऐसा आता है कि उसको एक अतिसुन्दर युवती को नजदीक से देखने का अवसर प्राप्त होता है और उसी क्षण उसको साक्षात्कार होता है कि वास्तव में वह कितना कुरूप है। जब तक वास्तविक सौंदर्य का दर्शन नहीं होता तब तक खुद की कुरूपता का साक्षात्कार भी नहीं होता।

इस कृति के संपादक महोदय ने जब मुझे कहा कि इसकी प्रस्तावना मैं लिखूं, तो मुझे आश्चर्य हुआ। सोचने लगा कि यह दायित्व मुझे क्यों दिया होगा ? किन्तु जैसे-जैसे मैं प्रस्तावना-लेखन की तैयारी करने लगा वैसे-वैसे मेरे ध्यान में आने लगा कि संपादक महोदय का मन्तव्य क्या है ? उनका एकमात्र उद्देश्य रहा होगा इस कार्य के निमित्त मुझे साहित्य तथा साहित्यिकों के वास्तविक सौंदर्य का दर्शन कराना और उसके फलस्वरूप मेरे ध्यान में लाना मेरी अपनी कुरूपता, मेरा अपना बौनापन, नाटापन और अनायास ही खुद के विषय में मेरा भ्रम निवारण और गर्वहरण हरण करना।

यदि ऐसा हो तो कहना पड़ेगा कि उनका उद्देश्य पूर्ण हो गया।

विभिन्न भाषाओं में विभिन्न लेखन प्रकारों में कई उत्कृष्ट प्रस्तावनाएं लिखी गई हैं। किन्तु साहित्य

के एक प्रकार 'प्रस्तावना' के विषय में जितना विचार होना चाहिए, उतना अब तक नहीं हुआ।

साहित्य के सभी प्रकारों में 'प्रस्तावना' का महत्त्व है। ललित कृतियों में भी प्रस्तावना का स्थान महत्त्वपूर्ण माना गया है। किन्तु प्रस्तावना की गिनती ललित साहित्य में नहीं की जाती। यह 'निबन्ध' के समान है। क्योंकि उसमें विचार को अग्रक्रम दिया जाता है। वह वस्तुनिष्ठ (Objective) रहे, यह अपेक्षा रहती है। इस साहित्य- प्रकार में सर्वसमावेशकत्व तथा विविधता पाई जाती है। प्रस्तावना केवल ग्रंथ के वर्ण्य विषय पर ही नहीं, लेखक की मानसिकता पर भी प्रकाश डालती है।

सर्वप्रथम मन में यह प्रश्न निर्माण होता है कि 'प्रस्तावना' साहित्य प्रकार का प्रयोजन क्या है ?

यह सरलतापूर्वक ध्यान में आ सकता है कि ग्रंथ में प्रतिपादित विषय के संबंध में संभाव्य सभी गलत धारणाएं पूर्णरूपेण दूर करना, प्रतिपादित विषयों के संबंध में पाठकों के मन में रुचि, जिज्ञासा तथा उत्सुकता निर्माण करना और पाठकों को उसकी सर्वधारण दिशा का सामान्य परिचय करा देना यह कार्य अच्छी प्रस्तावना के द्वारा सम्पन्न होता होगा। ग्रंथ के मूल प्रतिपादन को अधिक समृद्ध करना तथा उसकी अपूर्णताओं को पूर्णता प्रदान करना और वह भी लेखक की अवमानना न करते हुए— यह कार्य भी समर्थ प्रस्तावना-लेखक करता होगा।

प्रस्तावना लिखने के पीछे विभिन्न उद्देश्य हो सकते हैं। प्रत्यक्ष पुस्तक के या उसके प्रारंभ के पूर्व ही प्रस्तावना इस उद्देश्य से हो सकती है कि ग्रंथलेखन की प्रेरणा तथा हेतु पाठकों के सम्मुख रखा जाए। ग्रंथ का वर्ण्यविषय, उसकी बारीकियां, उसका एक तरह से सारांश (Resume), उसकी मर्यादाएं, उससे उचित अपेक्षाएं, ग्रंथलेखन को प्रेरणा देने वाली परिस्थिति या प्रसंग, वर्ण्यविषय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा उसका वर्तमान स्थिति में प्रासंगकिता (Relevance) आदि बातों का समावेश प्रस्तावना में हो सकता है।

ग्रंथकर्ता के अलावा अन्य किसी ने प्रस्तावना लिखी तो उसमें भी ये सारी बातें समाविष्ट हो सकती हैं, किन्तु उसमें पाठकों को अधिकृतता की मात्रा कम प्रतीत होगी। ग्रंथकर्ता साहित्य क्षेत्र में नवागत रहा तो उसका तथा उसकी क्षमताओं का परिचय करा देने का दायित्व भी प्रस्तावना-लेखक पर आ जाता है। कभी-कभी औचित्य-भंग न हो इस दृष्टि से कई महत्त्वपूर्ण बातें प्रत्यक्ष ग्रंथ में— उसके एक अंग के रूप में— समाविष्ट करना अच्छा नहीं दिखता। ऐसी बातें प्रस्तावना में अपना स्थान ग्रहण करती हैं। सॉमरसेट जैसे कुछ प्रतिभाशाली लेखक अपनी सृजनशील विचारप्रणाली का उद्गम, विश्लेषण तथा स्पष्टीकरण करने के लिए प्रस्तावना का उपयोग करते हैं। किन्तु ऐसे उदाहरण कम हुआ करते हैं। इस कार्य की आवश्यकता तथा उपयोगिता है। कभी-कभी यह कार्य अन्य किसी अधिकारी पुरुष के द्वारा करवाया जा सकता है। बर्नार्ड शॉ के लोकप्रिय तथा खलबली मचाने वाले नाटकों के विषय में उसके मन में यह भाव रहता था कि 'नाटक' प्रकार के तंत्र की मर्यादाओं के कारण

वह उसके माध्यम से सभी अन्तः प्रेरणाओं का प्रकटीकरण पूरी तरह से नहीं कर सकता। इस त्रुटि की पूर्ति के हेतु लिखी हुई उनकी प्रस्तावनाएं प्रायः मूल नाटकों से अधिक लम्बी, प्रदीर्घ और विस्तृत हुआ करती थीं। इस तरह के प्रस्तावना— लेखन की तुलना परदा उठाने की प्रक्रिया से जा सकती है। इसी विषय पर लिखे गए अन्य ग्रंथों के साथ तुलना करते हुए अलग से इस ग्रंथ के लेखन की विशेष आवश्यकता क्या थी, यह प्रस्तावना में बताया जा सकता है। वर्ड्सवर्थ ने 'Lyrical Ballads' के द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना लिखी। (दो वर्ष पूर्व सन् १७९८ में प्रकाशित इसका प्रथम संस्करण प्रस्तावना-विरहित था।) इस प्रस्तावना में वर्ड्सवर्थ ने Romantic Poetry की Theory का विशदीकरण किया। इस पुस्तक से अंग्रेजी साहित्य जनाभिमुख होने लगा; सामान्य स्त्री-पुरुषों का जीवन, प्रकृति में पाई जाने वाली सामान्य सुंदर बातें जनजीवन के सामान्य प्रश्नों तथा उनकी सामान्य भावनाओं आदि को काव्य सृष्टि में प्रथम बार स्थान प्राप्त हुआ।

प्रथम संस्करण के पश्चात् और द्वितीय संस्करण के पूर्व तक जो समय बीतता है उसमें लेखक के विचारों में यदि कुछ परिवर्तन आया हो या आ रहा हो तो उसे स्पष्ट करने के लिए उसी ग्रंथ के नये संस्करण की नई प्रस्तावना उपयुक्त सिद्ध होती है। इससे लेखक के अद्यावत् वैचारिक प्रवास का भी बोध होता है।

ग्रंथ कर्त्ता स्वयं प्रस्तावना लिखे या अन्य अधिकारी पुरुष, इस विषय में सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता। शेक्सपियर के नाटकों की सटीक प्रस्तावनाएं 'Paradise Regained' की प्रस्तावनाएं लिखने का काम स्वयं मिल्टन ने किया। (W. M. Tillyard— ने भी मिल्टन की रचनाओं की सटीक प्रस्तावना लिखी है।)

हर उन्नत भाषा में साहित्य के विभिन्न प्रकार विकसित हुए हैं। केवल अंग्रेजी और उसके

Poetry	Drama	Fiction
Epic	Tragedy	Novel
Ode	Comedy	Romance
Elegy	Opera	Short Story
Lyric	Burlesque	Morals
Song	One Act Play	Fables
Sonnet		
Ballad		

ललित-साहित्य का ही उदाहरण लीजिए। अंग्रेजी भाषा का ललित साहित्य समृद्ध है। किसी भी भाषा के ललित- साहित्य पर समकालीन परिस्थिति और उससे प्रभावित समकालीन जन-मानसिकता का परिणाम होना स्वाभाविक है। इसी कारण एक ही भाषा के साहित्य की प्रकृति भिन्न-भिन्न कालखंडों में भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है। एक ही भाषा अलग-अलग देशों में प्रचलित हो तो उन देशों की भिन्न जन-मानसिकता का भी प्रभाव साहित्य की प्रकृति पर अवश्य दिखाई देगा। जैसे ब्रिटेन, अमेरिका आदि। इस तरह का परिणाम सभी प्रकारों—प्रकारान्तरों में दिखाई देता है। उदाहरणार्थ पिछले पृष्ठ पर तालिका देखिए।

उल्लेखनीय बात यह है कि इन सभी प्रकारों-प्रकारान्तरों में 'प्रस्तावना' के लिए गुंजाइश है, स्थान है और कभी- कभी महत्त्वपूर्ण स्थान भी रहता है। अंग्रेजी में प्रस्तावना का नामकरण भिन्न-भिन्न रूप में कभी Preface, कभी Foreword, कभी Introduction— होता है। यह सही है कि जहां Introduction को मूलकृति का एक अंग माना जाता है, वहां Preface या Foreword को वैसा नहीं माना जाता। Preface या Foreword को मूल कृति से बाहर का माना जाता है। प्रसंग के अनुसार कभी अन्य शब्द का भी प्रयोग हो सकता है। जैसे, ग्रंथप्रकाशन के समर्थन में स्पष्टीकरण के रूप में लेखक के द्वारा लिखा गया 'Apologia' यह 'Pilgrim's Progress' की प्रस्तावना ही है।

ललित-साहित्य में समर्थ प्रस्तावना की आवश्यकता तब अधिक हो जाती है जब समान ध्येय तथा समान भावनाएं धारण करने वाले विभिन्न समकालीन लेखक एक ही वर्ण्यविषय की ओर विभिन्न दृष्टिकोण से लेखन करते हैं। टॉलस्टॉय, मैक्सिम गोर्की तथा दोस्तोयेवस्की— लेखकत्रयी का उदाहरण इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। समान परिस्थिति के विषय में प्रतिक्रिया के रूप में तीनों के मन में करुणाभाव, सात्विक क्रोध आदि थे। किन्तु Approach (दृष्टिकोण) भिन्न थे। ऐसी स्थिति में प्रस्तावना अनिवार्य हो जाती है।

अंग्रेजी भाषा में कालान्तर में प्रस्तावना का कार्यक्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत होता गया। वह ललित-साहित्य तक सीमित नहीं रहा। शास्त्रीय (Scientific) प्रबंधों के क्षेत्र में ग्रंथ लेखन के पूर्व तक की शास्त्रीय प्रगति तथा तत्पश्चात् होने वाली संभाव्य प्रगति को ग्रंथ के अपेक्षित योगदान के विषय को विशद करने के लिए प्रस्तावना की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। शास्त्रज्ञ-प्रबंधकार आल्डस हक्स्ले द्वारा अपनी पुस्तकों की लिखी हुई प्रस्तावनाएं इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानी गई हैं।

ग्रंथ का सामाजिक, साहित्यिक या शास्त्रीय उद्देश्य, समकालीन वायुमंडल में उसकी प्रासंगिकता (Relevance), परिवर्तित या परिवर्तनशील अवस्था में उसका महत्त्व-आदि बातों का विशदीकरण अब साहित्य के सभी क्षेत्रों में अनिवार्य प्रतीत होने लगा है; फिर वह क्षेत्र ललित-साहित्य का हो, कला का, शास्त्रों (Sciences) का हो या तत्त्वज्ञान का। साहित्य, शास्त्र या तत्त्वज्ञान के गम्भीर जिज्ञासुओं के लिए प्रत्यक्ष ग्रंथ का वाचन प्रारंभ करने के पूर्व उसकी प्रस्तावना पढ़ना अति आवश्यक हो गया है।

चरित्र या आत्मचरित्र ग्रंथ की लिखी हुई प्रस्तावनाएं भिन्न-भिन्न रूपों में लिखी जा सकती हैं। आत्मचरित्र में स्वयं लेखक प्रांजलता से आत्मनिवेदन कर सकता है या अपनी त्रुटियों तथा दोषों का समर्थन करने के लिए— अपने बचाव के लिए— प्रस्तावना का उपयोग कर सकता ह, या वह अधिक प्रगतिशील रहा तो प्रस्तावना में निर्लज्जतापूर्वक आत्मस्तुति-परनिंदा कर सकता है। चरित्रों की प्रस्तावनाएं भी इसी तरह विविध कार्यों के लिए प्रायोजित होती हैं। जैसे, चरित्रनायक का वस्तुनिष्ठ, यथावत्, निष्पक्ष मूल्यांकन; उसका दैवतीकरण; अथवा दानवीकरण आदि। चरित्रनायक सुप्रसिद्ध एवं प्रस्तावना लेखक अप्रसिद्ध रहा तो दुनिया को यह दिखाने के लिए भी प्रस्तावना का उपयोग होता है कि चरित्रनायक से उसका कितना घनिष्ठ संबंध है किन्तु ईमानदार साहित्यकार प्रस्तावना लिखते समय अपने अस्तित्व का आभास भी पाठकों को नहीं होने देता।

टॉलस्टॉय ने लिखा है :—

"बीमार अवस्था में सोचते समय यह ध्यान में आया कि सामान्यतः चरित्र जिस प्रकार लिखे जाते हैं, उसी प्रकार मेरी क्षुद्रता तथा प्रमादों पर पर्दा डालकर यदि कोई मेरा चरित्र लिखेगा तो वह पूर्णरूपेण असत्य होगा। जो कोई मेरा चरित्र लिखना चाहता है उसे सम्पूर्ण सत्य लिखना चाहिए। लेखक को ऐसा लिखने में कितना भी संकोच हुआ तो भी सम्पूर्ण सत्य पर प्रकाश डालने वाला चरित्र ही अन्ततोगत्वा पाठकों के लिए हितप्रद सिद्ध होगा।"

सुप्रसिद्ध साहित्यिक रूसो ने भी अपने चरित्र के विषय में भावी चरित्र लेखकों को इसी तरह की चेतावनी— अधिक प्रखर शब्दों में दी है।

इतिहास के क्षेत्र में कुछ लेखन साधन-ग्रंथ के रूप में हुआ करता है। ऐतिहासिक दस्तावेजों का संकलन, अन्वेषण, अध्ययन प्रस्तुत करते हुए प्रमाणों के आधार, पूर्वाग्रहों तथा पूर्वप्रस्थापित सिद्धांतों का खंडन करने वाले लेखन को भी 'प्रस्तावना' कहा जाता है। प्रख्यात इतिहासशास्त्रज्ञ विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े की 'ऐतिहासिक प्रस्तावना' तथा उनकी ही "राधामाधव विलासचंपू" की प्रस्तावना, पटवर्धन दफ्तर का संकलन तथा संपादन करते समय वासुदेव शास्त्री खरे द्वारा उसके लिए लिखी हुई प्रस्तावना तथा उनकी ही न.चि.केलकर के "मराठे व इंग्रज" की लिखी हुई प्रस्तावना, और रियासतकार सरदेसाई के "नानासाहेब पेशवे" की शेजवलकर द्वारा लिखी हुई प्रस्तावना— इसी श्रेणी में आती हैं।

'प्रस्तावना' साहित्य-प्रकार का उपयोग मराठी भाषा में प्रचुर मात्रा में किया गया है और वह भी साहित्य की इस प्रकार की गरिमा बढ़ाते हुए।

अपने 'महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश' की वैचारिक भूमिका के स्पष्टीकरण में डॉ. श्रीधर व्यंकटेश केतकर

की लिखी 'प्रस्तावना खंड' तथा विज्ञानदृष्टि का महत्त्व वर्णन करने वाले प्रा.श्री.म.माटे के 'विज्ञानबोध' की स्वयं लेखक द्वारा लिखी हुई प्रस्तावना अपने आपमें महत्त्वपूर्ण है। 'विज्ञानबोध' से उसकी प्रस्तावना अधिक महत्त्वपूर्ण है, ऐसा सार्वत्रिक अभिप्राय है। वा.सि.मर्डेकरके "वाङ्मयीन महात्मता" की वामन मल्हार जोशी की लिखी प्रस्तावना मूल ग्रंथ का मर्म बताते समय और भी उपयुक्त जानकारी प्रस्तुत करती है। जोसेफ मैजिनी के आत्मचरित्र के मराठी भाषांतर की स्वातंत्र्यवीर सावरकर की लिखी हुई प्रस्तावना ओजस्वी तथा प्रेरणादायी है। सरकार ने इस पुस्तक को गैरकानूनी (Proscribed) घोषित करके जब्त कर लिया था तो भी गुप्त रूप से उसका बहुत प्रचार हुआ। श्री वि० स० खांडेकर अपनी पुस्तकों की प्रस्तावना स्वयं लिखते थे। पुस्तक का वर्ण्यविषय, सामाजिक परिस्थिति की पृष्ठभूमि, समकालीन राजनीतिक वायुमंडल, वांछनीय जीवन-मूल्य आदि बातों पर प्रकाश डालने का काम वे 'प्रस्तावना' के माध्यम से करते थे। उन सब प्रस्तावनाओं का संकलन इन दिनों 'विचारधारा' पुस्तक में श्री वि. वा. खांडेकर ने किया है। कालौंध के प्रभाव के कारण श्री खांडेकर के साहित्य का महत्त्व आज उतना नहीं माना जाता जितना उनके जीवनकाल में माना जाता था, किन्तु उनके द्वारा लिखित प्रस्तावनाओं को आज भी यथापूर्व महत्त्व प्राप्त है। श्री नरसिंह चिंतामणि केलकर की प्रस्तावनाएं उनके उत्कृष्ट साहित्यिक गुणों की परिचायक हैं। श्री शि.ल.करंदीकरके, 'सावरकर-चरित्र' की लिखी हुई उनकी प्रस्तावना सावरकर के व्यक्तित्व तथा साहित्य का मार्मिक परिचय करा देती हैं।

प्रियोलकर की रघुनाथ पंडित के 'नलदमयन्ती आख्यान' तथा मुक्तेश्वर के 'महाभारत' की प्रस्तावनाएं विवेचनात्मक अन्वेषण के उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। आचार्य अत्रेके "झेंडूची फुले" की डॉ. मालशे द्वारा लिखित प्रस्तावना इसी प्रकार की है। 'अप्रकाशित गडकरी' की आचार्य अत्रे द्वारा लिखित प्रस्तावना गडकरी के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विवरण प्रस्तुत करती है।

'प्रस्तावना' के लिए और भी कुछ समकक्ष शब्दों का प्रयोग होता है। जैसे 'उपोद्घात', 'लेखकाचे दोन शब्द', आदि। संस्कृत भाषा के बजाय मराठी में ग्रंथलेखन करने की इच्छा क्यों हुई, यह ग्रंथारंभ में आने वाला विवरण भी वास्तव में 'प्रस्तावना' ही है। ज्ञानेश्वर, एकनाथ, मुक्तेश्वर, भास्कर भट्ट, नरेन्द्र, दासोपंत, फादर स्टीफन्स आदि के लेखन इस वर्ग में आते हैं। 'प्रस्तावना' शब्द का प्रयोग भले ही न किया गया हो, किन्तु ये सब प्रस्तावना ही हैं।

मराठी भाषा के वर्तमानकालीन अन्य समर्थ प्रस्तावनाकारों में प्रा. डॉ. म. मा. आल्तेकर, प्रा. नरहर कुरुंदकर, पु. ल. देशपांडे, डॉ. मा. प. मंगुडकर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

"**प्रस्तावना**" '**उपोद्घात**', '**विषयप्रवेश**', '**भूमिका**', 'Introduction', 'Foreword', 'Preface', आदि विभिन्न शब्द प्रस्तावना के ही वाचक हैं। संस्कृत साहित्य में '**प्रस्तावना**' आदि संज्ञाओं का उपयोग न करते हुए "**प्रस्तावनाएं**" लिखी गई हैं। उदाहरणार्थ, ब्रह्मसूत्र पर श्री मद्शंकराचार्य द्वारा लिखी हुई प्रस्तावना '**अध्याय भाष्य**'। शांकरभाष्य को ही '**शारीरक मीमां-**

सासूत्रभाष्यम्' संज्ञा प्राप्त है । ब्रह्मसूत्र "**अथातोब्रह्मजिज्ञासा**" के प्रथम सूत्र से प्रारंभ होता है । उसके पूर्व, "**युष्मदस्मत् प्रत्यय.....**' से प्रारंभ कर '**वेदान्तमीमांसा-शास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्येदमादिमं सूत्रम्**' तक ब्रह्मसूत्र का उपोद्घात है । वह ४/५ पृष्ठों का है ।

वैसे ही '**कृष्णयजुर्वेदीयश्वेताश्वतरोपनिषद्शांकरभाष्योपेता**' भी प्रस्तावना है, जिसको "**संबन्ध-भाष्य**' की संज्ञा प्रदान की गई है । सर्वप्रथम शांतिमंत्र

"**ओम् पूर्णमदः पूर्णमिदम्.....**" के पूर्व आने वाली प्रस्तावना १८ पृष्ठों की है ।

संस्कृत नाटकों में प्रस्तावना विविध-कलात्मक स्वरूप धारण करती है । उदाहरण के लिए "**स्वप्नवासवदत्तं**" का प्रथम अंक देखिये :—

नांदी समाप्त होते ही—

(नांद्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः)

सूत्रधारः **उदयनवेन्दुसवर्णावासवदत्ताबलो बलस्य त्वाम् ।**
पद्मावतीर्ण पूर्णौ वसन्तकयौ भुजौपाताम् ॥

एवं आर्यमिश्रान् विज्ञापयामि । अये, किं न खलु मयि विज्ञापनव्यग्रे शब्द इव श्रूयते । अंग, पश्यामि ।

(नेपथ्ये)

(उत्सरत उत्सरत, आर्याः उत्सरत ।)

सूत्रधारः **भवतु, विज्ञातम् ।**
भृत्यैर्मगध राजस्य स्निग्धैः कन्यानुगामिभिः ।
धृष्टमुत्सार्यते सर्वस्तपोवनगतो जनः ॥२ ॥

(निष्क्रान्तः)

स्थापना ।

नान्दी-मंगलाचरण- 'स्थापना' प्रस्तावनास्वरूप है । इसको विविध रूपों में प्रस्तुत किया जाता है ।

मम्मट का "काव्यप्रकाश" निम्न श्लोक से प्रारंभ होता है ।

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमम् अनन्यपरतन्माम्।
नवरसरूचिरां निर्मितिमादधति भारती कवेर्जयति॥

(काव्य-१-१)

मम्मट का कथन है कि यहां 'जयंति' शब्द मंगलवाचक है। 'काव्यप्रकाश' के सभी टीकाकारों ने यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि उसका यह प्रथम श्लोक नान्दी पर, प्रस्तावनारूप है।

संस्कृत साहित्य के किस प्रकार-विशेष में 'प्रस्तावना' कौन-सा स्वरूप लेकर प्रकट होती है, यह विषय मनोरंजक एवं अध्ययनयोग्य है। कोई विद्वान अधिकारी पुरुष ही यह कार्य कर सकता है। इसी तरह प्रकारान्तर से प्रस्तावना की योजना होती तो निम्न ग्रंथों की गरिमा बढ़ जाती, ऐसा कुछ अंग्रेजी लेखकों का अभिप्राय है। ये ग्रंथ हैं— Alberuni's Ethnological Study of India; Babur's 'Memoirs'; Muhammed Qaizm Firishta's History of India'; Abul Fazal's Ain-e- Akbari and 'Akbarnama'।

हिन्दी भाषी साहित्य रसिकों को हिन्दी प्रस्तावनाओं के विषय में कुछ बताने का प्रयास करना मेरे लिए धृष्टता का कमाल माना जाएगा। मैं यह जानता हूं कि ऐसा दुःसाहस न करने में ही बुद्धिमानी तथा औचित्य है। केवल विषय प्रतिपादन की औपचारिकपूर्णता की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के क्षेत्र का विहंगावलोकन ही यहां अभिप्रेत है।

स्वभाषाभिमान स्वदेशभक्ति का एक अविभाज्य अंग है। हिन्दी साहित्यिकों की यह धारणा उनकी प्रस्तावनाओं में प्रतिबिंबित होती है। अपने साहित्य के इतिहास की खोज, उसका विशदीकरण तथा आधुनिक युग की प्रवृत्तियों के अनुकूल उसका गौरवयुक्त, तर्कशुद्ध प्रकटीकरण—आदि बातों पर प्रस्तावनाओं में जो आग्रह किया गया, उसका कारण भी यही धारणा है। हिन्दी में 'प्रस्तावना' के लिए अधिकतर 'भूमिका' शब्द का प्रयोग होता है।

इस दृष्टि से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कार्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। 'हिन्दी शब्दसागर' की ४०० (चार सौ) पृष्ठों की भूमिका आचार्य जी के द्वारा लिखित हिन्दी साहित्य का इतिहासग्रंथ है। 'विश्वप्रपंच' की उनकी भूमिका १२३ पृष्ठों की है। मूल ग्रंथ "द रिजल ऑफ युनिवर्स" का रूपांतर है। "द लाइट ऑफ एशिया" का अनुवाद "बुद्धचरित" आचार्य जी की भूमिका से गौरवान्वित है। उनकी 'भ्रमरगीतसार' की, 'शशांक', 'विनयपत्रिका' तथा अन्य कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की भूमिकाएं हिन्दी साहित्य में वैशिष्ट्यपूर्ण स्थान रखती हैं। उनके द्वारा लिखित 'जायसी ग्रंथावली' की भूमिका १५३ पृष्ठों की है और हिन्दी साहित्य में प्रदीर्घ तथा सारगर्भित भूमिका के नाते उसका उल्लेख किया जाता है।

किन्तु इस लेखन के बाद भी साहित्य के इतिहास की दृष्टि से उनका स्वदेश-स्वभाषा-भक्त मन अतृप्त ही रहा। "हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल सबसे अधिक वैचित्र्यपूर्ण है, क्योंकि इसका

प्रवर्तन नूतन सभ्यता की हलचल के साथ-साथ हुआ है। जब से देश की प्राचीन विचारधारा के साथ नूतन विचारधारा का संगम हुआ तब से साहित्य के क्षेत्र में न जाने कितने रूप-रंग देखने में आ रहे हैं। इन सबको लक्ष्य करते हुए अपने साहित्य के दिन-दिन बढ़ते हुए भण्डार का स्पष्ट लेख रख लेना बहुत ही आवश्यक है, क्योंकि ज्यों-ज्यों अधिक काल बीतता जाएगा और बातें भी नजर से दूर पड़ती जाएंगी।" उनका विचार था, "पर सच पूछिए तो, अब आवश्यकता इस बात की है कि किसी एक विशेषकाल को लेकर विस्तृत रूप से अनुसंधान और विचार किया जाए तथा उसके अंतर्गत जो कुछ कार्य हुआ है वह व्यवस्थित रूप में सामने लाया जाए।" स्पष्ट है कि यह कार्य 'भूमिकाओं' के माध्यम से भी किया जा सकता है और स्वतंत्र लेखन के माध्यम से भी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' प्रकाशित होने के पश्चात् हिन्दी साहित्य में अनेक नई विधाओं का विकास हुआ है। आचार्य जी को विश्वास था कि उस विकास को ख्याल में रखकर इतिहास को अद्यतन तथा समग्र बनाने का कार्य पं. कृष्ण शंकर शुक्ल करेंगे।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ को हिन्दी साहित्य के इतिहास की भूमिका के रूप में ही प्रचारित किया और उसका नामकरण किया— 'हिन्दी साहित्य की भूमिका'।

साहित्य के इस प्रकार में कई श्रेष्ठ साहित्यिकों ने अपना योगदान किया है। नन्ददुलारे बाजपेयी की 'आधुनिक साहित्य' की भूमिका; महादेवी वर्मा की आधुनिक कवि (२) की भूमिका; सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की 'अनामिका' की भूमिका; तारसप्तक— दूसरा सप्तक, तीसरा सप्तक, चौथा सप्तक की 'अज्ञेय' द्वारा लिखित भूमिका; 'कबीर ग्रंथावली' की डॉ. रमेशचन्द्र मिश्र द्वारा लिखित 'सुन्दर ग्रंथावली' की १२२ पृष्ठों की भूमिका— कुछ गरिमापूर्ण भूमिकाओं के उदाहरण हैं।

कुछ अपवाद छोड़ दिये जायं तो सामान्यतः सार्वजनिक कार्यकर्ता सही अर्थ में 'साहित्यिक' की श्रेणी में आने की योग्यता नहीं रखता। परिस्थिति की आवश्यकता के कारण उसको कुछ न कुछ लिखना पड़ता है, किन्तु वह 'लेखन' है, 'साहित्य' नहीं। 'साहित्य' और 'लेखन' में अन्तर है। ठीक उसी प्रकार जैसे जन्मजात कवि की उत्स्फूर्त काव्यरचना और बच्चों के पाठ्यक्रम के लिए वेतन पाने वाले शिक्षा-कर्मचारी की यांत्रिकी पद्यरचना में अन्तर होता है॥ काव्यरचना पद्यमय हो सकती है, किन्तु हर पद्यरचना 'काव्य' नहीं होती। यही अन्तर 'साहित्य' और 'लेखन' में है। हां, कुछ प्रतिभाशाली व्यक्ति सव्यसाची, अष्ट-पहलू हुआ करते हैं, किन्तु उनको अपवाद रूप ही मानना चाहिए। पश्चिम में कुछ लेखकों ने दुनिया के इतिहास को— अच्छा रहा या बुरा— नया मोड़ दिया। रूसो, वाल्टेअर, थॉमस पेन, मार्क्स आदि नाम इस संदर्भ में दृष्टिपथ में आते हैं। कुछ श्रेष्ठ पुरुषों ने उत्कृष्ट जननेता तथा उत्कृष्ट लेखक इन दोनों भूमिकाओं का सफलतापूर्वक निर्वाह किया। ज्यूलियस सीजर, नेपोलियन, लेनिन, विन्स्टन चर्चिल, मेझिनी, टेरेन्स मॅकस्विनी चार्लस द गॉल इस श्रेणी में आते हैं।

कुछ महापुरुष ऐसे हैं कि जिनकी छाया इतिहास पर दूर तक पड़ी हुई है। किन्तु वे अधिक मात्रा में मौलिक लेखन नहीं कर सके। व्यावहारिक स्तर पर उनके द्वारा नेतृत्व के जो गुण प्रकट हुए उनके

परिणामस्वरूप उन्हें व्यावहारिक सफलता प्राप्त हुई । किन्तु मौलिक साहित्य की निर्मिति उनके द्वारा नहीं हुई । १४ (चौदह) वां लुई, मार्शल टीटो, लिंडन जॉनसन, हो ची मिन्ह, चेग्वेवारा इस वर्ग में आते हैं । कुछ लोगों ने व्यस्त जननेता की भूमिका का निर्वाह करते हुए भी लेखन के लिए आवश्यक समय निकाल लिया । प्राप्त हो सका । हिटलर ने लॅण्ड्सवर्ग कारागार में मिले समय का उपयोग 'मेन काम्फ' लिखने के लिए किया । लेनिन ने स्विट्रजरलैंड निर्वासन काल में विपुल लेखन किया । माओत्से तुंग प्रत्यक्ष व्यावहारिक कामों में व्यस्त रहते थे, तो भी येनान के निवास काल में उन्हें लेखन के लिए अवसर प्राप्त हुआ । लॉयड जॉर्ज या चर्चिल के आत्मचरित्र पर संस्मरण और हिटलर-मुसोलिनी-स्टालिन के आंशिक आत्मचरित्र इसी प्रकार की परिस्थितियों में लिखे जा सके । इन सब लेखकों की अलग-अलग श्रेणियां हैं और इसी पृष्ठभूमि में उनके साहित्य का मूल्यांकन किया जाता है । किन्तु ये लोग अपवाद हैं । हर एक सार्वजनिक कार्यकर्ता की गिनती उनकी श्रेणी में नहीं की जा सकती । प्रेम आतिशी शीशा (magnifying glass) होने के कारण हमारे जैसे कार्यकर्ता को यदि कोई उस श्रेणी में डाले तो वह "श्वायुवामघवा" की बात को चरितार्थ करने वाला माना जाएगा । समकालीनों में पण्डित दीनदयाल उपाध्याय को छोड़कर इस स्तर का दूसरा नाम आसानी से ध्यान में नहीं आता ।

सारांश, इस पुस्तक में समाविष्ट प्रस्तावनाओं पर विचार करते समय पाठकों को यह ध्यान में रखने की कृपा करनी चाहिए कि यह सब 'लेखन' मात्र है 'साहित्य' नहीं । फिल्मी संगीत का मूल्यांकन शास्त्रीय संगीत की कसौटी पर करना अन्यायपूर्ण होगा ।

फिर भी, कलात्मक साहित्य रहे या सामान्य लेखन, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह तो मानना ही पड़ेगा कि साहित्यकार और साहित्य में, लेखक और लेखन में कुछ अन्योन्य संबंध अवश्य हुआ करता है । लेखक के व्यक्तित्व की जानकारी रही तो उसके लेखन का यथायोग्य मूल्यांकन करना सहज सम्भव हो जाता है । वैसे ही, लेखन का बारीकी से अध्ययन किया तो लेखक के व्यक्तित्व के कुछ न कुछ पहलू अवश्य ध्यान में आते हैं । सभी श्रेष्ठ साहित्यकारों के विषय में पाठकों के मन में स्वाभाविक रूप से विशिष्ट प्रतिमाएं सुस्पष्ट या अस्पष्ट निर्माण होती हैं । वैदिक ऋचाकार ऋषियों या उपनिषदकारों के विषय में कितनी जानकारी उपलब्ध है ? तो भी उनमें से हर एक की विशिष्ट प्रतिमा पाठकों के मन में अपने आप निर्माण हो जाती है । ब्रिटेन के चॉसर (१३४०-१४००) के व्यक्तित्व के विषय में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध नहीं है । उनकी 'Prologue to Canterbury Tales' कृति इंग्लिश भाषा में सर्वप्रथम 'प्रस्तावना' कृति है । उनके व्यक्तित्व की दृष्टि से यह प्रस्तावना पारदर्शक है । ग्रीक भाषा में प्रथम कॉमेडी लिखने वाले अरिस्टोफेनीस, प्रथम ट्रेजेडी लिखने वाले सोफोक्लस तथा प्रथम महाकाव्य लिखने वाले होमर के जीवन विषयक थोड़े तथ्य उपलब्ध हैं । अतएव उनके साहित्य के आधार पर उनके व्यक्तित्व के विषय में अनुमान लगाया जाता है । भारत में 'रामायण', 'महाभारत' के रचयिताओं के विषय में भी ऐसी ही स्थिति है । दुनिया में ऐसे बहुत कम उपन्यासकार या नाटककार होंगे कि जिनकी कृतियों में उनके व्यक्तित्व का प्रतिबिंब यत्किंचित् भी पाया नहीं जाता ?

इससे विपरीत प्रक्रिया भी उतनी ही सही है । विशेषतः आधुनिक पाश्चिमात्य ललित-साहित्य के विषय में इस बात का अभाव अधिक अखरता है । ललितकृति का ठीक आकलन तथा उसके मूल्यांकन की दृष्टि से लेखक का व्यक्तिगत जीवन, उसकी मानसिकता, उसके सामाजिक संबंध, विविध परिस्थितियों में उसकी उत्स्फूर्त प्रतिक्रियाएं आदि की जानकारी बहुत महत्त्वपूर्ण बन जाती है । इसके अभाव में उसकी कृति का यथायोग्य रसास्वादन नहीं किया जा सकता । यह कार्य प्रस्तावना के माध्यम से ही हो सकता है । किन्तु लेखक के जीवनकाल में यह सब प्रस्तुत करना शायद— अधिकांश प्रसंगों में— अतीव नाजुक तथा पेचीदा काम बन सकता है ।

स्पष्टीकरण की दृष्टि से एकाध उदाहरण पर्याप्त होगा ।

'The Fountain-head' के पश्चात् एन. रॅण्ड ने 'Atlas Shrugged' लिखा ।इस शताब्दी के छठवें दशक की प्रमुख साहित्यक कृतियों में उसकी गिनती है । यह उपन्यास लिखने के लिए उसको १ ८ (चौदह) वर्ष परिश्रम करना पड़ा । उसमें ग्रथित (Galt के) ९ ३ पृष्ठों के एक प्रदीर्थ भाषण को लिपिबद्ध करने में लेखिका को २ (दो) वर्ष लगे । रसिक तथा विचारवंत पाठकों ने इसका अनुपम स्वागत भी किया । उस दशक के ऐंग्लोसॅक्सन मानसिकता तथा विचारों पर इसका प्रभाव स्पष्टरूप से दिखाई देता था । इसका रसग्रहण बहुत बड़े पैमाने पर हुआ । इसका मूल्यांकन लेखिका के लिए अतीव श्रेयस्कर और कीर्तिदायक रहा ।

यह सब उचित ही था और है । किसी भी अवस्था में यह यथावत् रहता है तो भी यह भी सत्य है कि बारबारा (Barbara) द्वारा लिखित एन. रॅण्ड का चरित्र यदि पहले ही प्रकाशित हुआ होता और उसके जीवन तथा मनोव्यापारों का पाठकों को पूरा पता होता,(खासकर गाल्ट (Galt) के प्रदीर्घ भाषण के दो वर्ष के लेखनकाल में लेखिका के बालझाक् की प्रेयसी को मात करने वाले लोकरीति विपरीत कामजीवन का) तो उसके रसग्रहण तथा मूल्यांकन में कुछ और आयाम भी जुड़ जाते ।

पश्चिम के पाठकों की यह मान्यता है कि ललित-साहित्य तथा प्रस्तावना लेखन में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है लेखन की प्रामाणिकता तथा अधिकृतता (authenticity) । लेखन में लेखक का व्यक्तित्व स्पष्ट दिखाई देना चाहिए अर्थात् पारदर्शक लेखन । ऐसा लेख ही अपने पाठकों के मन में यह कह सकता है—

> **"Camerado, this is no book,**
> **who touches this, touches a man,**
> **It is I you hold and who holds you,**
> **I spring from the pages into your arms."**

(व्हिटमन 'So Long' में)

बन्धु, तुम पुस्तक को नहीं
मुझे स्पर्श कर रहे हो ।
तुम्हारे हाथों में पुस्तक नहीं
मेरी काया है ।
इन पृष्ठों से प्रकट होकर
मै तुम्हार हृदय मे समा जाऊगा ।

अन्यान्य भाषाओं में कविता, कथा, उपन्यास, नाटक आदि पूर्वप्रस्थापित विभागों के समान ही अब 'प्रस्तावना' या 'भूमिका' को एक अलग विभाग के रूप में मान्यता मिल रही है। इस विभाग का साहित्य भी प्रचुर मात्रा में निर्माण हो रहा है। इस साहित्यसागर के किनारे खड़े होकर उसका दर्शन— उसमें अवगाहन की बात दूर— केवल दर्शन किया तो भी मन में आत्मग्लानि तथा हीनता का भाव निर्माण होता है। अपने पास न साहित्यिक गुण है, न किसी भी विषय में विशेपज्ञता। पास में पूंजी अथवा एक ही गुण है अर्थात् धृष्टता। इसके आधार पर लेखन करना उचित है क्या ? या इस अवस्था में लेखन संन्यास लेना ही अधिक औचित्यपूर्ण होगा ?

किन्तु इसी समय दूसरी एक घटना का स्मरण होता है। ठाणे के ऐतिहासिक वाग्यज्ञ के पश्चात् मैंने श्री विष्णुबुवा ब्रह्मचारी के 'सुखदायक राज्यप्रकरणी निबंध' के आवश्यक हिस्सों का संकलन करके उनका इंग्लिश भापांतर लेख के रूप में 'आर्गनाइजर' को भेजने के लिए तैयार किया था। ठाणे में परमपूजनीय श्री गुरुजी ने इस 'निबंध' का उल्लेख किया था और कहा था कि उस पर किसी को रिसर्च करना चाहिए। अंग्रेजी में तैयार किया हुआ वह लेख मैंने श्री गुरुजी को पढ़ने के लिए दिया। जैसे ही उनका पढ़ना पूरा हुआ, मैंने अपनी ओर से स्पष्टीकरण दिया कि "यह लेख केवल संकलन है, शोधपत्र नहीं। किन्तु सम्भवतः किसी अधिकारी विद्वान को इस पर शोध करने की इच्छा हो जाए। इस विपय का केवल सूत्रपात (introduce) करने के हेतु से यह लिखा गया है।" श्री गुरुजी स्मितहास्यपूर्वक मेरी बात सुन रहे थे। आधा मिनट शांत रहने के बाद वे हंसते-हंसते बोले — "ऐसा लगता है कि तुम्हारा सारा जीवन अलग-अलग विपयों का सूत्रपात (introduce) करने में ही बीत जाएगा।"

अपनी अपात्रता तथा धृष्टता एक ओर, श्री गुरुजी द्वारा किया गया संकेत दूसरी ओर। क्या किया जाए ? किं कर्म किमकर्मेति ? अपनी क्षमता इस विपय में योग्य निर्णय करने की नहीं है, इस द्विधा मन-स्थिति में इतना ही सोच और कह सकता हूं—

— "मूकम् करोति वाचालम्
पंगुं लंघयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे
परमानंदमाधवम् ॥

दत्तोपन्त ठेंगड़ी

पुण्याहवाचन

भद्रं इच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः
तपो दीक्षां उपसेदुः अग्रे ।
ततो राष्टं बलं ओजश्च जातम् ।
तदस्मै देवा उपसं नमन्तु ।। (अथर्व॰ १९/४१/१

"आत्मज्ञानी ऋषियों ने जगत का कल्याण करने की इच्छा से सृष्टि के प्रारंभ में जो दीक्षा लेकर तप किया, उससे राष्ट्रनिर्माण हुआ, राष्ट्रीय बल और ओज भी प्रकट हुआ । इसलिए सब विबुध इस राष्ट्र के सामने नम्र होकर इसकी सेवा करें ।"

यह संकलन है,
परमपूजनीय श्री गुरुजी के विचारों का ।
वर्ण्य विषय है "राष्ट-संकल्पना" ।
"वाचम् अर्थोऽनुधावति" जिनका यह अधिकार ।
उनकी जीवन साधना का अधिष्ठान यह वर्ण्य विषय ।
इस संकलन पर भाष्य करने का प्रयास
अर्थात् धृष्टता की, अहंकार की परिसीमा ।
वह यहां अभिप्रेत नहीं है ।
किन्तु
इन विचारों का अध्ययन
किन परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में
हम करने जा रहे हैं
यह जान लेने की आवश्यकता है ।
उसी का यह संक्षिप्त विवरण है ।
यही है पुण्याहवाचन ।

भारतीय शब्दों का अंग्रेजी में या अंग्रेजी शब्दों का भारतीय भाषाओं में भाषांतर करते समय अनुवादकों ने—जानबूझकर हो या अनवधान से, कुछ गंभीर गलतियां की । शास्त्रीय चर्चा में प्रयुक्त होने वाले हर शब्द का गठन ऐतिहासिक विकास की पृष्ठभूमि के फलस्वरूप होता है । बोलचाल की भाषा में कभी-कभी ऐसे शब्दों का प्रयोग शिथिलता पूर्वक हो जाता है । यदि यह शिथिलता सर्वसाधारण व्यक्ति की बात-चीत में सामान्य लोकव्यवहार के दौरान आ गई तो वह क्षम्य भी माना जाता है । किन्तु शास्त्रार्थ के समय या शास्त्रज्ञ लोगों की सामान्य बातचीत में यह शिथिलता क्षम्य नहीं है ।

यूरोप के लोग जब भारत आए उस समय यूरोप की जो अवस्था थी उसी के प्रकाश और प्रभाव में उन्होंने हिन्दुस्थान को समझने का प्रयास किया । यह स्वाभाविक ही था । यूरोप में प्रचलित शब्द उनकी ऐतिहासिक विकास क्रम की देन थी । जबकि भारत का ऐतिहासिक विकास क्रम यूरोप से बिल्कुल भिन्न रहा है । यहां की शब्दावली यहां के ऐतिहासिक विकास क्रम की पृष्ठभूमि से विकसित हुई । नए आए हुए यूरोपीय प्रवासियों के लिए इस पृष्ठभूमि को सहसा समझ पाना संभव नहीं था । फिर वे, साहसी पर्यटक थे, भाषाविद् साहित्यिक नहीं । उन्होंने अपनी-अपनी मानसिक पृष्ठभूमि के सहारे भारतीय समाज तथा भारतीय संकल्पनाओं को समझने का प्रयास किया । कोई भी भारतीय संकल्पना ऊपरीतौर पर उनकी किसी सुपरिचित यूरोपीय संकल्पना से सादृश्य रखने वाली दिखाई दी तो स्वाभाविक रूप से उनकी ऐसी धारणा बनी कि ये दोनों संकल्पनाएं एकरूप हैं और उसके परिणामस्वरूप भाषांतर की गलतियां होना भी स्वाभाविक था । ये गलतियां उन्होंने प्रामाणिकतापूर्वक की । बाद में मेकाले की नीति के अंतर्गत भारत की जनता को गुमराह, आत्मविस्मृत तथा आत्मग्लानियुक्त करने के हेतु जो प्रयास हुए उसका एक अंग गलत भाषांतर का प्रचलन भी रहा । यह पूर्णरूपेण अप्रामाणिक तथा दुष्टहेतुपूर्वक हुआ । इस बात ने मेकाले को बहुत श्रेय प्रदान किया । स्पष्ट है कि अपने देश इंग्लैंण्ड के प्रति उनकी भक्ति असंदिग्ध थी ।

मेकाले ने अपने देश के साम्राज्य की सत्ता की नींव भारत में मजबूत करने के लिए दूरदर्शितापूर्वक अपनी नीति विकसित की थी । उसका यह "देशभक्ति" प्रेरित प्रयास उसके देश की दृष्टि से अभिनन्दनीय ही था । किन्तु आश्चर्यजनक तथा लज्जास्पद बात यह रही कि हमारे आंग्ल-विद्याविभूषित भारतीय विद्वानों ने मेकाले का मानसपुत्र बनकर उसके द्वारा कही गई हर बात, उसकेद्वारा किए हुए गलत भाषांतरों को भी, अंधश्रद्धापूर्वक स्वीकार किया । उदाहरणार्थ, इन विद्वानों में यह समझने की बौद्धिक क्षमता थी कि "धर्म" की संकल्पना भिन्न है और रेलिजन Religion (पंथ) की संकल्पना से उसका कोई मेल नहीं है, तो भी उन्होंने स्वीकार कर लिया कि "धर्म" अर्थात्—रेलीजन—और रिलीजन अर्थात "धर्म" है । इस कारण देश में कितनी भ्रांत धारणाएं किस प्रकार फैली हम यह जानते हैं । ऐसा ही कई और शब्दों के बारे में भी हुआ । राष्ट्र और नेशन (Nation) के विषय में भी यही स्थिति है । इस पृष्ठभूमि के कारण आज कल कहीं भी शास्त्रीय चर्चा चलती है तो प्रारंभ में ही निम्न तीन उद्धरण देना अपरिहार्य हो जाता है :

'The letter killeth' — ईसा मसीह ।

"एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सम्प्रयुक्तः लोके स्वर्गे च कामधुक् भवति" (पंतजलि)

'If you want to talk with me, define your terms, – वोल्तायर

सर्वसाधारण जनमानस का अब तक का अभ्यास ध्यान में रखकर इस प्रास्ताविक में भी कई जगह "राष्ट्र " और नेशन को पर्यायवाची या समानार्थी के रूप में प्रयोग में लाने की अशास्त्रीयता जानबूझकर की गई है । शास्त्रीय संज्ञाओं का इस तरह का गलत प्रयोग करना यद्यपि जनसाधारण के समझने की क्षमता के साथ अशास्त्रीय समझौता ही है, फिर भी कभी-कभी विवश होकर यह करना पड़ता है । इस विवशता की कारण मीमांसा अपने Nationality in History and Politics में ब्रिटिश समाजशास्त्रज्ञ Frederick Hertz निम्न प्रकार करते हैं :

"....The diversity of usage is often rooted in the antagonism of ideologies or interests, and frequently it is due to a lack of critical sense. Even careful writers are often compelled to use inaccurate terms because the public has become so used to employ the same word for different things that it would resent the introduction of new terms merely for the sake of scientifice accuracy. Anyhow, the lack of a clear and stable terminology greatly contributes to the con fusion of ideas."

"The Sentiments of Nationalism" मे Max–Syluies Handman तो यहां तक कहते हैं कि "It is a good idea to have a sort of Nicene council on the terminology used in connection with the social sciences".

हमारे देश में हजारों जातियां है । इन दिनों उनमें एक नई जाति की वृद्धि (Addition) हुई है । यह नई जाति है बुद्धिजीवियों (Intellectuals) की । इन लोगों को बुद्धिजीवी (intellectual) होने का प्रमाण पत्र किसने दिया, देश की संपूर्ण बौद्धिकता का एकाधिकार इन्हें किस प्रक्रिया से प्राप्त हुआ इसकी जानकारी किसी को नहीं है । किन्तु यह सच है कि इन बुद्धिजीवियों (intellectuals) ने यह मान लिया है कि देश में उपलब्ध बुद्धिमानी पर पूरी तरह से इनकी जाति का ही स्वामित्व है और इस जाति के बाहर विद्वत्ता का अकाल व्याप्त है ।

इस जाति में कुछ लोग ऐसे भी हैं जो प्रामाणिक है । जिनका प्रयास सत्य की खोज करने का ही रहता है और अन्वेषण के पश्चात् उनको यदि ऐसा प्रतीत हुआ कि नए तथ्य के प्रकाश में उनकी कुछ धारणाएं गलत हैं तो उस बात को मान लेने, अपनी गलत धारणाओं का त्याग करने और नई धारणाओं को स्वीकार करने में उन्हें संकोच नहीं होता । क्योंकि वे सत्य के पुजारी होते हैं; अतएव पूर्वग्रहदोष से मुक्त हुआ करते हैं । किन्तु ऐसे प्रामाणिक विचारवालों को अधिक प्रसिद्धि नहीं मिलती । इसका कारण यह है कि प्रचार के माध्यम जिनके नियंत्रण में हैं, प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए उनके निहित स्वार्थ से मेलखाने वाले निष्कर्ष प्रकाशित करने की चतुराई इन प्रामाणिक विचारवानों के पास नहीं है ।

बुद्धिजीवियों की इस नई जाति में अधिकतर संख्या चतुर लोगों की है । उनकी रुचि वास्तविक सत्य में नहीं है । चतुर होने के कारण वे पहले ही भांप लेते हैं कि प्रचार-माध्यमों के मालिकों के निहित स्वार्थों के साथ मेल खाने वाला निष्कर्ष निकालने तथा प्रकाशित करने से अपना व्यक्तिगत निहित स्वार्थ भी सिद्ध हो सकता है । इन अप्रामाणिक विचारवानों के पास इसकी ठीक जानकारी रहती है कि रोटी की किस ओर मक्खन लगा हुआ है और यह बात वे पहले से ही तय करके रखते हैं कि तदनुकूल निष्कर्ष ही निकालना है । अब प्रश्न इतना ही रहता है कि इस तरह के उपलब्ध तथ्यों की रचना किस तरह की जाए कि निष्कर्ष वे ही निकल सकें । इस कला में ये 'विचारवंत' लोग निष्णात बन चुके हैं । क्योंकि यह कला ही उनका पेशा, उनकी उपजीविका का साधन तथा प्रसिद्धि एवं प्रतिष्ठा का आधार है । इस तरह की विचार-प्रक्रिया को अंग्रेजी में Hypothetical (हायपोथेटिकल) संज्ञा प्रदान की गई है ।

व्यवहार चुतर लोगों के विषय में ही यह कहा गया है कि—

"अर्थातुराणां न पिता न बन्धुः ।

उपरिनिर्दिष्ट अप्रामाणिक विचारवंत लोग इसी श्रेणी में आते हैं । यह संकलन इन 'विचारवंतों' के लिए नहीं है । स्वकेन्द्रित होने के कारण इनकी अवस्था "ब्रह्मा अपि नरं न रंजयति" जैसी है । उनके बारे में सम्पादक की भूमिका "तान्प्रतिनैष यत्न" की है । अपने व्यक्तिगत सुविधा को ही अग्र क्रम देने वाले बुद्धि के ये ठेकेदार सत्य को समय का सेवक बनाना चाहते हैं; किन्तु इस संकलन के सम्पादक जैसे लोगों की धारण यह है कि "समय को सत्य का सेवक बनाना चाहिए ।"

इस प्रकार के इने-गिने महानुभावों को छोड़कर "राष्ट्र-संकल्पना" समझने की इच्छा रखने वाले शेष सभी प्रामाणिक जिज्ञासु इस संकलन से लाभान्वित होंगे । वे इस ग्रंथ को पूर्वग्रह विरहित मन से पढ़ें, इस पर स्वयं अपनी-अपनी बुद्धि से चिन्तन करें और इस विषय में स्वयं अपने-अपने निष्कर्ष निकालें, यह स्वस्थ प्रणाली ही सम्पादक और संकलन कर्त्ता को अभिप्रेत है ।

"राष्ट्र-संकल्पना" विषयक सत्य की खोज करने की प्रक्रिया में यह ग्रंथ सहायक हो, इतनी ही अपेक्षा है । किन्तु ग्रंथ का पठन, उस पर मनन और सत्यान्वेषण करते हुए अपनी बुद्धि से निष्कर्ष निकालने का काम हर एक जिज्ञासु को स्वयं करना चाहिए । प्रगतिशीलता के नाम पर पाश्चात्य विचारकों के निष्कर्ष जैसे के वैसे ग्रहण करना मेकाले के आधुनिक मानसपुत्रों की प्रवृत्ति है । यह "बाबावाक्यम् प्रमाणम्" प्रवृत्ति श्री गुरुजी को स्वीकार नहीं थी; फिर वह "बाबा" चाहे पश्चिम का हो या पूर्व का । श्री गुरुजी स्वतंत्र प्रज्ञा के पक्षधर थे । दिनांक ३०/१०/१९७२ को ठाणावर्ग में अपने भाषण का प्रारंभ करते समय उन्होंने कहा, "मैं जो कहता हूं उसे मानना ही चाहिए, यह आवश्यक नहीं है ।मेरा विचार है, इसलिए इसको माननें का कोई कारण नहीं । मैं जो कहता हूं उस पर आप लोगों को विश्वास करने की कोई आवश्यकता नहीं। आप अपना स्वतंत्र विचार करें। मैं जो कुछ बोलता हूं उसके विरुद्ध विचार कैसे करना, इस प्रकार को संकोच मन में रखने की कोई

आवश्यकता नहीं है ।" अपने "ध्येयदर्शन" भाषण में श्री गुरुजी कहते हैं"·····इति डार्विन, इति हक्सूले, इति मार्क्स, इति शंकराचार्य, इति श्रुति, ऐसा कुछ भी कहना मेरी दृष्टि से ठीक नहीं है । जिस जीवित जागृत सत्य का मुझे प्रत्यक्ष अनुभव होता है, उसी पर मैं विश्वास करता हूं ।" भगवान बुद्ध का अंतिम संदेश था "आत्मदीपो भव" । श्री गुरुजी के उपर्युक्त कथन का भी यही अभिप्राय है । "राष्ट्र-संकल्पना" के सभी जिज्ञासुओं के विषय में भी श्री गुरुजी की यही अपेक्षा थी ।

नेशन और नेशनलिज्म

जहां नेशन या नेशनलिज्म से संबंधित प्रश्न उपस्थित होता है वहां सभी की दृष्टि संयुक्त राष्ट्र संघ (युनाईटेड नेशन्स आर्गनाईजेशन) पर जाती है । इस संगठन ने नेशन की जो कल्पना प्रस्तुत की है वह शास्त्र शुद्ध तथा वास्तविकता पर आधारित है क्या, इस पर विचार करने के कष्ट कोई नहीं उठाता । उनकी कार्यन्वयन क्षमता के विषय में तो सब जानते हैं, किन्तु सम्पूर्ण जगत की देखभाल करने का दावा करने वाला यह संगठन क्या "नेशन" की परिभाषा ठीक ढंग से कर सका है? इस पर विचार करने की आवश्यकता है ।

लीग ऑफ नेशन्स ने राज्य (State) और राष्ट्र (Nation) को पर्यायवाची (Synonymous) माना था । इस गलती के दुष्परिणामों के विषय में भारतीय चिन्तकों ने उस समय भी चेतावनी दी थी । प्रेसिडेंट विल्सन ने विभिन्न मित्र सत्ताओं की बात मानकर जो गलतियां की उनमें यह गलती प्रमुख थी कि उसके फलस्वरूप "अल्पसंख्यकों" का प्रश्न उठा , जिसकी परिणति द्वितीय महायुद्ध में हुई । आज का यू.एन.ओ. इस तरह की गलती से अछूता है क्या । या वह भी अपनी सदस्यता देते समय लीग ऑफ नेशनस के समान राज्य (State) और राष्ट्र (नेशन) को पर्यायवाची (Synonymous) मानता है । अभी-अभी कुर्द लोगों की जो समस्या सामने आई है वह इस दृष्टि से विचारणीय है । ईराक़, ईरान, सीरिया और तुर्की में बसे हुए कुर्द लोगों की संख्या लगभग दो करोड़ है । आज वे विभिन्न राज्यों (States) में बटे हुए हैं । सैद्धांतिकरूप से तो इनका अपना पृथक राष्ट्र-राज्य (Nation-State) बनना चाहिए था । उनकी आज की स्थिति प्रथम महायुद्ध के पश्चात् के चेकोस्लोव्हाकिया का स्मरण दिलाती है ।

लीग ऑफ नेशन्स की दृष्टि में यहूदी लोग "नेशन" के नाते प्रतिष्ठाविहीन थे । क्योंकि उनके पास उनकी अपनी भूमि नहीं थी । भूमि को 'नेशन-संकल्पना' का एक अविभाज्य अंग माना गया है । द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् यहूदियों ने अपने भूमि पुनः प्राप्त कर उसमें अपना प्रबल नेशन स्थापित किया । शताब्दियों तक निर्वासित यहूदियों की श्रद्धा का केन्द्र एक ही भूमि थी, यद्यपि वह उनके कब्जे में नहीं थी । यह एक अपवाद था । विशेष मामला था । परन्तु लीग ऑफ नेशन्स इस पर यथार्थवादी दृष्टिकोण नहीं अपना सकी ।

सम्पूर्ण विश्व के सभी लोगों की देखभाल करना है तो इस तरह पुस्तकीय या शास्त्रिक परिभाषाओं की मर्यादाओं को ध्यान में रखना होगा और उन मर्यादाओं में न आने वाले मानवसमूहों का यथार्थवादी दृष्टि से विचार करना होगा । बंजारा (घुमंतू) जाति के लोग, जिनको यूरोप में "रोमानीं" कहा जाता है, अभी तक मानव अधिकारों से वंचित है । अनेक देशों में इन बंजारों को मतदान का अधिकार नहीं है । कई देशों में तो उन्हें नगरों के भीतर रहने की भी अनुमति नहीं हैं । इनको मानवाधिकार दिलाना दुनिया के कोतवाल के नाते यू.एन.ओ. की जिम्मेवारी है । पुस्तकीय परिभाषा में न उलझते हुए यू.एन.ओ. को यह कर्तव्य पूरा करना चाहिए । विचारकों को भी यह सोचना चाहिए कि एक विशिष्ट भूखंड का स्वामित्व और उस भूमि पर निवास ये दो अर्हताएं क्या सभी मानव समूहों पर सभी परिस्थितियों में निरपवाद रूप से लागू करने का आग्रह शास्त्रशुद्ध रहेगा या परिभाषा की दृष्टि से श्वानम् युवानम् मघवानम् आहुः" का हास्यास्पद मार्ग न स्वीकार करते हुए यह गतिशील चिंतन यथार्थवादी एवं उपयुक्त रहेगा कि "अलग-अलग मानवसमूहों का विकास क्रम अलग-अलग रहा है, और उसके कारण उनमें विकसित एकात्मता भी गुणात्मक दृष्टि से भिन्न-भिन्न स्वरूपों की है, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हरएक मानव समूह की एकात्मता का अलग से अध्ययन करके, उसका स्वरूप, उसका गुणधर्म देखकर उसका वर्णन और उसके आधार पर उसकी परिभाषा करना सर्वथा वस्तुनिष्ठ और व्यावहारिक होगा ?

यूरोपीय उपनिवेशवाद को ध्यान में रखते हुए विचार किया तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि युनाईटेड नेशन्स आर्गनाइजेशन द्वारा अपने सदस्य-नेशन के नाते किसको मान्यता देना शास्त्रीय दृष्टि से उचित रहेगा ? यूरोपियों द्वारा व्याप्त देशों में आक्रामक यूरोपियों को "नेशन" के रूप में मानने की पद्धति रूढ़ हो गई है । किन्तु प्रश्न यह है कि ऐसे देशों में हरएक के मूल निवासियों का इस दृष्टि से क्या स्थान मानना चाहिए ? रेड इंडियन्स मूल निवासी है, उनमें एकात्मता का भाव विद्यमान है । क्या उनका यही कसूर है कि वे क्रूर आक्रान्ताओं का प्रतिकार सफलतापूर्वक नहीं कर सके ? आक्रामक श्वेतवर्णियों ने उनको अपने अन्दर आत्मसात् भी नहीं किया । उनको अलग बस्तियों में रहना पड़ता है । उनके ऊपर अपनी उपासना-पद्धति थोप दी तो भी इसके कारण दोनों में निकटता का भाव निर्माण नहीं हो सका । रेड इंडियन्स कहने लगे कि हमारे देश में जब ये यूरोपीय आए उस समय उनके हाथ में बाईबिल थी और हमारे हाथ में हमारी जमीन । किन्तु अब हमारे हाथों में बाईबिल है और उनके हाथों में हमारी जमीन । विशुद्ध पाशविक शक्ति के आधार पर, जिसकी लाठी उसकी भैस (Might is right) के न्याय के अनुसार दूसरों की भूमि हड़पने वालों को युनाइटेड नेशन्स सदस्य के नाते मान्यता दे, और "नेशन" की प्रतिष्ठा को प्राप्त करने की योग्यता रखने वाले मूल निवासियों की ओर ध्यान भी न दें, यह कहां तक तर्कसंगत है ?

कनॉडा को स्वातंत्र्य प्राप्त होने के पूर्व तक वहां के मूल निवासी इण्डियन्स का ब्रिटिश साम्राज्य के साथ हुआ एक समझौता प्रचलित था, जिसके अन्तर्गत उनको कुछ विशेष सहूलियतें प्रदान की गई थी । स्वतंत्रता प्राप्त होते ही कनॉडा की सरकार ने घोषणा की कि क्योंकि वह

समझौता हमारे साथ नहीं हुआ था इसलिए वह हमारे ऊपर लागू नहीं होता । अतएव उसके अन्तर्गत दी गई सहूलियतें जारी रखने का प्रश्न ही नहीं उठता । इण्डियन्स का कहना था कि चूंकि नई कनेडियन सरकार ब्रिटिश साम्राज्य सरकार की उत्तराधिकारी थी, इसलिए पूर्व सरकार के सारे अभिवचन इस नई सरकार के लिए भी बन्धनकारक माने जाने चाहिए । इस विवाद को किसी न किसी अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर, चाहे वह ब्रिटिश कॉमनवेल्थ का हो या युनाईटेड नेशन्स का, कैसे उठाया जा सकता है, इस चिन्ता से वे ग्रस्त हो गए । हड़पने वाले प्रतिष्ठा प्राप्त जिनसे भूमि जबरदस्ती छीन ली गई वे युनाइटेड नेशन की दृष्टि से प्रतिष्ठाहीन । (ऑस्ट्रेलिया को हड़पने वाले तो सब Criminal थे) । दक्षिण अफ्रीका के मूल निवासियों को "नेशन" का अधिकार क्यों नहीं प्राप्त हो रहा है ? इस विषय में युनाइटेड नेशन्स की अधिकृत भूमिका क्या शास्त्रशुद्ध है ?

ऑस्ट्रेलिया के मूल निवासियों के महानरसंहार नरसंहार (Genocide) को अब Fait accompli (निर्विवाद तथ्य) मान लिया गया है । उनकी संख्या कितनी थी, यह कोई नहीं बताता । किन्तु यह बताया जाता है कि उनमें २६० बोलियां-भाषाएं प्रचलित थी । स्पष्ट है कि उनकी जनसंख्या बहुत बड़ी थी । यूरोपियों द्वारा उनके महानरसंहार के पश्चात् यह संख्या कम हो गई । किन्तु क्या केवल संख्या की अल्पता के कारण ही उनको "नेशनहूड" की प्रतिष्ठा से वंचित रखा जा सकता है, और क्या केवल इसलिए कि उस भूखण्ड को दबाकर बैठे हुए श्वेतवर्णीय लोग नाराज न हो?

प्राकृतिक अनेकता से मानसिक एकता की और बढ़ने के मार्ग हर समाज के अलग-अलग हुआ करते हैं; तो भी इस विषय में कुछ सर्वसामान्य बातों की कल्पना कुछ विद्वानों ने प्रस्तुत की है ।

प्रारंभ में मानव कृषि की कला नहीं जानता था । इस कारण शिकार तथा पशुपालन ही उपजीविका के साधन थे । इन दोनों साधनों का स्वरूप ही ऐसा था कि उनको निरन्तर स्थानांतरण करना पड़ता था । इसलिए प्रारम्भिक अवस्था में घुमन्तू टोलियां (nomadic tribes) सर्वदूर थी । बिल्कुल अकेले रहना भी संभव नहीं था । क्योंकि अकेला व्यक्ति प्रकृति का, प्राणियों का या घुमन्तू टोलियों का प्रतिकार करने में स्वयं को असमर्थ पाता था । पर टोली के सदस्यों में गहन एकात्मता रहती थी । उपजीविका के साधनों के स्वामित्व के लिए विभिन्न टोलियों में संघर्ष भी होते थे । इस कारण टोली की संघर्ष क्षमता कायम रखने की दृष्टि से अनुशासन तथा नेतृत्व के प्रति निष्ठा की आवश्यकता सभी के ध्यान में आती थी । इस मानसिकता को ट्रायबलिज्म (Tribalism) —जनजातिवाद-संज्ञा दी गयी है ।

बाद में कृषि का अन्वेषण हुआ । उसके प्रति आकर्षण भी बढ़ने लगा । कृषि कार्य का स्वरूप ही ऐसा था कि, उसके लिए निरन्तर एक ही भू-भाग में निवास करना अपरिहार्य था । घुमन्तू टोलियों में से अधिकाधिक लोग धीरे-धीरे कृषि कार्य में रुचि लेने लगे, अतएव एक ही भू-भाग में निवास करने लगे । कुछ दिन तक घुमन्तू जातियां और स्थापित कृषि समुदाय (Settled

agricultural communities) साथ-साथ पनपने लगे । आगे चलकर स्थापित समूह (Settled communities) में रहने वालों की संख्या बढ़ती गयी और घुमन्तू लोगों की संख्या घटने लगी ।

कृषि कार्य के हेतु एक ही भू-भाग में निवास करने वाले लोगों में अपनी भूमि के प्रति आत्मीयता निर्माण होना स्वाभाविक था । निवासी जन तथा उनकी भूमि (blood & soil) में एकरूपता होने लगी । घुमन्तू अवस्था में यह संभव नहीं था । वे किसी भी एक स्थान पर अधिक समय तक रह ही नहीं सकते थे, इस कारण किसी भी भूमि विशेष के विषय में प्रेम निर्माण होने का प्रश्न नहीं उठता था । स्थापित समूह (Settled communities) निर्माण होने के पश्चात् भूमि विषयक आत्मीयता स्वाभाविक रूप से निर्माण हुई । इसको टेरिटोरियलिज्म (क्षेत्रवाद) संज्ञा प्राप्त हुई ।

इन विद्वानों का अभिप्राय है कि ऐतिहासिक विकास-क्रम में जहां-जहां ट्रायवलिज्म (Tribalism) और टेरिटोरियलिज्म (Territorialism) का संयोग (Synchronisation) एककालन हुआ वहां राष्ट्रीयता (Nationality) का निर्माण हुआ ।

इस विकास क्रम की दृष्टि से कौन सा मानव समूह किस अवस्था में है, क्या इसका शास्त्रीय मूल्यांकन यू.एन.ओ. ने किया है ? *

* * * * * * * * * * *

* किसी भी व्यक्ति या व्यक्ति समूह की किसी भूमि के साथ एकात्मता होने के लिए प्रदीर्घ साहचर्य की आवश्यकता हुआ करती है । केवल संवैधानिक प्रावधान, कानून की धारा या संसद के प्रस्ताव के आधार पर एकात्मता निर्माण नहीं हो सकती । क्योंकि यह संविधान आदि का प्रश्न नहीं, मनोविज्ञान की बात है । भारत पर आर्यों के आक्रमण के पश्चिमी सिद्धांत का खंडन करते हुए डॉ॰ बाबासाहव आंबेडकर जी ने जो तर्क प्रस्तुत किए उनमें एक यह भी था कि, " The language in which reference to the seven rivers is made in the Rig Veda (X. 75.5) is very significant. No foreigner would ever address a river in such familiar and endearing terms as 'My Ganga, my Yamuna, my Saraswati', unless by long association he had developed an emotion about it. In the face of such statements from the Rig Veda, there is obviously no room for a theory of a military conquest by the Aryan race of the non-Aryan races of Dasas and Dasyus."

डॉ॰ आंबेडकर जी के इस कथन के प्रकाश में अथर्व के निम्नलिखित मंत्र देखिए :—

(१) माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः । अथर्व १२/१/१२

(२) भूमे मातः । नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् अथर्व १२/१/६३
(३) मातरं/भूमिं धर्मणा धृताम् । अथर्व १२/१/१७
(१) मेरी माता भूमि और मैं उस मातृभूमि का पुत्र हूं ।
(२) हे मातृभूमि ! मुझे उत्तम रीति से सुरक्षित तथा कल्याणकारक परिस्थिति से युक्त रखें ।
(३) हमारी मातृभूमि की धारणा धर्म से होती है ।
भूमि के प्रति सबकी सामूहिक एकात्मता—
सा नः माता भूमिः । अथर्व १२/१/१०
वह हमारी माता भूमि ।

भारत में भूमि के साथ लोक समूह की इस प्रकार की एकात्मता जहां प्राचीन काल से रही है वहां पश्चिम में-(यूरोप) इस प्रकार की एकात्मता का निर्माण अति अर्वाचीन है । इंग्लैंड फ्रांस आदि देशों में यह एकात्मता अभी-अभी निर्माण हुई है । वहां 'इंग्लिशमेन', 'फ्रेंच' का सामूहिक भाव तो था, किन्तु भूमि के साथ एकात्मता नहीं थी । इस कारण वहां के शासकों को कहा जाता था—'King of the English', 'King of the Franks' । भूमि के साथ एकात्मता होने के बाद 'King of England', 'King of France' ऐसी शब्दावली प्रारंभ हुई। किंग जॉन प्रथम 'King of England' था ।

भूमि के साथ एकात्मता निर्माण होने के पूर्व यूरोप में जितने युद्ध हुए उनका आधार रिलिजन या राजवंश था । उदाहरणार्थ, चौदहवे लुई के साथ हुए इंग्लिश लोगों के युद्ध नेशन्स के युद्ध नहीं थे 'king's wars' (सम्राटों के युद्ध) थे । इंग्लैंड का विशुद्ध नेशन के स्तर का पहला युद्ध अठारहवी शताब्दी का "जेन्कीन्स इअर्स वार" था ।

(यूरोप के सभी नेशन्स, बच्चा नेशन्स हैं । नेपोलियन कहते हैं : "There are in Europe more than thirty million Frenchmen, fifteen million Italians, thirty million Germans....Out of each of these peoples, I wanted to make a united national whole.... For France, unity has been wrought; in Spain, it has proved unattainable; to establish the Italian nation, I should have needed twenty years; to make the Germans a nation would have required still more patience."

ग्रीस में नगर-राज्य थे, किन्तु 'ग्रीक नेशन' का निर्माण नहीं हुआ था । रोम भी नगर-राज्य था। रोम का साम्राज्य अर्थात् एक नगर राज्य का साम्राज्य 'रोमन नेशन' का साम्राज्य नहीं था, 'रोमन नेशन' अस्तित्व में नहीं था ।

* * * * * * * * * * *

प्राकृतिक अनेकता से मानसिक एकता की ओर बढ़ने का प्रयास जिस बिन्दु पर सफलतापूर्वक समाप्त होता है, उसी बिन्दु से राष्ट्रीयता (Nationhood) का प्रारंभ होता है ।

इस दृष्टि से विचार किया जाए तो यह शोध और अन्वेषण का विषय है कि कितने पाश्चिमात्य समाजों में यह प्रयास सफलता तक पहुंचा है ।

उदाहरणार्थ कनॉडा की बात लीजिए । युनाइटेड नेशन्स में कनॉडा भी नेशन माना गया है । किन्तु क्या वहां इस प्रकार की मानसिक एकता निर्माण हुई है ? क्या यह सही नहीं है कि किसी अच्छे परिवार या समाज में भी व्यक्तिगत स्वार्थ या बाहर के भड़काने वाले लोगों की दुष्प्रेरणा के कारण झगड़े खड़े हो सकते हैं । परन्तु परिवार या समाज में मूलभूत एकात्मता रहे तो फूट के ऐसे सभी प्रयासों को मात देने की क्षमता उसमें विद्यमान रहती है । तात्कालिक, स्वार्थजन्य या बाहरी दुष्प्रेरणा के फलस्वरूप निर्माण हुए भेद ऊपर की बात है । मूलभूत एकात्मता सभी विषम स्थितियों को हजम कर लेती है । क्या ऐसा कहा जा सकता है कि कनॉडा का प्रवास इस मूलभूत एकात्मता के लक्ष्य की ओर पूर्ण हुआ है ? क्या विवेक केन्द्रित फ्रांसीसी मूल के लोगों का समूह शेष कनाडा के एग्लो सेक्सन (Anglo saxon) लोगों की संस्कृति या राष्ट्रीयता (Nationalism) के साथ एकात्म हो गया है ? जनरल द गॉल के कनाडा प्रवास के समय जो दृश्य वहां उपस्थित हुए उसके कारण कनाडा की एकात्मता पर प्रश्न चिन्ह लग जाता है ।

युनाईटेड स्टेट्स आफ अमेरिका की अवस्था और भी शोचनीय है । समृद्ध परिवार के साथ अपना रिश्ता बताना प्रतिष्ठा का लक्षण माना जाता है । किन्तु परिवार की समृद्धि नष्ट होने के बाद कितने लोग उस परिवार के लोगों को अपना रिश्तेदार बताएंगे, यह संदेह की बात हो जाती है । आज अमेरिका समृद्ध है । किन्तु क्या अमेरिका वासियों में मूलभूत एकात्मता निर्माण हुई है? मूलतः एग्लोसेक्शन (Anglo-saxon) संस्कृति वाले लोग प्रभावशाली है । फिर भी बाहर के विभिन्न देशों और विभिन्न मूल वंशों के जो लोग अमेरिका में जाकर बसे उनको एकात्म करना प्रारंभ से ही कठिन प्रतीत होने लगा ।

प्रारंभ में बाहर के सभी लोगों के लिए मुक्त द्वार रखने की नीति उदारता की परिचायक मानी गयी । किन्तु अनुभव के आधार पर बाहर से आने वाले हर देश या वंश के लोगों की संख्या पर नियंत्रण लगाना आवश्यक प्रतीत होने लगा । प्रथम महायुद्ध के समय युनाइटेड स्टेट्स के जर्मन मूल के लोगों ने युद्धरत जर्मनी के साथ खुली सहानुभूति प्रकट की और युनाइटेड स्टेट्स के अंतर्गत स्वायत्त जर्मन राज्य की मांग की । अमेरिका के महायुद्ध में प्रत्यक्ष रूप से कूदने के पूर्व से ही जर्मन लोगों के नेताओं की गिरफ्तारियां शुरू हुई थी । इस अनुभव के आधार पर प्रथम महायुद्ध के पश्चात् नेताओं ने Anglo Saxon Acculturation कार्यक्रम जोरों से चलाया । उसके विरोध में प्रतिक्रिया होने के पश्चात् यह प्रयास शिथिल किया गया । किन्तु अभी भी विभिन्न मूल-वंशीय लोगों को आत्मसात् करने का प्रयोग वहां सफल नहीं हुआ है । इस शताब्दी के सातवें और आठवें दशक में इसी दृष्टि से अमेरिका में मिश्रित बस्तियों के निर्माण का एक नया प्रयोग

चलाया गया । मिश्रित बस्ती अर्थात् ऐसी बस्ती जिसमें भिन्न मूल-वंशीय लोग एकत्रित आकर बसें । इस योजना की अंतिम परिणति क्या हुई यह प्रकाशित नहीं हुआ । किन्तु सब लोग यह जानते हैं कि नीग्रों वंशीय तथा प्यूर्टोरिकन, मेक्सिकन, रेड इंडियन आदि लोगों का अलगाव अभी तक समाप्त नहीं हुआ, यद्यपि अलगांव की भावना धीमे-धीमे कम हो रही है ।*

आज की इस अवस्था में क्या यह कहा जा सकता है कि प्राकृतिक अनेकता से मानसिक एकता की ओर चल रहा युनाइटेड स्टेट्स का प्रवास अंतिम सफलता के बिन्दु तक अर्थात् राष्ट्रीयता (Nationhood) तक पहुंच गया है ?

यह सही है कि ऑस्ट्रेलिया के श्वेतवर्णियों के सामने नृजातीय (ethnic) समस्या नहीं है । क्योंकि ऑस्ट्रेलियन श्वेतवर्णियों में ९३.४ प्रतिशत लोग ब्रिटिश मूल के हैं और बचे हुए में इटालियन, ग्रीक, युगोस्लावियन, डच तथा अन्य लोग शामिल हैं ।

अफ्रीका

दक्षिण अमेरिका पर आक्रमण करने वाले श्वेतवर्णिय बड़ी मात्रा मूल निवासियों के साथ घुलमिल गए । किन्तु यह प्रक्रिया अफ्रीका में नहीं चली । विभिन्न आक्रामक यूरोपियों का जहां-जितना वश चला वहां उतना प्रदेश उन्होंने अपने कब्जे में ले लिया और वहां अपना-अपना राज्य घोषित किया । उस समय अफ्रीका में विकसित नेशन्स विद्यमान नहीं थे । वहां अलग-अलक टोलियां विद्यमान थी । एक ही यूरोपीय सत्ता के राज्य में एक से अधिक टोलियों का अस्तित्व, साधारणसी बात थी । एक राज्यान्तर्गत विद्यमान विभिन्न टोलियों के आपस में एकात्म होने के पूर्व ही उन प्रदेशों से हटना और वहां के लोगों के हाथ में शासन की बागडोर देना यूरोपीय साम्राज्यसत्ताओं के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के दबाब के कारण, अनिवार्य हो गया । राजनीतिक दृष्टि से ये प्रदेश स्वतंत्र हो गए । उनको स्वतंत्र राज्यों की प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। किन्तु राज्य एक होते हुए भी उसके अंतर्गत रहने वाली विभिन्न टोलियां अपना-अपना स्वतंत्र और पृथक अस्तित्व बनाए हुए है, और इस कारण राज्य में वह एकात्मता नहीं आ सकी जो "नेशनहुड" के लिए अनिवार्य शर्त के रूप में है । द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अफ्रीका के अधिकतर भागों में यह दृश्य निर्माण हुआ । यू.एन्.ओ. के नेताओं ने एकात्मता विहीन ऐसे अनेक अफ्रीकन राज्यों को "नेशन" के रूप में मान लिया । "राज्य" और "नेशन" दो भिन्न संकल्पनाएं हैं । अफ्रीका के राज्यो के विषय में यह अनुभव में आता है कि अफ्रीका में लगभग ६,००० टोलियां हैं । इनमें से कितनी टोलियां एक राज्यत्व के कारण आपस में इतनी घुलमिल गई है कि उनको " नेशन" का नामाभिधान शोभा देगा ?

नेशन का स्वरूप तथा उसकी परिभाषा यूरोप में समय-समय पर परिवर्तित होती रही है । किन्तु ये परिवर्तन भी यूरोप की परिस्थिति की पृष्ठभूमि में ही स्वीकार किए गए । अफ्रीका महाद्वीप का गहराई से अध्ययन करने के बाद उनको यह अनुभव होने लगा कि गैर यूरोपियों

संस्थाओं, परिस्थितियों तथा प्रक्रियाओं का आकलन यूरोपीय मापदण्ड के आधार पर करना अवास्तविक हो सकता है । Nathan M. Shamuyarira कहते हैं "Experience in the first decade of the independence of most of Africa has changed our notion of nation building" । दूसरे महायुद्ध के पश्चात् अमेरिका ने अफ्रीका का बारीकी से अध्ययन करना प्रारंभ किया ।

जैसा ऊपर बताया गया है अफ्रीका में लगभग ६००० जनजातियां हैं, उनमें ८०० से १००० तक बोलियां और भाषाएं प्रचलित हैं । यूरोपीय मानस की पूर्वग्रहयुक्त धारणा के विपरीत एक तथ्य स्पष्ट रूप से अफ्रीका के संदर्भ में ध्यान में आया कि वंश, संस्कृति और भाषा की एकरूपता इस खंड में अनिवार्य रूप से नहीं दिखाई दी ।

Encyclopedia Britannica मे लिखा है 'It is difficult to find strict correlations between linguistic, cultural and racial groupings either in Africa or elsewhere in the world, Groups speaking identical or closely related languages may be strikingly different racially, culturally, or both, while groups that are very similar racially and culturally may speek different and even unrelated languages" उपनिवेशवादी अशास्त्रीय विचार पद्धति के कारण ही अल्जीरिया, टयूनीशिया, लीबिया और मोरोंक्को को अलग-अलग इकाइंयां माना गया । वास्तव में चारों मिलकर एक इकाई मानी जानी चाहिए थी ।

दक्षिण अमेरिका

इस संकलन के वर्ण्य विषय की दृष्टि से जितनी विस्तृत तथा अधिकृत जानकारी उत्तर अमेरिका के बारे में मिलती है उतनी दक्षिण अमेरिका के विषय में उपलब्ध नहीं है । *

* * * * * * * * * * *

* केवल "नेशनलिज्म" का ही नहीं, सर्वसाधारण तत्वज्ञान (दर्शन) के बारे मे भी यही हाल है । "पाश्चात्य तत्वज्ञान" शब्द प्रयोग करने वाले व्यक्ति के मन में यूरोप, ग्रेट-ब्रिटेन तथा युनाइटेड स्टेट्स की तत्वज्ञान (दर्शन) प्रणालियां ही रहती है । लेटिन अमेरिका के तत्वज्ञ (दार्शनिक) तथा उनके तत्वज्ञान का विचार साधारण व्यक्ति के मन में नहीं आता । क्योंकि प्रचलित (एंगलो-सेक्सन प्रभावित) पाश्यात्य तत्वज्ञान के इतिहास में दक्षिण अमेरिका को स्थान नहीं है । श्री फुहकर ने अपने 'A History of Philosophy' में लेटिन अमेरिका के लिए दो अध्याय दिए हैं । किन्तु इसके कारण प्रचलित पाश्चात्य तत्वज्ञान के इतिहास का एकांगीपन या एकदेशीयता समाप्त नहीं होती ।

ब्राजील के लुई पेरिरा बारेतो (Luis Pareira Barretto), मेक्सिकों के गाविनो वारेदा (Gabino Barrada) पेरू के मारियानो (Marriano Cornejo), चिली के लास्तारिआ (Lastarria), वोलीबिया के बेंजामिन फर्नांडिस (Benjamin Fernandes), अर्जेण्टिना के जे. आलफ्रेडो फेरिरा (J. Alfredo Ferreira), क्यूबा के के. एनरिक जोस वॅरोना (Enrique Jose Varona), पेरू के आलेयांद्रो दूस्तुआ (Alejandro Deustua), उरुग्वे के जोस एनरिक रोडो (Jose Enrique Rodo), तथा मेक्सिको के जुस्तो सीरा (Justo Sierra) आदि तत्वज्ञों के नाम भी एंगलोसेक्सन जगत में सुपरिचित नाम नहीं है । फिर उनके तत्वज्ञान के परिचय की बात दूर की रही ।

इस कारण "नेशनलिज्म" के विषय में भी वहां के विद्वानों के विचार यहां उपलब्ध नहीं है ।*

वैसे तो सांस्कृतिक दृष्टि से नॉन-एग्लोसेक्सन मेक्सिको मध्य अमेरिका का ही एक हिस्सा माना जाता है, और पूरे पश्चिमी गोलार्ध को उत्तर अमेरिका, मध्य अमेरिका, और दक्षिण अमेरिका तीन हिस्सों मे बांटा जाता है । कुछ विद्वान मध्य तथा दक्षिण अमेरिका को एक ही वर्ग में गिनते हैं ।

दक्षिण अमेरिका में आकर बसने वाले यूरोपीय नवागत जहां-जहां स्थानीय मूलनिवासियों के साथ घुलमिल गए वहां-वहां उन्होंने उनको (स्थानीय लोगों को) सांस्कृतिक दृष्टि से अंपने-अपने मातृ देशों की संस्कृतियों के साथ एकात्म करने का प्रयास प्रारंभ किया । उत्तर अमेरिका में यूरोप से आने वाले विभिन्न देशीय तथा मूल वंशीय आगंतुकों की संख्या अधिक थी । दक्षिण अमेरिका में इस तरह यूरोप से आने वालों की संख्या कम थी । तो भी ऐसे भिन्न देशीय तथा भिन्न (वंशीय आगंतुकों का अपनी मातृदेशीय संस्कृति के साथ अभिसरीकरण का प्रयास सभी देशों में चलता रहा । किन्तु इन प्रयासों के परिणामों के विषय में अद्यावत् जानकारी उपलब्ध नहीं है । यह जानकारी एकत्रित करने की प्रक्रिया अभी पूरी नहीं हुई है । उदाहरणार्थ, ब्राजील का सबसे बड़ा राज्य अमाजोनिया है । इसकी भूमि पर यूरोपियों का पदार्पण सन् १५४१ में हुआ था । किन्तु विभिन्न पहलुओं से इस राज्य की सर्वांगीण जानकारी अब तक संकलित नहीं हुई । अभी भी अमेरिकन जिओग्राफीकल सोसायटी, संयुक्त राष्ट्र संघ की कुछ संस्थाएं तथा कुछ और भी अन्य स्वतंत्र संस्थाएं इस कार्य में जुटी हुई हैं । अन्य दक्षिण अमेरिकी देशों की भी यही स्थिति है । इस कारण वहां के विभिन्न राज्यों, देशों या भागों के बारे में निर्णयात्मक रूप से कुछ लिखना इस समय संभव नहीं है । यद्यपि इस तरह की पूरी जानकारी प्राप्त नहीं हुई तो भी मोटे तौर पर कुछ तथ्य सामने आते हैं :—

१. स्पेनी मूल के यूरोपीय आगन्तुक जिस तरह मूल निवासियों में घुलमिल गए उस तरह पुर्तगाली मूल के आगन्तुक अपने प्रदेश के मूल निवासियों के साथ समरस नहीं हुए ।

२. मूल निवासियों से समरस होने के पश्चात् स्पेनी मूल के आगन्तुकों ने अपना दक्षिण

अमेरिकन भूमि के साथ रिश्ता पक्का कर लिया , मूल देश स्पेन के साथ मानसिक दृष्टि से वे जुड़े नहीं रहे, और 'हम विजेता हैं' तथा 'मूल निवासी विजित हैं' यह भाव अपने मन में उन्होंने नहीं रहने दिया । मूल निवासियों सहित हम सब एक ही स्थानीय समाज के अंश हैं, यही भावना उनके मन में रही ।

३. मेक्सिकों में रहने वाले यूरोपीय तथा मूल निवासियों के समरस समाज में यह इच्छा जागृत हुई कि स्पेनी लोगों का आगमन होने के पूर्व जो मूल राष्ट्रीय संस्कृति मेक्सिकों में विद्यमान थी उसके विषय में अधिकाधिक जानकारी प्राप्त कर लेना चाहिए और वर्तमान स्थिति में उस प्राचीन राष्ट्रीय संस्कृति के कितने अंश पुनरूज्जीवित किये जा सकते हैं यह देखना चाहिए। मेक्सिको के संपूर्ण समरस समाज का मानसिक झुकाव स्पेनिश-पूर्व राष्ट्रीय संस्कृति की ओर हुआ । इस तरह की मानसिकता अन्य स्पेनिश प्रभावित किन्तु समरस दक्षिण अमेरिका समाजों में मेक्सिकन समाज की तरह तीव्रता से अब तक निर्माण नहीं हुई है । *

* * * * * * * * * * *

* दक्षिण अमेरिका में वांशिक अभिसरीकरण होने का प्रमुख कारण यह है कि इस विषय में मूल निवासियों तथा आगन्तुक श्वेतवर्णीयों की मानसिकता एक सी है । किन्तु यह सर्वत्र संभव होना संभव नहीं है । जहां परंपरागत अस्मिता का आग्रह है वहां यह नहीं हो सकता । उदाहरण के लिए दक्षिण अफ्रीका का महाकवि बेंजामिल मॉलवाज, या कृष्णवर्णी नायजेरियन, नोबल पुरस्कार विजेता लेखक प्राध्यापक बोल सोपिंग, इनका जो कुछ साहित्य उपलब्ध है उसको संकेत रूप मान लिया जाए तो अफ्रीका में इस वांशिक अभिसरीकरण की प्रक्रिया को मूल निवासियों के गले उतारना लगभग असंभव प्रतीत होता है । उनकी पीड़ा यह है कि "श्वेतवर्णीयों का सम्पर्क बढ़ने के बाद हम हमारी जड़ों से कट जाते हैं ।" प्रतिकार की यह भावना वहां अधिक व्यापक दिखाई देती है । उदाहरणार्थ, विएतनामी लोगों को ऐसा संकर रक्त स्वीकार नहीं है । विएतनाम में अमेरिकन सैनिक और विएतनामी महिलाओं से "अमेरिजियन" प्रजा निर्माण हुई । उनकी संख्या पचास हजार थी । विएतनाम के आग्रह के कारण इन सब लड़कों को अमेरिका ले जाने का निर्णय करने के लिए प्रेसिडेंण्ट रीगन को बाध्य होना पड़ा । इन लड़कों को केवल विएतनामी भाषा आती थी ।

सन् १९४५ से १९५४ तक इण्डोचायना युद्ध के समय फ्रेंच सैनिक और विएतनामी महिलाओं के संयोग से ३००० से अधिक "यूरेशियन" बच्चे पैदा हुए । विएतनाम ने उनको स्वीकार नहीं किया । अंत में सन् १९७७ में फ्रेंच सरकार को विशेष आदेश देकर इन लड़कों

को फ्रांस ले जाकर उनको फ्रांसीसी नागरिकता प्रदान करनी पड़ी ।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् ६ वर्ष तक जापान पर अमेरिका का प्रभुत्व था । उस अवधि में जिन जापानी गीशाओं के साथ अमेरिकनों का प्रेम विवाह हो गया, उन गीशाओं को जापान ने अमेरिका भेज दिया ।

* * * * * * * * * * *

अपनी साम्राज्य सत्ता की सुविधा के लिए अंग्रेजों ने हेतुपूर्वक कई धारणाएं प्रचारित कीं । इनमें एक धारणा यह थी कि भूतकाल में भारत कभी भी एक राष्ट्र के रूप में नहीं रहा, अंग्रेजों का एकछत्र साम्राज्य सम्पूर्ण देश में स्थापित होने के पश्चात् तथा उसके फलस्वरूप, भारत में राष्ट्रभाव का उदय होने लगा, राजनीतिक शासकीय एकता के कारण ही "एकराष्ट्र " की भावना का निर्माण संभव हो सका और इस दृष्टि से भारत की राष्ट्रीयता भारतीयों को अंग्रेजों की देन है—जिसके लिए हमें अंग्रेजों के प्रति सदैव कृतज्ञ रहना चाहिए । हम अभी राष्ट्र बन रहे हैं ।

'Nation in the making'

ऐसा अंग्रेजों ने कहा और "साहबवाक्यं प्रमाणम् " मानने वाले भारतीय विद्वानों ने उनकी इस बात को स्वीकार करके प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया । यदि कोई राष्ट्रवादी इसका प्रतिवाद करता तो ये मेकाले के मानसपुत्र उसके साथ शास्त्रार्थ करने के लिए तैयार हो जाते । वे प्रतिप्रश्न करने "आपका तथाकथित सनातन राष्ट्र क्या हमारी "नेशन" की परिभाषा में ठीक ढंग से बैठ सकता है? पाश्चात्य लोगों द्वारा तैयार की हुई "नेशन" की परिभाषा में आपका "राष्ट्र " नहीं बैठता तो उसे "राष्ट्र " की संज्ञा तथा प्रतिष्ठा कैसे प्राप्त हो सकती है ? यदि यह प्रतिष्ठा प्राप्त करनी हो तो आपके "राष्ट्र " शरीर को पाश्यिमात्यों की "नेशन" की परिभाषा की खटिया Procrustian Bed पर सुलाइए, उस खटिया की लम्बाई के अनुसार काट छांटकर उसका शरीर ठीक फिट कीजिए, पश्चिम के बच्चा "नेशन्स" के लिए परिभाषा के जो छोटे किन्तु आकर्षक वस्त्र तैयार किए गए हैं उनमें आपके प्रौढ़ राष्ट्र का शरीर पूरी तरह समाना चाहिए, यदि वह नहीं समा सकता तो उसे "राष्ट्र " की संज्ञा नहीं दी जा सकती । यह प्रतिष्ठा प्राप्त करनी हो तो इस प्रौढ़ को चारों ओर से अपने अवयव काटकर स्वयं अपने को नवजात शिशुओं के नूतन किन्तु छोटे कपड़ों में समाने का प्रयास करना चाहिए ।"

पहली बात यह कि वस्तु या प्रक्रिया और उसकी परिभाषा में अन्योन्याश्रित संबंध कैसे हुआ करते हैं, इस विषय में क्या प्रकृति तथा शास्त्रीयता का मार्गदर्शन उपलब्ध है ? यदि है तो वह क्या है ?

"सोशिओलॉजी" शब्द का निर्माण ऑगस्ट कॉमटे ने सन् १८३९ में किया । किन्तु शताब्दियों पूर्व प्लेटो के समय से समाज रचना के विषय में प्रासंगिक अविकसित अध्ययन प्रारंभ हो चुका था । हमारे देश में समाजशास्त्र का विकसित अध्ययन ऋग्वेद में पाया जाता है ।

किन्तु प्रथम मानव समाज का निर्माण ऋग्वेदकाल के पूर्व सहस्रों वर्ष पूर्व हो चुका था ।

ऐसा माना जाता है कि शास्त्र के नाते मनोविज्ञान का निर्माण पश्चिम में फ्राइड ने किया । भारत में मनोविज्ञान का विकसित रूप पतंजलि में देखने को मिलता है । किन्तु मनुष्य का मन तथा मनोव्यापार का उदय पंतजलि से भी पूर्व हो चुका था ।

प्रथमतः स्वरों से रागों तक का विकास हुआ और उसका क्रमशः अनुसरण करते हुए संगीत शास्त्र का विकास हुआ ।

संस्कृत को सबसे अधिक शास्त्रीय भाषा माना जाता है किन्तु उसके विषय में भी विकास क्रम इस तरह का नहीं रहा कि सर्वप्रथम पाणिनी का व्याकरण तैयार हुआ और उसके पश्चात् उस व्याकरण के प्रकाश में भाषा का निर्माण हुआ हो संस्कृत का विकास क्रम, इसके विपरीत बिल्कुल स्वाभाविक रहा । प्रथम भाषा प्राकृत हुई । उसका संस्कार होकर परिनिष्ठित भाषा संस्कृत बनी। उसकी प्रकृति का सर्वांगीण अध्ययन किया गया । उसके प्रकाश में अष्टाध्यायी और सिद्धांत कौमूदी की रचना हुई । शब्दभंडार भरपूर होने पर अमरकोष बना ।

अंग्रेजी भाषा के विषय में भी यही क्रम रहा है । इस भाषा का निर्माण डॉ॰ जॉनसन के प्रथम शब्दकोष के आधार पर नहीं हुआ । पहले भाषा विकसित हुई और उसके गुणधर्मों का बारीकी से अध्ययन करने के पश्चात् उस भाषा का प्रथम शब्दकोष तथा व्याकरण बनाया गया ।

फिलासिफीकल कल्चरल ॲन्थ्रॉपॉलॉजी का प्रारंभ इस शताब्दी के द्वितीय दशक में हुआ, आधुनिक ॲन्थ्रॉपॉलॉजी का उदय १९वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में हुआ ।ॲन्थ्रॉपॉलॉजी संज्ञा का प्रथम प्रयोग १६ वीं शताब्दी के अंत में किया गया तो भी इस विषय पर अनौपचारिक ढंग से सोच-विचार का दर्शन पांचवी शताब्दी के प्रोटागोरस तथा सुकरात, हिप्पोक्रेटस, अरस्तु, हिरोडाट्रस तथा थुसिडिडस में पाया जाता है । किन्तु इन सबके विचार तथा अध्ययन का विषय बना हुआ मानव तथा मानव समाज प्रोटागोरस के सहस्रों वर्ष पूर्व भी अस्तित्व में था । ऐसा नहीं हुआ कि मॉण्टेन का 'Essais', मार्ग्रेन का 'Ancient Society' तथा आलफ्रेड एल. फ्रोबर द्वारा संपादित 'Anthropology Today' इस साहित्य का लेखन पहले हुआ हो, और इसमें कथित विवरण को प्रमाण मानकर प्रथम मानव ने या प्रथम मानव समाज ने धरती पर पदार्पण किया हो । प्रथम मानव तथा मानव समाज का निर्माण-विकास, बाद में उसका सूक्ष्म अध्ययन, अध्ययन पर आधारित विवरण, और उसमें से निकलने वाले निष्कर्षों के प्रकाश में उसकी परिभाषा यही क्रम स्वाभाविक तथा अपरिहार्य है ।

सारांश

निसर्गसिद्ध तथा शास्त्रसम्मत क्रम यही दिखाई देता है कि प्रथम वर्ण्य वस्तु या प्रक्रिया अस्तित्व में आती है या उसका निर्माण होता है । तत्पश्चात् उसकी संवीक्षा करते हुए उसके आधार पर उसका सर्वंकष वर्णन या विवरण होता है, बाद में विवरणों में ग्रथित तथ्यों की विश्लेषणात्मक

शास्त्रीय रचना होती है, उसके प्रकाश में प्रकट होने वाले गुणधर्मों तथा नियमों को एकत्रित कर उस वस्तु या प्रक्रिया की शास्त्रीय परिभाषा की जाती है । यह क्रम निरपवाद रूप से सभी शास्त्रीय चर्चाओं में पाया जाता है । पहले परिभाषा बना लेना और फिर उस परिभाषा के अनुसार वर्ण्य वस्तु या प्रक्रिया होनी चाहिए, यह आग्रह रखना अशास्त्रीय है। किन्तु पाश्चिमात्यों के भारतीय मानसपुत्रों ने राष्ट्र संकल्पना के विषय में इसी तरह का बचकाना आग्रह रखा और कहा कि आपका हिन्दू राष्ट्र पश्चिमी नेशन की परिभाषा में ठीक बैठता है या नहीं यह देखकर इस विषय में निर्णय लेना चाहिए ।

उनकी यह विचार पद्धति अशास्त्रीय तो थी ही, साथ ही आश्चर्य की बात यह थी कि जिस नेशन की परिभाषा के चौखट, Procrustian Bed में वे हिन्दू राष्ट्र को फिट करना चाहते थे उस नेशन की परिभाषा के विषय में पश्चिम में ही कितनी चर्चाएं हुई । कितने परस्पर भिन्न विवरण प्रस्तुत किए गए । काल के प्रवाह में ऐतिहासिक घटनाक्रम के परिणाम स्वरूप विभिन्न परिभाषाओं में किस तरह परिवर्तन आते गए, और इस स्थिति के फलस्वरूप नेशन शब्द की पश्चिम के सभी लोगों को स्वीकार हो इस तरह की एक परिभाषा निश्चित करना आज कितना असंभव तथा अव्यवहार्य हो गया है, इसकी जानकारी इन प्रगतिशील विद्वानों को नहीं है, यह भी अब स्पष्ट हो चुका है । कुछ दशकपूर्व पश्चिम में यह माना जाता था कि किसी भी संकल्पना की सर्वमान्य परिभाषा यदि उपलब्ध नहीं हुई तो वह संकल्पना ही अस्तित्वहीन मानी जानी चाहिए। उसे एक कल्पना मात्र मानना चाहिए । यदि उसको अवास्तविकता की श्रेणी में न डालना हो तो उसकी सर्वमान्य परिभाषा प्रस्तुत करनी ही चाहिए ।

बाद में अनुभव के आधार पर उनके ध्यान में आने लगा कि कई शास्त्रशुद्ध सत्य या संकल्पनाएं ऐसी हैं कि जिनको परिभाषा की चौखट में बिठाना न संभव है और न व्यावहारिक दृष्टि से आवश्यक ही । भारत में यह तथ्य प्राचीन काल में ही हमारे दृष्टाओं के ध्यान में आया था और तथ्य को परिभाषा की चौखट में बिठाने की दृष्टि से अपनी असमर्थता को "नेति" शब्दों में स्वीकार करने का नैतिक साहस भी उन्होंने दिखाया था । यह संतोषजनक बात है कि इस मानसिकता को समझने की क्षमता कुछ पश्चिमी विचारकों में अब आ रही है । हमारे प्रगतिशील बुद्धिवादी इस साक्षात्कार तक अभी नहीं पहुंचे हैं । वे अभी दशकों पूर्व की धारणा से ही चिपक कर चल रहे हैं कि हर तथ्य की सर्वमान्य परिभाषा उपलब्ध होनी ही चाहिए ।

उनकी जानकारी के लिए केवल एक ही बात उदारहण के रूप में प्रस्तुत करना पर्याप्त होगा । "राष्ट्र" या "नेशन" से अधिक विशाल आशय रखने वाली संकल्पना है मानव अधिकारों Human Rights की । पश्चिम में इस संकल्पना का बीजारोपण मध्ययुगीन नैतिक तथा राजनीतिक विचारप्रणालियों से हुआ, और जॉन लॉक, ह्यूगों, ग्रोश्यिस, रूसो तथा थॉमस पेन के साहित्य से इसको बल प्रदान हुआ । मतलब यह कि मानव अधिकार की संकल्पना नई नहीं है । उसके पीछे कई शताब्दियों का इतिहास है । और १० दिसम्बर १९४८ को संयुक्त राष्ट्र संघ की महासमिति

द्वारा मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा Universal Declaration of Human Rights को स्वीकार करने के पश्चात् इसको जागतिक मान्यता तथा प्रतिष्ठा भी प्राप्त हुई है ।

यह सब होते हुए भी "मानव अधिकार" (Human Rights) की सर्वमान्य परिभाषा आज भी उपलब्ध नहीं है, हालॉकि ऐसी परिभाषा के अभाव के कारण यह संकल्पना ही अवास्तविक या अस्तित्वहीन हो चुकी है, ऐसा कहने का साहस कोई बुद्धिमान व्यक्ति नहीं कर सकता ।

"Human Rights in the Changing World"

की भूमिका में भारत के पूर्व मुख्य न्यायमूर्ति श्री आर. एस. पाठक ने इस बात पर पर्याप्त प्रकाश डाला है । वे कहते हैं "The principal difficulty lies in the nonavailability of an adequate substantive definition of human rights. The definition provided by Richard Wasserstrom reflecting the common general understanding of the concept, fails as an insufficient and simplistic definition".

किन्तु इसके कारण "मानव अधिकार" की संकल्पना को अर्थहीन नहीं माना जा सकता ।

यही बात "राष्ट्र" या "नेशन" के विषय में भी सही है ।

वैसे तो इससे भी बुनियादी तत्व के विषय में मामला इसी तरह का है । हमारे "प्रगतिशील सर्वज्ञ" बुद्धि के ठेकेदार हैं । दुनिया की हर चीज की परिभाषा (definition) इनकी जेब में है । परिभाषा के बिना कोई भी विचार शास्त्रीय नहीं हो सकता ऐसा उनका दावा है । जिसकी सर्वमान्य परिभाषा उपलब्ध नहीं उसका अस्तित्व स्वीकार करना उनकी दृष्टि से अशास्त्रीय है ।

पाश्चिमात्य वैज्ञानिक इतने "विद्वान" नहीं है । क्योंकि दुर्भाग्य से वे प्रामाणिक (honest) भी है । वे स्वीकार करते हैं कि जिसकी परिभाषा उपलब्ध नहीं ऐसी वस्तु भी अस्तित्वमान हो सकती है ।

"प्रतिगामी हिन्दूराष्ट्र समर्थक" और हवा में छलांग लगाने वाले बुद्धि के ठेकेदार दोनों के लिए सबसे महत्वपूर्ण तत्व है-जीवन (life) । पश्चिम का आयुर्विज्ञान (Medical Science) यह स्वीकार करने में संकोच नहीं रखता कि जीवन (life) की परिभाषा (definition) उसके पास उपलब्ध नहीं है । तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जीवन का अस्तित्व है भी या नहीं ।

शास्त्र चर्चा में परिभाषा का महत्व अवश्य है । किन्तु यह महत्व असीम या निरपवाद नहीं है। उसकी कुछ मान्य सीमाएं हैं ।

जीवन (life) की परिभाषा क्या है, यह प्रश्न कुछ जिज्ञासु युवकों ने श्री जे. कृष्णमूर्ति से पूछा। जीवन के विविध पहलुओं का विवरण करने के बाद श्री जे. कृष्णमूर्ति ने कहा 'Life is all things. But how do our petty, confused minds approach life? That is important, and not the definition or description of what life is. On our approach to life, all questions and answers depend'.

यह अभिप्राय सभी महत्वपूर्ण तथ्यों तथा संकल्पनाओं के विषय में इतना ही सत्य है ।

"मानव अधिकार" संकल्पना का स्वरूप तथा परिभाषा काल क्रमानुसार परिवर्तित होती गई। इसी कारण First Generation Human Rights, Second Generation Human Rights, Third Generation Human Rights. यह शब्दावली प्रचलित हुई ।

"नेशन" संकल्पना का स्वरूप तथा परिभाषा भी काल क्रमानुसार बदलती गई । प्रथम महायुद्ध के पूर्व का कालखंड, प्रथम महायुद्धोत्तर कालखंड, द्वितीय महायुद्ध पूर्व का कालखंड, द्वितीय महायुद्धोत्तर कालखंड में इसकी परिभाषा में परिवर्तन हुआ ।

ऐसा नहीं है कि एक ही कालखंड में, जैसे आज की स्थिति में "मानव अधिकार" संज्ञा के उच्चारण सें, दुनिया के सभी लोगों के मन में एक ही प्रतिमा निर्माण होती है । संकल्पना का रूप सबके लिए एक समान न होने का एक कारण है । दृष्टिकोण (Approach) की भिन्नता । Natural law approach, Historical approach, positivist approach, Marxist approach । दूसरा कारण है विभिन्न समाजों के ऐतिहासिक उत्क्रमण की भिन्नता । एक तो सामान्यतः उत्तरी देशों तथा दक्षिणी देशों के और फिर विशेष रूप से तृतीय विश्व के विभिन्न समाजों में ऐतिहासिक परम्पराओं, संस्कृतियों, विचारप्रणालियों के विषय में विद्यमान भिन्नता ।

"नेशन" शब्द केउच्चारण से भी दुनिया के सभी लोगों केमन में एक ही रूप कल्पना होती है, ऐसी नहीं है । मानव अधिकार संज्ञा के उच्चारण के कारण उत्पन्न होने वाली प्रतिमाभिन्नता और "नेशन" शब्द के उच्चारण के कारण पैदा होने वाली प्रतिमाभिन्नता के मूल कारण एक जैसे (identical) तो नहीं है, किन्तु सदृश (similar) अवश्य हैं ।

यूरोपीय साम्राज्यवाद जब अपने चरम उत्कर्ष पर था उन दिनों यूरोपीय विद्वानों ने एक धारणा बना ली थी । वह धारणा यह थी कि दुनिया के हर एक समाज को ऐतिहासिक विकास के उसी क्रम में से जाना पड़ा होगा या जाना पड़ेगा, जिस क्रम में से यूरोपीय समाज गुजरे हैं, और दुनिया के सभी समाजों के लिए प्रगति तथा विकास का एकमात्र जागतिक मॉडल वही हो सकता है जो यूरोप ने अपने सामने रखा है । इस कारण "नेशन" या अन्य सामाजिक संस्थाओं का निर्माण तथा विकास भी उसी तरह दुनिया में सर्वत्र हुआ होगा जिस तरह यूरोप में हुआ है, और ऐसी संस्थाओं का स्वरूप तथा परिभाषा सर्वत्र वही होनी चाहिए जो यूरोप में रही है, इसके अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता ।

इस आग्रही प्रतिपादन का प्रभाव बहुत लम्बे समय तक गैर यूरोपीय लोगों के मन पर था । किन्तु धीरे-धीरे कुछ विचारक इस बौद्धिक दासता से मुक्त होने लगे । उदाहरण के लिए इस्लाम के इतिहास के एक विद्वान श्री मुहम्मद कुतुब का निम्नलिखित संप्रेक्षण देखिए ।

"The different stages of economic evolution infers communist society and slavery, capitalism and then the final communism, that is final

communist society. When it is dialectical materialism described as a common phenomenon in the history of the mankind, really it has no existence whatsoever outside the European history. These stages were never passed through by any people outside Europe."

प्रगति तथा विकास की दृष्टि से संसार के सभी समाजों के सामने एक मात्र नमूना (paradigm) हो सकता है, और वह याने यूरोपीय है, इस दावे की प्रतिक्रिया में - "Toward a Non Western Model of Development में श्री इनायतुल्ला लिखते हैं- "(The west) presumes that all history is inexorably moving towards the same destiny, same goals, and the same value systems as western man has..... Marshalling evidence from the period of ascendency of western society and conveniently ignoring the vast span of technological development before this period which the traditional societies had developed and transmitted to the western society, it ignores the fact that technological and material development before this period were not always the product of a combination of universalism, functional specificity, achievement orientation, and effective neutrality.'

('communication and change in the Developing countries')

"नेशन" लेटिन भाषा के शब्द नेटियो (Nation) से त्यव्युत्पन्न हैं । नेटियो (Natio) जन्मगत एकात्म मानव समूह की ओर संकेत करता है, किन्तु आधुनिक नेशन्स के निर्माण में केवल यह वांशिक तत्व ही योगदान नहीं करता । अलग-अलग "नेशन" का भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक विकास क्रम रहा है । इस कारण सभी देशों के "नेशनहुड" के घटक अवयवों में एकरूपता नहीं है । हरएक के गुण धर्म में अपनी कुछ विशेषता पाई जाती है । वस्तुतः गुणात्मक दृष्टि से हर एक "नेशन" की अपने ढंग की अलग पहचान होती है । एक शब्द का एक ही अर्थ हो तथा हरएक भिन्न अर्थच्छाया के लिए भिन्न शब्द प्रयोग हो, यह शास्त्रशुद्ध व्यवहार है । शब्द एक, उसकेअर्थ एक से अधिक, या अर्थ एक, उसको प्रकट करने वाले शब्द एक से अधिक, यह व्यवस्था व्यवहार में है । लोक में प्रचलित है । तो भी व्यवहार में एक और पहलू का विचार प्रभावी हुआ । गुणधर्मों की दृष्टि से मूल नेटियो (Natio) से बहुत भिन्न होते हुए भी और विविध देशों के "नेशनहुड" के घटक अवयवों में भिन्नता दिखाई देने के बावजूद व्यवहारिक दृष्टि से यह सोचा गया कि "एक अर्थ के लिए एक शब्द" के शास्त्रीय नियम का कठोरतापूर्वक पालन किया गया तो संकेतों की बहुविधता इतने प्रमाण में आएगी कि उसके फलस्वरूप भाषा में भ्रांतिपूर्ण अवस्था निर्माण होगी। इतने विधि संकेतों को ध्यान में रखते हुए सामान्य बातचीत करना बहुत ही अव्यवहारिक (Unmanageable) हो जाएगा । इस दृष्टि से वास्तव में भिन्न-भिन्न अर्थछटाओं का एक ही शब्द के द्वारा प्रकट करने का अशास्त्रीय विचार स्वीकार किया गया ।

किन्तु इसके कारण अशास्त्रीयताजन्य संभ्रम भी निर्माण हुआ । श्रेष्ठ विचारकों के अभिप्रायों

में हमें इसका दर्शन मिलता है ।Thomas Middleton ने यह कहा है कि "How many words have suffered corruption since Chaucer's days" प्रमित और सही शब्द का प्रयोग न होने पर विचार का सूक्ष्म संप्रेक्षण नहीं हो पाता । केवल स्थूल भाव ही संप्रेषित होता है ।

यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि जहां एक ओर मेकाले के भारतीय मानसपुत्र हिन्दूराष्ट्र की चर्चा करने वालों से मांग करते हैं कि पहले पाश्चिमात्य नेशन के मापदंड से अपनी हिन्दूराष्ट्र की संकल्पना की शास्त्रीय सत्यता को सिद्ध करो, वहां दूसरी ओर पश्चिम के शास्त्रीय विचारक यह ढूंढ़ पाने में असमर्थ हो रहे हैं कि किस विशिष्ट, सुस्थिर, सुनिश्चित, सुस्पष्ट वस्तु या संकल्पना को "नेशन" की संज्ञा प्रदान की जाए ।

सर जॉन रॉबर्ट सीली का निष्कर्ष है "We take no pains to conceive or define precisely what we call a nationality."

'The Principle of Nationalities' में Israel Zangwile ने नेशनेलटीज के सिद्धांत का वर्णन 'One of those tropical jungles of thought in which politics and journalism flourish' शब्दों में करते हैं ।

'The Eastern Question मे Sir John A Marriot यह निष्कर्ष निकालते हैं कि 'The principle of nationality has defied definition and even analysis'.

Viscount James Bryce 'Essays and Addresses in War time' में विनम्रतापूर्वक स्वीकार करते हैं कि नेशनलिटी 'Nationality की परिभाषा नहीं दे सकते ।

'Nationalism' में George P. Gooch लिखते हैं कि 'Nationalism is an organism, a spiritual entity, and all attempts to penetrate its secrets by the light of mechanical interpretation break down before the test of experience.'

'A Century of Nationalism' में H.L. Featherstone स्पष्ट रूप से बताते हैं कि 'Nationalism is not capable of scientific definition'."

Florian Znaniecki का अभिप्राय है कि 'Inview of the terminological confusion, the editors of several encyclopedias have omitted the word 'nation' altogether. For example, International Encyclopedia, Encyclopedia of the social sciences, Encyclopedia Britanica and Handworterbuch der staat swissenschafte'.

Lowis L. Snyder अपने 'The Meaning of Nationalism' में बताते हैं कि 'Nationalism may mean whatever a given people, on the basis of their own historical experience, decide it to mean'.

ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने हिन्दुओं को राष्ट्र संकल्पना के विषय में गुमराह करने का प्रयास जब प्रारंभ किया उन दिनों पश्चिम में Mr. Dougall Freudian Theory प्रचलित थी । इस सिद्धांत की यह मान्यता थी कि जैविक (biological) आधार पर मूल प्रवृत्ति (instincts) के कारण नेशन-नेशन् में फर्क दिखाई पड़ता है । यह थिअरी अब पश्चिम ने त्याग दी है । नेशनल केरेक्टर (राष्ट्रीय चरित्र) नाम की कोई बात अस्तित्व में हो सकती है, यह स्वीकार करने के लिए प्रथम विश्व युद्ध के पहले, पश्चिम में कोई तैयार नहीं था । प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इस स्थिति में परिवर्तन आया । अपनी-अपनी संस्कृति को आत्मसात करने की प्रक्रिया के फलस्वरूप विविध समाजों में भिन्न-भिन्न "नेशनल केरेक्टर" (राष्ट्रीय चरित्र) का विकास होता है, इस सिद्धांत को क्रमशः अधिकाधिक मान्यता मिलने लगी और अब तो नेशनल केरेक्टर का सुव्यवस्थित शास्त्र ही विकसित होने लगा है ।

किन्तु हमारे भ्रमित विद्वान Mr. Dougall Freudian वायुमंडल में ही जी रहे हैं ।

वास्तव में 'Tensions that Cause Wars' में इसका स्पष्ट संकेत मिलता है कि अध्ययन करने वाले समाज शास्त्रज्ञ कितने ही वस्तुनिष्ट रहने का प्रयास क्यों न करें, हर एक के सुपरिचित सांस्कृतिक वायुमंडल का प्रभाव उसके मन पर तथा लेखन पर अपरिहार्य रूप से होता ही है । 'We are a nation in the making' कहने की फैशन भारत में जब प्रचलित हुआ तब यूरोपीय साम्राज्यवाद के चरण आगे बढ़ रहे थे । सर जॉन रॉबर्ट सिली का Expansion of England जनमानस पर प्रभाव जमा रहा था । British Nationalism पर साम्राज्यवाद का और जर्मन नेशनलिज्म पर बीज रूप में जर्मन विस्तारवाद का रंग चढ़ गया था । सभी सामाजिक संस्थाओं में राज्य State/Government सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, यह धारणा बलवान हो गई थी। इस भावना का भी राजनैतिक प्रसार शासकीय एकता ही नेशनलिज्म का आधार है । इस शताब्दी के प्रारंभ में एक स्वस्थ कल्पना प्रचलित हुई । वह थी राष्ट्रराज्य (Nation-State) की। एक राष्ट्र का एक ही राज्य हो तथा एक राज्य के अंतर्गत एक ही राष्ट्र रहे, यह विचार उचित ही था । किन्तु नेशन संकल्पना के गैरराजनीतिक विविध आधारों का विचार आंखों से ओझल हो जाने के कारण राज्य की इकाई को ही सर्वाधिक महत्व प्राप्त होता गया । १७७२ के बाद पोलेण्ड का तीन बार विभाजन होने के कारण सन् १९१९ में पोलिश राज्य की स्थापना होने तक पोलिश नेशनलिज्म का कोई भौगोलिक आधार नहीं रहा था । तब तक सभी पोलिश लोगों का मिलाकर नेशन के नाते एकत्रित विचार करने की गंभीर इच्छा यूरोपीय सत्ताओं को नहीं हुई । उसके ठीक विपरीत वे ऑस्ट्रोहंगेरियन नेशनलिज्म की चर्चा स्वाभाविक रूप से करते थे । इस पृष्ठभूमि पर Grammer of politics में Harold Laski ने चेतावनी दी थी कि 'We must avoid the elementary error of identifying the State with the whole hierarchy of social institution.'

किन्तु यह युक्तिसंगत बात ग्रहण करने की मानसिकता पश्चिमी राजनेताओं में नहीं थी ।

मिथ्या धारणाओं के आधार पर प्रथम महायुद्ध के पश्चात् विजेताओं ने यूरोप का नक्शा गलत ढंग से बनाया । उसके अंतर्गत हर राज्य को नेशन मान लिया गया । इसके परिणामस्वरूप मध्य तथा पूर्व यूरोप में तीन करोड़ लोगों को अल्पसंख्यक बनाया गया और फिर उनके संरक्षण का दायित्व "लीग ऑफ नेशंस" को सौंपा गया । यह सब रचना निराधार संकल्पनाओं के कारण ही हुई थी । इसी रचना में दूसरे महायुद्ध का बीजारोपण हुआ था । वास्तव में "लीग ऑफ नेशंस" का नामकरण होते ही श्री अरविन्द ने यह गलती राजनेताओं के ध्यान में लाने का प्रयास किया था । उन्होंने कहा था कि यह नवनिर्मित जागतिक संस्था "लीग ऑफ नेशंस" नहीं है, यह तो "लीग ऑफ स्टेट्स" या "लीग ऑफ गवर्नमेंटस" है, और इस कारण संस्था को अपेक्षित यश प्राप्त नहीं हो सकता ।

अब सब लोग अनुभव करने लगे हैं कि ऐतिहासिक घटनाक्रम में यह भूल थी । शासकीय एकता के कारण "नेशनहुड" का निर्माण नहीं हो सकता, यह सत्य रूस, युगोस्लाविया आदि देशों में चल रही घटनाओं से सुस्पष्ट हो रहा है । पश्चिम की मानसिकता Expansion of England से निकल कर "पेरेस्ट्रॉयका" तक पहुंच गई है । किन्तु हिन्दू राष्ट्र विरोधी "अति प्रगतिशील" विद्वान अभी भी सर जॉन राबर्ट सीली या रूडयार्ड किपलिंग के ही जमाने में रह रहे हैं । राजनीतिक शासकीय एकता के प्रभाव की मर्यादाओं तथा सांस्कृतिक एकता के प्रभाव पर ध्यान देने के लिए उनका मानस अभी तक तैयार नहीं है ।

प्रगतिशील भारतीय विद्वान नेशन की जिस संकल्पना से चिपक कर बैठे हैं उसका निर्माण जिस कालखंड में हुआ उसमें पाश्चिमात्य लोगों में किसी भी विषय का समग्रता से अध्ययन करने की प्रवृत्ति नहीं थी । भारतीयों में यह प्रवृत्ति प्राचीन काल से चली आ रही है । किन्तु पश्चिमी देशों में इसका स्वीकार सर्वप्रथम द्वितीय महायुद्ध के समय किया गया । वह भी शास्त्रीयता के कारण नहीं, उसकी उपयोगिता के कारण । किन्तु बाद में बहुविज्ञानीय उपागम (Multi-Disciplinary approach) वहां भी लोकप्रिय हो गया । नेशन तथा नेशनेलिज्म के विषय में भी यह बहुविज्ञानीय उपागम अपनाना प्रारंभ हुआ । इतिहासज्ञ, मनोवैज्ञानिक, समाज शास्त्री, Anthropologists, अर्थशास्त्री, राजनीति शास्त्री, पर्यावरण विज्ञानी, आदि सभी शास्त्रज्ञों ने अपने-अपने शास्त्र के आधार पर नेशन संकल्पना का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रारंभ किया ।

इस नई प्रक्रिया में दो तरह की कठिनाइयां आ रही हैं । एक यह कि प्रक्रिया नई होने के कारण यह प्रयास प्रारंभिक अवस्था में ही है ।

उदाहरणार्थ, कुछ समय पूर्व तक नृविज्ञानी (Anthropologists) अपने अध्ययन को प्राथमिक अवस्था के मानव समूहों पर केन्द्रित करते थे । उन्होंने उस अवस्था के समूहों का शास्त्रीय अध्ययन करने की दृष्टि से उपयुक्त तंत्रों का विकास अब तक किया था । अब नेशन जैसी संकल्पना का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने की दृष्टि से उन तंत्रों में कौन सी नई बात जोड़नी पड़ेगी इसका विचार तथा तदनुरूप प्रयोग शास्त्रज्ञ चला रहे हैं ।

राजनीतिक शास्त्री अभी तक इस चर्चा में लगे हुए हैं कि किसी भी समाज का परिवर्तन उसके नेशनल करेक्टर के परिवर्तन के कारण होता है या सामाजिक संस्थाओं में लाए गए परिवर्तन के कारण ।

परिवर्तन के माध्यम के नाते अर्थशास्त्र की उपयोगिताओं तथा मर्यादाओं के विषय में इसी तरह का विचार-विमर्श चारों ओर चल रहा है ।

इतिहास के क्षेत्र में इस बात पर चर्चा है कि नेशनल करेक्टर स्थायी भाव रखने वाला लक्षण है क्या ? यूरोपीय नेशंस का अनुभव इसके विपरीत है । मैकिआव्हेली के इटली, मैजिनी के इटली और मुस्सोलिनी के इटली में भावनात्मक संबंध नहीं है । यही बात रोबस्पियेर, नेपोलियन तथा मार्शल पैतॉ के फ्रांस के बारे में भी है । इस विषय में दूसरा मत यह प्रचलित है कि राजनेताओं तथा राजनीतिक परिस्थितियों के कारण राष्ट्र के व्यवहार में बदल हो रहा है, ऐसा आभास तत्काल हो सकता है । किन्तु यह बात तात्कालिक ही है । अपने 'National character and the factors in its formation' में Ernest Barker लिखते हैं 'An individual, in his measure, moves unconsciously towards the settled form which is his character. This is even more true of the history of nation and their characters than it is of the individual man.'

इस विषय में इतिहास शास्त्री भी किसी स्थायी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सके हैं । यह भी विचार चल रहा है कि Nationalism और Patriotism में गुणात्मक अंतर क्या है ?

किन्तु ये सारे प्रयास नूतन होने के कारण अब तक प्रायोगिक तथा प्राथमिक अवस्था में ही है। उदाहरणार्थ, प्रसिद्ध समाज शास्त्री का निम्न लिखित संप्रेक्षण देखिए : "Despite the occasional aiiusions to sociology in the titles of books on nationalism, and despite the direct bearing of nationalistic phenomena upon important theroretical problems in sociology, no general sociological study of nationalism exists.'

इस विषय में दूसरी कठिनाई यह है कि जिन शास्त्रों का उपयोग इस कार्य के लिए किया जा रहा है उनके अंदर ही प्रगति के कारण पुराने निष्कर्षों को हटाया जा रहा है और नये निष्कर्षों की प्रस्थापना हो रही है । उदाहरण के लिए एक शास्त्र की ही बात हम देखें ।

मनोविज्ञान का शास्त्र इस कार्य में जुटा हुआ है । मनोवैज्ञानिक "नेशनल-करेक्टर" के स्थान पर, किसी भी मानव समूह की आधारिक व्यक्तित्व संरचना (Basic personality structure) अभिव्यक्त का प्रयोग करते हैं । उनका प्रेक्षण है कि नेशन बनाने वाले सभी व्यक्तियों में कुछ सामान्य व्यवहार पद्धतिया उन समूहों में नहीं पाई जाती जो भिन्न सांस्कृतिक वायुमंडल में रहते हैं । एक नेशन में कुछ व्यक्तियों के व्यवहार में मानक पद्धति से भिन्नता तो पाई जा सकती है, किन्तु यह निर्विवाद है कि जो एक समान सांस्कृत्कि संरचना में रहते हैं उनकी व्यवहार

पद्धति में निश्चत रूप से समानता दिखाई देती है। विभिन्न नेशंस की अपनी-अपनी विशिष्ट व्यवहार पद्धतियां हुआ करती हैं ।

किन्तु यह सोचना गलत होगा कि इस विषय में मनोविज्ञान का निष्कर्ष हमेशा इसी तरह का रहा है ।

शास्त्र की गहराई में न जाते हुए इतना ही संकेत करना पर्याप्त होगा कि फ्राईड की विचार-प्रणाली के अनुसार मनुष्य की संस्कृति के बीज सदा के लिए तथा निरपवादरूप से उसके जैविक गठन (Biological Constitution) में हुआ करते हैं । सन् १९४१ में प्रकाशित हुए Eric Fromm के 'Escape From Freedom' से समाजस्थिति विषयक आधुनिक मनोवैज्ञानिक विचार में उल्लेखनीय परिवर्तन आया । व्यक्ति तथा समाज के परस्पर संबंधों के विषय में फ्राईड ने जो निष्कर्ष निकाला था फ्राम ने उसके ठीक विपरीत निष्कर्ष इस पुस्तक में प्रस्तुत किया । फ्राईड के विचार में जो आधारभूत स्थान मूल प्रवत्ति (instincts) को था वही फ्रॉम के विचार में culture को प्राप्त हुआ । फ्रॉम ने Acculturation की प्रक्रिया का विवरण दिया । उसके Social Character में 'National Character' समाविष्ट है ।

केवल नमूने के तौर पर मनोविज्ञान का उदाहरण यहां प्रस्तुत किया गया है । किन्तु वास्तव में हर शास्त्र में इस तरह की प्रगति तथा नवीकरण हो रहा है, और इसका स्वाभाविक परिणाम उस शास्त्र द्वारा नेशन तथा नेशलिज्म के विषय में चल रहे प्रेक्षण तथा निकाले गए निष्कर्षों पर होना अनिवार्य है । Carlton J.H. Hayes, Max Wirth तथा L.L. Snyder ने स्पष्ट रूप से निष्कर्ष निकाला है कि Nationalism के विभिन्न प्रकार आज अस्तित्व में है ।

इस तरह संबंधित विषय पर पश्चिम का विचार गतिमान (Dynamic) है । किन्तु हमारे हिन्दू राष्ट्र विरोधी "प्रगतिशील" विद्वानों की खटिया (Procrustian Bed) स्थितिमान (Static) है, और वे हमें आह्वान दे रहे हैं कि आपके हिन्दू राष्ट्र की संकल्पना की शास्त्रशुद्धता पश्चिमी मापदंड से सिद्ध करके दिखाइए ।

संबंधित साहित्य

नेशन तथा "नेशनलिज्म" विषय पर पश्चिम में विपुल साहित्य प्रकाशित हुआ है ।

हमारे लिए यह दुख का विषय है कि भाषाओं के अज्ञान के कारण कुछ महत्वपूर्ण लेखक तथा उनका साहित्य हमारी पहुंच के बाहर है । उदाहरणार्थ, अर्जेन्टिना के रूडॉल्फ रॉकर, ऑस्ट्रिया के Otto Bauer, Ignaz Seipel तथा Karl Renner; इटली के P.S. Mancini तथा Count Terenzio Mamiani Della Rovere, स्पेन के F.P. Margall, स्विटजरलैंड के Karl Hilty; तथा बेल्जियम के Arnold Van Gennep ।

इस विषय से संबंधित फ्रेंच भाषा का साहित्य कुछ अंश में अंग्रेजी में अनुदित हुआ है, यद्यपि Ernest Renan के कुछ लेखन का भाषांतर उपलब्ध नहीं है ।

तो भी अंग्रेजी भाषा की खिड़की (Window) से दृष्टिपथ में आने वाला साहित्य भी बहुत विस्तृत है । इसमें स्वाभाविक रूप से अधिकांश योगदान ग्रेट ब्रिटेन तथा युनाइटेड स्टेट्स का ही है । कनाडा के W.S. Wallace का The Growth of Candadian National Feeling (ग्रंथ इस दृष्टि से अपवादभूत है । अमेरिकन विद्वान Hans Kohn ने जर्मन स्लाव, रशियन तथा पौर्वात्य नेशनलिज्म का विवरण प्रस्तुत किया है । उनके 'The Roots of Modern Nationalism', 'The idea of Nationalism Prophets and Peoples' तथा 'The Twentieth Century ग्रंथ तथा 'Before America Decides' पुस्तक में 'Nationalism' लेख भी इस दृष्टि से सुसंगत है । Carlton J.H. Hayes ने फ्रांस के विषय में, 'Oscar Janowsky ने पूर्व मध्य यूरोप के विषय में, W.M. Gewehr तथा R.W. Seton-Watson ने बाल्कन देशों के विषय में, Robert R. Ergang ने जर्मनी के विषय में लेखन किया है । कौहेन तथा हेज के अलावा कई एंगलेसेक्सन विचारकों ने "नेशनलिज्म" पर साहित्य निर्माण किया है उनमें प्रमुख हैं— समाजशास्त्रीय दृष्टि से Florian Znaniecki, Max Sylvius Handman तथा Max Wirth, राजनीतिशास्त्रीय दृष्टि से William Ebenstein, Carl. J. Friedrich, Franz Neumann, H.J. Laski, C.A. Macartney तथा F.L. Schuman; वंशशास्त्रीय दृष्टि से John Oakesmith तथा Sir Arthur Keith, मनोविज्ञान की दृष्टि से Morris Ginsberg; W.B. Pillsbury, Gardner Murphy, Alex Inkeles, Ralph Linton; संस्कृति की दृष्टि से Ruth Benedict, Rudolf Rocker, Frederick Hertz; इतिहास के नाते इंग्लैंड के Freeman, Stubbs, Froude, Carlyle, Macaulay; अमेरिका के Baneroft, Halvdan Koht, Fiske; जर्मनी के Dahlman, Droysen Sybel, Treitschke, Giesebrecht; फ्रांस के Michelet, Michaud, Mignet, Lamartine, Guizot तथा Thiers.

सामान्यतया "नेशन" के विषय में अनेक पश्चिमी विद्वानों ने लिखा है, उन सबके लेखन से यह साहित्य समृद्ध हुआ है । किन्तु सबका नामोल्लेख करना यहां संभव नहीं है ।

इस विषय से संबंधित सर्वेक्षण के दो दस्तावेज महत्वपूर्ण हैं । प्राध्यापक ई.एच. कारकीं अध्यक्षता में "रायॅल इन्स्टिट्यूट ऑफ इण्टरनेशनल अफेअर्स" के सदस्यों के स्वाध्याय वर्ग द्वारा इस विषय पर प्रस्तुत की गई रिपोर्ट 'Nationalism' नाम से प्रकाशित हुई है । "सोशल सायन्स रिसर्च कौन्सिल" तथा यूनेस्को प्रकल्प की रिपोर्ट भी इस विषय पर उपलब्ध है ।

इस विषय से संबंधित कुछ ग्रंथ सूचियां (Bibliographies) भी उपलब्ध हैं ।

(१) Edward B. Krehbiel 'Nationalism, War and Society' में दी हुई ग्रंथ सूची ।

(२) Koppel S. Pinson की A Bibliographical Introduction to Nationalism;

(३) Encyclopaedia of the social sciences में श्री M.H. Boehm तथा Carlton J.H. Hayes के नेशनलिज्म पर लिखे हुए लेखों के बाद दी गई ग्रंथ सूची; तथा

(४) Karl W. Deutsch: 'Nationalism and social communiction' में प्रस्तुत ग्रंथ सूची ।

Nationalism के विभिन्न प्रकारों की दृष्टि से विशेष ग्रंथ है Carlton J.H. Hayes का 'Two Varieties of Nationalism, Original and Derived; Max Wirth का Types of Nationalism; तथा L.L. Snyder का 'The Meaning of Nationalism.' इनके अलावा Carlton J.H. Hayes के 'Essays on Nationalism, The Historical Evolution of Modern Nationalism और Encyclopaedia of the Social Sciences में प्रकाशित आलेख Nationalism; Israel Zangwill का 'The Principle of Nationalities'; George P Gooch का Nationalism; Bernand Joseph का Nationality; It's nature and Problems; Edward Krehbiel का Nationalism, War and Society; और Hamilton Fyfe का 'The Illusion of National Character'.

दोनों विश्व महायुद्धों के पूर्व तथा पश्चात् पश्चिम में "नेशनलिज्म" तथा इंटरनेशनलिज्म" सर्वाधिक सार्वजनिक चर्चा का विषय बना । इनके पारस्परिक संबंध के विषय पर परस्पर विरोधी तथा अतिवादी विचारों तथा प्रवृत्तियों का प्रकटीकरण हुआ । रूस तथा जर्मनी में मार्क्सवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाले दो ग्रंथ थे । एक था लेनिन का 'Uber die Nationale Frage तथा दूसरा स्टालिन का Marxism & The National Question । इसके विपरीत विचार का प्रतिनिधित्व जर्मनी कर रहा था ।

"नेशनेलिटी" के मनोविज्ञान का अध्ययन १८६० में Moritz Lazarus तथा Heymann Steinthal ने प्रारंभ किया । Wilhelm Wundt, Friedrich Meienecke, Waldemar Mitscherlich, Eugen Lemberg, Otto Vossler, S.R. Steinmetz तथा F.J. Neumann आदि विद्वानों ने इस अध्ययन को आगे बढ़ाया । इसके अलावा भाषाशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, आदि पहलुओं से भी जर्मनी में इस विषय का अन्वेषण किया गया ।

इन दोनों देशों के अलावा इस विषय से संबंधित अन्य देशों में प्रकाशित साहित्य इतना अतिवादी (extremist) नहीं था । इसमें उल्लेखनीय साहित्य है A.J. Toynbee का 'Nationality & the War; Ramsay Muir का 'Nationalism and Internationalism; Halvden Koht का 'The Dawn of Nationalism in Europe; W.B. Pillsubury का 'The Psychology of Nationality and Internationalism; H.L. Featherstone का 'A Century of Nationalism; Don Luigi Sturzo का 'Nationalism & Internationalism'; Dr. Cantril द्वारा संपादित 'Tensions that cause wars' और Morroe Berger का 'Understanding National Character & War.

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् इस विषय पर हुई चर्चा का विस्तृत विवरण आगे अध्याय में दिया गया है ।

संघटक

हमारे प्रगतिशील, स्वयंघोषित बुद्धि के ठेकेदारों ने यह प्रचार चलाया है कि हिन्दुत्व के समर्थक दकियानूसी हैं । उनका दिल-दिमाग सोलहवीं शताब्दी में है । आधुनिक दुनिया की उनको बिल्कुल जानकारी नहीं है । कूपमण्डूक प्रवृत्ति के कारण सर्वाधिक प्रगत पश्चिम से कुछ भी सीखने की इनकी न इच्छा है, न क्षमता ही । इस तरह 'holier than thou attitude 'मैं तुझसे श्रेष्ठ यह दर्शाने की अभिवृत्ति के कारण बिना किसी प्रयास के उनको अहंकार की संतुष्टि हो जाती है, निहित स्वार्थ वाले राजनेताओं का संरक्षण भी उनको प्राप्त होता है, समाज में प्रगतिशील होने का दंभ भी वह भर सकते हैं । और यह सब मामला बड़े सस्ते में सम्पन्न हो जाता है क्योंकि प्रतिगामी, दकियानूसी बनने के लिए जैसे हिन्दुत्व समर्थकों को त्याग, तपस्या, बलिदान लगातार करना पड़ता है वैसा करने की इनको आवश्यकता नहीं है । कुशलतापूर्वक प्रचार माध्यम (Media) से सम्पर्क स्थापित करना ही इनके लिए पर्याप्त है ।

किन्तु यह प्रचार भ्रम मूलक और शरारतपूर्ण है । प्रगतिशील लोगों की "साहेब वाक्यम्" पर अंधश्रद्धा अवांछनीय है । पश्चिमात्यों से सीखने लायक कुछ भी नहीं हो सकता यह पूर्वग्रह भी अवांछनीय है । हिन्दू वृत्ति "बालादपि सुभाषितम् ग्राह्यम्" की है । सभी का अध्ययन करना और उसमें से "नीरक्षीर-विवेक" से तय करना कि क्या ग्राह्य है और क्या त्याज्य यह ज्ञान के सभी क्षेत्रों के लिए लागू है, चाहे वह क्षेत्र विज्ञान का हो, तंत्रज्ञान का हो, तत्वज्ञान और दर्शन का हो, या कलाओं का ।

नीर-क्षीर विवेक के उदाहरण के रूप में एक आधुनिक शास्त्र की ही बात लीजिए । समाजशास्त्र अब विकसित हो गया है । किन्तु उल्लेखनीय बात यह है कि अपनी सामाजिक समस्याएं सुलझाने के लिए जिन उपाय योजनाओं का व्यावहारिक अवलंबन पश्चिमात्य लोगों ने किया उनका विवेचन, कुछ अपवाद छोड़ दिए तो, साधारणतः उनके समाज शास्त्रीय ग्रंथ में उपलब्ध नहीं है । इसलिए भारत की नवरचना का विचार करते समय पश्चिम का ग्रंथबद्ध समाजशास्त्र हमारे लिए उपयुक्त नहीं है । उनके दर्शन के इतिहास (Philosophy of History) के ग्रंथ तथा इतिहास के अर्थ शास्त्रीय स्पष्टीकरण के ग्रंथ हमारे लिए सहायक हो सकते हैं । उदाहरणार्थ प्राध्यापक फ्लीट का History of philosophy of history, या प्राध्यापक सेलिगगन का Economic Interpretation of History ।

यूरोप के सामाजिक स्थिति में परिवर्तन का इतिहास उद्‌बोधक है, किन्तु उसको अनुप्रयुक्त समाजशास्त्र (applied sociology) कहना पड़ेगा । उनका ग्रंथिक या ग्रंथबद्ध समाजशास्त्र हमारे काम का नहीं है । क्योंकि उसमें यह नहीं दिया गया है कि उन्होंने समकालीन सामाजिक

प्रश्नों का हल किस प्रकार किया । विविधता में एकता निर्माण कैसे करना इसका उत्तर देने वाला साहित्य यूरोपीय समाजशास्त्र में नहीं है । किन्तु समाज के एकात्मीकरण के विषय में उनका अनुप्रयुक्त इतिहासशास्त्र बहुत उपयुक्त हो सकता है । इंग्लिश, वेल्स, स्कॉच, आयरिश, समूहभेद हैं । बेल्जियम में फ्लेमिश और वालून का भेद है । स्पेन तथा पूर्व यूरोप में भी इसी तरह के समूह भेद हैं ।

अनुप्रयुक्त समाजशास्त्र याने क्या ? रोमन राज्य की प्रारंभिक अवस्था में उनके पास महिलाओं की संख्या कम थी, इसलिए परजातीय महिला किसी भी मार्ग से प्राप्त करना उनके लिए अनिवार्य हो गया था । इसके फलस्वरूप उनके इतिहास में एक व्यावहारिक प्रक्रिया देखते हैं । वह है गैर रोमन लोगों को रोमन लोगों के अधिकार प्रदान करके उनको अपने समाज में समाविष्ट कर लेना।

विजेता विलियम (William the Conquerer) नॉर्मण्डी के ड्यूक का दासी पुत्र था । नॉर्मण्डी में उसका सामाजिक स्थान तथाकथित नीच जाति का माना जाता था । इंग्लैण्ड में विजेता बनने के बाद उसने अपने सैनिकों और सरदारों के विवाह स्थानीय सेक्सन तथा ब्रिटेन जातियों के जमींदार वर्ग में करवाएं ।

पंद्रहवी-सोलहवीं शताब्दी में इटली में औद्योगिक जातियां निर्माण हुई । उन दिनों में किसी को भी कारीगरी सिखाते समय यह देखा जाता था कि वह व्यक्ति वही काम करने वाली जाति की स्त्री से पैदा हुआ है या नहीं ।

कार्डिनल रिश्ल्यू नये प्रकार की कृषि जानने वाले लोग तथा विविध कारीगर हालैण्ड से अपने फ्रांस में लाया और देशी लोगों के साथ उनका विवाह करा कर उन्हें फ्रेंच बनाया गया ।

दक्षिण आफ्रीका का जो हिस्सा पुर्तगालियों के पास था उसका पुर्तगालीकरण करने के हेतु उन्होंने वहां कॅथॉलिक पंथ का प्रचार किया । वहां के सिद्दी पुरुषों के विवाह पुर्तगाली स्त्रियों के साथ करा दिए । जिन्होंने सिद्दी लोगों के साथ विवाह करने की शर्त मान ली उन एक लाख महिलाओं को पुर्तगाल से वहां भेजा गया और उनको वहां जमीने दी गई ।

गोआ में हिन्दुओं से ईसाई बने लोग जाति भेद मानते थे । इसलिए वहां पोप जाति भेद को स्वीकार करने वाला अध्यादेश (बुल) निकालने के लिए बाध्य हो गए ।

ये सब व्यावहारिक समाजशास्त्र के उदाहरण हैं । यह "नीर-क्षीर विवेक" उन बुद्धि के ठेकेदारों ने स्वार्थवश छोड़ दिया है ।

दूसरी बात यह है कि जिस समय ये हिन्दूराष्ट्र कल्पना की शास्त्रशुद्धता सिद्ध करने के लिए चुनौती देते हैं उस समय वे स्वयं न "हिन्दू" के बारे में कुछ समझने का प्रयास करते हैं, न राष्ट्र के बारे में । और जिस ठाठ के साथ ये लोग ललकारते हैं कि आधुनिक याने पश्चिमी मापदंड की कसौटी पर हिन्दुओं की राष्ट्रीयता सिद्ध करके दिखाओ, उससे उनकी यह धारणा स्पष्ट होती है कि आधुनिक पश्चिम के पास "नेशन", नेशनलिज्म, "नेशनहुड" की कोई एक सुस्पष्ट,

सुनिश्चित संकल्पना है, उसकी सुस्पष्ट सुनिश्चित परिभाषा है, उसका सर्वमान्य स्वरूप है, सर्वमान्य घटक (ingredients) है, सभी का सर्वमान्य एक दृष्टिकोण है, बस कमी केवल इस बात की है कि यह सब पश्चिम से उठाकर यहां लाना और उनकी कसौटी पर हिन्दूराष्ट्र संकल्पना को परखना । सबकी परीक्षा लेने का दावा करने वाले ये स्वयंनियुक्त बुद्धि के ठेकेदार या तो स्वयं इस विषय में पश्चिम की भूमिका के बारे में जानकारी नहीं रखते, या यदि जानकारी रखते हैं तो जानबूझकर जनता को गुमराह कर रहे हैं ।

"नेशनलिज्म कितने स्वरूप" ?

किसी भी कालखंड में, किसी भी भूभाग में जो मान्यता प्रचलित रहती है, समूहगत अस्मिता पर उसका अमिट परिणाम होता है । उसी का स्वरूप नेशनलिज्म है । फ्रांस की राज्य क्रांति की तत्वत्रयी ने प्रारंभिक—"नेशनहुड्स् " को प्रभावित किया । उस समय मान्यता बन गई कि नेशनलिज्म का स्वरूप लोकतंत्रवादी, उदार, ही रहता है । ब्रिटेन के नेशनलिज्म की परिणति साम्राज्यवाद में हुई, जिसका प्रतिनिधित्व रूडयार्ड किपालिंग, जे.ए. क्राम्ब (Cramb), सर जॉन राबर्ट सीली, कर्जन और चर्चिल जैसे व्यक्तियों ने किया । द्वितीय महायुद्ध के पूर्व 'Blood and soil' के सिद्धांत पर आधारित, बिस्मार्क हिटलर से प्रभावित "स्वयंमेव" अस्तित्ववादी, कट्टरपंथी नेशनलिज्म का विकास जर्मनी में हुआ । परिणामस्वरूप गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे महापुरुष भी नेशनलिज्म की उपयोगिता के विषय में संदेह दृष्टि से देखते थे । मान्यताओं का प्रभाव कितना होता होगा उसको समझने की दृष्टि से निम्न दो उदाहरण देखिए ।

जोसेफ मॉजिनी अपने 'Duties of Man' में कहते हैं :- "The countries of the peoples will arise instead of the countries of kings and privileged classes, and between these countries there will be harmony and fraternity." God divided humanity into distinct groups of nuclei, Thus creating the germ of nationality".

सुडेटन सार्वमत के अवसर पर प्रचारित भाषण में मार्शल गोअरिंग कहते हैं—"We have expelled Jews from public life because their capital was Moscow, catholics becuase their capital was Rome; and Freemasons, because they talked of internationalism."

भावनाओं में उत्तर और दक्षिण ध्रुव जैसा अन्तर है । इसी भावना को जे.एच. रोज ने intolerant and aggressive instinct कहते हैं, extremist न होते हुए भी थिओडोर रूजवेल्ट कहते हैं Loving other nations as much as one loves one's own nation is like loving other woman as much as loving one's own wife." इसके अलावा मार्क्स के शिष्य न होते हुए भी इतिहास के आर्थिक interpretation को महत्व देने वाले लोगों की मान्यता है

कि नेशनलिज्म का स्वरूप आर्थिक हुआ करता है । वे "आर्थिक नेशनलिज्म" की बात चलाते हैं ।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि इनमें से किस स्वरूप के नेशनलिज्म को सच्चा (Genuine) नेशनलिज्म माना जाए । मैजिनी का मानवतावादी, हिटलर का स्वयंमेव अस्तित्ववादी, किपलिंग का साम्राज्यवादी, रूजवेल्ट का यथार्थवादी या अर्थशास्त्रज्ञों का आर्थिकतावादी ? और यदि ये भिन्न-भिन्न स्वरूपों की संकल्पनाएं है, तो फिर हर एक के लिए एक स्वतंत्र संज्ञा प्रदान करना शास्त्रशुद्ध रहेगा, या विभिन्न स्वरूपों के होते हुए भी सभी के लिए एक ही संज्ञा नेशलिज्म (Nationalism) का प्रयोग करते रहना उचित होगा ।

मंत्रविप्लव

किसी भी शब्द का असावधानी से ही क्यों न हो, गलत प्रयोग किया गया तो उसके दुष्परिणामों से बचना संभव नहीं है । हिन्दुत्वनिष्ठ लोगों ने प्रारंभ से ही अंग्रेजों द्वारा प्रचारित एक भाषांतर अविचारपूर्वक स्वीकार किया । वह गलती है हिन्दुत्व के पर्यायवाची के रूप में अंग्रेजी शब्द हिन्दुइज्म (Hinduism) की स्वीकृति । हिन्दुत्व के अर्थ में हिन्दुइज्म (Hinduism) का प्रयोग करना भूल है । हिन्दुत्व के अर्थ में "हिन्दुइज्म" शब्द का प्रयोग हम सद्भावनापूर्वक करते आ रहे हैं । हमने यह नहीं सोचा कि उसके कारण हिन्दुत्व की प्रतिष्ठा तथा व्यापकता घटकर, वह सोशलिज्म्, कम्युनिज्म, गांधीज्म् जैसी "इज्म" के स्तर पर तथा इस्लाम, ईसाईयत् आदि रिलिज्न्स के स्तर पर आ जाता है । वास्तविकता यह है कि हिन्दू "इज्म" भी नहीं और "रिलीजन" भी नहीं है। किन्तु इस तथ्य का प्रतिपादन तब अंतर्विरोधी प्रतीत होता है जब हम हिन्दुइज्म (Hinduism) शब्द का प्रयोग करते हैं । अंतर्विरोध वास्तविकता में नहीं, उसका आभास गलत शब्द का प्रयोग करने के कारण होता है । "हिन्दुत्व" का सही भाषांतर हिन्दुनेस (Hinduness) है, और यदि यही शब्द प्रारम्भ से प्रचलित होता तो कुछ भ्रांतियां तो उत्पन्न ही नहीं होती ।

शब्द प्रयोग के विषय में सावधानी का महत्व श्री गुरुजी बार-बार बताते थे । उदाहरणार्थ, मान्यवर श्री लालबहादुर शास्त्री जी को दिनांक २१.८.१९६१ को लिखा उनका पत्र देखिए । "हिन्दू और सिख" का भेद निर्माण करने वाले शब्द प्रयोग को सर्वथा त्याज्य मानकर "हिन्दू " शब्द में शेव, वैष्णव, जैन, बौद्ध, सिख, आर्यसमाजी आदि सभी का अंतर्भाव है, इस सत्य का अनुसरण करते हुए बोलने-लिखने की सावधानी सभी कार्यकर्ताओं को व्यवहार में दिखानी चाहिए, यह बात उसमें आती है ।

दिनांक २०.२.१९५६ को मान्यवर श्री गोविन्द वल्लभ पंत को श्रीगुरु जी लिखते हैं— "आपके कृपापत्र का ही उदाहरण लिया तो यह स्पष्ट होता है कि शासन में अत्युच्च पद को सुशोभित कर देश की उन्नति की चिन्ता करते हुए भी "सिख और हिन्दू " एक ही अभंग हिन्दू समाज में विघटन बढ़ाने वाले शब्द ही अनवधान से क्यों ने हो, प्रयोग में लाये जाते हैं ।

"राष्ट्रीयता" और नेशनलिज्म" को पर्यायवाची माना जाता है । इस प्रथा के कारण आज कोई

व्यावहारिक कठिनाई भी निर्माण नहीं हो रही है । किन्तु क्या शास्त्रीय और मौलिक विचारपद्धति की कसौटी पर यह पर्यायवाची टिक सकेगा ?

शास्त्रीय पद्धति से विचार के लिए यह सोचना आवश्यक हो गया है कि जिस संकल्पनापुंज को हम "राष्ट्रीयता" की संज्ञा देते हैं वह, और पश्चिमात्य लोग जिसे 'Nationalism' कहते हैं वह इन दोनों भावनाओं में महत्वपूर्ण गुणात्मक अंतर है या नहीं ? यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि क्या नेशनलिज्म 'Nationalism' एक ही प्रकार की, एक ही गुणधर्म वाली भावना है ? यूरोप में भी विभिन्न इतिहासिक विकासक्रमों के कारण विभिन्न देशों में विकसित समूहगत अस्मिताएं विभिन्न, प्रकार की, विभिन्न गुणधर्म रखने वाली हैं । शास्त्रीय दृष्टि से औचित्य तो इसी में था कि "एक अर्थ या अर्थच्छटा के लिए एक शब्द" के नियम के अनुसार हर देश की विशेषताओं से युक्त समूहगत अस्मिता के लिए अलग-अलग शब्द का प्रयोग किया जाता । शब्द एक और अर्थ या अर्थच्छटाएं एक से अधिक की रचना अशास्त्रीय है । श्री एल. एन. स्नायडर ने अपने 'Nationalism: Its meaning and History: Variety of Nationalism ग्रंथ में विभिन्न देशों का नेशनलिज्म 'Nationalism' एक ही गुणधर्म का, एक ही प्रकार का नहीं है, इसका विवेचन किया है ।

यूरोप का नेशनलिज्म (Nationalism) और हमारे राष्ट्रीयत्व के स्वरूप में जो गुणात्मक अंतर है उसका विवरण करते हुए श्री बिपिनचन्द्र पाल लिखते हैं— This being the true Hindu conception I would, therefore, describe 'Nationality' rather as the 'personality' of a people, than, following Mazzini's lead, define it as their 'individuality'.

"सेक्युलर" शब्द के विषय में भी मंत्रविप्लव का अनुभव आता है । हमारे पेशेवर सेकुलरिस्ट (Professional Secularist) इस शब्द का जो अर्थ बताते हैं वह उनका अपना निजी अर्थ है । The Encyclopaedia of Social Sciences बताता है । "Secularism in the philosophical sphere may be interpreted as revolt against Theological and eventually against mataphysical absolutes and universals. In the political sphere, it came to mean that a temporal ruler was entitled to exercise power in his own right'.

इन सब बारीकियों का अध्ययन करने के बजाय, इन नेताओं ने अपना राजनीतिक स्वार्थ सिद्ध करने के लिए "रिलिजन" को ही इस संदर्भ में सबसे अधिक महत्वपूर्ण संघटक (ingredient) घोषित किया और वास्तविक प्राणभूत संघटक अर्थात् "संस्कृति" को इस चर्चा से पूर्णरूपेण असंबद्ध रखा । "नेशनलिज्म" में "इज्म" शब्द (suffix) है । 'Nationalism' और 'Internationalism" के विषय में Don Luigi Struzo लिखते हैं: 'The 'ism' was accepted to mean either a theory founded upon those principles or qualities

(according to the particular view points), or an organised activity which, adopted by some special interpretation of the principle, built upto a Theoretico-practical system, or, finally, a collective sentiment favouring in any way the tendancy represented by the 'ism' in question.'

"इज्म" (ism) !! suffix जोड़ने के बाद मूल अर्थ में परिवर्तन आया । यह मत प्रगट किया गया कि

"Similarly, the addition of the suffix 'ism' to 'national' has altered profoundly the original meaning of the 'nation'. The nation was originally conceived to be a community of people organised on the basis of common geographical area, history, language, traditions and culture, but the new 'ism' endowed it with new, excessive traits which changed the entire concept. Nationalism makes more of the nation than a mere political or cultural community'.

श्री एल. एन. स्नायडर का मत हैं कि 'The term Nationalism' is the perversion of the original word 'Nation' "Nationalism has had its own peculiar historical development'.

क्रेन ब्रिंटन (Crane Brinton) कहते हैं 'Nationalism is at bottom no more than the important form, the sense of belonging to an in-group has taken, in our modern western culture.'

Edward Krehbiel के अनुसार नेशनलिज्म याने "The political system of co-existing sovereign states" । इस मत में चेतना (Consciousness) को स्थान नहीं है

कार्लट्न जे. एच. हेज की दृष्टि से इस शब्द में चार अर्थच्छटाएं हैं :

(1) Nationalism is an actual historical process. (2) Nationalism is a theory (3) Nationalism concerns political activities (4) Nationalism is a sentiment." Max Hildebert Boehm दो तरह के अर्थों की कल्पना करते हैं : (a) a broad meaning and (b) a narrow meaning of Nationalism.

हर्बर्ट ॲडॅम्स् गिबन्स का कहना है 'Nationalism in the concrete sense may be taken to mean some particular ways of manifesting national spirit (history, tradition, languages) in the abstract sense. The ideas controlling the life and actions of a nation would be its nationalism; (consciousness of a solidarity of privileges and obligations with all others living under the same political unit.'

डॉक्टर ई. आशीर्वादम् के अनुसार "Writers on political science are not all agreed on the precise meaning of the terms 'nation' 'nationality' and

'nationalism'

'The Third British Empire' में Zimmerin A.E. लिखते हैं– "Nationality, like religion, is subjective, psychological, a condition of mind, a spiritual possession; a way of feeling; thinking and living" Nationality is not a political but an educational conception. Broadly Speaking if a people feels itself to be a nationality, it is a nationality. Nationality is only accidentally a political question, but primarily it is a spiritual and educational question."

"The Idea of Nationalism" में हॉन्स कोहेन लिखते हैं– "Nationalism is first and foremost a state of mind, an act of consciousness, –a supreme form of group consciousness."

जॉर्ज पी. गूचका कथन है कि नेशनलिज्म अर्थात "The self consciousness of a nation" "Nationalism denotes the resolve of a group of human beings to share their fortunes, and to exercise exclusive control over their own. action."

'The Common Weal' में एच.ए.एल. फिशर कहते हैं "what is essential to the growth of the national spirit is a common history-common sufferings, common triumphs, common achievements, common memories, and, it may be added common aspirations."

नेशनलिज्म यह समूहगत अस्मिता का एक प्रकार है । वह किन-किन बातों (Factors) के कारण निर्माण होता है ? ये सभी बातें सभी नेशंस के लिए पूर्णतः लागू हो सके ऐसी निरपवाद सूची बनाना क्या संभव है ?

अनुभव के आधार पर यह असंभव दिखता है । "सांस्कृतिक एकता" ही एकमात्र निरपवाद बात (Factor) है । शेष बहुचर्चित बातों में से कोई भी ऐसी नहीं जो निरपवाद हो । ऐसे हर एक बात (Factor) का नेशनलिज्म (Nationalism) के निर्माण में योगदान तो हो सकता है, किन्तु इनमें से एक भी अपरिहार्य स्वरूप का नहीं है । "सांस्कृतिक एकता" के अलावा दूसरी एक ही बात ऐसी थी जो समान रूप से निरपवाद प्रतीत होती थी । वह याने "समान भूमि" । किन्तु उसमें भी दो प्रश्न उपस्थित हुए । एक तो यहूदी लोगों के बारे में । इसराइल की निर्मिति के पूर्व यहूदी लोग विभिन्न देशों में फैले हुए थे । उनकी मातृभूमि उनके हाथ में नहीं थी । एक ही (समान) भूमि सभी के श्रद्धा का केन्द्र अवश्य थी । किन्तु उस भूमि में उनका निवास नहीं था । उनको "नेशन" की संज्ञा प्रदान न करना उचित होता क्या ? दूसरा प्रश्न बंजारा (जिप्सीरोया) लोगों से संबधित है । यह सभी जानते हैं कि इन लोगों में समूहगत अस्मिता उतनी ही दृढ़ है जितनी कि "नेशन" संज्ञा प्राप्त किए हुए अन्य जनसमूहों में है । किन्तु ये घुमन्तू हैं । कहीं भी स्थिर रूप से नहीं रहते। तो क्या उनको "नेशन" की प्रतिष्ठा से इसी कारण वंचित रखा जाए ? या इनके लिए इसी स्तर की कोई दूसरी प्रतिष्ठा संज्ञा निकाली जाए ? इन लोगों को "युनाइटेड नेशन्स ऑर्गनाइजेशन" में हमेशा

के लिए अप्रतिनिधित्त (Unrepresented) रखा जाए क्या ? यह प्रश्न चिन्ह है ? ग्वाटेमाला समझौते के शिल्पकार तथा नोबेल पुरस्कार विजेता ऑस्कर एरियाज संचेज कोस्टारिका, होंडूरास, निकारागुआ, एल. साल्वादार तथा ग्वाटेमाला को सामूहिक अस्मिता की दिशा में आगे नहीं बढ़ा सके । वे मध्य अमेरिका को एक नेशन नहीं बना सके ।

पूर्ण रूपेण निरपवाद तथा अपरिहार्य न होते हुए भी जिन बातों का योगदान नेशनलिज्म के निर्माण या संवर्धन में होता है उन सब पर पश्चिम में अनुकूल प्रतिकूल चर्चाएं हुए हैं और वे उद्‌बोधक भी हैं ।

रिलिजन और नेशनलिज्म

समूहगत अस्मिताओं के निर्माण में रिलिजन का महत्व हमेशा एक सा नहीं रहा । प्रोटेस्टेंट रिफार्मेशन के पश्चात् स्पेन कट्टरवादी कैथोलिक रहा, इंग्लैंड सौम्य प्रोटेस्टेंट रहा, फ्रांस सौम्य कैथोलिक रहा और जर्मनी में दोनों प्रवाह चलते रहे । सत्रहवीं शताब्दी में दो प्रोटेस्टेंट लोगों में—डच और इंग्लिश, व्यापार के लिए युद्ध चलते रहे । बिल्कुल प्रारम्भिक काल में रिलिजन ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया । यहूदियों की अस्मिता के निर्माण में रिलिजन की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका रही । वही बात पोल, आयरिश और जापानी लोगों के बारे में भी है । ग्रीकों के जीवनमरण के संग्राम के समय ग्रीक कैथोलिक चर्च ने इनकी अस्मिता कायम रखने में बहुत सहायता की ।

किन्तु कालान्तर में "नेशनहुड" की दृष्टि से रिलिजन का यह प्रारंभिक महत्व उत्तरोत्तर घटता गया । हेज (Hayes) कहते हैं 'Most modern nationalities manage to flourish without insisting upon uniformity of religious belief or practice.'

इस्लामिक जगत में वस्तुस्थिति यह है कि शतप्रतिशत मुस्लिम देशों में इस्लाम के सभी अनुयायियों को मजहब के नाते एक सूत्र में बांधकर रखने की इस्लाम की क्षमता शून्यप्राय है, किन्तु गैर-इस्लामिक देशों पर प्रभुत्व की आंकाक्षा रखने वाले मुस्लिम राजनेता अपनी ध्ययेसिद्धि के लिए एक साधन के रूप में इस्लाम का उपयोग करते हैं । अजरबेजान-आर्मेनिया संघर्ष में यही प्रकट हुआ । लेबनॉन के संघर्ष में परिवार नियोजन विरोधी इस्लामी कानून का उपयोग किया गया । संघर्ष के प्रारंभ में लेबनॉन ईसाई बहुल था, आज वह मुस्लिम बहुल हो गया है । गैरों के खिलाफ राजनीतिक संघर्ष में एक धारदार हथियार की ही भूमिका इस्लाम की रही है ।

कुल मिलाकर निःसंकोच यह कहा जा सकता है कि हेज का उपरिनिर्दिष्ट संप्रेषण आज की दुनिया में सत्य है और इस्लामी देश भी इसके अपवाद नहीं है ।

कुछ यूरोपीय देशों में एक समय "अहि-नकुलवत्" संघर्षशील प्रोटेस्टंट और कैथोलिक आज शांतिपूर्वक ढंग से एकत्रित सामूहिक जीवन व्यतीत कर रहे हैं, और इस शताब्दी के दोनों विश्व महायुद्ध ईसाई देशों में ही लड़े गए ।

एक मूलवंश

मैजिनी के अनुसार 'Race is not essential to nationality' । रेनन का कहना है 'Race is some thing which makes and unmakes itself and has no application to politics' । जे. एच. रोज: 'Only in a very crude form does nationality depend on race.'

पिल्सबरी (Pillsbury) का कथन है कि "In the determination of national lines, in general, race is no more important."

स्विटजरलैंड, कनाडा, यूनाईटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका आदि देशों में विभिन्न मूलवंशों के लोग एकत्रित हैं ।

एक भाषा

आधुनिक काल में नेशनलिज्म की निर्मिति में भाषा का महत्व सब देशों से अधिक पोलैंड ने प्रकट किया है । किन्तु कुछ नेशन्स में समान भाषा का अभाव भी है । स्विटजरलैंड के लोग कम से कम तीन भाषाएं बोलते हैं । नेशन की निर्मिति के लिए आवश्यक अन्य घटक सशक्त रहे तो "समान भाषा" का तत्व अपरिहार्य नहीं रहता । अल्सेस की जर्मनभाषी जनता का झुकाव फ्रांस की ओर है, न कि जर्मनी की ओर । यूनाईटेड स्टेट्स और कनाडा समान भाषी है, और एक दूसरे से सटे हुए भी है, किन्तु मिलकर एक "नेशन" बनाने की इच्छा दोनों में नहीं है ।

सामान्य आर्थिक हितसंबंध

इस संदर्भ में इस बात का भी महत्व है । महायुद्ध के समय प्रतिपादित The white Australian policy ने उस देश के नेशनहुड की शक्ति बढ़ाई किन्तु इसका महत्व आनुषंगिक, अतएव अतिसीमित है, वरना European common market के सभी सदस्य देशों को मिलकर एक ही राष्ट्रीयता (Nationality) बन जाती ।

विदेशी दमनचक्र

सन् १८७० के फ्रॅन्को-प्रशियन युद्ध के बाद फ्रांस में, मूर लोगों के अत्याचार तथा नेपोलियन के आक्रमण की प्रतिक्रिया के रूप में, स्पेन में बार-बार हुए विभाजन की प्रतिक्रिया के रूप में पौलैंड में और ब्रिटेन के साम्राज्यवाद के विरोध में आयलैंड में नेशनलिज्म का उदय हुआ । ऐसे और भी अन्य उदाहरण पाए जाते हैं । नेशनलिज्म की निर्मिति का यह एक महत्वपूर्ण कारण हो सकता है किन्तु यह कारण सर्वप्रमुख भी नहीं और अपरिहार्य भी नहीं है । जैसे जोसेफ बर्नार्ड, नेशनेलिटी (Nationality) में लिखते हैं "Oppression of group does not itself transform it into Nationality."

इस संदर्भ में विदेशियों का दमनचक्र सहायक तत्व अवश्य है । यदि अन्य संघटक विद्यमान

रहें तो यह सहायक संघटक बहुत महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकता है । किन्तु केवल इसी संघटक के भरोसे "नेशन" का निर्माण नहीं हो सकता ।

नवस्वतंत्र देश में सामान्य राज्य की स्थापना

साम्राज्यसत्त के विरोध के कारण नेशनलिज्म की ओर बढ़ने में सहायक होती है, किन्तु विदेशी साम्राज्य को उखाड़ फेंकने के बाद बनने वाली नवस्वतंत्र देश में सामान्य राज्य की स्थापना मात्र से "नेशनलिज्म" का निर्माण नहीं होता । Ramsay Muir कहते हैं, 'Mere unity of government, however admirably wielded, will never of itself produce nationhood."

प्रभु राज्य (Sovereign State)

राज्य (State) के कारण राष्ट्रीयता (Nationality) निर्माण होती है क्या ? आधुनिक राज्यों (States) को स्थैर्य प्राप्त होने के पूर्वकाल में कुछ नेशनलिज्म का जन्म हुआ था । तब नेशनलिज़्म को बल प्रदान करने का कार्य राज्य ने किया था । सांविधानिक व्यवस्था तथा राजनीतिक संस्थाओं के निर्माण के द्वारा विद्यमान नेशनल चेतना को दृढ़ बनाने का काम राज्य कर सकता है। किन्तु इसका एक भी उदाहरण विश्व के इतिहास में नहीं है कि राज्य के सहारे नेशनहूड का निर्माण हुआ हो । स्विटजरलैंड के नेशनलिज्म का इस सिद्धांत की दृष्टि से अलग से अध्ययन करके यह देखना पड़ेगा कि वह इस सिद्धांत के लिए अपवाद तो नहीं हैं ।

एक नेशन, एक राज्य (Nation-State)

हमारे देश में ऐसी धारणा प्रचलित हैं कि Nation-State के विषय में पश्चिम के सभी विचारकों का एक ही मत है । किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है । एक राष्ट्र -एक राज्य 'One Nation-one state का सिद्धांत सन् १८१५ की वियना कांग्रेस में सर्वप्रथम प्रतिपादित हुआ और तत्पश्चात् उसकी लोकप्रियता बढ़ती ही गई । अपने 'Representative Government में श्री जे.एस. मिल लिखते हैं—

"It is in general a necessary condition of free institutions that the boundaries of government should coincide with those of Nationality".

किन्तु लॉर्ड एक्टन का कहना है कि "The theory of nationality (i.e. One nation, one state) is more absurd and more criminal than the theory of socialism". The multinational state is one of the Chief Instruments of civilisation". जिमेर्न (Zimmern) लिखते हैं, "In the long run the Theory of national state will go the way of Henry VIII's and Luther's Theory of National Chruch." बर्नार्ड जोसफ नेशनेलिटी में कहते हैं कि "Nationality and the State are different conceptions, and a nationality can continue to exist even after the State has been destroyed. National and State loyalty are two different things.. they can

exist side by side with each either, for all that nationality requires is freedom for cultural and social life and a certain measure of group autonomy, particularly in communal matters... The only hope of order and peace in World affairs is to be sought in the ultimate recognition of the principle that several nationalities may live to gether in harmony and co-operation within a State, each at the same time following its own national life." श्री सी.जे.एच.हेज का विचार है "A National State is always based on nationality, but a nationality may exist without a national state. A State is essentially political, nationality is primarily cultural and only incidentially poltical (Essays on Nationalism)

राष्ट्रीय चरित्र और जलवायु (National Character & Climate)

मांटेस्क्यू (Montesquieu) की यह धारणा थी कि नेशनल करेक्टर की निर्मिति में जलवायु (climate) की भूमिका सबसे अधिक महत्वपूर्ण रहती है । मांटेस्क्यू के अनुसार इंग्लैंड की सांविधानिक रचना वहां की जलवायु, विशेष रूप से लंदन के कोहरे के परिणामस्वरूप है। हंटिंग्टन का 'Character & climate' प्रबंध इस विचार की पुष्टि करता है ।

मांटेस्क्यू की मान्यता है कि भौगोलिक स्थितियों का भी नेशन की विविध संस्थाओं के विकास पर स्पष्ट प्रभाव होता है । कृषि करने के लिए तथा आक्रमण करके पराजित करने के लिए पहाड़ी क्षेत्र अधिक दुर्गम हुआ करते हैं । वहां स्वतंत्रता का मुक्त वायुमंडल स्वाभाविक रूप से पनपता है । कृषि कार्य और जीतकर अपने अधीन करने के लिए मैदानी प्रदेश अधिक सुगम हुआ करते हैं । वहां अधिनायकवादी (तानाशाही) प्रवृत्ति आसानी से आ सकती है ।

साहित्य और साहित्यिक

नवजात नेशन अमेरिका के लोगों की मान्यता है कि नेशनल करेक्टर के निर्माण में साहित्य ओर साहित्यिक की भूमिका का असाधारण महत्व है । सन् १८३० से यादवी युद्ध की समाप्ति तक का कालखंड "अमेरिकन रिनेसेन्स" का माना जाता है । उनकी मान्यता है कि न्यू इंग्लैंड के साहित्यिक 'Brahmins' हेनरी वॅड्सवर्थ, लॉगफेलो, ऑलिवर वेडेल होम्स, जेम्स रसेल लोवेल के अतिरिक्त Transcendentalist राल्फ वालडो इमर्सन , हेनरी डेव्हिड थोरो, तथा अन्य साहित्यिकों के समान ही बेकर कवि, जॉन ग्रीनलीफ व्हिट्टियर तथा हॅरियट बीचर स्टोव और इनके अतिरिक्त तीन कल्पनाशील साहित्यिक, हॉथार्न, मेलविले, विह्टमन्, एडगर ॲलन पो. तथा थॉमस पेन की कृतियों का अमेरिकन करेक्टर की निर्मिति में उल्लेखनीय योगदान रहा है।

आधुनिक कालखंड में "नेशनलिज्म" के प्रमुख प्रवक्ता के रूप में मान्य जोसेफ मैजिनी और कोसूथ के साहित्य के बारे में भी यही कहा जा सकता है ।

सीमा (Frontier)

प्रत्येक विचारक के मन पर स्थानीय तथा तात्कालिक घटनाओं का प्रभाव होता है, और वह उनके आधार पर साधारणीकरण का प्रयास करता है । उदाहरणार्थ जब सन् १८०० में अमेरिकन सीनेट ने देश की सीमा को अधिकृत रूप से मर्यादित किया तब इतिहासज्ञ फ्रेडरिक जॅकसन टर्नर ने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि अमेरिकन नेशन का कॅरेक्टर बनाने की प्रक्रिया को सीमा (Frontier) ने बहुत प्रभावित किया है । उसने अपनी इस स्थापना को विशुद्ध करते हुए कहा है "The role of the frontier in moulding a distinctively American character, as opposed to that of European and older East Coast cities, where social status, class, hierarchy and vested interests prevailed."

फ्रेडरिक जॅक्सन टर्नर का निबन्ध 'The Significance of the Frontier in American History इसी विचार का समर्थन है ।

(रोमन कैथोलिक चर्च के इतिहास में "अमेरिकनिज्म" संज्ञा का प्रयोग पोप लियो तेइसवें के दिनांक २२ जनवरी, १८९९ के परिपत्रक में सर्वप्रथम किया गया ।)

साम्राज्य सत्ताओं द्वारा निर्धारित कृत्रिम शासकीय सीमाओं को विरासत के रूप में पाने वाले नवस्वतंत्र देश; चारों ओर सीमाओं की अस्थिरतावाला (a camp in the open field) जर्मनी, लचीली सीमाओं वाले बाल्कन देश; विवादस्पद सीमाओं वाला पोलैंड; प्राकृतिक सीमाओं से सुरक्षितता का अनुभव करने वाले ताइवान तथा हांगकांग; कृत्रिम सीमाओं से विभाजित कोरिया और आयरलैंड जैसे देशों के लिए टर्नर का कथन प्रकारान्तर से लागू होता है । स्विट्जरलैंड के लिए प्राकृतिक सीमाओं का महत्व स्पष्ट ही है ।

जनता की इच्छा शक्ति

मैजिनी के अनुसार "Popular will is the basis of nationalism " ॲरनॉलड् टायन्बीका विचार है कि "The Will to be a nation is the principal element of nationalism." डॉ आंबेडकर कहते हैं "It (i.e. Nationalism) is a feeling of corporate sentiment, of oneness which makes those who are charged with it, feel that they are kith and kin." अर्नेस्ट रेनन की मान्यता है कि "Nation is a spiritual principle based primarily on (a) a rich heritage of memories and (b) a keen desire to live together." भौगोलिक एकता, हितसंबंधों की समानता, मजहब, भाषा या वंश की एकता के तत्वों में नेशन की जड़ें है यह मानने के लिए रेनन तैयार नहीं है । उनकी मान्यता है "People are a nation because they want to be a nation.. a nation is a soul, a spiritual principle... To have suffered; rejolced and hoped together makes

a people a nation.... What constitutes a nation is not speaking the same tongue, or belonging to the same ethnic group, but having accomplished great things in common in the past and wish to accomplish them in future."

इस संपूर्ण विचारमंथन से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि "नेशनलिज्म" की परिभाषा के विषय में पश्चिमी विद्वान एकमत नहीं है । उनके ही शब्दों में इसके चार प्रमुख कारण हैं ।

1. Inadequacy of words as the transmission belts of social communication.
2. The varied implications of Nationalism itself.
3. Changes in the connotation of Nationalism with the course of history.
4. Nationalism means different things to different people. Thesaurus के अनुसार 'Nation is citizenry, common wealth, community, country, people, population, race, realm, society, state, tribe.'

इस तरह के अस्थिर, अनिश्चित और धूमिल शब्द की नींव पर पहले लीग ऑफ नेशंस की और अब युनाइटेड नेशन्स ऑर्गनाईजेशन की इमारत खड़ी की गई है । वास्तव में दोनों संस्थाएं "नेशन्स" का संयुक्त संघ नहीं है । वे राज्यों (States) का संघ बन गई हैं । इसके कारण जो अन्तर्विरोध निर्माण हुए इसका इतिहास साक्षी है । इसका नवीनतम उदाहरण इराक के कुर्द लोगों का है, जिसका उल्लेख अन्यत्र किया गया है । स्पेन के बास्क जन (Basques) की स्थिति भी वैसी ही है । नेशन और राज्य का अन्तर न समझने के कारण कैसी हास्यास्पद स्थिति बनी है इसकी झलक इतिहास के एक श्रेष्ठ व्यक्ति के विषय में दिए गए निम्न टिप्पणी से प्रकट होती है । यूगोस्लाव्हिया के मार्शल टीटो के विषय में ये वाक्यप्रचार प्रचलित था कि 'Marshal Tito, himself a Croat, was perhaps, the first and last Yugoslav."

"नेशन" के कल्पित स्तर की समूहगत अस्मता रखने वाले जनसमूहों की संख्या और यू. एन. ओ. के सदस्य-नेशन्स की संख्या में बहुत अंतर है । गुणात्मक अंतर तो स्पष्ट ही है । "पहली श्रेणी की संख्या लगभग २,००० (दो हजार) है, दूसरी श्रेणी की संख्या इस समय १६२ है ।

इन सब बारीकियों का अध्ययन करने के बजाय, इन नेताओं ने अपना राजनीतिक स्वार्थ सिद्ध करने के लिए "रिलिजन" को ही इस संदर्भ में सबसे अधिक महत्वपूर्ण संघटक (ingredient) घोषित किया, और वास्तविक प्राणभूत तत्व अर्थात् "संस्कृति" को इस चर्चा से पूर्णरूपेण असंबद्ध रखा ।

संस्कृति

संसार में कई रिलीजन्स हैं । हर एक रिलीजन केअनुयायियों के लिए उनका अपना रिलीजन वैसे ही सर्वश्रेष्ठ तथा प्रियतम हुआ करता है जैसे हर एक व्यक्ति को उसकी अपनी माता । अतएव

विभिन्न रिलीजनों की तुलना सभी को अप्रिय तथा अव्यवहार्य प्रतीत होती है । हिन्दुओं के भी कई रिलीजन हैं किन्तु "हिन्दू" नाम का कोई रिलीजन नहीं है ।

उपासना-पद्धति हर एक रिलीजन का अनिवार्य अंग है । किन्तु उसके साथ ही रिलीजन के निर्माणकाल में रिलीजन के जन्मस्थान में विद्यमान परिस्थितियों के परिप्रेक्ष में समाज के जीवन की दृष्टि से उचित सामाजिक नियम तथा सामाजिक तत्वज्ञान प्रदान करना रिलीजन के संस्थापक के लिए आवश्यक हो जाता है । नियम तथा तत्वज्ञान स्थल-काल-परिस्थिति-सापेक्ष हुआ करता है । परिस्थितियों में जैसे-जैसे परिवर्तन होगा वैसे-वैसे तदनुकूल परिवर्तन इनमें भी करने पड़ते हैं । इस कारण ये सामाजिक नियम तथा तत्वज्ञान सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक नहीं हो सकता । केवल उपासनापद्धति सार्वकालिक तथा सार्वदेशीय हो सकती है ।

किन्तु इस सभी से अधिक, अतिविशाल, सर्वकष संकल्पना संस्कृति की है । राष्ट्र या नेशन का प्राण संस्कृति ही हुआ करती है । एक संस्कृति का अभाव रहा और नेशनलिज्म या राष्ट्रीयता के यूरोपियन विद्वानों द्वारा मान्य शेष सभी संघटक विद्यमान रहे, तो भी नेशन या राष्ट्र नहीं बन सकता । ग्रीस, रोम, मिश्र आदि राष्ट्र समाप्त हुए तो इसका मतलब यह नहीं था कि इन देशों में निवास करने वाले सभी लोग नष्ट हो गए । वहां रहने वाले लोग तो जीवित थे, किन्तु उनकी संस्कृति नष्ट हो गई, इस कारण यह कहा गया कि वे राष्ट्र नष्ट हो गए ।

संस्कृति हमेशा एकसंघ ही रहती है । वह कभी भी मिलीजुली नहीं रह सकती । शुद्धता संस्कृति की प्रकृति है । संकरता उसकी प्रकृति से मेल नहीं खाती । यह सही है कि कोई भी समाज या राष्ट्र दुनिया में द्वीप (Island) के समान अलग-थलग रह नहीं सकता । विभिन्न कारणों से हर एक समाज या राष्ट्र का अन्य समाजों या राष्ट्रों से सम्पर्क आता ही है । इस सम्पर्क के फलस्वरूप दोनों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता ही है । इसी को सांस्कृतिक समागम (Cultural Intercourse) कहा जाता है । कोई संस्कृति इस समागम या संस्पर्श से मुक्त नहीं रह सकती किन्तु इस समागम के परिणामों को अपने मूल प्रकृति में आत्मसात करते हुए एकसंघ संस्कृति गंगा के प्रवाह की तरह आगे बढ़ती है । गंगा निरन्तर गतिमान है । मार्ग में उसमें स्थान-स्थान पर छोटी-बड़ी नदियां और नाले भी मिल जाते हैं । इस सबको आत्मसात करते हुए एकसंघ गंगाजी आगे बढ़ती हैं । उस प्रवाह को मिलीजुली गंगा नाम नहीं दिया जाता । हर एक हिन्दू परिवार में विवाह के माध्यम से दूसरे परिवार की लड़की प्रवेश करती है । किन्तु इस कारण उसको दोनों का मिलाजुला परिवार नहीं कहा जाता । परिवार की अपनी अस्मिता यथापूर्व कायम रहती हैं । नवागत लड़की का गोत्र, कुलाचार, कुलधर्म आदि बदल जाते हैं, और वह इस परिवार में आत्मसात हो जाती है । घुल जाती है । यही बात संस्कृति की भी है । सम्पर्क में आने वाली अन्य संस्कृतियों की ग्रहणयोग्य विशेषता को पूर्ण रूप से आत्मसात करके अपना सातत्य यथापूर्व रखते हुए संस्कृति का प्रवार निरंतर गतिशील रहता है । मिलीजुली संस्कृति की बात उतनी ही अवास्तविक है जितनी सांस्कृतिक समागम को अमान्य करने की । यह आवश्यक नहीं कि

संस्कृति का दायरा तथा रिलीजन का दायरा अनिवार्य रूप से समव्याप्त हो । जैसे एक ही रिलीजन में विभिन्न संस्कृतियों के लोग रह सकते हैं वैसे ही एक ही संस्कृति के दायरे में विभिन्न रिलीजनों के लोग भी रह सकते हैं । रिलीजन तथा संस्कृति एक दूसरे के सम्पर्क में आने के बाद एक दूसरे को प्रभावित करते हैं । एक दूसरे पर उनकी क्रियाएं प्रतिक्रियाएं चलती रहती हैं । किन्तु दोनों की अस्मिताएं तथा दायरे अलग-अलग हुआ करते हैं ।

यूरोपीय समाजशास्त्रियों ने नेशन के निर्माण के लिए जो आवश्यक संघटक गिनाए हैं उनमें रिलीजन का भी समावेश है । ये सभी तत्व राष्ट्रीयता या नेशनहुड(Nationhood) की निर्मित में योगदान करते हैं । किसी भी नेशन के निर्माण के काम में आए संघटकों की संख्या जितनी अधिक होगी उसकी राष्ट्रीयता या नेशनहुड का घनत्व भी उतना ही अधिक रहेगा । किन्तु उन तत्वों में से कोई भी संस्कृति जितना अनिवार्य नहीं है।

नेशनलिज्म का उदय

नेशनलिज्म का उदय यूरोप में कब हुआ, इस विषय में विभिन्न मत हैं । सामान्य धारणा यह है कि नेशनलिज्म का उदय वहां फ्रांस की राज्य क्रांति के पश्चात् हुआ ।

किन्तु यह सब जानते हैं कि सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ में फ्रांस, इंग्लैंड तथा स्पेन ने "नेशनहुड" प्राप्त किया था । सन् १२१४ की बोवाइंस (Bouvines) की लड़ाई में राजा फिलिप्स ने इंग्लैंड, जर्मनी तथा फलैंडर्स की संयुक्त सेना को पराजित किया । ऐसा माना जाता है कि वहीं से फ्रांसीसी नेशनलिज्म का प्रारंभ हुआ । सन् १४२६-३१ ई॰ के कालखंड में जोन ऑफ आर्क के नेतृत्व में फ्रांस का नेशनलिज्म चरम सीमा तक पहुंचा ।

बोवाइंस की लड़ाई के एक सौ साल बाद राबार्ट ब्रूस के नेतृत्व में "बेनॉकबर्न (Bannockburn) के रणक्षेत्र में अंग्रेजों के विरुद्ध प्राप्त हुई विजय से स्कॉटलैंड में नेशनलिज्म का प्रारंभ हुआ ।

पंद्रहवी शताब्दी के प्रारंभ में सन् १४१२ में मूर लोगों को पराजित कर ग्रेनेडा पर कब्जा करने के पश्चात् स्पेन में नेशनलिज्म का उदय हुआ ।

सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में स्पेनिश प्रभुत्व के विरोध में किए हुए विद्रोह के साथ हालैंड में उसके डच नेशनलिज्म का निर्माण हुआ ।

जर्मनी तथा इटली में यह प्रक्रिया उन्नीसवीं शताब्दी में पूर्ण हुई । तब तक इटली पर फ्रांस, स्पेन और आस्ट्रिया का शासन था । स्वीडन, डेनमार्क, फ्रांस और आस्ट्रिया ने जर्मनी को खंडित कर रखा था । वैसे संकल्पना के नाते महान फलोरेन्टाइन विचारक निकोलो मेकियाव्हेली (१४६९-१५२७) ने इटली के एकीकरण का विचार बहुत पहले ही रखा था ।

१५वीं शताब्दी केस्वातंत्र्य युद्ध ने अमरीकन उपनिवेशों में नेशनलिज्म का बीजारोपण किया।

कुछ इतिहासकारों का ऐसा मत है कि वस्तुतः यूरोपीय नेशनलिज्म का प्रारंभ ९वीं तथा १०वीं

शताब्दी में हुआ । किंग एगबर्ट (King Egbert) (८०२-३९) द्वारा प्रारंभ की गई इंग्लैंड की एकीकरण की प्रक्रिया किंग आल्फ्रेड (८७१-९०१) के काल तक जारी रही । ह्यूज कापेट (Hugh Capet) (९८७-९६) और हेनरी दि फाउलर (Henry the Fowler) (९१९-३६) के नेतृत्व में फ्रांस और जर्मनी में भी यह धारा चली थी । कुछ विद्वानों का दावा है कि सिकन्दर के उत्तराधिकारियों के ढाई सौ साल के प्रभुत्व के पश्चात् फिलिस्तीन में (यहूदी लोगों का) दुनिया के सर्वप्रथम नेशनलिज्म का आविष्कार हुआ ।

मजेदार बात यह है कि यूरोपीय नेशनलिज्म के निर्माण तथा ध्रुवीकरण की प्रक्रिया में सम्राट/शासक (राजा) तथा राजनेताओं का बहुत बड़ा योगदान रहा । इंग्लैंड की रानी एलिज़ाबेंथ तथा क्रॉमवेल, जर्मनी के फ्रेडरिक दि ग्रेट तथा बिस्मार्क, फ्रांस के चोदहवें लूई तथा नेपोलियन, रूस के पीटर दि ग्रेट, ऑस्ट्रिया के जोसेफ द्वितीय, इटली के विक्टर इमेनुएल तथा काहुर इस श्रेणी में आते हैं । आज यूरोप में लोकतंत्र का बोलबाला है । इस पृष्ठभूमि में यह बात अटपटी सी लगती है कि नेशनलिज्म के मार्ग में सामंतशाही बाधक बनी हुई है और राजशाही पोषक। वास्तविकता यह है कि, ये राजा तथा राजनेता अपने समय में अपने समाज की आंकाक्षाओं तथा इच्छा शक्तियों के प्रतीक बने थे ।

जो कुछ भी हो, किन्तु यह निर्विवाद है कि यूरोप में नेशनलिज्म की भावना का प्रकर्ष फ्रांस की राज्यक्रांति के बाद हुआ — नेपोलियन पूर्व क्रांतिकाल में सकारात्मक (positive) ढंग से और नेपोलियन के आक्रमणों के काल में नकारात्मक (Negative) ढंग से । यह विडम्बना ही थी कि स्वतंत्रता, समता और बंधुता की तत्वत्रयी पर आधारित फ्रांस की राज्यक्रांति की परिणति नेपोलियन में हुई और उसके विस्तारवादी आक्रमणों की प्रतिक्रिया में से विभिन्न यूरोपीय देशों के नेशनलिज्म को बढ़ावा मिला । एक साहित्यिक ने तो यहां तक कहा है कि जर्मन नेशनलिज्म का जनक सही अर्थ में नेपोलियन है, बिस्मार्क नहीं ।

इतिहास विषयक निष्कर्ष निरपवाद होना कठिन है । उदाहरणार्थ, अमेरिका को सर्वप्रथम किसने खोज निकाला । ५०० वर्ष पूर्व कोलंबस ने ? या कोलंबस के ५०० वर्ष पूर्व आइस्लैंड के व्हायकिंग एरिकसन ने, या सातवीं शताब्दी में आयरलैंड के इमेराल्ड आइल के धर्मोपदेशक सेंट ब्रेंडन ने ? Success has many fathers, यही सत्य है ।

यूरोपीय विस्तारवाद का स्वरूप

रेनेसेन्स के पश्चात् यूरोप की घुडदौड़ प्रारंभ हुई । मध्ययुगीन पश्चिम को "नेशनलिज्म" या तत्सम अन्य आधुनिक संकल्पनाओं का कोई ज्ञान नहीं था । प्रथमतः यूरोप के बाहर अब तक अज्ञात दुनिया को जानने की इच्छा निर्माण हुई । तेरहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में मार्कोपोलो ने चीन पहुंचकर दो दशक तक वहां निवास किया । पंद्रहवी शताब्दी (१४८६) में डियाज (Diaz)

केप ऑफ गुड होप की प्रदक्षिणा की तथा १४९८ में वास्को-ड-गामा ने कालीकट में प्रवेश किया सन् १४९२ की ग्रनाडा विजय के पश्चात् स्पेन के राजा के सेवक क्रिस्टोफर कोलंबस ने समुद्रयात्रा प्रारंभ की । सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में स्पनियर्ड बालबोआ पनामा के जलडमरूमध्य को पार करते हुए प्रशांत महासागर तक पहुंचा । उसके ६ साल बाद मेगेलान की पृथ्वी परि क्रमा (समुद्र मार्ग से) हुई । उसी कालखंड में कोर्टेज ने स्पने के लिए मेक्सिकों का अमेरिकन इंडियन साम्राज्य पर विजय प्राप्त कर ली । *

* * * * * * * * * * *

* "इंडियन-हिस्ट्री कांग्रेस के ५९वें सत्र के (कलकत्ता, दिसम्बर २८-३०, १९९०) अध्यक्ष डॉ॰ हीरा लाल गुप्त का निम्नलिखित संप्रेक्षण विचारणीय है :—

(i) 'Radha Kumud Mookherji expressed the view that the Aryans originated in the Lower Siwalikis, on the basis of the findings Barell, a noted geologist, that man and Himalayas arose simultaneously towards the end of the miocene period and concluded that India can claim to be the cradle of man and also the cradle of human civilisation."

(ii) "An American anthroplogist of Atlanta has discovered that about 95% of the native Americans including the Mayas and Incas are descendents of a small band of pioneers who reached there from Asia 15,000 to 30,000 B.C. An Indian anthropologist has ventured to suggest that the migration to Peru took place in the hoary past from Tanjore. Diwan Chaman Lal's studies in Maxico half a century back revealed certain similarities between the Maxicans and the Indians. Dr. Wakankar, who visited Maxico and some parts of South America, carried the same impression but has not drawn any definite conclusion in writing. These views require solid confirmation by an unquestionanle or least questionable evidence before they are acceptable to historians." *

सन् १५३१ में पिजारों पेरू पहुंचे । सत्रहवीं शताब्दी में रूसी लोगों ने साईबेरिया में घुसकर प्रशांत महासागर का दर्शन किया । अठारहवीं शताब्दी में कैंप्टन कुक ने ऑस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड के किनारों एवं उत्तर-पश्चिम अमेरिका तथा प्रशांत महासागर के अनेक द्वीपों का सर्वेक्षण किया। उन्नीसवीं शताब्दी में डैविड लिव्हिंगस्टन, स्टूनले तथा स्पेक ने (ईजिप्तवाह्य) अज्ञात अफ्रीका का अन्वेषण किया । बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में अमेरिकन पैरी (Peary) उत्तर ध्रुव पहुंच गए,

और नार्वेजियन अमण्डसेन (Amundsen) तथा इंग्लिश स्कॉट दक्षिण ध्रुव पहुंच गए ।

नये प्रदेशों की खोज के साथ ही खोज करने वाले का ध्वज तथा साम्राज्य भी वहां पहुंच जाता था ।

यूरोपीय विस्तारवाद का कार्य मोटे तौर पर १५०० ई० के पश्चात् प्रमुख रूप से ४०० साल तक चलता रहा । स्पेन, पुर्तगाल, हॉलैंड, फ्रांस, बैल्जियम् इंग्लैंड, इटली तथा जर्मनी आदि सभी देशों ने इस तरह के व्यापारिक तथा राजनीतिक साहस में हिस्सा लिया । तद्देशीय साधन स्रोत, बाजार (मार्केट) व्यवस्था, विजेता के नाते प्रभुता, शासकीय सत्ता तथा धर्मान्तरण इत्यादि बातों को करने का इन सत्ताओं ने प्रयास चलाया और अपनी पाश्चिमात्य सभ्यता स्थानीय जनता को देने का भी काम किया । स्थानीय जनता में से अभिजात वर्ग में अपनी संस्कृति का प्रभाव फैलाने में उनको पर्याप्त यश प्राप्त हुआ ।

उत्तर अमेरिका, ऑस्ट्रलिया आदि भूभागों में मूल निवासियों के समूह दूर-दूर फैले हुए, असंगठित तथा यूरोप की दृष्टि से कम सभ्य थे । अन्य कुछ भूभागों में मूल निवासियों के समूहों की सघन बस्तियां थी, उनकी अपनी-अपनी पुरानी संस्कृतियां भी थीं, किन्तु कई कारणों से वे समूह छोटे-छोटे राज्यों में बंटे हुए थे और आपस में संघर्षरत थे । इन संघर्षों का लाभ यूरोपीय लोगों ने उठाया ।

यूरोपीय विस्तारवाद ने तीन स्वरूप धारण किए । उत्तर अमेरिका, दक्षिण अफ्रीका तथा ऑस्ट्रलिया में यूरोपीय नवागतों ने मूल निवासियों को जंगलों या मरुभूमि में खदेड़ते हुए अपने ही "यूरोपीय" लोगों के उपनिवेश बनाए । इस भूभागों में राष्ट्रीयता (नेशनलिज्म) का विकास सहजतापूर्वक हो सका । कालांतर में विभिन्न यूरोपीय देशों में नये-नये लोग आकर बसने लगे तो इन नये लोगों को सांस्कृतिक दृष्टि से, सर्वप्रथम आकर बसने वाले यूरोपीय लोगों के साथ एकात्म करने का प्रयास किया गया, इस कार्य में कम अधिक मात्रा में सफलता प्राप्त होती गई ।

भारत, चीन, जापान जैसे कुछ देशों में यह प्रक्रिया नहीं चल सकी । इन देशों के समाज सुव्यवस्थित तथा संस्कृतियां प्राचीन और दृढ़मूल थी । राष्ट्रीयता के मूल तत्व भी इन समाजों में विद्यमान थे । इन परम्परागत समाज रचनाओं तथा संस्कृतियों को नष्ट करना या वहां के सभी मूल निवासियों को पीछे खदेड़ देना आक्रमकों के लिए संभव नहीं था । ऐसे देशों में यूरोपीय लोगों ने अपने-अपने देशों का साम्राज्य स्थापित किया । इन देशों में नेशनलिज्म या राष्ट्रीयता का स्वरूप पूर्वनिर्दिष्ट देशों से भिन्न रहा ।

लैटिन अमेरिका में, ब्राजील के पुर्तगीज आक्रमकों का अपवाद छोड़ दिया जाए तो शेष क्षेत्र में स्पेनिश लोगों ने वास्तविक अर्थ में अपने उपनिवेश बनाने की चेष्टा की । किन्तु यह प्रक्रिया एंग्लोसॅक्सन या पुर्तगाली आंगतुकों के समान नहीं थी । दक्षिणी उपनिवेशों में मूल निवासियों को अपने साथ एकात्म बनाना स्पेनिश विजेताओं के लिए बाध्यता बन गई । वे विजित लोगों के साथ घुल-मिल गए । उपनिवेशवाद का यह एक नया प्रकार बन गया । इस कारण यहां

नेशनलिज्म (राष्ट्रीयता) का भी एक नया प्रकार विकसित हुआ ।

यूरोपीय साम्राज्यवाद-विस्तारवाद के चरण आगे बढ़ रहे थे । विजित लोगों में हीनता का भाव निर्माण हो रहा था । साथ-साथ असंतोष भी बढ़ रहा था । किन्तु वे विवशता का अनुभव करते थे । कभी-कभी बाहर के समाचार उनको सांत्वना देते थे । शोषित देशों के जनमानस पर समकालीन घटनाओं का भी प्रभाव पड़ता था । सन् १८६८ के पश्चात् प्रारंभ हुआ जापान का उत्थान, सन् १८९६ में एथियोविया वासियों द्वारा इटली की सेना की पराजय हुई, सन् १९०५ में जापान ने रूस को हराया । इन घटनाओं ने यूरोपवासियों की श्रेष्ठता की छवि को मिटा दिया। फिर आर्यलैंड, रूस, मिश्र, तुर्की तथा चीन में उन दिनों चले क्रांतिकारी आन्दोलनों तथा दक्षिण अफ्रीका के बोअर युद्ध ने विजित लोगों का आत्मविश्वास और भी बढ़ा दिया ।

* * * * * * * * * * *

अपना साम्राज्य दृढ़ करने के लिए यूरोपीय सत्ताधारियों को कुछ ऐसे कदम उठाने पड़े जिनका नये राष्ट्रों (Nations)के निर्माण में उपयोग हुआ ।

१. पहली बात थी देशों की सीमाएं निश्चित करने की । कुछ भागों में साम्राज्यों के सत्ताधारियों ने नक्शे (Map) पर केवल लकीरें खींची और इस तरह बनाई गई इकाइयों को नये देश (country) की संज्ञा प्रदान की । इण्डोनेशिया और फिलिपिन्स का निर्माण इसी तरह हुआ । Rupert Emerson अपने 'from Empire to nation' मे लिखेत हैं :

"The scattered lands inhabited by the peoples of Malay stock, including theirin the philippines; the entire Indonesian archipelago and such part of the Malay peninsula as were primarily Malay were not laid out by nature or orginally so Settled by man as to make any one political partition of them more selfevident than another. The existing frontiers are, as fare as both geography and ethnology are concerned, essentially arbitrary and reflect the limits of the colonial spheres, carved out in the conflict of imperialisms." *

* * * * * * * * * * *

* नई "राष्ट्रीय" सीमाओं का यह निर्धारण गवर्नर का प्रशासनिक दायित्व निश्चित करने तथा अन्य प्रतिस्पर्धी यूरोपीय साम्राज्यों के साथ सीमा-विवाद निपटाने की दृष्टि से किया गया। यह सीमा निर्धारण संबंधित प्रदेशों की जनता की परम्परागत अंतर्निहित एकता के विचार से प्रेरित नहीं था । * *

२. साम्राज्य सत्ता का दृढ़ीकरण और विजित लोगों का शोषण अधिक अच्छी तरह से चलाने की दृष्टि से साम्राज्य सत्ता के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि विजित प्रदेशों में यातायात

(Transportation) तथा संचार (Communication) की सुविधाएं बढ़ाई जाएं, राष्ट्रीय मुद्रा (National currency) प्रचलित की जाए तथा अपने लिए अनुकूल प्राथमिक शिक्षापद्धति का निर्माण किया जाए । साम्राज्य सत्ता का सुविधापूर्वक संचालन करने के लिए यह सब करना आवश्यक होता है, किन्तु इसके फलस्वरूप विजित लोगों में प्रथमतः परस्पर निकटता और बाद में व्यावहारिक एकता का भाव निर्माण करने में सहायता भी मिलती है ।

३. एक ही भौगोलिक इकाई में एक ही साम्राज्य के अधीन रहने वाले विभिन्न लोगों में साम्राज्य द्वारा होने वाले शोषण की प्रतिक्रिया के रूप में पारस्परिक निकटता तथा एकता की भावना निर्माण होती है । अपनी सुविधा के लिए साम्राज्य द्वारा प्रचलित की गई पाश्चिमात्य शिक्षा प्रणाली के कारण स्वातंत्र्य आदि जीवन मूल्यों का जागरण विजित लोगों में होता है । फिर वे अपनी स्वतंत्रता के लिए साम्राज्य से संघर्ष प्रारंभ कर देते हैं । स्वातंत्र्य संग्राम की सफलता के पश्चात् ये लोग उस व्यवस्था या सीमाओं की कामना नहीं करते तो उनके प्रदेशों में यूरोपीय लोग के आने के पूर्व अस्तित्व में थी । बल्कि वे उन्हीं सीमाओं की मांग करते हैं जो साम्राज्य ने अपनी सुविधा की दृष्टि से बनाई थी । उदाहरणार्थ द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् स्वतंत्र होने के बाद इण्डोनेशिया ने सम्पूर्ण (पुराने) नेदरलैंड, ईस्ट इण्डीज पर अपना दावा जताया जिसमें ईरियन पश्चिमी न्यूगिनी का भी समावेश था, यद्यपि वहां के लोग वंश तथा संस्कृति की दृष्टि से इण्डोनेशियन लोगों से भिन्न थे ।

साम्राज्यवादी देश विजित देश की जनता को एक ऐसी वस्तु मात्र मानते हैं जिसके विषय में सौदा किया जा सकता है । इसका सबसे बड़ा उदाहरण फिलिपाइन्स का है । सोलहवीं शताब्दी के मध्य में स्पेन ने फिलिपाइन द्वीप समूह पर अपना आधिपत्य जमाया । किन्तु सन् १८९८ में स्पेन-अमेरिका युद्ध में स्पेन ने अमेरिका को दान के रूप (रोमन कथाजिक) फिलिपाइन्स दे दिया।

म्युनिच समझौते जैसे राजनीतिक सौदेबाजी के पीछे यही भावना रहती है । सभी पराजित राष्ट्र इसके भुक्तभोगी हैं । अब अमेरिका पैसे देकर डेनमार्क से ग्रीनलैंड को खरीदने वाला है । जानवरों के समान जनता को भी खरीदा जा सकता हैं, इसमें जनता की इच्छा का सवाल नहीं उठता । इसी तरह अमेरिका ने नेपोलियन से लिथुआनिया को खरीद लिया था और रूस के जार से अलास्का को इस सौदे में स्थानीय जनता की सहमति का विचार भी नहीं आया ।

व्यक्तिगत स्तर पर मानवता का परिचय देने वाले कुछ व्यक्ति हैं । जैसे शोषित तृतीय विश्व के विषय में आत्मीयता रखने वाले डॉ॰ गुन्नार मिर्दाल तथा श्रीमती अल्वा मिर्दाल, तृतीय विश्व के मरीजों को बहुराष्ट्रीय औषधि कम्पनी से बचाने के लिए अकेले लड़ने वाले स्टॅन्ले एडम्स, दक्षिण आफ्रीका के नीग्रो बालकों के प्रति वात्सल्य रखने वाली श्रीमती लिस्बेद पाम आदि । किन्तु यह केवल व्यक्तिगत स्तर पर ही रहता है । **

* * * * * * * * * * *

४. स्वयं अपने को प्रगतिशील दिखाने की दृष्टि से जहां-जहां साम्राज्य ने आर्थिक संस्थान, राजनीतिक दल, ट्रेड यूनियन, वृत्तपत्रादि माध्यम, आदि बातों का प्रचलन होने दिया वहां-वहां ये संस्थाएं ही साम्राज्य सत्ता को उखाड़ने में सहायक हुई ।

साम्राज्य सत्ताएं अपना शासन या तो प्रत्यक्ष रूप से चलाती थी या परोक्ष रूप से । जहां प्रत्यक्ष शासन रहता था वहां कुछ पुरानी परम्परागत सामाजिक संस्थाओं का लोप करके शासकों को कुछ संस्थाओं का प्रचलन किया जाता था । जैसे अंग्रेजों ने भारत में अपने ढगं की नागरिक सेवा (सिव्हिल सर्विस) तथा न्याय व्यवस्था का सूत्रपात किया । भारत में जितना हुआ उससे कई गुना अधिक ब्रह्मदेश (अब म्यानमार के नाम से ज्ञात) में किया गया । एक केन्द्रीय सत्ता पूरेब्रह्म देश पर थोपने के प्रयास में अंग्रेजों ने तत्रस्थ लोगों की सारी परम्परागत संस्थाएं एवं रचनाएं किस तरह अर्थहीन कर डाली इसका अच्छा वर्णन Lucian W. Pye की "Politics, personality and National Building: Burmas' Search for Identity" पुस्तक में मिलता है । विद्यमान परम्परागत व्यवस्थाओं को किनारे लगाने की दृष्टि से बर्मा का उदाहरण अतिरेक का है ।

अप्रत्यक्ष या परोक्ष शासन, पहले से चलते आए सत्ताधीशों, जनजाति प्रमुखों या ग्राम प्रमुखों के माध्यम से चलाया जाता था । यह पद्धति डच (Dutch) सत्ता ने इण्डोनेशिया में तथा ब्रिटिश सत्ता ने अफ्रीका के कई भागों में अपनाई थी । इस पद्धति में परम्परागत सामाजिक संस्थाओं को बहुत कम क्षति होती थी और पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव भी कम मात्रा में होता था ।

प्रत्यक्ष शासन में होने वाले शोषण और अत्याचार का कर्ता स्पष्ट रूप से ज्ञात होने के कारण उसकी प्रतिक्रियास्वरूप एक ही सत्ता के अंतर्गत आने वाले विभिन्न जनसमूहों में निकटता का भाव अल्प अवधि में निर्माण हो सकता था । अप्रत्यक्ष शासन के अंतर्गत यह निकटता तथा एकात्मता की प्रक्रिया निर्माण होने के लिए अधिक गुंजाईश नहीं रहती थी । इस शासन में परम्परागत जनजातीय (Tribe) या ग्रामों (Villages) का स्वायत्त जीवन प्रायः पूर्ववत् ही रहता था । उदाहरणार्थ "The Gold Coast in Transition में Darid E. Aptar कहते हैं (Tribal society of the African gold coast" was an amalagamation of family units into larger and larger kinship groupings in which totemic genealogy provided a major social guide." ऐसी जनजातियां (Tribes) राष्ट्रीयता या (Nationahood) की अवस्था से बहुत दूर थी और अब भी है, यह स्पष्ट है । अफ्रीका में विविध यूरोपीय देशों का साम्राज्य रहा है । किन्तु वहां विविध जनसमूहों में निकटता या एकता प्रस्थापित होने की प्रक्रिया अन्य प्रदेशों के समान नहीं हो सकी ।

जनजातीयता (Tribalism) जनसमूह को राष्ट्रीयता (नेशनलिज्म) की ओर नहीं बढ़ने देती । लोग अपने को जनजाति (Tribe) का अंग मानते हैं, राष्ट्र (नेशन) का नहीं । इसके आधार पर पृथकतावादी राजनीतिक दल निर्माण होते हैं । तीस वर्ष पूर्व जनजातीयता (Tribalism) के आधार पर संगठित राजनीतिक दलों की संख्या नाइजीरिया में तीन (३) और कांगों में एक सौ बीस (१२०) थी ।

जापान

जापान में जब समूहगत अस्मिता का उदय हुआ तब यूरोप में इस भावना का अभाव था । तीसरी शताब्दी में कोरिया के माध्यम से चीनी सभ्यता का जापान में प्रवेश हुआ । सातवी शताब्दी में चीन से बौद्धमत का आगमन हुआ । जापान का मूल शिन्तोमत तथा चीन सें आगत कन्फ्यूशियसवाद के साथ बौद्धमत भी शांति से सह-अस्तित्व में था । इसी समय प्रथम यूरोपीय मेंडेज पिंटो, (Mendex Pinto) पुर्तगाली ने जापान की भूमि पर पदार्पण किया । सन् १६०३ के पश्चात् वास्तविक प्रभुत्व में आये तोकूगावा वंश के शासन काल में यूरोपीय शक्तियों ने यहां प्रवेश किया। सोलहवीं शताब्दी के अंत में स्पेनिश लोगों एवं सत्रहवीं सदी में अंग्रेजों और डचों ने जापान की ओर रूख किया । ईसाइयों का धर्मान्तरण का कुप्रयास तथा विदेशी व्यापारियों के जापान की भूमि पर आपसी संघर्षों के कारण जापानी सरकार ने ईसाई मत के प्रचार के विरुद्ध निषेधाज्ञा निकाली । ईसाई मिशनरियों को जापान छोड़ने का आदेश दिया गया । यूरोपीयों के साथ व्यापार बंद करके सन् १६३७ में वैधानिक रूप से पश्चिमी शक्तियों से संबंध विच्छेद कर दिया । उन्नीसवीं सदी के आरंभ में रूस, ब्रिटेन तथा अमेरिका ने जापान में घुसने का प्रयास किया । किन्तु वे सफल नहीं हो सके ।

जिस तरह ब्रिटेन ने चीन के बंद द्वार पाश्चात्य शक्तियों के लिए खोले थे उसी प्रकार अन्ततः जापान के बंद द्वार खोल दिए गए । १८५४ के फरवरी माह में कमोडोर पेरी के जहाजों का प्रवेश, १८५४ में ब्रिटेन के साथ और १८५५ में रूस एवं अन्य देशों के साथ हुई संधियों ने तथा १८५८ में हुई जापान-अमरिका संधि ने जापान की शक्ति को क्षीण तथा जनता को क्षुब्ध कर दिया ।

चीन और जापान के द्वार लगभग एक सी ही परिस्थिति में यूरोपीय लोगों के लिए खुले थे । किन्तु दोनों की जनता की प्रतिक्रियाएं भिन्न-भिन्न थीं । चीन का विशाल देश पश्चिम के समक्ष पूर्ण नतमस्तक हुआ; किन्तु नन्हे से जापान देश को किसी भी मूल्य पर दास न बनाया जा सका । जनवरी १८६८ में सम्राट की मेईजी ईशीन शक्ति की पुनः स्थापना हुई । मेईजी की पुनः स्थापना ने जापानियों में उत्कट राष्ट्रभाव के उदय के साथ-साथ सामन्तशाही का अंत और राष्ट्र के बहुमुखी निर्माण का द्वार खोल दिया ।

इसके फलस्वरूप १८९४-९५ में जापान ने चीन को पराजित किया । इतना ही नहीं १९०४-५ में रूस जैसे विशाल यूरोपीय शक्ति को भी परास्त किया । पांच सितम्बर १७०५ को पोर्ट्स्माउथ की संधि ने सभी एशियाई देशों में एक नई राष्ट्रवादी चेतना निर्माण की ।

द्वितीय महायुद्ध में ध्वस्त होने के पश्चात् जिस गति के साथ जापान ऊपर आया उसके कारण वह सभी गैरपश्चिमी देशों के लिए गर्व तथा आशा का स्रोत बन गया । इस बात की विशेष रूप से प्रशंसा चल पड़ी कि वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में पश्चिम का अनुकरण करते हुए भी जापानी लोगों ने अपनी संस्कृति तथा परम्परा कायम रखी । इस शताब्दी के प्रारंभ में एक यूरोपीय

महासत्ता, रूस को पराजित करने वाले प्रथम एशियाई राष्ट्र के रूप में जापान को मान्यता प्राप्त हुई थी । इस शताब्दी के अंतिम दशक में जापान आर्थिक क्षेत्र में अमेरिका को भी मात दे रहा है। जापान का येन, अमेरिकन डालर को पीछे खदेड़ रहा है । अमेरिका दुनिया का सबसे बड़ा ऋणगृहीता है, और जापान सबसे बड़ा ऋणदाता देश है ।

इन सब बातों के कारण अश्वेत देशों में जापान के विषय में आदर की भावना निर्माण हुई है । सभी जानते हैं कि इस उत्थान के लिए सबसे बड़ी प्रेरक शक्ति जापान की परम्परागत, प्रखर राष्ट्रीयता ही है ।

किन्तु इन दिनों जापान की वृत्ति सभी को रहस्यमय प्रतीत हो रही है । द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् जापान कुछ समय तक अमेरिका की गुलामी में रहा । उस समय अमेरिका ने जापान और अमरीका के बीच गुरु-शिष्य जैसा संबंध होने का दावा भी किया था । आज परिस्थिति में आमूल चूल परिवर्तन हुआ है । वास्तव में अमेरिका नीचे की स्थिति में है और जापान ऊपर की । फिर भी पिछले कुछ समय से अनुभव यह आ रहा है कि आर्थिक क्षेत्र में अमेरिका पहले जैसी ही दादागिरी चला रहा है और उसकी शर्तें अस्वीकार्य होते हुए भी जापान का राष्ट्रीय नेतृत्व ऐसे अवसरों पर अमेरिका को नहीं कहने की हिम्मत नहीं दिखा रहा है ।

अमेरिका के दबाव के सामने जापान बार-बार अकारण झुक रहा है । राष्ट्रीय स्वाभिमान के विषय में अब तक जापान की जो प्रसिद्धि है उससे उसका यह व्यवहार मेल नहीं खाता । इस कारण तृतीय विश्व के लिए एक नयी चिन्ता निर्माण हो सकती है । जापान के कई प्रबुद्ध लोगों के मन में यह भावना जन्म ले रही है कि उनका देश "पश्चिमी" बन गया है, और उसे इस बात का प्रमाण पत्र पश्चिमी देशों से प्राप्त होने चाहिए । ये लोग जापान का अमेरिकीकरण पसंद करते हैं। यह प्रवृत्ति कितनी मात्रा में प्रबल है इसकी जानकारी अभी प्राप्त नहीं है । यद्यपि उसे आर्थिक दृष्टि से संसार का सर्वप्रथम राष्ट्र होने का सम्मान आज भी प्राप्त हो रहा है; किन्तु यह प्रवृत्ति पनपी और बढ़ी तो जापान की राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय सम्मान खतरे में पड़ जाना निश्चित है ।

चीन का इतिहास

चीन की प्राचीन संस्कृति का इतिहास ३००० वर्ष पूर्व से प्रारंभ होता है । तभी से वहां यह मान्यता थी कि चीन सम्पूर्ण पृथ्वी का केन्द्र है और ईश्वर की इच्छा है कि चीन का सम्राट समस्त पृथ्वी का सम्राट बने । चीन वंश का राज्य ईसा पूर्व तीसरी शती में प्रारंभ हुआ । कन्फ्युशियस, लाओत्से, मैनसियस जैसे तत्वज्ञों ने संस्कृति का संवर्धन किया । बाद में ताओवाद और अभिनव कन्फ्युशियस की पूर्ति बौद्ध मत ने की । बहुभाषी होते हुए भी चीन की सभी भाषाओं की लिपि एक ही होने के कारण एकात्मता निर्माण होने में सहायता मिली ।

अतीत में और आधुनिक कालखंड तक भी इस विशाल देश में कई बार राजनीतिक उथल-पुथल हुई ।

यूरोपीय व्यापारियों से पूर्व अनेक आक्रांताओं ने चीन की मुख्य भूमि पर सैनिक विजय प्राप्त की थी । परन्तु कुछ समय पश्चात् लगभग सभी विदेशी चीनी दर्शन व रीतिरिवाज से प्रभावित होकर चीनी समाज का अंग बन गए । इसका कारण यह था कि विदेशी आक्रांता यद्यपि सैनिकी दृष्टि से चीनियों से अधिक श्रेष्ठ थे, किन्तु सांस्कृतिक व सामाजिक दृष्टि से उनकी कोई मान्यताएं नहीं थी । अतः चीनी समाज ने उनको आत्मसात कर लिया । इसके विपरीत आधुनिक काल में चीन में प्रवश करने वाले विदेशी व्यापारियों और मिशनरियों में श्रेष्ठता की भावना थी। १८वीं तथा १९वीं शताब्दी में पूर्वी देशों में यूरोप के प्रमुख हित आर्थिक थे । इस कारण उन्होंने आर्थिक साम्राज्यवाद का विस्तार किया । चीनी सरकार की आर्थिक मजबूरी सैन्य-दुर्बलता तथा प्रशासनिक अक्षमता के कारण ही चीन में यूरोपीय आर्थिक साम्राज्यवाद सफल हो सका ।

पंद्रहवीं शताब्दी के पूर्व चीन का पाश्चात्य जगत से सम्पर्क अरब व्यापारियों के माध्यम से था। सन् १४१४ में प्रथम पुर्तगाली व्यापारी एलवरेज (Alvarez) का चीन में पदापर्ण, सन् १४१६ में पुर्तगाली व्यापारियों का मुख्य भूमि पर प्रवेश, १६वीं शताब्दी के मध्य में स्पेनिश व्यापारियों, और सन् १६३७ में डच तथा इंग्लिश व्यापारियों का चीन में प्रवेश, और सन् १६८९ में रूस के साथ सीमाओं तथा व्यापारी संबंधों के विषय में की हुई नर्टचिन्सक संधि यूरोपीय चंचुप्रवेश क्रम रहा ।

विदेशी व्यापारियों द्वारा किया गया आर्थिक शोषण तथा उनके और ईसाई मिशनरियों द्वारा धार्मिक व राजनीतिक क्षेत्र में होने वाला राजनीतिक हस्तक्षेप सहन कर पाना चीनी समाज के अतिथि सेवी होते हुए भी असंभव हो गया । उसमें से ही आगे आने वाली घटनाओं का सूत्रपात हुआ ।

सन् १८३९-४२ का आंग्ल-चीनी "अफीम युद्ध", सन् १८४३ की बोग की "सर्वाधिक प्रिय देश" (इंग्लैंड वाली) संधि, तत्पश्चात् अमेरिका, फ्रांस, नार्वे और स्वीडन के साथ हुई व्यापारिक संधियां, केन्टन आदि बन्दरगाहों पर विदेशियों की स्वायत्त बस्तियों का निर्माण, चीनी राष्ट्र भक्तों का मंचूवंश के विरुद्ध १८५१ का "ताईपिंग विद्रोह", द्वितीय अफीम युद्ध १८५७, सन् १८६० में इंग्लैंड, फ्रांस, अमेरिका तथा रूस के साथ हुआ पीकिंग समझौता, फलस्वरूप १८६४ में विदेशियों के विरोध में जनक्षोभ, ताईपिंग विद्रोह की समाप्ति, १८६०-१९११ तक चीन में यूरोपीय तथा जापानी साम्राज्यवाद का प्रसार, १८९४ में कोरिया के प्रश्न पर चीन-जापान युद्ध, १८९५ शिमोनोसे की अपमानजनक संधि, १९७८ में "शतदिवसीय" सुधार", १८९९ में ईसाई मिशनरियों के विरोध में "बॉक्सर विद्रोह ", १९०१ में जर्मनी, अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस तथा जापान की संयुक्त सेनाओं का पेकिंग प्रवेश तथा "बॉक़्सर विद्रोह का अंत, १९०४ में रूस का मांचूरिया में विस्तारवाद तथा रूस और जापान की कोरिया में दखलन्दाजी और चीन की भूमि पर रूस-जापान युद्ध, ४ सितम्बर १९०४ को पोर्टसमाउथ की संधि और चीन का घोर राष्ट्रीय अपमान की घटनाएं हुई । पाश्चात्य विचारों का प्रभाव, केन्द्र की जनता विरोधी रेल नीति,

समाचार पत्रों के माध्यम का प्रभाव आदि सब बातों की संकलित परिणति हुई । डॉ॰ सन्यत्-सेन के नेतृत्व में १९११ की सफल राष्ट्रीय राज्य क्रांति । दिनांक १.१.१९१२ को डॉ॰ सन्-यत्-सेन ने राष्ट्रपति पद का कार्यभार संभाला । दिनांक १२.२.१९१२ को युआन-शी-काई को देश की बागडोर सौंपकर डॉ॰ सन्-यत्-सेन ने राष्ट्रपति पद से त्याग पत्र दे दिया ।

चीनी समाज में समूहगत अस्मिता का उदय प्राचीन काल में ही हुआ था । किन्तु बाद में शताब्दियों तक कन्फ्यूशियस या लाओत्से की तरह के नैतिक नेतृत्व का अभाव रहा । शासक अपने ही काल्पनिक स्वर्ग में रमते रहे । सैन्य दुर्बलता, प्रशासनिक अक्षमता तथा आर्थिक विचार दर्शन का अभाव, नेताओं की स्वकेन्द्रित विलासप्रियता, अधिकारियों का भ्रष्टाचार, विदेशियों के आगमन का स्वरूप समझने में शासकों की अक्षमता, सामान्यजन की उदासीनता, राष्ट्रीयता के जागरण का गिने-चुने क्षेत्रों और शिक्षित लोगों के बीच ही सीमित प्रभाव और विशेष रूप से डॉ॰ सन्-यत-सेन जैसे विश्वसनीय राष्ट्रीय नेता का अभाव आदि बातों का चीन के ऐतिहासिक विकास-क्रम पर प्रभाव पड़ा ।

चीन की समूहगत अस्मिता प्राचीन तो है, किन्तु उसकी प्रकृति और भारतीय अस्मिता की प्रकृति एक जैसी नहीं है । एक श्रेष्ठ विचारक श्री अशोक मेहता का अध्ययन पर आधारित निष्कर्ष है कि भारत के व्यक्तित्व का मूलाआधार उसकी संस्कृति (Culture) है, चीन के व्यक्तित्व का उसकी Imperial State (सामन्ती राज्य) संकल्पना है । दोनों समाजों के व्यक्तित्व (Personality) में यह अंतर है । इसके परिणामस्वरूप दोनों समाजों की राष्ट्रीयता की प्रकृत्ति में भी अंतर है । जिसका प्रभाव दोनों समाजों के ऐतिहासिक विकास-क्रमों पर भी दिखाई देता है ।

मध्यपूर्व

हिमालय रेखा से आर्कटिक तक का भूभाग- World Island का Heart land है । इस मूल मान्यता के साथ-साथ भूराजनीति की (Geopolitics) एक घोषणा ऐसी भी रही है कि 'Who rules the Middle East commands the World Island, who rules the World Island commands the World."

इस कथन ने वहां के जागृत वर्गों को स्वाभाविक से अधिक महत्वाकांक्षी तथा स्वकेन्द्रित बना दिया ।

मध्यपूर्व को कुछ लोग पश्चिमी एशिया भी कह देते हैं । इस क्षेत्र में समाविष्ट देशों में इजरायल (जिसका उल्लेख अन्यत्र आया है) को छोड़कर शेष सभी देश इस्लामी हैं । साम्राज्यवाद के खिलाफ हुई प्रतिक्रिया में से तुर्की साम्राज्य के यूरोपीय क्षेत्र में सर्बिया, रूमानिया, बल्गेरिया, ग्रीस आदि के नेशनलिज्म का उदय हुआ । साम्राज्य के एशियाई क्षेत्र में भी वही बात हुई ।

नेशनलिज्म के संदर्भ में यूरोप और पश्चिमी एशिया के इतिहास में कुछ समान बिन्दु दिखाई देते हैं । दोनों भूभागों में जनसमुदायों की समूहगत अस्मिताओं का उदय होने के बावजूद वे उभरकर नहीं आ सकीं । इसका कारण था उधर पोपसाहब का और इधर खलीफा "स्टीम रोलर" । जैसे ही ये स्टीम रोलर हट गए, बीजभूत अस्मिताएं अंकुरित होने लगीं । यूरोप तथा पश्चिमी एशिया में भी समूहगत अस्मिताओं को बढ़ावा देने वाली मानसिक प्रक्रिया का स्वरूप एक ही था— "साम्राज्यवाद के खिलाफ जनमानस में उभरती प्रतिक्रियाएं ।"

इन सामूहिक अस्मिताओं का प्रखर प्रकर्ष इधर फ्रांस की राज्य क्रांति के बाद और उधर प्रथम महायुद्ध के पश्चात् नेशनलिज्म के रूप में दिखाई देने लगा । किन्तु ये नेत्रोंद्दीपक परिणाम इसी कारण हो सके कि उनकी पृष्ठभूमि क्रमशः फ्रांस की राज्य क्रांति और प्रथम महायुद्ध के पूर्व विभिन्न भूभागों में हुई ऐतिहासिक घटनाओं के कारण पहले से ही बनती आ रही थी ।

हम यूरोपीय घटनाओं से परिचित हैं । पश्चिम एशिया की घटनाओं, जिनका सार संक्षेप में नीचे दिया गया है, के कारण ही विश्व युद्ध के पश्चात् राष्ट्रीय जागरण संभव हुआ ।

आज जिसको राष्ट्र-राज्य (Nation-state) कहा जाता है उसके लिए इस्लाम में कोई स्थान नहीं है । इस्लाम के अनुसार पूरा संसार दो हिस्सों में बंटा हुआ है । दार-उल-इस्लाम (Dar-ul-Islam) और दार-उल-हर्ब (Dar-ul-Harb) । इस्लाम के बिल्कुल प्रारम्भिक कालखंड को छोड़ दिया तो दार-उल-इस्लाम की संकल्पना एक सिद्धांत (Theory) मात्र रही । सन् १२५८ में बगदाद के शासन के बाद तथा सोलहवीं शताब्दी में फारस (ईरान) द्वारा शियापंथ को नेशनल रिलीजन (National Religion) स्वीकार करने के पश्चात् एकमेव जागतिक मुस्लिम राज्य की संकल्पना समाप्त हुई और राष्ट्र-राज्य (nation state) के लिए रास्ता खुल गया । सामान्य मुस्लिम मानस पर एक ओर तो प्रारम्भिक एक केन्द्रीय जागतिक मुस्लिम राज्य की संकल्पना का प्रभाव है और दूसरी ओर पाश्चात्य ढंग के राष्ट्र-राज्य (Nation-State) की निर्मित की अपरिहार्यता का भी उसे भान है । मूल इस्लामी कानून की पवित्रता को भी वह मानता है, और कानून के आधुनिकीकरण की अनिवार्यता को भी ।

अरब जगत

अरब जगत की दृष्टि से मुहम्मद इब्न अब्दुल वहाब का बहाबी आंदोलन, सन् १७९८ में नेपोलियन का मिश्र में निवास तथा उसके द्वारा पश्चिमी आधुनिकता का मिश्र में प्रवेश, मिश्र, सीरिया, लेबनान, ईराक आदि राज्यों की अधिकांश अरब जनता का पाश्चात्य विचारों से सम्पर्क, १८२० में बशीर द्वितीय द्वारा लेबनान में और १८३० में इब्राहिम पाशा द्वारा सीरिया में प्रणीत जनजागरण अभियान, बाद में स्थापित "सीरियाई वैज्ञानिक संघ" तथा अरब देशभक्त युवकों के गुप्त संगठन का सन् १८८० का कार्य, सीरिया तथा लेबनान में स्थापित फ्रांसीसी तथा अमेरिकी शिक्षा संस्थाओं से फैली विचारधाराएं, दिनांक १.६.१८४१ के राज्यादेश के आधार पर मुहम्मद अली द्वारा डाली गई आधुनिक मिश्र राज्य की नींव, प्रशासन से तुर्की अधिकारियों को

निकालकर उनके स्थान पर अरब अधिकारियों की नियुक्तियां कर, आधुनिक ईजिप्शियन नेशनलिज्म को मुहम्मद अली द्वारा दिया गया प्रोत्साहन, सन् १८६९ में स्वेज नहर का खुलना, सन् १८८२ में अंग्रेजों द्वारा मिश्र पर प्रत्यक्ष कब्जा, "अब-हिज्ब-उल-वतकी" संगठन, २०वीं सदी के आरंभ में अरबी पाशा के आंदोलन को उनके सहायक जगलूल पाशा द्वारा दी गई नई गति, १९०४ में पेरिस में हुई "लीग-द-ला पामी अरब" की स्थापना, महत्वाकाक्षी इब्न सौद की उपलब्धियां, साम्राज्यातांर्गत समान प्रतिष्ठा तथा अरबी भाषा की मान्यता के प्रश्न पर सन् १९०८ में युवा तुर्कों की असफलता, लेबनान में ईसाई मिशनरियों द्वारा किया गया पाश्चात्य विचारों का प्रसार, पश्चिमी व्यापारियों का आवागमन, सीरिया की साहित्यिक समिति "अल-जाइमा-अल-इमइया-अल-सुहिया के द्वारा किया गया प्रचार, मिश्र में "हदीकत-अल-अखबार" द्वारा चलाया गया प्रचार अभियान, मिधत पाशा के शासनकाल में ईराक में प्रकाशित विचार, लेबनान, बेरुत आदि में समाचार पत्रीय कार्य, "बल-रूसअल-बुलतानी" द्वारा अरबी भाषा में रचित विश्वकोष, इब्राहीम-अल-याजीज की राष्ट्रीय रचनाएं, जनरल जमालपाशा द्वारा १९१४ में चलाया गया दमनचक्र, नवम्बर १९१७ में बोलशेवकों द्वारा गुप्त समझौते (Sykes Picot Agreement) के प्रकाशन के कारण अंग्रेज तथा फ्रांसीसी सरकारों के विश्वघाती षड्यंत्र का रहस्योद्घाटन, यहूदियों के नेशनल होम (National Home) की स्थापना के विषय में बालफोर घोषणा, सीरिया-लेबनान पर फ्रांसीसी मेंडेट तथा फिलिस्तीन, ईराक पर ब्रिटिश मेंडेट थोपने की कार्रवाई, इसके खिलाफ ईसाई बहुल लेबनान की सौम्य और मुस्लिम बहुल सीरिया की तीव्र प्रतिक्रिया-आदि बातों ने प्रथम महायुद्धोत्तर राष्ट्रवादी लहर की पूर्व भूमिका तैयार की ।

ईरान

ईरान कभी भी आटोमन साम्राज्य के अंतर्गत नहीं था । सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ में प्रथम शाह इस्माईल ने शियापंथ को फारस राज्य का सरकारी मजहब (State Relegion) घोषित किया। कुस्तनितुनिया (Constantinople) इस्लाम पर एकाधिकार बताने वाले ऑटोमन सुलतान के लिए एक चुनौती था । इसके परिणामस्वरूप ऑटोमन साम्राज्य सुन्नीवाद का कट्टर समर्थक बन गया । ऑटोमन-फारस सीमा-विवाद में इंग्लैंड और रूस ने पहली बार सन् १८४२ में हस्तक्षेप किया, जो अगले सात दशक तक जारी रहा । सीमा-विवाद इस्लामी जगत के अंतर्गत दो सार्वभौम सत्ताओं में था । यूरोपियन देशों का हस्तक्षेप इस्लामी जगत के अन्दरूनी मामले में दखल देना था। पीटर द ग्रेट की आंकाक्षा फारस की खाड़ी तक पहुंचने की थी । इसके अलावा अफ़गानिस्तान पर प्रभुत्व तथा ईरान, काबुल आदि व्यापारिक तथा सामरिक महत्व के केन्द्रों पर कब्जा इन दोनों यूरोपीय सत्ताओं का लक्ष्य था । ईरान की भूमि पर इंग्लैंड, रूस और फ्रांस की आपस में रस्साकशी और तीनों का मिलकर जर्मनी के प्रवेश को रोकने का संयुक्त प्रयास इस कालखंड में ईरान का इतिहास है । १९०७ की आंग्ल-रूसी कन्व्हेन्शन ने फारस को तीन प्रभाव क्षेत्रों में बांट दिया । उत्तर पर्शिया में रूस का और दक्षिण में इंग्लैंड का प्रभाव तथा मध्य फारस में तटस्थता का क्षेत्र था ।

विदेशी सत्ताओं का फारस की भूमि पर चला संघर्ष, विभिन्न सत्ताओं ने बल प्रयोग करके जो अधिकार और रियायतें ग्रहण कर ली थी उनके कारण फारस की आर्थिक दुर्दशा, सन् १९०८ के प्रथम फारसी संविधान के क्रियान्वयन में अपयश, इन सबकी प्रतिक्रिया के कारण ईरान के राष्ट्रभक्तों में असंतोष तथा इन देशभक्त क्रांतिकारियों का दिनांक १६.७.१९०७ को तेहरान में प्रवेश और शाह की पदच्युति की घोषणा, नए बालक शाह की अक्षमता आदि घटनाओं के फलस्वरूप नवागत पर्शिया इतना दुर्बल हो गया कि प्रथम महायुद्ध में उसने अपने को तट्स्थ राष्ट्र घोषित किया तो भी वह तुर्की, रूसी और ब्रिटिश सैनिकों की युद्ध-भूमि बना और फारस की जनजातियों (Tribes) में विद्रोह की भावना भड़काने का काम जर्मनी के एजेंटों ने किया ।

महायुद्ध के पश्चात् लीग ऑफ नेशंस ने ईरान को अपने सदस्य नेशन की प्रतिष्ठा प्रदान की। किन्तु १९.८.१९१९ को ईरान के मंत्रीमंडल के साथ इंग्लैंड ने जो समझौता किया वह ईरान को इंग्लैंड का पिछलग्गू बनाने वाला था । राष्ट्रभक्त "मजलिस" ने उसको ठुकरा दिया । यूरोपीय सत्ताओं के निरंतर हस्तक्षेप के कारण क्रुद्ध देशभक्त ईरानी रजा खान के नेतृत्व में एकत्रित हुए । वह ईरान का कमाल पाशा बन गया । बाद में वह पहलवी राजवंश का संस्थापक बना और आगे चलकर तानाशाह बना । किन्तु प्रथम महायुद्धोत्तर कालखंड में उसने उसी तरह की भूमिका का निर्वाह किया जिस तरह की तुर्की में कमाल पाशा ने निभाई थी ।

इन राष्ट्रवादी कार्यकलापों के पीछे जिन घटनाओं की शक्तियां थी, उनमें प्रमुख थीं राष्ट्रवादी नवयुवकों की गुप्त समितियां, अली मोहम्मद का "बाबीवाद " नामक संगठन, अब्बास मिर्जा द्वारा समाचार पत्रों के माध्यम से किया गया प्रचार, जमाल-उद्दीन-अल-अफगान के ओजस्वी भाषण, इंग्लैंड स्थित ईरानी राजदूत मेल्कामखां का अखबारों में प्रचार, सन् १९०५ में सहस्त्रों की संख्या में ईरानियों का वस्त (धरना), सन् १९०६ में अंजुमन संगठनों द्वारा सम्राट को झुकने के लिए बाध्य करना ।

तुर्की

ऑटोमन साम्राज्य के विस्तार में प्रथम बाधा सन् १६८३ में उपस्थित हुई । उस वर्ष विएना जीत लेने के प्रयास में ऑटोमन सेनाएं असफल हुई । इसके पश्चात् साम्राज्य का द्रुत गति से पतन प्रारंभ हुआ ।

बहुभाषी, बहुवांशिक साम्राज्य को बांधकर रखने की क्षमता सुलतानों में नहीं रही । उनमें से अधिकांश अक्षम, विलासी और तानाशाही प्रवृत्ति के थे । इस कारण उनके विरोध में एक ओर जनता का असंतोष बढ़ने लगा और दूसरी ओर अर्थव्यवस्था, सैनिक संगठन, शांति, सुव्यवस्था की स्थिति, सामाजिक सौमनस्य आदि बातों में गिरावट आ गई । साम्राज्यान्तर्गत सम्प्रदायों के आधार पर संघ बने । १९१४ में उनकी संख्या सत्रह थी । Capitualation संधियों के माध्यम से यूरोपीय नागरिकों को यह अधिकार प्रदान करना पड़ा कि उन पर अभियोग लगने पर उनका निवारण उनके देशों की विधि के अनुसार उनके न्यायाधीशों द्वारा होगा । सन् १८७० तक कुल

अठारह (१८) देशों के साथ ऐसी संधियां करनी पड़ी । आगे चलकर विदेशी सत्ताओं के कृपापात्र देशी नागरिकों तक को उन संधियों का संरक्षण प्राप्त होने लगा । इसके कारण विदेश निष्ठ तुर्की नागरिकों की संख्या लाखों में हो गई । साम्राज्य के ७० लाख ग्रीक आर्मेनियन ईसाई नागरिकों केसंरक्षक की भूमिका रूस ने ले ली । किसी विदेशी सत्ता ने प्रत्यक्ष सैनिक विजय तो प्राप्त नहीं की, किन्तु तुर्की साम्राज्य की भूमि पर व्यापारिक तथा अन्य सहुलियतों के लिए विदेशी सत्ताओं की खींचतान चलने लगी । सुलतान मुहम्मद द्वितीय द्वारा "तनाजियत" के नाम पर सुधार का प्रयास, सुलतान अब्दुल मजीद (१८३९-६१) द्वारा नवम्बर १८३९ में रशीद पाशा को प्रेरणा से निकाला गया "हट्ट-इ-शरीफ गुलहने" का आदेश, १.२.१८५६ का "हट्ट-ए-हुमायुन" आदेश, ये सभी अधिकतर कागज पर ही रहे, उनका क्रियान्वयन नहीं हो सका । २३.१२.१८७६ को लागू किए गए "कमाल मिदहत पाशा की प्रेरणा के मिधत" संविधान की कुछ ही महीनों में अपमृत्यु के बाद सन १९०८ तक तानाशाही चलती रही ।

सुलतान अब्दुल हमीद के विरोध में तुर्की तथा युरोप में गुप्त क्रांतिकारी दल संगठित होने लगे । १८६५ में "सोसायटी ऑफ यंग टर्कस" बनाई गई । उसके अलावा गोकाल्प की "एसोसिएशन फार ऑटोमन यूनियन एण्ड प्रोग्रेस" एवं "ऑटोमन फ्रीडम सोसाइटी" बनी । सन् १८८९ में इस्तंबुल केन्द्रित "कमिटी ऑफ यूनियन एण्ड प्रोग्रेस" गठित हुई । उसके क्रांतिकारी सदस्यों को "युवा तुर्क" नामाभिधान प्राप्त हुआ । युवा तुर्कों का कार्यकलाप, १९०६ में सुलतान अब्दुल हमीद की क्रांतिकारियों के मुकाबले में पराजय, १९०६-७ में वेतन के प्रश्न पर सैनिकों के विद्रोह, १७.१२.१९०८ को पार्लेमेंट के अधिवेशन में युवा तुर्कों का बहुमत, २६.४.१९०९ को पार्लेमेंट द्वारा सर्वसम्मति से सुलतान अब्दुल हमीद की पदच्युति और तत्पश्चात् सत्ता पर युवा तुर्कों की पकड़ आदि घटनाओं के कारण महायुद्धोत्तर राष्ट्रीय जागृति का कार्य आसान हो गया। दिनांक ४.९.१९१९ को शिवासा में बुलाए गए राष्ट्रीय सम्मेलन द्वारा ९ सितम्बर को जारी की गई "शिवास घोषणा" को तुर्की राष्ट्र की पुनर्रचना का मूलभूत दस्तावेज माना जाता है । क्रांतिकारियों का घोष वाक्य 'पान ऑटोमनज्म' था । बाद में पान इस्लामिज्म और अंत में "पान तुशनिज्म याने "तुर्कीकरण" हो गया ।

इस्लाम

राष्ट्रीयता केसंदर्भ में इस्लाम की भूमिका के विषय में भारत में परिस्थितजन्य संभ्रम विद्यमान है । इसी कारण निहित स्वार्थ वाले राजनेताओं ने सेक्युलरिज्म की चर्चा जोरों से चलाई है । किन्तु वह यहां हमारी चर्चा का विषय नहीं है ।यहां केवल राष्ट्रीयता के संदर्भ में इस्लाम की भूमिका पर विचार करना ही हमारा प्रयोजन है । जिन देशों में मुसलमान बहुसंख्या में है या बंहुसंख्य-प्राय स्थिति में हैं उनकी संख्या ४४ है । इनमें स्वाभाविक रूप से भारत की गणना नहीं होती है, यद्यपि भारत में मुस्लिम जनसंख्या लगभग १२ करोड़ है और उसके अलावा तथाकथित

उपमहाद्वीप में पाकिस्तान और बंगलादेश की अलग-अलग जनसंख्या भी १० करोड़ से अधिक है । भारत मुस्लिम बहुल देश नहीं है फिर भी विश्व के मुसलमानों में से लगभग आधे मुसलमान तथाकथित भारतीय उपमहाद्वीप में निवास करते हैं ।

२० मुस्लिम देश ऐसे हैं जिनमें से हर एक में मुस्लिम जनसंख्या ५० लाख से कम है । पचास लाख से ऊपर और एक करोड़ से कम जनसंख्या वाले आठ मुस्लिम देश हैं । एक करोड़ से दो करोड़ के बीच जनसंख्या वाले छः मुस्लिम देश हैं— अफगानिस्तान, ईराक, मलेशिया, सऊदी अरब, दक्षिण यमन तथा सीरिया । दो करोड़ से तीन करोड़ के बीच मुस्लिम जनसंख्या वाले ३ मुस्लिम देश हैं—अल्जीरिया, मरक्को तथा सूडान । पांच करोड़ से छः करोड़ के बीच मुस्लिम जनसंख्या वाले ३ मुस्लिम देश हैं–मिश्र, तुर्की तथा ईरान । दस करोड़ से अधिक मुस्लिम जनसंख्या वाले ५ देश हैं—इण्डोनेशिया, नाइजीरिया, पाकिस्तान, बंगलादेश और भारत ।

वास्तविकता यह है कि ईसाइयत की तरह इस्लाम भी संस्कृति नहीं, केवल एक मजहब मात्र है, यद्यपि ईसाइयत के समान ही इस्लाम की भी यह चेष्टा रही है कि वह अपने अनुयायियों की सम्पूर्ण निष्ठाओं पर एकाधिकार प्राप्त करके संस्कृति की प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकें । *

* * * * * * * * * * *

* रूस में मुसलमानों की संख्या पांच करोड़ से अधिक है । रूस की कुल जनसंख्या में १८ प्रतिशत मुस्लिम हैं । मुस्लिम जनसंख्या की दृष्टि से रूस पांचवे क्रम का देश है । मुस्लिम बहुल मध्य एशिया गणतंत्रों की सीमा से सटे हुए तुर्कीस्तान, ईरान और अफगानिस्तान है।

साम्यवाद भी रूसी मुसलमानों को कट्टरवादी नेताओं के प्रभाव से पूर्ण रूपेण मुक्त नहीं कर सका । अजरबेजानी-आर्मोनी संघर्ष इसी का परिणाम है । अजरबैजान के नोगोर्नो—कारबाख क्षेत्र में ८० प्रतिशत जनसंख्या आर्मेनी ईसाइयों की है । गैर-इस्लामी तत्वों के विरोध में सभी मुसलमान एकजुट हो सकते हैं ।

किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि मध्य एशिया के रूसी गंणतंत्रों में रहने वाले सभी मुसलमान मिलकर एक नेशन बन गए हैं । किसी नकारात्मक (Negative) बिन्दु पर संयुक्त मोर्चा बनना और भावात्मक (Positive) आधार पर नेशन बनना दोनों अलग बात है । रूसी मध्य-एशिया में अजरबेजान, कजाकिस्तान, उजबेकिस्तान, तुर्कमेनिस्तान, किरगिजीस्तान और ताजिकिस्तान, सभी मुस्लिम बहुल गंणतंत्र हैं ।

* * * * * * * * * * *

मध्य युग के अंत तक ईसाइयत इस प्रयास में सफल रही । किन्तु रेनेसेंस के पश्चात् यूरोप में हुए नवजागरण के कारण मजहब का एकाधिकार क्षीण होता गया और दूसरी ओर यूरोप के विभिन्न समाजों की निजी संस्कृतियों के आधार पर अलग-अलग भागों में नेशनलिज्म का उदय हुआ । किन्तु इसका तात्पर्य नहीं कि नवोदित नेशन्स की जनता ने ईसाइयत को त्याग दिया ।

ईसा मसीह ने कहा था कि जो भगवान का है वह भगवान को दो और जो राजा का है वह राजा को दो" । इसी का अनुसरण करते हुए उन्होंने ईसाइयत को व्यक्तिगत और नेशनलिज्म को समष्टिगत कहा । यह ठीक है कि ईसाइयत के विरोध में हुए आक्रमणों का प्रतिकार करने या ईसाइयत का दुनिया में प्रचार करने के लिए चल रहे प्रयासों के प्रति ईसाईयों की सहानुभूति रही किन्तु निष्ठाओं का एकाधिकार ईसाइयत का नहीं रहा । निष्ठाओं में प्राथमिकता नेशनेलिज्म को मिली । यही कारण है कि इस शताब्दी के दोनों विश्व युद्ध ईसाई राष्ट्रों के बीच लड़े गए ।

अपनी इस दुर्बलता को पहचानते हुए ईसाइयत ने अब यह प्रयास चलाया है कि उसे संस्कृति की प्रतिष्ठा प्राप्त हो । इसलिए कुछ संज्ञाएं प्रचलित की गई । जैसे, क्रिश्चन साइंस, क्रिश्चन कलाएं, क्रिश्चन वास्तुशास्त्र आदि । किन्तु वास्तव में यह सब अस्तित्वहीन कल्पनारंजन मात्र है । क्रिश्चन साइंस नाम की कोई चीज अस्तित्व में नहीं है ।अस्तित्व में है यूरोपीय या पश्चिमी साइंस । यही बात कलाओं के विषय में भी है । यह मिथ्या प्रयास जानबूझकर इसलिए चलाया जा रहा है कि ईसाइयत के संस्कृति होने का मिथ्या आभास हो । यह सभी जानते हैं कि यूरोपीय या पश्चिमी संस्कृति तो है किन्तु ईसाई संस्कृति नाम की कोई चीज अस्तित्व में है ही नहीं ।

इस्लामी जगत में रेनेसांस के समकक्ष कोई प्रक्रिया नहीं हुई । इस कारण जिस तरह पोप की सत्ता क्रमशः क्षीण होती गई वैसी स्थिति खलीफाओं की सत्ता के बारे में नहीं हुई । किन्तु प्रथम महायुद्ध के पश्चात् मुस्लिम देशों में नेशनलिज्म की लहर उठने लगी । उस समय खिलाफत को भी समाप्त किया गया । खिलाफत का पुनर्जीवन हो इसीलिए महात्मा गांधी के नेतृत्व में भारत के मुसलमानों के साथ हिन्दुओं ने भी बड़ा आंदोलन किया । भारत के मुसलमानों का शिष्टमंडल तुर्कीस्तान के राज्य प्रमुख मुस्तफा गाजी कमाल पाशा से मिलने गया । तुर्कीस्तान खिलाफत का केन्द्र था । किन्तु कमाल पाशा ने खिलाफत की पुनः प्रतिष्ठा करने के लिए भारतीय मुसलमानों के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया । अपने सोचने की आदत के अनुसार भारतीय मुसलमानों ने कमाल पाशा को यह लालच दिया कि "आप अपने देश में खिलाफत संस्था को पुनः प्रवर्तित कीजिए, हम आपको ही दुनिया के मुसलमानों का खलीफा बनाते हैं" किन्तु यह प्रस्ताव भी कमाल पाशा ने ठुकरा दिया । जिस तुर्कीस्तान में खिलाफत का केन्द्र था उसके शासक तथा जनता ने खिलाफत को एक कालवाह्य संस्था घोषित किया और हिन्दू राष्ट्र के अंतर्गत आने वाले हिन्दुओं ने खिलाफत के लिए अपना सब कुछ दांव पर लगा दिया ।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् निर्माण हुई राष्ट्रीयता की लहर ने मुस्लिम देशों के मजहब के ठेकेदारों को झकझोर दिया । अब तक उनका सभी मुसलमानों की सम्पूर्ण निष्ठाओं पर एकाधिकार था ।

इस एकाधिकार को चुनौती देने वाला दूसरा कोई भी श्रद्धा-केन्द्र अस्तित्व में ही नहीं था । जगह-जगह राज संस्थाएं थी । उन्होंने अपने निहित स्वार्थ के लिए मजहब के इन ठेकेदारों के साथ समझौता कर लिया था और दोनों की मिलीभगत से जनजागृति होना मुस्लिम देश में असंभव हो गया था । ऐसे समय राष्ट्रीयता की लहर के कारण मुल्ला-मौलवियों का चौंक जाना स्वाभाविक ही था ।

कई मुस्लिम देश इस राष्ट्रीय जागृति के प्रभाव में आए गए । जैसे यूरोप में नवजागृत ईसाई देशों ने धर्माधिकारियों के एकाधिकार को चुनौती दी, किन्तु व्यक्तिगत उपासना पद्धति के नाते ईसाइयत कर त्याग नहीं किया, वैसे ही इन नवजागृत मुस्लिम देशों केराष्ट्रीय नेतृत्व ने उपासना पद्धति के नाते व्यक्तिगत तौर पर कुरान, हदीस, मुहम्मद पैगम्बर साहब तथा इस्लाम की गरिमा को पूर्ववत् कायम रखा, किन्तु सार्वजनिक राष्ट्रीय जीवन में तब तक चल रही धर्माधिकारियों की दखलन्दाजी को अस्वीकार किया । उन्होंने अपनी-अपनी राष्ट्रीय संस्कृति के पुनर्जीवन के आधार पर अपने-अपने राष्ट्र-जीवन की पुनर्रचना करने का निश्चय किया । अपने एकाधिकार को धक्का देने वाली यह प्रक्रिया सहन करना धर्माधिकारियों के लिए असंभव था । अफगानिस्तान में अफगान राष्ट्रीयता के प्रतिनिधि अमीर अमानुल्ला को उन्होंने अपदस्थ किया। ईरान में नवजागृत युवकों में ईरान के प्राचीन गौरवशाली इतिहास, उसके प्राचीन राष्ट्र पुरुष रूस्तम, सोहराब, जमरोद, बहराम आदि, प्राचीन पारसी साम्राज्य तथा उसकी सांस्कृतिक उपलब्धियों और सैनिक विजय के विषय में आत्मीयता उत्पन्न हुई । प्राचीन राष्ट्र पुरुषों के नाम विविध मार्गों तथा वस्तुओं को प्राप्त होने लगे । मुल्ला-मौलवियों ने इस प्रयास को कुफ्र घोषित किया; किन्तु उसे न मानते हुए राष्ट्र-भक्त लोग राष्ट्रीय जागरण का प्रयास करते रहे । निकट भूतकाल में ईरान की राजशाही ने विदेशी साम्राज्य सत्ता के प्रभाव में आकर जन विरोधी कार्य न किए होते तो खुमैनी का सत्ता में आना अंसभव था ।

मिश्र में भी यही प्रक्रिया चली । जग-प्रसिद्ध पिरामिड़ों के निर्माता फरोआ राजाओं का गौरवशाली इतिहास फिर से जनता के सामने लाया गया । मजहब के ठेकेदारों नें कहा कि यह कु है; क्योंकि फरोआ राजा मुस्लिम नहीं थे । नवजागृत राष्ट्रभक्तों ने कहा कि जो मुहम्मद पैगम्बर के जन्म के पूर्व पैदा हुए वे मुसलमान कैसे हो सकते थे, इसलिए यह तर्क आधारहीन है । हम इस्लाम को, मुहम्मद साहब को, कुरान को पूर्ववत मानते हैं, किन्तु इस कारण हम अपनी राष्ट्रीय संस्कृति, अपने राष्ट्रीय इतिहास और राष्ट्र पुरुषों को भूल जाएं यह आवश्यक नहीं है। *

* * * * * * * * * * *

* अरबी पाशा ने अरब नेशनलिज्म का नारा दिया । किन्तु इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है कि सभी अरब लोगों की एक समूहगत अस्मिता है या नहीं । विदेशी सत्ताओं या यहूदियों के विरोध में निर्माण होने वाली नकारात्मक (Negative) एकता को क्या भावात्मक

(Positive) समूहगत अस्मिता कहा जा सकता है ? कुछ दशक पूर्व प्रेसिडेंट नासेर ने "अरब नेशनलिज्म" शब्द का प्रयोग किया इसलिए हमारे तथाकथित बुद्धिवादियों ने मान लिया कि इस नाम की कोई भावना आस्तित्व में होगी । यह सत्य है कि अरब एकता के लिए सतत् प्रयास चलते रहे । जून १९२६ में इब्न सौद द्वारा मक्का में बुलाई गई "सर्व इस्लामी परिषद", सन् १९३४ में कर्नन न्यूकौम्ब द्वारा प्रस्तुत योजना, २० मई १९४१ को एन्थनी ईडन घोषणा से प्रोत्साहित होकर ईराक के प्रधानमंत्री नूरी-अल-सईद द्वारा प्रस्तुत संयुक्त राज्य का प्रस्ताव, १३ नवम्बर १९४२ को मिश्र के प्रधानमंत्री नहशपाशा द्वारा किया गया अरब एकता का आह्वान, ६ अक्तूबर १९४४ में काहिरा सम्मेलन में पारित "अरबलीग" की स्थापना का विचार आदि प्रयास असफल क्यों रहे, इसका अन्वेषण करने की आवश्यकता है । सीरिया के नेशनलिज्म के अंतर्गत लेबनान में फ्रांस समर्थक उप-नेशनलिज्म कैसे निर्माण हुआ, यह विचारणीय है ।

हो सकता है कि "अरब नेशनलिज्म" नाम की भावना सभी अरब लोगों में विद्यमान हो, किन्तु व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा रखने वाले अरब जगत में विभिन्न सत्ताधीशों की आपसी स्पर्धा एकता में बाधक सिद्ध होती है । यह भी हो सकता है कि अरब लोगों में नेशनलिज्म का उदय तो हो चुका हो, किन्तु यह नेशनलिज्म अर्थात् सभी अरब लोगों की मिलकर एक समूहगत अस्मिता के स्वरूप का न होकर अरब जगत के विभिन्न क्षेत्रों में स्थानीयता के आधार पर विभिन्न सामूहिक अस्मिताओं का उदय के स्वरूप का तो गया हो । यह बात तो स्पष्ट है कि एकता के प्रयासों की पहल करने वाले हरएक नेता के मन में यह भावना थी कि दुनिया के सभी अरब लोग एक झण्डे के नीचे संगठित हों, किन्तु वह झण्डा और किसी का नहीं मेरा हो । अरबलीग के सदस्य के नाते २१ नेशन हैं, इसका अर्थ क्या है ?

इसका पूरा अन्वेषण किए बिना अरब जगत में उदित नेशनलिजम के बारे में कुछ भी निष्कर्ष निकालना अपरिपक्वता होगी । खासकर वह देखते हुए कि हाल ही में अरबी तथा इस्लामी जगत के अद्वितीय नेतृत्व का दावा करने वाले ईराक में तरह-तरह के आंतरकि संघर्ष विद्यमान है—ईराकी, कुर्दी तथा तुर्क समूहों के, सुन्नी और शियाओं के और नागरी तथा घुमन्तुओं के संघर्ष सर्वविदित हैं । ईराक को "नेशन" की प्रतिष्ठा लीग ऑफ नेशंस ने अक्तूबर १९३२ में प्रदान की थी। यू.ए.आर. बनने के पूर्व संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार सीरिया और मिश्र दो नेशन थे । यू.ए.आर. के निर्माण के पश्चात् दोनों मिलकर एक "नेशन" माने गए, किन्तु "अरब फेडरेशन" के गठन के बावजूद यू.एन.ओ. ने ईराक और जोर्डन दोनों को दो पृथक नेशन के नाते मान्यता दी । यू.एन.ओ. की "नेशन" की संकल्पना कितनी अशास्त्रीय है, यह इससे स्पष्ट होता है । जिंबाब्वे और नामीबिया के पश्चात् भी नेशन की मान्यता प्रदान करने की दृष्टि से कुछ स्थिर कसौटियां अभी भी निश्चित नहीं है ।

इस तथ्य के अन्वेषण की दृष्टि से (कालातिक्रम स्वीकार किया तो) प्रेसिडेंट नासेर का

उदाहरण बहुत उद्‌बोधक होगा । नासेर ने तीन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया । अरब नेशनलिज्म, सर्वअफ्रीकीवाद और सर्वइस्लामवाद के वे स्वयं घोषित मसीहा बन गए । किन्तु उनका वास्तविक उद्देश्य था "सर्व नासेरवाद" । अपनी राजनीतिक आकांक्षा की पूर्ति के लिए ही उन्होंने इन तीनों सिद्धांतों का उपयोग किया था, यह कालान्तर से स्पष्ट हुआ । नासेर ने अपने देशवासियों को कहा "We are in Africa. The people of Africa will continue to look up to us, who guard the Northern gate of the continent and who are its connecting link with the world outside" किन्तु न अफ्रीका के अन्य देशों ने ऐसी भावना मिश्र के बारे में प्रकट की और न नासेर ने ही इस दृष्टि से कोई सर्वअफ्रीकन कदम उठाया।

अरब नेशनलिज्म के बारे में भी इनका दावा इसी तरह का था । ९ फरवरी १९५८ को मिश्र और सीरिया ने "संयुक्त अरब गणराज्य" की स्थापना की । तत्पश्चात् नासेर ने सीरिया का "मिश्रीकरण"(Egyptianisation) करने का प्रयास किया । इसकी प्रतिक्रिया में विद्रोह हुआ और ३ अक्तूबर १९६१ को सीरिया मिश्र से अलग हो गया । इसके पूर्व "युनाइटेड अरब रिपब्लिक" के साथ यमन को एक शिथिल महासंघ में मिलाकर नासेर ने ८ मार्च १९५८ को "युनाइटेड स्टेट्स" की घोषणा की । २६ दिसम्बर १९६१ को यमन मिश्र से अलग हुआ। १४ फरवरी १९५८ को निर्मित ईराक-जोर्डन की "अरब फेडरेशन" नासेर को चुनौती देने लगा था ।

सम्पूर्ण मुस्लिम जगत का नेता बनने की आकांक्षा से नासेर सर्वइस्लामवाद का प्रवक्ता बन गया, किन्तु तुर्की, ईरान तथा पाकिस्तान उसके बहकावे में नहीं आए । यह स्वाभाविक ही था; क्योंकि उसका उद्देश्य इस्लाम का मजहबी संवर्धन करना नहीं था । नासेर ने कहा Going to the Kaaba should never be a passport to heaven; after a lengthy life. Neither should it be a simple effort to buy indulgencies after an eventual life. The pilgrimage should be a great political power.' उद्देश्य स्पष्ट है, वह महजबी नहीं, विशुद्ध राजनीतिक है । इस्लाम के प्रति उनकी निष्ठा कितनी लचीली थी, यह बाद में प्रकट हुआ। सन् १९५६ के संविधान में इस्लाम को राज्य का मजहब (State religion) घोषित किया गया था । किन्तु १९५८ के नये संविधान में इस्लाम का उल्लेख नहीं था; क्योंकि सीरिया में ईसाई बड़ी संख्या में थे । अतः राजनीतिक सुविधा के लिए नासेर तुरन्त 'सेक्युलर' बन गये, और इस्लाम को संविधान से विस्थापित कर दिया । आगे चलकर उन्होंने "अरब समाजवाद" का भी नारा दिया । १९६२ में सउदी अरब, यमन, सीरिया, जोर्डन और ईराक नासेर से नफरत करने लगे थे और कुवैत, सूडान तथा लीबिया भी उनके प्रति अविश्वास करने लगे ।

नासेर, इब्न सौद, फैसल कासिम, जैसे महत्वाकांक्षी राजनेता किसी भी "वाद" की घोषणा

अपने स्वार्थ की सिद्धि तथा पैट्रोल के लिए कर सकते थे; किन्तु अब तक इसका शास्त्रीय ढंग से विचार नहीं हुआ कि सभी अरब मिलकर एक राष्ट्र है या अरब जगत में विभिन्न राष्ट्र विद्यमान हैं और इन राष्ट्रीय अस्मिताओं का विद्यमान शासकीय ईकाइयों से अनिवार्य रूप से समव्यापित सम्बंध नहीं है । *

* * * * * * * * * * *

** यू.एन.ओ. के मापदण्ड से कोरिया एक नेशन है या दो । गुरुदेव रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने कहा था 'Korea is a lamp that has for long enlightened the world and shall continue to do so.'

कोरियाई लोगों का निकटवर्ती जापानी या चीनी लोगों ने साधर्म्य नहीं है । सियोल से बुडापेस्ट तक एशिया-यूरोप का अतिक्रमण करने वाले हूणों के ये वंशधर हैं । इनकी भाषा फिनो उग्रीय परिवार की है । उनका कहना है कि कोरियन भाषा हंगेरी की भाषा से अधिक सादृश्य रखती है, न कि चीनी या जापानी भाषा से । उनका संगीत भी हंगेरियन संगीत के अधिक निकट है ।

सन् १९१० से १९४५ तक जापानी उपनिवेशवाद ने कोरिया की संस्कृति को नष्ट करने के प्रयास किए । यहां तक कि शिक्षा संस्थाओं, शासकीय कार्यालयों और सार्वजनिक स्थानों पर कोरियन भाषा का प्रयोग करने पर प्रतिबंध लगाया गया ; फिर भी जापान कोरियन संस्कृति को नष्ट नहीं कर सका । बीस लाख कोरियन लोगों का बलिदान लेने वाले कोरियन युद्ध और साम्यवाद के आक्रमण के बावजूद कोरिया ने अपनी स्वतंत्र पहचान कायम रखी है, यू.एन.ओ. किसी भी मापदण्ड का प्रयोग करे इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता । **

तुर्कीस्तान में यह संघर्ष और भी तीव्र रहा । तुर्कों ने कहा कि हम व्यक्तिगत रूप से उपासना पद्धति के नाते इस्लाम को पूरा सम्मान देते हैं । हम मस्जिद में जाते हैं, कुरान पढ़ते हैं किन्तु यह तर्कसंगत नहीं है कि इस्लाम के नाम पर, इस्लाम का बहाना लेकर हमारी तुर्की राष्ट्रीय संस्कृति पर अरबी संस्कृति द्वारा किया गया आक्रमण भी सहन कर लें । अरबी भाषा का तुर्की भाषा पर अरबी रीति-रिवाजों का तुर्की रीति-रिवाजों पर आक्रमण नहीं होने देंगे । उन्होंने तुर्की भाषा में से सभी अरबी शब्दों को निकाल कर अपनी भाषा का शुद्धीकरण किया । पर्दा आदि अरबी रीति-रिवाज भी समाप्त किए । श्री गोआकआल्प के नेतृत्व में तुर्कीकरण का अभियान चला। इसके अंतिम चरण में कुरान का तुर्की भाषा में भाषांतरण करने का कार्यक्रम रखा गया तो मुल्लाओं ने इसका विरोध किया । तुर्की राष्ट्रभक्तों ने उत्तर दिया कि हम कुरान पढ़ना चाहते हैं; किन्तु यह कहना कहां तक उचित है कि अल्लाह को केवल अरबी भाषा ही समझ में आती है और वही बात यदि तुर्की भाषा में कही तो वह समझ नहीं पाएगा । जिस शुक्रवार को तुर्की भाषा में कुरान

पढ़ने का पहला कार्यक्रम हुआ उस दिन पूरे तुर्कीस्तान में राष्ट्रभक्तों और मजहब के ठेकेदार के बीच सड़कों और गलियों में संघर्ष हुआ । इस्तंबुल तथा अन्य कई शहरों के रास्तों पर खून बहने लगा ।*

* * * * * * * * * * *

सन् १९२० में ग्रैण्ड नेशनल असेंब्ली का प्रथम अधिवेशन मुस्तफा-कमाल पाशा की अध्यक्षता में अंकारा में हुआ । इस ग्रैण्ड नेशनल असेंब्ली ने ३ मार्च १९२४ को खिलाफत को समाप्त किया । २० अप्रैल १९२४ को तुर्की का संविधान पारित किया गया । इस संविधान की धारा २ में इस्लाम को राज्य का मजहब (State-religion) घोषित किया था । १९२८ में यह धारा संविधान में से निकाल दी गई । इसके बाद "पान-इस्लामिज्म" के स्थान पर "पान-तुरानिज्म" तुर्की का बोध वाक्य हुआ । "पान-तुरानिज्म" याने तुर्कीकरण का अभियान । इसके पूर्व सन् १९२५ में बहुपत्नी प्रथा को अवैध घोषित किया गया और उनके स्थान पर समयानुकूल कानून बनाया गया जिसमें Swiss Civil Code, German Commercial Code & Italian Panel Code के उपयुक्त भाग समाविष्ट किए गए। सिविल मैरिज को अनिवार्य बनाया गया । सन् १९२८ में अरबी लिपि को अवैध घोषित किया गया और रोमन लिपि को स्वीकार किया गया । सन् १९३४ में महिलाओं को मतदान का अधिकार दिया । यह बात इस्लाम से मेल खाने वाली नहीं थीं । सन् १९३५ में शुक्रवार के स्थान पर रविवार को साप्ताहिक छुट्टी का दिन घोषित किया गया । यह ध्यान में रखने योग्य बात थी कि ऑटोमन साम्राज्य के इस्लामी किन्तु गैर तुर्की प्रदेशों को काल पाशा ने अपने नवनिर्मित तुर्की में समाविष्ट नहीं किया । ऑटोमन साम्राज्य की "पान-इस्लामिज्म" की घोषणा साम्राज्य के इस्लामिक किन्तु गैर तुर्की लोगों को वश में करने में असफल हुई । आज का तुर्कनागरिक अपने आपको "तुर्क" कहने में अधिक गौरव अनुभव करता है, न कि "मुस्लिम" कहने में ।

* * * * * * * * * * *

उल्लेखनीय है कि नव राष्ट्रीय चेतना से युक्त लोगों को मुस्लिम देशों में भी मुल्लाओं के साथ वैसा ही संघर्ष करना पड़ा जैसा भारत के राष्ट्रभक्तों को करना पड़ रहा है । रिलीजन के कारण राष्ट्रीयता के साथ बखेड़ा तभी निर्माण होता है जब रिलीजन अपनी वास्तविक मर्यादाओं को लांघकर राष्ट्रीय जीवन में हस्तक्षेप करना प्रारंभ करता है *

* मलेशिया में महाथिर-बिन-मोहम्मद की पंथ-निरपेक्ष सरकार चल रही है । वहां कट्टरपंथी "सर्व-इस्लामवाद" का प्रचार करने वाली आल मलाया मुस्लिम पार्टी को जनसमर्थन प्राप्त

नहीं हो रहा है । वित्तमंत्री अनवर इब्राहीम के नेतृत्व में चल रहे जनजागरण के अभियान में लोगों को समझाया जा रहा है कि "शरियत इस्लाम नहीं है, वह तत्कालीन अरबी समाज का कानूनी विधान है, जो आज कालवाह्य हो चुका है । भूख, गरीबी आदि महत्वपूर्ण बातों पर ध्यान केन्द्रित न करते हुए शरियत का सवाल उठाना याने गरीब मुसलमानों को गुमराह करना है । अलजीरिया में भी इसी तरह का द्वंद चल रहा है । *

* * * * * * * * * * *

इण्डोनेशिया में ऐसा हस्तक्षेप नहीं है । इसी कारण ९५ प्रतिशत मुस्लिम जनसंख्या होते हुए भी वहां हिन्दू संस्कृति का अनुसरण चल रहा है । चीन में ९० प्रतिशत लोग एक ही अर्थात् "हान" वंश के हैं । बाकी १० प्रतिशत में विभिन्न ५५ जनजातियों के लोग आते हैं । चीन के सभी परिवार मजहब के आधार पर नहीं, वंश या जनजाति के आधार पर चल रहे हैं । वहां एक ही परिवार में विभिन्न सदस्य विभिन्न उपासना पद्धतियों का अनुसरण करते हैं । वहां उपासना पद्धति को विशुद्ध व्यक्तिगत बात मानने के कारण उनके पारिवारिक जीवन में कोई बाधा नहीं आती । वहां जनगणना के समय गिनती का आधार मजहब नहीं, वंश होता है । इस कारण "अल्पसंख्य" की परिभाषा भी मजहब के आधार पर नहीं, वंश के आधार पर की जाती है । चीन की सर्वोच्च प्रतिनिधि संस्था में जो मुसलमान हैं वे वहां मुसलमानों के प्रतिनिधि होने के नाते चुनकर आए हुए नहीं होते, अपितु अपने-अपने वंश के प्रतिनिधि के नाते अपने ही वंश के अन्य पंथीय प्रतिनिधियों के साथ वे सर्वोच्च प्रतिनिधि संस्था में प्रवेश करते हैं । हमारे देश में यह जानकर लोगों को आश्चर्य होगा कि चीन में इस्लाम, बौद्ध और ईसाइयत आदि के अनुयायियों की कुल संख्या कितनी है इसके आंकड़े चीनी सरकार के पास नहीं हैं ।

पश्चिम के लोकतांत्रिक देशों में इस्लामी कट्टरपंथी विचार चल नहीं सकता । सल्मान रूश्दी के विरुद्ध खुमैनी का फातवा इन देशों को अनुचित प्रतीत हुआ । यह भी स्पष्ट है कि इस्लामी कट्टरवाद किसी भी लोकतांत्रिक पश्चिमी देश में यदि सिर उठायेगा तो उसका उचित प्रतिवाद वहां की जनता के द्वारा अवश्य किया जाएगा ।

साम्यवादी जगत में अल्बानिया एक मात्र मुस्लिम बहुल देश था । विश्व में यह पहला देश था जिसने स्वयं को "नास्तिक" घोषित किया ।

रूस में मध्य एशिया के जो मुस्लिम बहुल गणराज्य थे, उनमें कट्टरवाद प्रवेश कर रहा है । आरमेनिया का संघर्ष उसका एक संकेत है । इस कट्टरवाद के प्रति रूस की अधिकृत प्रतिक्रिया उल्लेखनीय है । नवम्बर १९८६ में अपने ताशकंद भेंट में गोर्बोचेव ने इस्लाम को 'an instrument for the spiritual oppression of the workers and for the subjec-

tion of the people of the East.' घोषित किया और अपने अनुयायियों से अनुरोध किया कि वे मस्जिदों में न जाएं । यह भी घोषित किया गया कि मजहबी समुदायों को नेशनलिटीज के समकक्ष नहीं माना जा सकता । *

* * * * * * * * * * *

* हमारे देश में कई लोग ऐसा मानते हैं कि रूस के मध्य एशिया के सभी इस्लामी गणतंत्र मिलकर मानसिक दृष्टि से एक इकाई बन गए होंगे । किन्तु वैसी बात नहीं है । परिस्थितिजन्य संघर्ष में सभी की नकारात्मक एकता होना बात अलग है, किन्तु सामान्यतः सभी गणतंत्र अपनी-अपनी पृथक अस्मिता रखते हैं । हर एक गणतंत्र में भी समूहगत अस्मिता पूरी तरह विद्यमान नहीं है । उदाहरणार्थ, उजबेकिस्तान में कई नेशनलिटीज हैं, कई भाषाएं चलती हैं । उज्बेक लोगों की बहुसंख्या है, किन्तु इनके अलावा ताजीक, तातार आदि दर्जनों अन्य नेशनलिटीज भी उस गणतंत्र में हैं । पहले उज्बेक लोग अपनी भाषा अरबी लिपि में लिखते थे । किन्तु उजबेगी भाषा की ठीक अभिव्यक्ति के लिए वह लिपि अपर्याप्त प्रतीत हुई । इसलिए नई वर्णमाला विकसित की गई, जिसका आधार प्रथम लेटिन और बाद में रूसी लिपि रही । अन्य गणराज्यों में भी कम-अधिक मात्रा में इसी तरह की स्थिति है । *

* * * * * * * * * * *

वास्तविकता यह है कि परिस्थिति के दबाव के कारण ऐतिहासिक घटनाओं का ठीक ढंग से अर्थ लगाना भी हमारे नेताओं के लिए अंसभव हो गया । संस्कृति राष्ट्रीयता की आत्मा है, और इस्लाम संस्कृति नहीं है, इसी कारण पाकिस्तान (सिंध) के श्री जी.एम. सैयद ने स्पष्ट रूप से घोषित किया कि हमारी यह धारणा गलत थी कि इस्लाम के आधार पर राष्ट्र-निर्माण हो सकता है । ढाका ने इस्लामाबाद के खिलाफ युद्ध की घोषणा की तो उसी क्षण यह तथ्य संसार की समझ में आ गया । वस्तुतः इस्लामे के अंतर्गत आने वाली विभिन्न राष्ट्रों या जनजातियों की अपनी-अपनी संस्कृति या सामूहिक विशेषताएं हैं । वही उनकी सामूहिक अस्मिता का आधार है । इस्लाम कहीं भी सामूहिक या राष्ट्रीय एकता का आधार नहीं है । यह सही है कि विभिन्न देशों के मुस्लिम या गैर मुस्लिम राजनेता अपने राजनीतिक स्वार्थ की सिद्धि के लिए इस्लाम के नाम का उपयोग करते हैं; किन्तु वे इस्लाम के वास्तविक प्रवक्ता नहीं है । अबुल-आला मौदुदी का यह कथन सुविदित है कि पाकिस्तान के निर्माण का आंदोलन करने वाले मुस्लिम नेता पश्चिम से प्रभावित थे । वे इस्लाम के सही प्रतिनिधि नहीं थे । भारत पर समय-समय पर हुए आक्रमण विस्तारवादी अरब, तुर्की, पठान और मुगल राज नेताओं के आक्रमण थे । ये राजनेता इस्लाम के अधिकारी पुरुष नहीं थे, यद्यपि यहां अपने-अपने शासन की लॉबी खड़ी करने की दृष्टि से उन्होंने

इस्लाम का उपयोग किया । आजकल बहुचर्चित बाबर भारत में इस्लाम को बचाने के लिए आया था क्या ? यदि ऐसा होता तो यहां आते ही उसका पहला संघर्ष किसी हिन्दू शासक के साथ हुआ होता; किन्तु उसकी पहली लड़ाई इब्राहिम लोदी के साथ हुई और बाद में हुई लड़ाइयां जैसे हिन्दू शासकों के विरुद्ध हुई वैसी ही अफगानशासकों के विरुद्ध भी हुई । भारत पर आक्रमण करने वाले इन चारों समूहों के राजनेताओं का उद्देश्य राजनीतिक विस्तारवाद ही था और इसके लिए वे आपस में भी उतने ही उत्साह से लड़ते थे जितने उत्साह से हिन्दुओं के साथ । अपने राजनीतिक स्वार्थ के लिए "शिया बनाम सुन्नी" विवाद का उपयोग करने में उन्होंने कोई हिचकिचाहट नहीं की । यह एक शास्त्रीय अन्वेषण का विषय है कि इस्लाम के नाम पर हुए कितने संघर्ष उपासना पद्धति के लिए थे और कितने राजनीतिक स्वार्थों के लिए ।

प्रकृति का नियम है "एक संस्कृति—एक राष्ट्र" । इसी कारण ईसाई देशों में भी आपसी संघर्ष पाए जाते हैं और मुस्लिम देशों में भी । जिसको इस्लाम का त्राता होने का सम्मान इतिहास ने दिया है उस गाजी सलाउद्दीन के वंश "कुर्द" के खिलाफ सद्दाम हुसैन वर्षों से दमन की क्रूर कार्रवाई करते आ रहे हैं, और उसी सद्दाम हुसैन को भारत के मुसलमान "इस्लाम" का रक्षक" घोषित करते हैं । इस अत्याधुनिक घटना से यह प्रकट होता है कि इस्लाम विषयक राजनेताओं का प्रचलित चिन्तन कितना अशास्त्रीय है ।

इस्लाम राष्ट्र के निर्माण का आधार नहीं बन सकता, इतना ही नहीं इस्लाम अपने ही अनुयायियों को सुसंगठित रखने में भी असमर्थ सिद्ध हुआ है । हमारे देश में कई विचारक मुस्लिम कट्टरवाद से चिन्तित हैं । वास्तव में यह चिन्ता का विषय नहीं होना चाहिए । क्योंकि मुस्लिम कट्टरवाद भी विभिन्न प्रकार का है । सभी कट्टरवादी एक ही समूह में नहीं है । शिया कट्टरवादी और सुन्नी कट्टरवादी एक दूसरे के विरोध में है । भारत के सुन्नी कट्टरवादियों में भी मौदुदी का पंथ और फजलुर रहमान के अनुयायी परस्पर विरोधी हैं । ये दोनों तरह के कट्टरवादी पाकिस्तान तथा भारत के मुस्लिम राजनेताओं को इस्लाम का प्रतिनिधि मानने के लिए तैयार नहीं है । भारत का सर्वसाधारण मुसलमान मूलतः इस भूमि की संस्कृति के साथ रिश्ता तोड़ना नहीं चाहता, यद्यपि राजनेताओं के बहकावे में आकर वह राष्ट्रविरोधी कार्यवाही करने के लिए तैयार हो जाता है ।

अपने ही अनुयायियों को एकत्रित रखने में इस्लाम किस तरह असमर्थ है इसका प्रत्यक्ष उदाहरण पाकिस्तान प्रस्तुत करता है । पाकिस्तान का निर्माण ही इस्लाम के नाम पर हुआ था; किन्तु वहां के सभी मुसलमान एकत्रित नहीं रह सके । लखनऊ की तरह कराची तथा अन्य नगरों में शिया-सुन्नी दंगे चलते रहते हैं । इस शताब्दी के सातवें दशक में हजारों की संख्या में बलूची मुस्लिमों का संहार किया गया । १९५३ में पंजाब में रहने वाले अहमदिया मुस्लिमों का हजारों की संख्या में कत्ल हुआ । सन् १९७९ में जकात आदि इस्लामिक कराधान के विरोध में पाकी शियाओं ने संघर्ष किया । सन् १९७१ में हुआ लाखों बंगाली मुस्लिमों का नरसंहार जग प्रसिद्ध है । पाकिस्तान में शिया, दाउदी बोहरों और आगारवानी खोजों की संख्या १५ प्रतिशत है । ये सब स्वयं को असुरक्षित मानते हैं । सिंध, पाख्तूनिस्तान तथा बलूचिस्तान ने पाकिस्तान से पृथक होने की इच्छा घोषित की है।

सिन्धी, पंजाबी, सुन्नी-आगाखानी खोजे, सुन्नी कांदियानी, शिया-सुन्नी, पठान-पंजाबी बलूची-पंजाबी संघर्षों में मुहाजिरीनों के विरुद्ध अफगानी निर्वासितों के बीच संघर्ष भी जुड़ गए हैं ।

भारत से पाकिस्तान गए उर्दू भाषा-भाषी मुहाजिरीनों की संख्या एक करोड़ से अधिक है । पाकिस्तान के सिंधी, पंजाबी, पठान तथा बलूचियों के साथ उनका संघर्ष पूरे पाकिस्तान में प्रखर होता जा रहा है । ये सभी इस्लाम के अनुयायी हैं ।

सामयिक, परिस्थितिजन्य उत्तेजनाओं से मन को मुक्त करें तो सहज ही यह तथ्य ध्यान में आ जाएगा कि मजहब और संस्कृति में अन्तर क्या है ? वैसे तो हिन्दू द्वेष के आधार ही पाकिस्तान के शासक अपनी गद्दी कायम रख सकते हैं और इस दृष्टि से हिन्दू विरोधी अभियान उनकी राजनीतिक आवश्यकता है, वहां हिन्दुओं पर अत्याचार होते रहते हैं; किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि हिन्दू सांस्कृतिक प्रभाव से पाकिस्तान पूर्ण रूप से मुक्त हुआ है । गुजराती खोजे, मेमन, बोहरे अभी भी हिन्दू संस्कृति की परम्पराओं का पालन करते हैं । सिंध में राजादाहिर की स्मृति का सम्मान तथा पाकिस्तान में अधिकृत रूप से पाणिनी की अपने पूर्वज के नाते गौरवपूर्ण सुप्रसिद्धि इसका प्रमाण है । श्री मुजफ्फर हुसैन अपने "मुस्लिम मानस" में बताते हैं कि मलिका-ए-तरन्नुम नूरजहां अपनी कृष्ण-भक्ति के कारण विवाद का विषय बनी थीं, किन्तु पाकिस्तान के आगाखानी खोजे प्रकट रूप से कृष्ण भक्त हैं । प्रेम जी, पदमसी, मोहन भाई लाड़ली भाई जैसे नाम उनमें प्रचलित हैं । सन १९८० तक सिंध हैदराबाद में रावण-दहन होता था । रामलीला भी होती थी । थारपारकर जिले में अभी भी रामलीला होती है । दशहरा दीवाली के लिए लाहौर तथा सिंध रेडियो से विशेष कार्यक्रम प्रसारित किया जाता है । पाकिस्तान में जन्माष्टमी मनाई जाती है और इस अवसर पर लाहौर रेडियो पर बीस मिनट और सिंध रेडियों पर तीस मिनट का कार्यक्रम प्रसारित किया जाता है । लाहौर की फिल्मी दुनिया जन्माष्टमी, वैशाखी एवं वसन्त पंचमी के त्यौहार मनाती है । पाकिस्तान में सर्वाधिक सुसंगठित हिन्दू समुदाय अर्थात् बाल्मीकि समाज द्वारा सम्पन्न बाल्मीकि जयन्ती के कार्यक्रम को रेडियो पर दस मिनट के लिए प्रस्तुत किया जाता है । भारतीय चित्रपटों तथा रामायण और महाभारत सीरियल के कैसेट्स वहां बड़ी संख्या में प्रचारित हो रहे हैं और उसके कारण मुसलमान बालकों में भी धनुषबाण लोकप्रिय हो रहा है । इस घटना को वहां के कट्टरवादी लोग "सांस्कृतिक आक्रमण" की संज्ञा दे रहे हैं ।

नृत्य तथा गायन गैर इस्लामी है; किन्तु भारतीय कैसेट्स के कारण उनकी लोकप्रियता बढ़ रही है । हिन्दुओं द्वारा त्यौहार मनाने में, विशेष रूप से बसंत पंचमी मनाने में, मुसलमान भी उत्साह दिखाते हैं । रोशनी, पतंगबाजी, संगीत तथा सार्वजनिक स्तर पर लाहौर, पेशावर मुल्तान, क्वेटा जैसे नगरों में नृत्य को भी अधिककृत प्रोत्साहन मिला है । ये सारे तथ्य किस बात का संकेत देते हैं ? यही कि राजनीतिक दृष्टि से हिन्दू विरोध करना आवश्यक होते हुए भी सांस्कृतिक बातों को रोका नहीं जा सकता ।

भारत में मुस्लिम समस्या के स्वरूप पर पुनर्विचार की आवश्यकता है । सर्वसाधारण मुसलमान यहां की संस्कृति में ही पला है और अनुभव भी करता है कि वह हिन्दुओं के ही खून-खानदान का है; अतएव भारतमाता का पुत्र है । उसको नेताओं द्वारा भड़काया जाता है । किसी भी कारण से सर्वसाधारण मनुष्य आसानी से उत्तेजना में आ सकता है; किन्तु यह क्षणिक उत्तेजना समाप्त होने के बाद सत्य का दर्शन करने की भी क्षमता उसके अन्दर है । सर्वसामान्य मुसलमानों को उकसाने वाले मुसलमान नेताओं का नेतृत्व मुसलमान समाज में से उभर कर ऊपर नहीं आया है । मुसलमान समाज ने उनको अपना नेता नहीं बनाया है । प्रारंभ में मुसलमान समाज पर जिनका प्रभाव भी नहीं था; किन्तु सस्ती प्रसिद्धि के प्रकाश में आने के लिए जो मुसलमान नेता अनुयायीविहीन होते हुए भी समाचार पत्रों में करोड़ों मुसलमानों के प्रतिनिधि के नाते वक्तव्य देते थे, उनको, उनके पीछे कितने मुसलमान हैं इसकी जांच न करते हुए जल्दबाजी में, हिन्दू राजनीतिक नेताओं ने समझौते के लिए मुस्लिम नेता के नाते मान्यता दे दी और और उसके पश्चात् बहुत सारे मुसलमानों को समाचार पत्रों द्वारा ही इन नेताओं के नाम जानने का अवसर प्राप्त हुआ । मतलब यह कि आज के भारत का साम्प्रदायिक मुस्लिम नेतृत्व मुसलमान समाज की नहीं, हिन्दू राजनेताओं की देन है । हिन्दू राजनेताओं को ठीक सबक सिखाया गया तो उनका यह राष्ट्र-विरोध गौरखधंधा थोड़े ही समय में समाप्त हो जाएगा और प्रमुख राष्ट्रीय प्रवाह में समाविष्ट होने में मुसलमानों को देर नहीं लगेगी ।

साम्प्रदायिकता की समस्या दूर हुई तो भी एक सामाजिक समस्या का विचार गम्भीरता से करना आवश्यक रहेगा । यह समस्या है अपराधिकता की । इसके कारणों का शास्त्रशुद्ध अध्ययन करते हुए उनका निराकरण किया जाए । इसके लिए प्रभावी उपाय योजना बनाना आवश्यक है। इस प्रवृत्ति का किसी भी मजहब के साथ संबंध नहीं है । किन्तु सैयद शहादुद्दीन का प्रेक्षण है कि अन्य पंथों की तुलना में मुसलमानों में यह प्रवृत्ति ज्यादा पनप रही है— 'Muslim India' के नवम्बर १९८७ के अंक में सैय्यद शहाबुदद्दीन लिखते हैं "On a per capita basis, Muslims in India nurse more criminality, indeed in big cities, the underworld has a high Muslim proportion, specially in smuggling, bootlegging and murder on hire."

यह प्रवृत्ति केवल मुसलमानों के लिए नहीं, सम्पूर्ण हिन्दू राष्ट्र के लिए चिन्ता का विषय है और शास्त्रीय चिकित्सा के आधार पर इस प्रवृत्ति को दूर करने की जिम्मेदारी भी सम्पूर्ण राष्ट्र की है । इस प्रवृत्ति का मजहब के साथ कुछ लेना-देना नहीं है ।

सारांश यह कि सर्वकषं विचार करने के पश्चात् यही निष्कर्ष निकलता है कि भारत की मुस्लिम समस्या हिन्दू राजनेताओं की निर्मित है, और यदि हिन्दू राजनेताओं की मानसिकता परिवर्तित की गई तो इण्डोनेशिया के समान ही भारत के मुसलमान भी हिन्दू राष्ट्रीय संस्कृति के प्रमुख प्रवाह के साथ, अपनी इस्लामी उपासना-पद्धति को पूर्णरूपेण कायम रखते हुए, एकात्म हो सकते हैं ।

निहित स्वार्थ वाले राजनेताओं ने मंथरा या शकुनि मामा की भूमिका न निभाई तो सामान्य मुसलमानों को श्री कुलिश जी के इस निष्कर्ष से सहमत होने में देर नहीं लगेगी कि "हिन्दू राष्ट्र में ही मुसलमान सुरक्षित रह सकते हैं ।" (राजस्थान पात्रिका दिनांक २.५.९१) । श्री कुलिश जी कहते हैं, "वास्तविकता तो यह है कि अगर मुसलमानों की सुरक्षा कहीं है तो हिन्दू राष्ट्र में ही है, न कि मुस्लिम राष्ट्र में । दुनिया में चारों तरफ नजर डालें किसी भी इस्लामी देश में मुसलमान सुरक्षित नहीं हैं । सभी इस्लामी देश आपस में लड़ते रहते हैं । भारत के मुसलमानों ने पाकिस्तान बनाया; लेकिन पश्चिमी और पूर्वी पाकिस्तान के बीच जिस कदर लड़ाई ठनी, वह अभी बीस बरस पहले की बात है । इस लड़ाई में हजारों मुसलमान ही मारे गए और उन्हें मुसलमानों ने ही मारा । अब पाकिस्तान के सिंध प्रदेश में मुहाजिर आन्दोलनकारियों को जिस तरह भूना जा रहा है वह किसी से छिपा नहीं है । मरने-मारने वाले दोनों ही मुसलमान हैं । अफगानिस्तान में भी यही हुआ ।"

अभी-अभी कुवैत पर ईराक ने हमला किया और सारे अरब देश हिल उठे । उन्हें अमरीका की शरण में भागना पड़ा । लड़ाई ठनी और लाखों की संख्या में मुसलमान ही मारे गए । इससे पहले आठ वर्ष तक ईरान पर इराक ने हमला जारी रखा और वहां भी लाखों की संख्या में मुसलमान ही मरे थे । इससे भी पहले अयातुल्लाह खुमैनी ने इस्लामी क्रांति के नाम पर लाखों मुसलमानों को मरवा डाला था । एक नहीं अनेक उदाहरण संसार के इस्लामी देशों के मौजूद हैं जो भीतर-बाहर दोनों मोर्चों पर लड़ते और खून-खराबा करते रहते हैं । उगांडा के इदी अमीन, लीबिया के गद्दाफी के नाम गिनाये जा सकते हैं जो अपनी प्रजा का कत्ल करके हुकूमत कायम रखते हैं । ऊपर दिए गए सभी उदाहरण मौजूदा इतिहास के हैं, पुराने इतिहास में जाने की जरूरत नहीं है । ये उदाहरण सिद्ध करते हैं कि लाखों की संख्या में मुसलमानों को हर साल मुसलमान ही मार रहे हैं ।

जब हिन्दुस्थान की ओर देखते हैं तो यही कहना पड़ता है कि यहां हिन्दू-मुसलमान विवाद बना हुआ है । बार-बार दंगे होते हैं, इन दंगों में मरने वालों की तादात दर्जनों तक रहती है । एकाध बड़े दंगों में सैंकड़ों जाने भी गई हैं । दूसरी बात यह कि दंगों में हिन्दू और मुसलमान दोनों मरते हैं । ८५ प्रतिशत हिन्दुओं के देश में दंगों में हिन्दू मरते हैं यह बात ही बताती है कि जो दंगे होते हैं वे स्थानीयतौर पर किसी उत्तेजक कारण से अचानक भड़क जाते हैं । अगर हिन्दू संगठित होकर मुसलमानों के खिलाफ खड़े होते तो या तो दंगे होते ही नहीं या मरने वालों में सिर्फ मुसलमान ही होते । इन दंगों की मिसाल देकर यह कहना सरासर धोखा है कि हिन्दुस्थान में मुसलमानों को खतरा है ।

सच्चाई तो यह है कि मुसलमानों की सुरक्षा हिन्दू राष्ट्र में ही है । मुस्लिम देश पाकिस्तान में मुसलमान जितना असुरक्षित है उसके मुकाबले हिन्दुस्थान में नहीं है, क्योंकि हिन्दू कौम में आक्रामक वृत्ति नहीं है, और वह असहिष्णु भी नहीं है ।

सारांश, इस्लाम के मजहबी आधार पर नेशन या राष्ट्र निर्माण नहीं हो सकता, और इस्लाम अपने अनुयायियों को भी एक सूत्र में बांधने के प्रयास में बार-बार और स्थान-स्थान पर असफल रहा है ।

हिन्दुत्व और उपासना-पद्धतियां

उपासना पद्धति विशुद्ध व्यक्तिगत बात है, अतएव सामूहिक संस्थाओं या संकल्पनाओं पर इसका प्रभाव नहीं चाहिए । यह बात विदेशों के विषय में भी सही है, और भारत के विषय में भी।

९ सितम्बर, १९६८ को औरंगाबाद के श्री ए.एच. डॉक्टर को श्री गुरुजी लिखते हैं···· इस कारण आप सभी का (पारसी समाज का) समावेश "हिन्दू" की एक ही संज्ञा में किया गया तो मुझे वह बात बहुत पंसद आयेगी । इसके लिए किसी को भी अपनी विशेषताएं छोड़ देने की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है" ।

दिल्ली के श्री मुहम्मद रफी को ३ मार्च, १९७० को लिखे पत्र में श्री गुरुजी लिखते हैं···· ईद-उल-जूहा तथा होली के पवित्र त्यौहारों के निमित्त आपने शुभेच्छा व्यक्त की····सभी पवित्र त्यौहार, फिर वे किसी भी संप्रदाय के क्यों न हो, मनुष्यमात्र को भगवान की भक्ति उत्कटता से करने का स्मरण दिलाते हैं । उनके कारण सभी का भला हो सकता है । आपके पत्र में से यही शुद्ध भाव प्रकट होता है । इस कारण में मनःपूर्वक आपका अभिनन्दन करता हूं" ।

भारत के मुसलमानों के विषय में १३ अक्तूबर १८६४ को पं. पद्मकांत मालवीय, सम्पादक "अभ्युदय", इलाहाबाद को श्री गुरुजी लिखते हैं··· मैंने अपने प्रकट भाषणों में बार-बार कहा है कि भारत, भारतीय राष्ट्र-परंपरा तथा भारतीय राष्ट्रपुरुषों के विषय में श्रद्धा, भक्ति तथा गौरव की भावना रखते हुए और राष्ट्र की सुख-समृद्धि के लिए उद्योगप्रवण रहकर भारत की शत्रुओं से रक्षा करने के लिए जो सब तरह से सिद्ध रहते हैं, इन गुणों से युक्त होकर जो काम करते हैं वे परमेश्वर की उपासना किस नाम से करते हैं, यह सोचने की आवश्यकता नहीं" ।

कुंवर देवेन्द्र प्रतापसिंह सोलंकी को लिखे अपने २९ मार्च, १९६६ के पत्र में श्री गुरुजी कहते हैं, "अहिन्दू समाजों ने अपने संप्रदाय का सार्थ अभिमान रखते हुए भी भारतीय धर्म, संस्कृति, परंपरा को यथायोग्य आदरपूर्वक स्वीकार करना यह इस देश में राष्ट्रीयता का लक्षण है। ··इस इष्ट परिवर्तन के लिए प्रेरक आदर्श चारित्र इस नाते आपने रहीम का वर्णन बारीकियों के साथ दिया है, यह समयोचित तथा आवश्यक है ।

१२ मार्च १९३९ को कराड के श्री क.र. खैरतखान को श्री गुरुजी लिखते हैं·· "अपने देश में अहिन्दुओं की संख्या बहुत कम है । शेष लोग बीच की अवधि में किन्हीं कारणों से अन्य धर्ममतों में प्रविष्ट हुए हैं । अपनी इस पूर्वपरम्परा का स्मरण रखकर स्वदेश भारत, वैसे ही उसकी जीवनपरंपरा का अभिमान उन्होंने में, में रखना चाहिए । देशबाह्य निष्ठा या भक्ति नहीं रखनी चाहिए । अपने धर्ममत के अनुसार धर्मस्थान देश के बाहर होगा तो धर्ममत एक सीमित योग्य

आदरभाव ऐसे धर्मस्थान के बारे में रखना चाहिए । ऐसे धर्म स्थान छोड़कर बाकी देशबाह्य निष्ठा नहीं रखनी चाहिए । इस तरह विद्यमान उपासना-पद्धति में परिवर्तन न करते हुए भी हिन्दू राष्ट्र में उन्होंने (अहिन्दुओं ने) गौरव तथा समानता का स्थान सहजतापूर्वक ग्रहण करना चाहिए । उनको कनिष्ठ मानना असंभव है, क्योंकि हिन्दु तत्वज्ञान के अनुसार ईश्वर की उपासना के सभी मार्ग आदरणीय हैं ।"

२० अगस्त, १९७१ को नई दिल्ली के डॉ॰ संकटा प्रसाद को श्रीगुरुजी ने लिखा·····

"आपके मित्र श्री हाफिज मोहम्मद अताउल्ला खां अतारहमानी जी "जनमार्ग" नामक साप्ताहिक निकालने वाले हैं और उससे इस्लाम का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट करते हुए इस्लाम मतानुयायियों में जो भ्रांतिपूर्ण धारणाएं हैं उनको दूर करने का प्रयास करने वाले हैं, यह योग्य ही है । किन्तु कितने इस्लाम मतानुयायी हिन्दी साप्ताहिक पढ़ेंगे और उनको अपनी गलत धारणाएं दूर करने का अवसर मिलेगा, यह प्रश्न ही है। यह साप्ताहिक उर्दू भाषा में होता तो मुसलमान उसे पढ़ सकते और उनको वह पंसद आता । किन्तु गैरमुस्लिम समाज को इस्लाम की शिक्षा देने की दृष्टि से, इस्लाम के सिद्धांतों की आधुनिक परिभाषा (वर्तनमान स्थिति में) का महत्व है यह सिद्ध कर उसका प्रचार करने के लिए इस साप्ताहिक का उपयोग हो सकेगा । भारत में इस्लाम के प्रचार का यह एक साधन बनेगा और इस्लाम के प्रचार में रुचि रखने वालों में यह लोकप्रिय हो जाएगा।

ईशकृपा से उनका साप्ताहिक यशस्वितापूर्वक चले ।"

१० अप्रैल, १९६६ को पुणे के श्री विजयराव वाडेकर को श्री गुरुजी ने लिखाः—

"आप श्री साई महाराज के भक्त हैं यह उत्तम बात है आध्यात्मिक क्षेत्र में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि नामों का महत्व नहीं, ऐसा श्रेष्ठ लोगों का मत है । जहां मन को शांति मिलेगी, विकारों पर विजय प्राप्त करने की शक्ति प्राप्त होगी, मन संतुलित होगा, निर्लिप्रतापूर्वक, स्वार्थरहित होकर जीवनमात्र में ईश्वर के निवास का अनुभव कर, कर्तव्य करने की अखंड प्रेरणा प्राप्त होगी वहां श्रद्धा रखते हुए अपनी सच्ची उन्नति करना यही योग्य है, ···· ।

ये सब बातें आपको श्री साईं महाराज पर निष्ठा रखने से प्राप्त हो रही हैं तो वह भक्ति अतीव उचित है । स्वधर्म, आपने जिस धर्म में जन्म लिया हैं और जिसको आजकल हिन्दू धर्म की संज्ञा देने की प्रथा रूढ़ हुई है, उस पर की निष्ठा तथा उसकी परिपालनरूप सेवा करने में इस तरह की साईं भक्ति के कारण बाधा न आते हुए सहायता ही होगी । स्वधर्म के साथ प्रतारणा करने की सलाह कोई भी जातिवंत साक्षात्कारी महापुरुष नहीं देता । स्वधर्म का उत्तम रीति से पालन करने की वह प्रेरणा देता है । अतः आपके मन को इस कल्पना ने स्पर्श भी नहीं करना चाहिए कि श्री साईं महाराज की भक्ति करने से आप हिन्दू धर्मनिष्ठ नहीं रहते ।"

श्री एम.एम. करी. सिद्धेश्वर को ५ नवम्बर, १९५३ को लिखे पत्र में श्री गुरुजी कहते हैं,

"धर्म का आशय ठीक ढंग से समझ लिया और उसको आचरण में लाया तो नानाविध धर्ममतों, पंथ, संप्रदायों में सहयोगिता की भावना निर्माण करने में वह (यानि धर्म) जितना पोषक सिद्ध होगा, उतना अभी का इहवाद (सेक्युलरिज्म), इसका जो अर्थ नेता लोग तथा अनुयायी या शासन तथा जनता लगा रहे हैं तदनुसार, कभी भी पोषक सिद्ध होना संभव नहीं, वह लोगों के सामने रखने की आपकी कल्पना बहुत अच्छी है ।"

१० सितम्बर, १९६९ को "विश्व बौद्ध परिषद" के अध्यक्ष श्री ऊ छान ठुन, (रंगून) को श्री गुरुजी लिखते हैं, "अपनी भेंट हो और सनातन धर्म के प्रसार तथा पालन के लिए योजना बनाई जाए ऐसी मैं अखिल विश्व की भाग्यनियंता ईश्वरी सत्ता को प्रार्थना करता हूं" ।

अन्य एक पत्र में लिखा है कि, "महाकवि अकबर इलाहाबादी जी विषयक दोनों पत्रक प्राप्त हुए । उर्दू समझना मेरे लिए कुछ कठिन है, तो भी उनके काव्य में आधुनिक वायुमंडल से सुसंगत देशभक्ति की प्रबल भावना विद्यमान है, ऐसा स्पष्ट रूप से अनुभव में आता है" ।

श्री शंकर राव तत्ववादी को २९ अगस्त, १९६३ को लिखा—

"विद्यमान शृंगेरी मठ के आचार्य के गुरु श्रीमत् चंद्रशेखर भारती स्वामी के पास एक अमेरिकन सज्जन आये थे और हिन्दू धर्म की दीक्षा प्राप्त हो इस हेतु प्रार्थना करने लगे थे । श्रीमत् आचार्य ने उनसे प्रश्न किया "तो ईसाई धर्ममत में क्या न्यून है, उसके अनुसार उपासना क्यों नहीं हो रही"? उसने कहा, "उस उपासना में मन को शांति प्राप्त नहीं हुई" । श्रीमत् आचार्य ने कहा, "आपने प्रामाणिकतापूर्वक, मनः पूर्वक, पूर्ण श्रद्धा से उपासना की क्या, उसने सोच कर उत्तर दिया "नहीं।" इस पर श्रीमत् आचार्य ने उसको बताया कि "आप श्रद्धायुक्त अतंःकरण से खिस्त पर विश्वास रखकर, प्रमाणिकता से उस मत के अनुसार प्रभुभक्ति कीजिए । पर्याप्त दिन तक ऐसा करते रहने पर भी यदि मन अशांत या असमाधानी रहता है, तो वह उपासना आपके पूर्वजन्म से प्राप्त प्रकृति से सुसंगत नहीं, ऐसा सिद्ध होगा । और ऐसा हुआ तो फिर यहां आओगे तो मार्ग बताया जाएगा ।" इस उदाहरण का अर्थ स्पष्ट है—अपनी मूल, जन्म से प्राप्त, निष्ठा दृढ़ करना यह इष्ट, इसलिए उसकी खिस्तनिष्ठा प्रबल करने का प्रयत्न श्रीमत् आचार्य ने किया । अपने धर्म की यह व्यापक संग्राहक दृष्टि है ।

श्री प्रभुलाल, रंगून, को १० नवम्बर, १९५५ के पत्र में श्री गुरुजी लिखते हैं—

"बौद्ध संप्रदाय अपने ही धर्म का एक अंग है । वेद प्रामाण्य न मानने के कारण उनका भारतीयत्व नष्ट नहीं होता । वेद न मानने वाले, किन्तु विशाल हिन्दू धर्म का सात्विक भाव लेकर निराकार की या शून्य की उपासना करने वाले संप्रदाय यहां है ही । वैसा ही बौद्धमत है ।"

सम्पूर्ण जीवन "हिन्दू" शब्द से घृणा रखने वाले पं॰ जवाहरलाल नेहरू अपने जीवन के संध्याकाल में Norman cousins के Talks with Nehru में कहते हैं :—

"हिन्दू तत्वज्ञान, धर्म और लोकतंत्र में विसंगति नहीं है । हिन्दू धर्म के उदर में एक तेजस्वी

विश्ववाद है । हिन्दू धर्म किसी भी परिवर्तन से मेल जमा सकता है । भिन्न-भिन्न तथा परस्परविरोधी विचारों का समावेश कर सके इतना हिन्दू धर्म विशाल है । लोगों का सर्वसाधारण कल्याण जिनमें दृष्टिगोचर होगा ऐसे नये स्थित्यंतर करने में यह भारत का धर्म पीछे नहीं रहेगा। इसके पूर्व हिन्दू धर्म ने बड़े-बड़े स्थित्यंतर हजम किए हैं ।

मुस्लिम और श्री गुरुजी

दक्षिण के मदुराई के लोगों ने मुसलमानों के विषय में श्री गुरुजी का दृष्टिकोण क्या है, यह जानने की इच्छा व्यक्त की । श्री गुरुजी ने कहा, "हम सबके पूर्वज एक ही हैं और हम सब उनके वंशज हैं, यह बात हमने सदैव ध्यान में रखनी चाहिए । आप अपने-अपने धर्म का प्रामाणिकतापूर्वक पालन कीजिए, किन्तु राष्ट्र के संदर्भ में हम सबने एक रहना चाहिए ।"

अलीगढ़ के एक कश्मीरी सूफी के साथ वार्ता करते समय श्री गुरुजी ने बताया, "हरएक ने अपने-अपने धर्म का पालन करना चाहिए । एक सर्व सारभूत तत्वज्ञान ऐसा है कि जो केवल हिन्दुओं का भी नहीं और केवल मुसलमानों का भी नहीं, आप उसे अद्वैत कहिए या और कुछ । वह तत्वज्ञान बताता है कि एकमेवाद्वितीय ऐसी एक शक्ति है, वही सत्य है, वही आनन्द है, वही सर्जक, रक्षक तथा संहारक है । अंतिम सत्य का यह मूलभूत स्वरूप हम सबको एकत्रित ला सकता है । वह किसी भी एक पंथ का नहीं है । इस कारण वह सभी के लिए स्वीकार्य है । कोई भी पंथ आखिर उपासना का एक विशिष्ट मार्ग है । इस्लाम, ईसाई और हिन्दू सबका परमेश्वर एक ही है और हम सब उसके भक्त हैं, इस सत्य को आप स्वाकार क्यों नहीं करते ? एक सूफी के नाते तो आपने इस सत्य को स्वीकार करना चाहिए ।"

डॉ॰ सैफुद्दीन जिलानी से हुई वार्ता सुप्रसिद्ध है । डॉ॰ जिलानी मूलतः ईरान के थे । कई वर्षों तक भारत में ही स्थायी रूप से रहे । इस्लामी तत्वज्ञान तथा तुलनात्मक तत्वज्ञानों का उनका अध्ययन गहन था । उन्होंने श्री गुरुजी से विस्तृत बातचीत की । उसके कुछ अंश नमूने के तौर पर, इस प्रकार हैं —

श्री गुरुजी

"पाकिस्तान ने पाणिनी की पांच हजारवी जयन्ती मनाई । कारण क्या ? तो आज जो भूभाग "पाकिस्तान" नाम से पहचाना जाता है, वहां पाणिनी का जन्म हुआ था । यदि पाकिस्तानी लोग "पाणिनी हमारे श्रेष्ठ पूर्वजों सें से एक था" ऐसा गर्व के साथ कहते हैं, तो फिर भारत के अपने "हिन्दू-मुसलमान" भी—मैं उनको "हिन्दू-मुसलमान" कहता हूं—पाणिनी, व्यास, बाल्मीक, राम, कृष्ण सब अपने ही श्रेष्ठ पूर्वज हैं ऐसा अभिमानपूर्वक क्यों नहीं कहते ?

हिन्दुओं में भी ऐसे अनेक लोग हैं कि जो राम, कृष्ण आदि को ईश्वर का अवतार नहीं मानते। किन्तु तो भी वे उनको श्रेष्ठ पुरुष मानते हैं, अनुकरणीय मानते हैं । इसलिए मुसलमानों ने उनको "अवतारी पुरुष" नहीं माना तो भी कुछ बिगड़ता नहीं हैं । किन्तु क्या मुसलमानों ने उनको अपना राष्ट्र-पुरुष भी नहीं मानना चाहिए । हमारे धर्म और तत्वज्ञान की शिक्षा के अनुसार हिन्दु और मुसलमान दोनों समान ही हैं । ईश्वरीय सत्य का साक्षात्कार केवल हिन्दू ही कर सकता है, ऐसा नहीं है । अपने-अपने धर्ममत के अनुसार आचरण करते हुए कोई भी साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है।

"हिन्दुओं और मुसलमानों ने परस्पर के त्यौहारों में भाग क्यों नहीं लेना चाहिए । समाज के सभी स्तरों के लोगों को अतीव उल्लास के वायुमंडल में एकत्रित लाने वाला होलिकोत्सव है । मानो, इस होलिकोत्सव में एकाध मुस्लिम बंधु के बदन पर किसी ने थोड़ा रंग उड़ाया तो क्या उतने से कुरान की सब आज्ञाओं का उल्लंघन हो जाता है ? इस बात की ओर उन्होंने एक सामाजिक व्यवहार इस नाते देखना चाहिए । आप मेरे ऊपर रंग डालिए, मैं आपके ऊपर रंग डालता हूं । हमारे लोग तो कई वर्षों से मोर्हरम के सभी कार्यक्रमों तथा जलूसों में सहभागी होते आए हैं । इतना ही नहीं, अजमेर उर्स जैसे अन्य त्यौहारों में भी मुसलमानों की बराबरी से हमारे लोग भी उत्साह में भाग लेते हैं । किन्तु यदि कल हमने कुछ मुस्लिमों बंधुओं को हमारी सत्य-नारायण पूजा में भाग लेने के लिए निमंत्रित किया, तो क्या होगा ?

प्रश्न : हिन्दू और मुसलमानों में सामञ्जस्य स्थापित करने की दृष्टि से नेतृत्व करने के लिए कौन योग्य है ? राजनीतिज्ञ, शिक्षातज्ञ या मजहबी नेता ?

उत्तर : इस विषय की दृष्टि से राजनीतिज्ञ सबसे आखिरी में आता है । मजहबी नेताओं के बारे में भी ऐसा ही कहा जा सकता है । आज हमारे देश में अति संकीर्ण मनोवृत्ति के मजहबी नेता दोनों समुदायों में हैं । इस काम के लिए हमें बिल्कुल तीसरे प्रकार के लोगों की आवश्यकता है । जो लोग धार्मिक है, किन्तु राजनीतिक नहीं और समग्र राष्ट्र का विचार जिनके मन में सदैव जागृत रहता है, ऐसे लोगों की इस काम के लिए हमें आवश्यकता है । धार्मिक पृष्ठभूमि के बिना कुछ भी साध्य नहीं होगा । धार्मिकता तो होनी ही चाहिए ।

प्र ा : परस्पर सामञ्जस्य निर्माण होने की दृष्टि से दोनों समुदायों ने तुरन्त हाथ में लेने योग्य उपक्रम ?

उत्तर : ऐसा कुछ एकदम बताना बहुत कठिन है, किन्तु हम देखें, धर्म के यथार्थ उपदेशों की शिक्षा व्यापक पैमाने पर देना एक उपक्रम हो सकता है; किन्तु आज के जैसे हमारे राजनेताओं द्वारा पुरस्कृत निधार्मिक शिक्षा नहीं, तो वास्तविक धार्मिक शिक्षा ।

लोगों को इस्लाम का ज्ञान करो तो वैसे ही हिन्दू धर्म का भी ज्ञान प्रदान करो । सभी धर्म मानव को महान, पवित्र तथा मंगल बनने के लिए बताते हैं, यह लोगों को सिखाएं ।

प्रश्न : "भारतीयकरण" के विषय में ?

उत्तर : "भारतीयकरण" की घोषणा जनसंघ ने की है । किन्तु इस विषय में संभ्रम पैदा क्यों होना चाहिए ? भारतीयकरण का मतलब सभी को हिन्दू बनाना नहीं है । हम सब इसी भूमि की संतान हैं, यह सत्य हम सभी ने समझ लेना चाहिए और इस सत्य पर अविचल निष्ठा रखनी चाहिए । हम सब एक ही मानव समूह के हैं, हम सबकेपूर्वज एक ही थे और इस कारण हम सबकी आकांक्षाएं भी एक ही हैं, यह हमने समझ लेना चाहिए । यह भारतीयकरण का सही अर्थ है ।

भारतीयकरण का अर्थ यह नहीं है कि किसी ने अपनी पूजा-पद्धति का त्याग करना चाहिए। हमने ऐसा कभी भी कहा नहीं है, कभी भी कहेंगे नहीं । हमारी श्रद्धा है कि एक ही उपासना पद्धति सम्पूर्ण मानवजाति के लिए सुविधाजनक नहीं है ।

प्रश्न : अपने देश में साम्प्रदायिक विसंवाद नष्ट करने की दृष्टि से उपायों की खोज करने के लिए आपके साथ सहयोग करेंगे ऐसे मुस्लिम नेताओं और आपकी बैठक हो ऐसा समय अब आया है, ऐसा आपको नहीं लगता क्या ? ऐसे नेताओं से भेंट करना, आप पसंद करेंगें क्या ?

उत्तर : केवल पसंद करूंगा इतना ही नहीं, मैं ऐसी भेंट का स्वागत करूंगा ।

बात-चीत के पश्चात् डॉ॰ जिलानी ने कहा—"मेरा ऐसा निश्चित मत हो गया है कि हिन्दु-मुसलमान प्रश्न के विषय में अधिकारवाणी से यथोचित मार्गदर्शन यदि कोई कर सकता है तो वह श्री गुरुजी ही हैं ।"

यह सभी के स्मरण में है कि आपातकाल में यरवडा कारागार में संघ के परमपूजनीय सरसंघचालक श्री बालासाहेब देवरस तथा उनके सहयोगियों के साथ प्रत्यक्ष संबंध प्रस्थापित होने के फलस्वरूप जमाते इस्लामी के लोगों के मन में संघ के परमपूजनीय सरसंघचालक जी तथा स्वयंसेवकों के विषय में —निरपेक्ष, स्वाभाविक प्रेम के कारण—किस तरह आत्मीयता का भाव निर्माण हुआ था ।

सर्वेषाम् अविरोधेन्

हिन्दू राष्ट्र को मानने वालों के लिए यह संतोष की बात है कि पूज्य डॉक्टर जी या पूज्य गुरुजी द्वारा प्रतिपादित हिन्दूराष्ट्र का अब तक किसी ने भी विरोध नहीं किया है और जिस हिन्दू राष्ट्र संकल्पना का विरोध किया जा रहा है वह इन दोनों को अभिप्रेत नहीं थी ।

विरोधी यह प्रण कर रहे हैं कि वे हिन्दूराष्ट्र की स्थापना नहीं होने देंगे । यह प्रण पूरा करना किसी के भी लिए संभव है क्या ? क्योंकि इस राष्ट्र का निर्माण तो पहले ही हो चुका है । प्रारम्भ में अथर्ववेद का जो उद्धरण प्रस्तुत किया है वह यहां उल्लेखनीय है । ऋषियों ने प्रारम्भिक काल में जो तप किया उससे राष्ट्र के बल का तथा ओज का निर्माण हुआ । इतिहास ने जब आंखे खोली तब उसने हमें "राष्ट्र" के रूप में ही देखा । यह राष्ट्र प्राक्-ऋग्वेद काल से चलता आया है । इसका अब निर्माण कैसे हो सकता है । पूज्य डॉ॰ हेडगेवारजी को कुछ लोग हिन्दूराष्ट्र का जनक मानते हैं । यह गलत और बाह्य वायुमंडल के प्रभाव का परिचायक है । डॉ॰ हेडगेवार हिन्दूराष्ट्र के निर्माता नहीं थे । वे उसका ज्ञापक कारण थे । ज्ञापक कारण का मतलब है कि मानो किसी कमरे में पहले से ही कुर्सी-मेज रखी हुई है, किन्तु कमरे में घना अंधेरा होने के कारण कोई भी देख नहीं सकता । किसी को भी यह पता नहीं चल सकता कि कमरे में कुर्सी-मेज है । किन्तु यदि "स्विच ऑन" किया गया तो वहां का विद्युत दीप प्रज्वलित हो जाएगा और उसके प्रकाश के कारण कुर्सी-मेज का अस्तित्व देखने वालों के ध्यान में आएगा। इसका मतलब यह नहीं कि विद्युतदीप ने उनका निर्माण किया है । वे तो पहले से ही कमरे में विद्यमान थे । अंधेरे के कारण दिखाई नहीं देते थे । विद्युतदीप ने अंधेरा दूर किया और कुर्सी-मेज दिखाई पड़ने लगे । वैसे ही हिन्दूराष्ट्र का अस्तित्व प्राकऋग्वेद काल से ही चलता आया है । आत्मविस्मृति तथा राजनीतिक सुविधावाद के अंधकार के कारण उसको देखना सामान्यजनों के लिए असंभव हो गया था । पूज्य डॉक्टर जी ने केवल "ज्ञापक कारण" की विद्युतदीप की भूमिका का निर्वाह किया । हिन्दूराष्ट्र सनातन सत्य है । उसकी स्थापना की बात हास्यास्पद तथा अप्रासंगिक (irrelevant) है, चाहे ऐसी बात करने वाले हिन्दूराष्ट्र के विरोधक हो या समर्थक ।

"We or our Nationhood Defined की भूमिका में श्री गुरुजी ने यह स्पष्ट किया था कि उनका विवेचन "राष्ट्र" विषयक है, राज्य विषयक नहीं । "राष्ट्र" और "राज्य" दो अलग-अलग संकल्पना हैं । उन्होंने यहां तक कहा था कि "राज्य संकल्पना के विषय में कुछ अभिप्राय प्रकट करना हो तो वे उस विषय में अलग से लेखन करेंगे, किन्तु प्रस्तुत ग्रंथ "राष्ट्र" विषयक ही है, "राज्य" विषयक नहीं ।

यह दो भिन्न संकल्पनाएं हैं । "राष्ट्र" शरीर है "राज्य" उसका वस्त्र । हमारा राष्ट्र सनातन है, किन्तु हमारे राष्ट्र में "राज्य" संस्था का निर्माण बहुत देर के बाद हुआ, जिसका विवेचन महाभारत के शांतिपर्व में युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर में भीष्म पितामाह ने किया है । "राष्ट्र" और "राज्य" संकल्पनाओं में कितना महदन्तर है इसका विवेचन श्री आरविन्द के 'The Ideal of Human Unity' के चतुर्थ अध्याय (The Inadequacy of the State Idea) में पाया जाता है ।

आज वास्तविक "हिन्दूराष्ट्र" की संकल्पना का विरोध कोई भी नहीं कर रहा है । विरोधक "हिन्दू राज्य" का निषेध कर रहे हैं । "राष्ट्र" और "राज्य" में क्या अन्तर है यह न जानने के कारण वे जिस संकल्पना का विरोध कर रहे हैं, वह राष्ट्रभक्त हिन्दुओं, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवकों, को अभिप्रेत नहीं है ।

डॉन क्विक्जोट के संबंध में आता है कि पवनचक्की को राक्षस मानकर वह एक चक्की पर ही टूट पड़ा । हमारे राजनेता तथा बुद्धि के ठेकेदार डॉन क्विक्जोट के ही उत्तराधिकारी हैं ।

किन्तु भारत में ही नहीं, अपितु पूरे संसार में वैचारिक संभ्रम को समाप्त करने की दृष्टि से—विविध संकल्पनाओं की सुस्पष्टता की दृष्टि से—निर्माण होने वाला असली, मूलभूत प्रश्न इससे कई गुना अधिक गहराई तक पहुंचने वाला है ।

समूहगत अस्मिता

समूहगत अस्मिता का आविष्कार विभिन्न स्तरों पर विभिन्न ईकाइयों के रूप से होता है, यथा परिवार, गोत्र, जनजाति, व्यावसायिक या गैर व्यावसायिक संघ, समाज (राष्ट्र) मानवता, विश्व आदि । *

* * * * * * * * * * *

* अथर्व वेद के अनुसार सर्वप्रथम परिवार संस्था का निर्माण हुआ । सा उद्क्रामत्त-सा गार्हपत्ये न्यक्रामत्" (अथर्व ८/१०/२) । इसका अर्थ यह है कि विराट स्थिति से उत्क्रांति हुई गार्हपत्य स्थिति में । अर्थात विवाह संस्था तथा परिवार संस्था का निर्माण हुआ, तो पहले "गृहपति" का निर्माण । उत्क्रांति की अगली अवस्था भी अथर्व में है । "साउदक्रामत्-सा आहवनीयेन्यक्रामत्" । उस संस्था की उत्क्रांति आहवनीय संस्था में हुई, जहां एक ही क्षेत्र में रहने वाले सब परिवारों के लोग एकत्रित आकर सामूहिक कार्य, यज्ञ आदि करने लगे तथा एकत्रित विचार-विमर्श करने लगे । इससे अगली अवस्था सभा की थी, जिसके मेंबर को सभ्य कहा जाता था । सा उदक्रामत्-"सा सभायां न्यक्रामत् । यान्ति अस्य सभां सभ्यों भवति ।" इस तरह स्थान-स्थान पर ग्राम सभाओं का निर्माण हुआ । उसकी उत्क्रान्ति राष्ट्र समितियों में हुई । जो राष्ट्र समिति का सदस्य था उसे "सामित्य" यह संज्ञा थी— "सा उदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् । यान्ति अस्य समिति सामित्यों भवति ।" जो राष्ट्र समिति रहती थी उसकी उत्क्रांति आमंत्रण परिषद में हुई। मंत्रिमंडल का निर्माण उसमें से हुआ । जिसके सदस्यों को "आमंत्रणीय" संज्ञा दी गई थी। " सा उदक्रामत् सा मंत्रणे न्यक्रामत्।" शासक प्रणालियों का हमारे यहां इस अवस्था के पश्चात् निर्माण हुआ ।

प्रारंभिक विश्रंखल अवस्था में से राष्ट्र निर्माण का यह कार्य महर्षियों ने किया ।

"दण्डा श्वेद् गो अत्रनास आसन्
परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः
अभवच्च पुरएता वसिष्ठ
आदित् तृत्सूनां विशों अप्रथन्त ।। (ऋग्वेद ७-३३-६)

गायों को आगे बढ़ाने के लिए प्रयोग की जाने वाली लाठियां जिस तरह निर्बल तथा

पृथक-पृथक हुआ करती हैं, वैसे ही निर्बल तथा पृथक-पृथक लोग शिशुवत तथा परिच्छिन्न थे। किन्तु उनका नेता ऋषि वशिष्ठ हुआ, तब यही भारत के लोग प्रख्यात तथा समृद्ध हुए। राष्ट्र के नाते यशस्वी हुए । राष्ट्र निर्माण का आधार मातृभूमि रही । ऋषियों की प्रार्थना थी :—

"सा नो भूमिः त्विषिं बलं राष्ट्रे दयातूत्तमे (अथर्व १२-१-८)

यह हमारी मातृभूमि हमारे इस राष्ट्र में तेज तथा बल को धारण कर उसे बढ़ाएं ।

मातृभूमि की धारणा की दृष्टि से ऋषि कहते हैं—

"सत्यं बृहद् ऋतं उग्रं दीक्षा प्रणों ब्रह्म यज्ञः प्रथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भवयस्य पत्नी उरूं लोकं पृथिवीं नः कृणोतु ।
(अथर्व १२-१-१)

सत्य, ऋतु, उग्रत्व, दाक्षिण्य, तप, ब्रह्म, और यज्ञ मातृभूमि की धारणा करते रहते हैं । यह हमारी मातृभूमि हमारे भूत-भविष्य का आधार है, यह हमें हमारे देश में विस्तृत कार्य-क्षेत्र प्रदान करे । *

* * * * * * * * * * *

समूहगत अस्मिता का प्रवास पश्चिम और भारत में एक ही प्रकार का होता रहा है क्या ?

वैसे तो "नेशन" को पश्चिमी विचारक भी एक सुस्पष्ट, सुनिश्चित, सुस्थिर संकल्पना नहीं मानते । उसके कई प्रकार हैं और हर एक प्रकार के लिए स्वतंत्र शब्द या संज्ञा प्रदान करना ही शास्त्रशुद्ध पद्धति है; किन्तु चर्चा की सुविधा के लिए ऐसा मान भी लिया कि "नेशन" नाम की संकल्पना सुनिश्चित है तो भी एक प्रश्न उपस्थित होता है वह प्रश्न केवल "नेशन" के ही बारे में नहीं तो सभी स्तरों की विभिन्न इकाइयों के बारे में—व्यष्ठि से परमेष्ठि तक भी उत्पन्न होता है। उदाहरण के रूप में हम "नेशन" की चर्चा करेंगे । वैसे यही प्रश्न सभी इकाइयों के बारे में समान रूप से लागू होता है ।

पश्चिमी वैश्विक दर्शन में "नेशन" का स्थान और पश्चिमी मनोरचना में "नेशनलिज्म" का महत्व और हिन्दू वैश्विक दर्शन में "राष्ट्र " का स्थान और हिन्दू मनोरचना में "राष्ट्रीयता " का महत्व दोनों को एकरूप या समान माना जा सकता है क्या ?

भारतीय दर्शन की मौलिक धारणाओं और अभारतीय चिन्तकों के विचारों में कुछ मौलिक अन्तर है । पश्चिम में सभी इकाइयों और संकल्पनाओं का विचार पृथक-पृथक (in compartments)) ढंग से टुकड़ों-टुकड़ों में किया जाता है । व्यक्ति का व्यक्ति के नाते, परिवार का परिवार के नाते, समाज का समाज के नाते, मानवता का मानवता के नाते उनके विचार में

सम्रगता का अभाव रहता है । व्यक्ति का विचार करते समय वे अन्य इकाइयों को आंखों से ओझल कर देते हैं । इसी तरह परिवार, राष्ट्र और मानवता का विचार करते समय विचाराधीन इकाई को छोड़कर अन्य इकाइयां या तो विस्मृत हो जाती हैं, या अति गोण । एक-एक इकाई का पृथक-पृथक विचार करना पाश्चात्य प्रकृति है । समझने की सुविधा की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि बीच में एक बिन्दु है जो व्यक्ति है । उसको आवृत करने वाला उससे बड़ा वृत परिवार का है। उसको आवृत करने वाला किन्तु पिछले वृत्त से असंबद्ध दूसरा बड़ा वृत्त है समुदाय । उसको आवृत करने वाला किन्तु उससे असंबद्ध उससे बड़ा वृत्त राष्ट्र का है । उसको आवृत करने वाला किन्तु बड़ा वृत्त है मानवता का । यहां तक ये पहुंच गए हैं ।

पश्चिम की यह सारी रचना संकेंद्रित (concentric) है । इसमें व्यक्ति केन्द्र बिन्दु है । उससे सातत्य का जैविक (organic) संबंध न रखते हुए और एक दूसरे से भिन्न, अन्य वृत्त परिवार, समुदाय, राष्ट्र, मानवता आदि के हैं । ये एक दूसरे को आवृत अवश्य करते हैं; पर एक दूसरे के विलग हैं । वे एक दूसरे से निर्गमित नहीं होते । इस रचना को संकेन्द्री (concentric) कहा जाता है ।

सनातन काल से हमारी सम्पूर्ण रचना कुंडलित, सर्पित या उत्तरोत्तर वृद्धि करने वाली (spiral) अखंड मंडलाकार रही है" । इसका प्रारंभ व्यक्ति से होता है और व्यक्ति को लेकर व्यक्ति से संबंध ने तोड़ते हुए, उससे संबंध कायम रखते हुए, अगला वृत्त परिवार का है । उससे संबंध विच्छेद न करते हुए, उससे संबद्धता रखते हुए उससे बड़ा वृत्त समाज का है । उससे सम्बद्धता सूत्र अविच्छिन्न रखते हुए, उससे सम्बद्ध अगला वृत्त राष्ट्र का है । यही सम्बद्धता निरन्तर रखते हुए राष्ट्र के ऊपर मानवता का वृत्त है और इसी प्रक्रिया में से चरम शिखर पर चराचर विश्व का वृत है, जिसके ऊपर अखिल ब्रह्मांड है । यह सर्पिल (कुंडली) अखण्ड मंडलाकार (spiral) की रचना है ।

दोनों रचनाओं में क्या भेद है, उसका विस्तृत विश्लेषण पंडित दीन दयालजी ने, सनातन धर्म के आधुनिक प्रवक्ता के नाते, किया है ।

अखंडमंडलाकार रचना में पहली इकाई से दूसरी ईकाई निकलती है, दूसरी से तीसरी और इस तरह यह क्रम चलता रहता है । उत्तरोत्तर वृद्धि करने वाली अखंडमंडलाकार (spiral) रचना के कारण इन इकाईयों के हितों में परस्पर विरोध नहीं है । व्यक्ति और परिवार के हित में विरोध नहीं है । परिवार और समुदाय के हित में विरोध नहीं है । समुदाय और राष्ट्र, राष्ट्र और मानवता के हित में विरोध नहीं है । विभिन्न इकाइयां एक दूसरे की विरोधी न होकर एक दूसरे की पूरक हैं। उदाहरणार्थ, बालक जब छोटा होता है, वह कुछ भी नहीं जानता । उस अवस्ता में उसके लिए एक ही इकाई है— "अहम्" मैं हूं । वह थोड़ा बड़ा होता है । माता पिता, भाई, बहन को पहचानता है, उनके साथ वह आत्मीयता का अनुभव करता है तो उसके लिए परिवार एक इकाई बन जाती है । पर वह अपने "अहम्" का निषेध नहीं करता ।

वह सोचता है कि "मैं भी सत्य हूं, परिवार भी सत्य है, वह और बड़ा होता है और गुणकर्म का विकास करता है । समान गुणकर्म रखने वाले लोगों के साथ समुदाय स्थापित करता है । पहली इकाइयों का निषेध न करते हुए उस समुदाय (Community) के साथ एकात्मता का अनुभव करता है । इसी विकास क्रम में समुदाय आदि का निषेध न करते हुए सोचता है कि केवल समुदाय नहीं, सम्पूर्ण राष्ट्र मेरा है । फिर उसकी चेतना का इससे भी अधिक विकास होता हैं तो वह सम्पूर्ण मानवता के साथ एकात्मता का अनुभव करता है और चेतना के विकास की अन्तिम अवस्था में उसी अखंडमंडलाकार प्रगति की अगली अवस्ता के नाते वह सम्पूर्ण चराचर के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है । 'All is one' का साक्षात्कार करता है, और "स्वदेशो भुवनत्रयम्" के नाते विश्व नागरिक ही नहीं, अपितु विश्वात्मा के साथ एकात्म हो जाता है । बचपन के "अहम्" से लेकर सन्यासी जीवन की चरमोत्कर्ष अवस्था तक का जो सुदीर्ध चेतना प्रवास है उसमें जैसे जैसे आत्मचेतना बड़ी होती जाती है, वैसे-वैसे उसके लिए, पुरानी पहली "इकाइयां" सब तरह से सत्य होते हुए भी उसको नई-बड़ी इकाई के सत्य का साक्षात्कार होता जाता है । अन्तिम साक्षात्कार "सर्वम खुलु इदम् ब्रह्म" का है । ये सभी इकाइयां सत्य हैं । हमारी आत्मचेतना का जैसे-जैसे विस्तार होगा वैसे-वैसे हमारे साक्षात्कार का विकास होगा । सभी सत्य है, इस कारण एक दूसरे का निषेध नहीं है । जैसे बीज में अंकुर, अंकुर से पौधा, उसी क्रम से शाखाएं, पल्लव, फूल और फल यह विकास के क्रम हैं । बीज और अंकुर में विरोध नहीं है, अंकुर और पौधे या वृक्ष में विरोध नहीं है। सबसे छोटी इकाई से लेकर सबसे बड़ी इकाई तक एकात्मता (Integration) है । सभी अपने-अपने दायरे में सत्य हैं । कोई इकाई दूसरे की विरोधी नहीं है । यह आत्मचेतना का अखंडमंडलाकार विकास है । यह हिन्दू-पद्धति की विशेषता है । पश्चिम की संकेन्द्रिक (concentric) रचना में इसका पूर्ण अभाव है ।

दोनों दर्शनों में यह मौलिक अंतर है । हिन्दू दर्शन की इस प्रकृति के कारण "हिन्दू" शब्द जितना राष्ट्रीय स्तर का है उतना ही अंतराष्ट्रीय स्तर का भी है, और उतना ही वेश्विक स्तर का भी है। यह बात समझना 'प्रगतिशील' लोगों के लिए संभव नहीं है, क्योंकि उनकी भी मान्यता, उनके पश्चिमी मानसपिताओं के समान संकेन्द्रिक (concentric) पद्धति की ही है । वे यह कल्पना नहीं कर सकते कि हर एक पूर्ण विकसित सन्यासी भारतीय तो रहता है, किन्तु केवल भारतीय नहीं रहता । हमारी संकृति की अपेक्षा है कि हर एक व्यक्ति को चेतना का विकास स्वयं से उत्क्रमित होते हुए अनंतकोटि ब्रह्मांड का समावेश करने वाली हो, चेतना विकास-क्रम की अन्तिम अवस्थाओं में वह जगत का नागरिक (World citizen) और इसके आगे ब्रह्माड नागरिक (Citizen of the Universe) बने ।

किसी भी समूहगत अस्मिता का जो स्थान पश्चिमी दर्शन में हो सकता है वह हिन्दू वैश्विक दर्शन में नहीं हो सकता । किसी भी समूहगत संकल्पना का जो महत्व पश्चिमी मनोरचना में हो सकता है वह हिन्दू मनोरचना में नहीं हो सकता । इस कारण पश्चिम की किसी भी संस्था की

तुलना (जिसमें "नेशन" भी है) इधर की किसी भी संस्था के साथ (जिसमें "राष्ट्र भी है) करना अनुपयुक्त है । इसी प्रकार पश्चिम की किसी भी संकल्पना की तुलना (जिसमें "नेशनलिज्म" भी है) इधर की किसी भी संकल्पना के साथ (जिसमें "राष्ट्रीयता" भी है) करना अनुचित है ।

इस विषय में रूचि रखने वाले सभी प्रामाणिक विचारकों को अलविन टॉफलर का यह विचार ध्यान में रखना चाहिए कि '.....The right question is usually more important than the right answer to the wrong question". *

* * * * * * * * * * *

* दर्शन का गहरा असर सामाजिक व्यवहार पर तो होता ही है, किन्तु दार्शनिक की मानसिकता पर भी होता है । उदाहरण के नाते विदेशों में भारत का प्रतिनिधित्व करने वाले एक दार्शनिक का निम्नलिखित स्वाभाविक व्यवहार देखिए ।

५ अप्रैल, १९५२ को क्रेमिलिन में स्टालिन से बात करते समय डॉ॰ राधाकृष्णन ने स्टालिन के गाल थपथपाये और कहा : "अब तक आप युद्ध के महान नेता साबित हो चुके हैं । अब इसके बाद आप शांति के महान नेता साबित होंगे क्या ? जैसे कलिंग विजय के पश्चात् अशोक शांति के नेता बने थे ।" स्टालिन ने उत्तर दिया "मैं कुछ समय तक एक ईसाई मठ में था । चमत्कार तो हो ही सकते हैं" ।

१८ दिसम्बर, १९५७ को डॉ॰ राधाकृष्णन ने पेकिंग में बातचीत के दौरान माओ झेडॉग का गाल थपथपाया । वहां उपस्थित अन्य सज्जन हक्केबक्के रह गए । राधाकृष्णन ने कहा—"घबराइये नहीं, मैंने स्टालिन और पोप के गाल भी थपथपाये हैं ।" *

हिन्दूराष्ट्र-संकल्पना

* हिन्दू राष्ट्र संकल्पना Revivalism है, हम यह नहीं चलने देंगे, प्राचीन परम्पराएं, मान्यताएं, आदि सभी से पूर्णरूपेण रिश्ता तोड़कर हम एकदम नए ढंग का समाज निर्माण करने जा रहे हैं, ऐसा दावा हमारे प्रगतिशील बन्धु कर रहे हैं । भूतकाल से नाता तोड़कर अभिनव समाज का निर्माण करने की घोषणा करते हैं ।

यह बात सवर्था असंभव है । अब तक श्रेष्ठ क्रांतिकारी भी इस तरह का निर्माण नहीं कर सके। प्राचीन परम्पराओं में जो बातें युगानुकूल नहीं है उनका त्याग करना चाहिए, और युगधर्मानुकूल नई बातों को स्वीकार करना चाहिए, किन्तु इस प्रक्रिया में राष्ट्र के जीवनरस का सातत्य कायम रखने की सावधानी सदैव रखनी चाहिए, यह विचार श्री गुरुजी ने रखा है ।

Explaining the process of Reconstruction flowing naturally from the spirit of identity, Shri M.S. Golwalkar, the Sarasanghchalak of the R.S.S.

observes. "Once the life stream of unity begins to flow freely in all the veins of our body-politic, the various limbs of our national life will automatically begin to function actively and harmoniously for the welfare of the nation as a whole. Such a living and growing Society will preserve out of its multitide of old systems and pattern whatever is essential and conducive to its progressive march, throw off those which have outlived their utility and and evolve new systems in their place. No one need shed tears at the passing of the old orders nor shirk to welcome the new order of things. That is the nature of all living and growing organisms. As a tree grows, ripe leaves and dry twings fall of making way for fresh growth. The main thing to bear in mind is to see that the life-sap of oneness permeates all parts of our social set-up. Every system or pattern will live or change or even entirely disappear according as it nourishes that life-sap or not. Hence, it is useless in the present social context to discuss about the future of all such systems. The supreme call of the times is to revive the spirit of inherent unity and the awarencess of its life purpose in our Society. All other things will take care of themselves.

* * * * * * * * * * *

भारत में सामाजिक सुधार का कार्य प्रारंभ करने वाले मनीषियों में न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे का स्थान महत्वपूर्ण है । सन् १८२५ में पूना में सम्पन्न हुए नवम् अ.भा. सामाजिक परिषद का मार्गदर्शन करते समय उन्होंने समाजसुधार आन्दोलन के सभी प्रकारों का वर्णन किया तथा हर एक प्रकार के कारण होने वाले लाभ-हानि भी बताया । इस दौरान अपरिनिर्दिष्ट अतिक्रांतिकारी दिखने वाले मार्ग का उल्लेख करते हुए रानडेजी ने उसकी अव्यावहारिकता निम्नलिखत शब्दों में बताई :– "To say that it is possible to build up a new fabric on new lines without any help from the past is to say that I am self-born and my father and grandfather need not have trobled themselves for me."

दूसरी बात यह कि इस तरह की अभूतपूर्व क्रांति की बात तो दूर, सामान्य सत्ता परिवर्तन की राजनीतिक क्रांति भी वातानुकूलित बंगलों में बैठकर नये विश्व की रचना का आलेख घोषित करने वाले Arm-chair Revolutionaries नहीं कर सकते ।

उनको हम इतना ही कहेंगे कि—

"शूरोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि बालक ।
यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते ।।

तीसरी बात यह कि यह प्रकृति के नियम में ही नहीं बैठता । समष्टि का उत्थान-पतन होता रहता है । किन्तु जैसे के तैसे Revival प्रकृति होने ही नहीं देती । मतलब यह कि— Revival

हो ही नहीं सकता । प्रकृति होने नहीं देती । Revolution हमारी बुद्धि के ठेकेदारों के बस की बात नहीं है । Renaissance हिन्दू प्रणाली है और हिन्दूराष्ट्र समर्थक यह निश्चित रूप से लाने वाले हैं ।

श्री गुरुजी की हिन्दूराष्ट्र संकल्पना में Renaissance अन्तर्निहित है ।

तृतीय विश्व

'State and Nation Building: A Third world perspective'. की प्रस्तावना में श्री रजनी कोठारी कहते हैं कि 'As in many earlier epochs of change, there has existed a large hiatus between objective reality and political theory in the period since 1945.

सनातन सिद्धांत की सत्यता परिस्थितिनिरपेक्ष हुआ करती है, किन्तु परिवर्तित बाह्य परिस्थिति के कारण जनमानस की धारणा में आने वाले परिवर्तन को ध्यान में रखकर उसी परिस्थितिनिरपेक्ष सत्यसिद्धांत का विवरण परिस्थितिसापेक्ष ढंग से करना पड़ता है । सत्य वही है, बाह्य परिस्थति और उससे प्रभावित लोकमानस के अनुकूल विवरण की शैली में कुछ अन्तर आ जाता है ।

We or our Nationhood Defined के लेखक को भी यहां अनुभव आया । किन्तु उस तरह पविर्तित अन्तर्बाह्य स्थिति की अनुभूति हमारे देश के नेताओं को नहीं हुई । पाश्चिमात्य विचारों को मानक (standard) मानने की उनकी आदत के अनुसार वे सन् १९४५ के पश्चात् भी पाश्चिमात्य विचारकों से प्रभावित रहे । उन विचारकों ने तृतीय विश्व के सभी देशों को यह बताया कि राष्ट्र निर्माण तथा राज्यनिर्माण की पूर्वभावी शर्त (Pre-condition) उन देशों का आधुनिकीकरण है । यह हुआ तो स्वाभाविक रूप से राष्ट्रनिर्माण तथा राज्यनिर्माण होगा । आधुनिकीकरण के बिना यह सब हो ही नहीं सकता और आधुनिकीकरण यानें पश्चिमीकरण । अतः पश्चिमीकरण का अविवेकी समर्थन करने वाले लोग प्रगतिशील और राष्ट्रहितैषी माने गए और उनका विवेक स्वीकार न करने वाले प्रतिगामी, दकियानूसी माने गए । श्री गुरुजी की गणना दूसरी श्रेणी में होने लगी । इस अवस्था में उनके राष्ट्रविषयक विचारों को भी प्रतिगामी तथा दकियानूसी घोषित किया जाना स्वाभाविक ही था । श्री गुरुजी इस विचार से सहमत नहीं थे कि राष्ट्र के निर्माण, या पुनर्निर्माण या पुनः गठन (National-building) के लिए पश्चिम का अंधानुकरण तथा विवेक शून्य आधुनिकीकरण आवश्यक है । इस तरह का आधुनिकीकरण राष्ट्र के पुनः संगठन के लिए प्रतिकूल सिद्ध होगा, यह उनकी धारणा थी ।

यहां ध्यान में रखने योग्य एक तथ्य प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा । एशिया की जागृतिका नेतृत्व करने वाले नेताओं का कालानु क्रम से निम्न प्रकार क्रमांक मानने की प्रथा थी । राजा राममोहन राय, मेईजी मिकॅडो मुतसहिटो (Meji Mikado Mutsuhito), सैय्यद जमालुद्दीन (ईरान), डॉ॰

सनयात सेन (चीन) और मुस्तफा कमाल पाशा (तुर्कीस्तान) अफ्रीका में यह सम्माननीय स्थान श्री जगलूल पाशा का माना जाता है । ये सभी महापुरुष पश्चिम की भौतिक प्रगति का महत्व समझते थे, किन्तु तो भी उनके मन की जड़ें उनकी संस्कृति में गहराई तक उतरी हुई थीं ।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् विश्व का नक्शा बदल गया किन्तु परिवर्तित जनमानस के प्रकाश में राष्ट्रीयता के प्रश्न का विचार तुरन्त नहीं हुआ । १४ अगस्त १९७० को फ्रांस के Cerisy-La-Salle में यूनेस्को के संयोजकत्व में राष्ट्रनिर्माण के प्रश्न पर विशेषज्ञों का जो परिसंवाद हुआ वह इस दिशा में किया गया पहला प्रयास था । इस परिसंवाद में कई देशों के विषय में विद्वत्तापूर्ण शोध पत्र प्रस्तुत किए गए । कुल मिलकर तृतीय विश्व के देश, पूर्व अफ्रीका, जापान द्वारा प्रभावित पूर्व तथा दक्षिण पूर्व एशिया, स्पेन तथा उसका साम्राज्य, दक्षिण लॅटिन अमेरिका, नेदरलैड्स तथा स्विटजरलैंड, बाल्कन्स तथा दक्षिणी स्लाव क्षेत्र, भारत, लेटिन अमेरिका, पश्चिमी यूरोप (सन् १५०० से) के विषय में प्रबंध पढ़े गए । उसके अलावा इस विषय पर भी चर्चा हुई कि राष्ट्र-निर्माण, राज्य-निर्माण केप्रश्न के अध्ययन की कार्यप्रणाली (Methodology) नई परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य में किस तरह विकसित की जाए।

उस समय तक विश्व मानस को दक्षिण अमरिका के विषय में बहुत कम जानकारी थी । इस परिसंवाद में यह क्षेत्र पहली बार चर्चा का विषय बना था । गैर पश्चिमी विद्वान माइकेलेना (Michelena) ने संदेह व्यक्त किया कि इस विषय के अध्ययन की उत्तर अमरीका प्रणाली दक्षिण अमेरिका के तथ्य ढूंढने में कहां तक सफल रहेगी । ब्राजील में उपयोग में लाई गई अध्ययन प्रणाली का माइकेलेना ने विवरण दिया । एक अमेरिकन विद्वान जेरोम क्लब (Jerome Club) ने प्रतिपादन किया कि नवराष्ट्रों तथा उनकी राष्ट्रीयता का अध्ययन करते समय उसमें यूरोपियन जागतिक दृष्टिकोण थोपने की प्रवृत्ति बंद होनी चाहिए । "पश्चिमीकरण ही अब जागतिक संस्कृति बन चुका हैं" गेब्रियल आमंड (Gabriel Almond) के इस दावे पर श्री डी.एल. शेठ ने प्रतिप्रश्न किया कि सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक यूरोपीय सभ्यता की जो संस्थात्मक उपलब्धियां रही उनको ही भविष्यकाल में सदा के लिए आदर्श मान कर चलना है, या वर्तमान तथा भावी पीढ़ियों को सृजनात्मक चिंतन कार्य करने के लिए अवसर देना है । मेंडेज (Mendes) ने कहा कि अब तक की विचार शैली के कारण नये राष्ट्र सदा के लिए गतिरूद्ध हो जाएंगे या यह विचार शैली नवराष्ट्रों की दृष्टि से असंगत (irrelevant) हो जाएगी । नव राष्ट्रनिर्माण के विषय में पश्चिमी नमूनों के प्रभाव में आने के कारण होने वाले दुष्परिणामों पर विचार-विशेषकर लेटिन अमेरिका, अफ्रीका तथा दक्षिण पूर्व एशिया के देशों की प्रतिक्रिया के रूप में कुछ राष्ट्र नेता, उभर कर आये, जैसे कॅस्ट्रो (क्यूबा), नासेर (अरब जगत), नेरेरे (कृष्ण अफ्रीका), माओ (चीन) और ओबोट (युगांडा) । इन सबकी छवि निर्माण का अन्वयार्थ भी बताया गया ।

ब्राजालियन विद्वान ज्यूलियन स्टूअर्ट (Julian Stuart) तथा युआन लिंज ने (Juan Linz) ने जो स्पेनिश तथा पुर्तगाली भाषाओं तथा वास्तविकताओं के ज्ञाता है, ब्हेनेजुएला के जे.ए. सिल्वा माईकेलेना (J.A. Silva Michelena) आइसनस्टाट (Eisenstadt) और ब्राजील के

कांडिडो मेंडेज (Condido Mendes) ने दक्षिण अमरिका के राष्ट्र तथा राज्यनिर्माण के विषय में मनोविश्लेषणात्मक विविध विचार प्रकट किए हैं । दक्षिण अमरिका में अधिकृत तथा मूलभूत संस्कृतियां क्या हैं ? मूलनिवासियों को यूरोपीय आगन्तुकों के साथ एकात्म करने में कहां तक सफलता मिली है ? प्रदेश-प्रदेश की सांस्कृतिक विरासत तथा सांस्कृतिक अस्मिता और वहां की अधिकृत शासन संस्था का ठीक मेल बैठता है क्या ? पश्चिमी पद्धति में 'people, elite, common civic culture', Centre-periphery Theories,', National bourgeoisie', Middle classes'. आदि संज्ञाएं प्रचलित हैं । इस सब बातों का अस्तित्व दक्षिणी अमेरिका में है क्या ? "आधुनिकरकरण" या "राजनीतिक विकास" का उपयोग दक्षिणी अमेरिका के देशों को विदेशावलम्बी बनाने में हुआ, यह आरोप सत्य है क्या ? पाई, रास्टोव (Pye, Rustow) की राष्ट्रीय अस्मिता की संकल्पना, सिल्वर्ट (Silvert) की सत्ता के बौद्धिकीकरण की कल्पना, कार्ल डेंश (Karl Dentsch) की सामाजिक अभिसरण की कल्पना, गेब्रियल आमंड (Gabriel Almond) तथा वर्बा (Verba) की राजनीतिक सहभाग की कल्पना, एस.एन. आइसनस्टाट (S.N. Eisenstadt) की राज्यकीय क्षमता के विकास की कल्पना और स्टीन रोकेन, बेंडिक्स, बेरिंगटन मूर (Stein Rokkan Bendix, Barrington Moore) की केन्द्र निर्माण तथा गठबंधन की कल्पना, ये सारी संकल्पनाएं विद्यमान दक्षिणी अमरिकी स्थिति में दूरान्वय से भी लागू होती है क्या ? यूरोप में निर्माण काल में जननिष्ठाओं का केन्द्र विचार धाराएं तथा संकल्पित समाज रचनाएं रही । दक्षिण अमरिका में जहां-जहां जननिष्ठा दिखाई देती है वहां-वहां निष्ठाओं का केन्द्र यूरोप के समान है या राजनीतिक दल और नेता ही केन्द्र बने हैं ? बहुत से विभागों में जननिष्ठाओं का अभाव ही है ।

भारत के रामकृष्ण मुकर्जी तथा युगांडा के यश टण्डन ने पश्चिमी परिकल्पनाओं की गैर पश्चिमी देशों से सुसंगति (Relevence) के विषय में प्रश्न उपस्थित किया ।

यूरोप में राष्ट्रों तथा राज्यों का निर्माण जिन परिस्थितियों में हुआ वे परिस्थितियां तृतीय विश्व में चल रही राष्ट्र निर्माण प्रक्रिया के समय आज उपलब्ध नहीं है, इस तथ्य को भी रेखांकित किया गया । यूरोपीय देशों के अनुभवों का उपयोग तृतीय विश्व के देशों के राष्ट्रनिर्माण में नहीं हो सकता, यह स्पष्ट किया गया ।

कुछ शुभ संयोग, जिनके सामूहिक प्रभाव से यूरोपीय भौतिक प्रगति का सुप्रभाव हुआ, यह थे—वायुयान युग से पूर्व के युग में समुद्री मार्गों के भौगोलिक, राजनीतिक महत्व में हुई नयी वृद्धि, प्रचुर कच्ची सामग्री और विपणन की संभावनाओं वाले देशों पर शासन करने वाली शक्तियों को अपने देशों के विकास कार्यों में तन्मयता, नौसैनिक शक्ति प्राप्त देशों के लिए साम्राज्य-निर्माण की परिस्थितियों का अनुकूल होना, उपनिवेशों के शोषण के आधार पर स्वदेशी अर्थव्यवस्थाओं का पोषण करने के व्यावहारिक अवसर उपलब्ध होना, यह सभी परिस्थितियां तृतीय विश्व के देशों के लिए फिर से उत्पन्न नहीं होगी ।

जैसे हेंस डाल्डर (Hans Daalder) ने स्पष्ट किया है कि यूरोप के विभिन्न देशों के इस विषय से संबंधित अनुभवों में भी विभिन्नता है । सबके अनुभव एक जैसे नहीं हैं, वैसे ही नवोदित राष्ट्रों के अनुभवों तथा लेटिन अमेरिकन और एशियार्ड देशों के अनुभवों में भी भिन्नता है । किन्तु राष्ट्रीयता प्राप्त करने की दृष्टि से, स्थूल दृष्टि से, पश्चिमी तथा गैर पश्चिमी देशों के ऐतिहासिक अनुभवों तथा वर्तमान संदर्भ में लाक्षणिक विरोध प्रकट होता है ।

युगांडा के प्रतिनिधि ने कहा कि अफ्रीका में कार्यरत नवराष्ट्र निर्माताओं की दृष्टि से, यूरोपीय राष्ट्रनिर्माण का इतिहास तथा यूरोपीय संकल्पनाएं असंगत और अनुपयुक्त हैं । उनके सामने प्रमुख आह्वान है बहुगोत्रीय (Multi-tribal) समाजों में एकता का भाव कैसे निर्माण करना ।

परिसंवाद में यह भी प्रश्न उपस्थित हुआ कि यूरोपीय तथा उत्तर अमरिकन अनुभवों में से निकले हुए विचारों के सहारे तृतीय विश्व के देशों की वास्तविकताओं का आकलन करना संभव है क्या ?

पश्चिमी विचारक केन्द्र और परिधि (Centre and Periphery) की भाषा में विचार करते हैं । किन्तु केन्द्र की परिभाषा क्या है ? उदाहरणार्थ कनॉडा में (इंग्लिश बनाम फ्रेंच) बेल्जियम में (बलून्स बनाम प्लेमिग्स), स्पेन में (कॅस्टीलियन्स बनाम अन्य) और कई दक्षिण अमेरिकन देशों में ?

पश्चिमी विचारकों की परिभाषाओं, विश्लेषणों तथा भाष्यों में विश्व की सम्पूर्ण वास्तविकता का आंकलन करने की क्षमता है क्या ? चर्चा में यह प्रश्न भी स्वाभाविक रूप से उभर कर आया ।

उपरिनिर्दिष्ट बिन्दु परिसंवाद का वृत्त नहीं है, केवल झलक मात्र हैं; किन्तु उनमें विचार की दिशा का बोध होता है ।

इस परिसंवाद के पश्चात् यूनेस्को के तत्वावधान में राष्ट्रनिर्माण विषय पर नवम्बर १९७१ में सिंगापुर में एशिया विभागीय परिसंवाद हुआ । संयोजक के नाते "दि सेन्टर फॉर दि स्टडी ऑफ डेवलपिंग सोसायटीज" दिल्ली ने काम किया । उसका वृत 'State and Nation Building a Third World perspective में प्रकाशित किया गया । प्रथम (अगस्त १९७०) परिसंवाद का वृत 'Building states and Nations' में पाया जाता है ।

इन संवादों की पृष्ठभूमि पर उनके एक संयोजक श्री रजनी कोठारी के इस संदर्भ में निकाले हुए निष्कर्ष वस्तुनिष्ठ तथा अनुभव पर आधारित हैं ।

वे कहते हैं कि राष्ट्र-राज्य निर्माण की अनिवार्य शर्त आधुनिकीकरण है, ऐसा प्रतिपादन करने वाले पश्चिमी विचारक यह भूल जाते हैं कि यूरोप के कई बड़े भागों में राष्ट्रों का गठन तथा राज्यों का निर्माण तब हुआ जब यूरोप के विभिन्न समाजों का आधुनिकीकरण हुआ ही नहीं था ।

श्री कोठारी लिखते हैं "The post 1945 era of nation building in diverse historical contexts, based on a common struggle for political autonomy and human dignity encompassing vast regions of the world, represents a turning point in human history'

इस निर्माण-पुननिर्माण के कालखंड में अश्वेत नवस्वतंत्र देशों के नेताओं पर पश्चिमी विचारकों के आधुनिकीकरण के मंत्र का बहुत प्रभाव रहा । इसका तृतीय विश्व के राष्ट्रचिंतन पर क्या असर पड़ा ? "The spell of the theory of modernisation has not permitted a realistic paradigm from emerging. To be sure, concepts like, nation building' and national integration' did emerge. But the thrust of these concepts was essentially mechanistic, the 'nation' in the new regions was conceived as some kind of a contrivance, something put together, Something that may or may not hold together (hence the continuing talk of Balkanisation), It was not seen as an organic being, with historical and cultural roots, ofter going back to centuries. Something that has since been underminded by Europe's colonising mission."

इसके परिणाम स्वरूप राजनेताओं ने अपना ध्यान आर्थिक पुर्नरचना और इसके माध्यम से "परंपरायुक्त समाजों के आधुनिकीकरण" पर केन्द्रित किया और "Scant attention has been paid to the typical political problems and policy issues involved in the building of new states and nation, the question of national autonomy and the factors that promote or undermine it.

इस अर्थ प्रधान आधुनिकीकरण का परिणाम क्या होता है ? "Emphasis on economic development through the historicist model of industrial growth and urbanisation produces an elite (economic, bureaucratic, and technocratic) that is ultimately tied to the metropolitan areas of the world and treats the vast rural hinderlands in its own country as colonies that provide gheap food, raw materials, and supplies labour (and markets for inferior industrial products). It, no doubt produces impressive increases in the national GNPs. (and hence also in the aggregate 'per capita income) without really benefiting anyone except a very small fragment of the large humanity handdled in the 'country side'.

आधुनिकीकरण के फलस्वरूप, कुछ अपवादों को छोड़ दें तो तृतीय विश्व के प्रायः सभी देश सच्ची स्वतंत्रता तथा स्वायत्ता से वंचित है । विशेष रूप से अफ्रीका, दक्षिण पूर्व एशिया तथा

पश्चिमी एशिया के बड़े क्षेत्रों के बहुत से नवस्वतंत्र देश इस श्रेणी में आते हैं । द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् श्वेतवर्ण राजनेताओं ने संयुक्त राष्ट्र संघ के मंच से दुनिया की नई रचना का एक लुभावना चित्र प्रस्तुत किया था । किन्तु आधनिकीकरण के परिणामस्वरूप निर्माण हो रही नई जागतिक रचना का स्वरूप किस तरह का है ?

For a number of nation-states in the contemporary world the centre lies somewhere outside the nation in the real metropoles of the world. The typical case, in large parts of Africa and Latin America, and in parts of Asia, is one in which a tiny local elite, concentrated in the capital city of the country, pursues its interests in close alignement with a metropolitan centre outside the country. The operative model that emerges is one in which the centre, or super-centre is located in the territory of a dominant political power, the sub-centre in the national, with occassionally one or two additional sub-centres located in some other large sized cities, and, then through a few inconsequential gradations, all the rest is reduced to a vast periphery."

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के कारण

"The result is an accent on 'Central authority' and an undermining of the economic, political and cultural aspirations of vast masses of the people who are condemned to live on the periphery. A varient of this with a widespread appeal is the accent on the divisiveness of underdeveloped countries, on the deep cleavages of religions, communal, or linguistic kind, on casteism and tribalism, and on the need to put this all down and create a 'national identity'.

आधुनिकीकरण को प्रगतिशीलता का मापदंड मानने वालों को श्री कोठारी कहते हैं– 'Rather, it is the current theory of modernisation that is empty, context free, deterministic in respect of policy choices, and subversive of the values of autonomy and freedom in decision making."

अपने विस्तृत अध्ययन का निष्कर्ष बताते हुए श्री कोठारी जी लिखते हैं:—

"It follows, therefore, that for realistic theory of state building, it is necessary to divorce it from the theory of modernisation, as conceived so far.

The chief casualty of the whole approach to modernisation... is state and nation-building itsself.'

To repeat once more the recurring point of this paper the need is to extricate the theory of state and Nation building form the theory of modernisation."

श्री कोठारी द्वारा संपादित 'State and Nation Building A Third World Perspective' देशी-विदेशी विद्वानों के आलेखों का संकलन है । जोस ए. सिल्वा, माइकेलेना, जोजी वातानुकी, पाल टी.के लिन. नायन, एन रामुथारिया सेली. सूमरजन, मुखर्जी, सेठ) (Jose A Silva, Michelena, Joji watanuki, paul T K Lin, Nathan, N. S hamuyarira, Selo Soimardjan, Mukherji, Sheth) आदि विद्वानों का उसमें योगदान है । कुल मिलाकर सभी लेख एक आवश्यकता की ओर संकेत देते हैं जिसे इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है— "need to question the validity of those (i.e. western) paradigms and to find ways of moving towards a new paradigm."

किन्तु इस तरह, पाश्चिमात्यों का अंधानुकरण न करते हुए स्वतंत्र बुद्धि से वास्तविकता का अध्ययन करने वाले विचारकों को भारत के राजनीतिक तथा बौद्धिक क्षेत्र में आज प्रतिगामी कालबाह्य तथा दकियानूसी कहा जाता है । उन लोगों को भारतीय वास्तविकता से सही दर्शन करा देने की दृष्टि में श्री गुरुजी ने "राष्ट्र" संकल्पना का यह विवेचन किया था ।

दुर्भाग्य की बात यह है कि इस तरह विदेशों की बौद्धिक दासता स्वीकार करने वाले स्वयं को बुद्धिजीवी (Intellectual) कहते हैं, और उनका प्रतिपादन अपने निहित स्वार्थ के लिए पोषक रहेगा इस विश्वास के कारण राजनेता घोषित करते हैं कि देश की बुद्धिमत्ता के एकमात्र ठेकेदार ये ही बौद्धिक दास हैं ।

यह सारी चर्चा किसी को भी गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की इस सूक्ति का स्मरण दिलाएगा।

"परानुकरण अपने अस्थिपंजर पर दूसरे की त्वचा चढ्ढाने के समान है, जिसमें त्वचा और अस्थियों के बीच निरन्तर कलह होता रहेगा ।"

इसी संदर्भ में गुरुदेव ठाकुर अन्यत्र कहते हैं "भगवान ने हर एक देश के लिए अलग-अलग प्रश्नपत्रिका दी है, इस कारण दूसरे किसी देश की उत्तर पत्रिका की नकल करके कोई देश भगवान की परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सकता ।"

श्री गुरुजी का आग्रह

श्री गुरुजी सभी को "आत्मदीप" याने स्वतंत्रप्रज्ञ बनने का अग्रह करते थे । यह उनकी दृष्टि से उचित भी था । किन्तु यह संकलन पढ़ते समय यह जान लेना पाठकों के लिए उपयुक्त रहेगा कि इस विषय पर बोलने की दृष्टि से वे कहां तक अधिकारी पुरुष थे ।

नवम्बर १९३९ में 'We or our Nationhood Defined की पांडुलिपि पूरी हुई । उसके प्रकाशन के पश्चात् डाक्टर हेड्गेवार जी की यह इच्छा थी कि तत्कालीन मध्यप्रदेश का प्रमुख समाचार पत्र नागपूर का "महाराष्ट्र" उसकी समीक्षा करे । "महाराष्ट्र" में यह कार्य श्री गजानन त्रयम्बक मांडखोलकर को करना था । श्री मांडखोलकर एक ख़्यातनाम पत्रकार तथा साहित्यिक

थे । वे संघ के विचारों से सहमत नहीं थे । वे वामपंथी तो नहीं थे, किन्तु वामपंथी विचारों को प्रगतिशील मानने वालों में थे ।

दो महीने के बाद भी समीक्षा प्रकाशित नहीं हुई तो डॉक्टरजी ने मांडखोलकरजी को स्मरण दिलाया । मांडखोलकर ने कहा 'पुस्तक में प्रतिपादित विषय के संबंध में मेरे मन में कई प्रश्न और संदेह हैं । स्वयं लेखक महोदय के साथ खुली चर्चा करने का अवसर मिलता तो अच्छा होता ।"

पूजनीय डाक्टरजी ने अपने निवास स्थान पर दोनों को साथ-साथ बिठाया । इस प्रसंग का वर्णन पूजनीय गुरुजी के महानिर्वाण के पश्चात् नागपूर "तरूण भारत" में स्वयं मांडखोलकर ने विस्तृत ढंग से किया है ।

इस संदर्भ में दो उल्लेखनीय बातों का पता चलता है— "हिन्दू राष्ट्र" संकल्पना के विषय में मांडखोलकर जी ने श्रीगुरुजी से तरह-तरह के प्रश्न-प्रतिप्रश्न किये और अंत में डाक्टरजी को बताया कि 'इस विषय से संबंधित मेरे सभी प्रश्नों के संतोषजनक उत्तर मिले हैं और मेरी शंकाओं का समाधान हो गया है ।'

दूसरी बात इससे भी महत्वपूर्ण है । इस पूरे प्रसंग से मांडखोलकर जी के यह ध्यान में आया कि "हिन्दूराष्ट्र" की संकल्पना के विषय में पूजनीय डाक्टर साहब भी पूजनीय गुरुजी को अधिकारी पुरुष मानते हैं ।

पाठकों की दृष्टि से यह दूसरी बात महत्वपूर्ण है ।

"आत्मदीप" बनकर सत्यान्वेषण की साधना में रत साधकों की भी कुछ अनुभूतियां हैं ।

भगवान बुद्ध के शब्दों में श्री गुरुजी का मार्गदर्शन है 'अप्प दीपो भव'

दशमेश श्री गुरुगोविन्द सिंह जी ने श्री गुरु ग्रंथसाहब को "आत्मदीप" माना ।

तमिलनाडु के श्रद्धालु मानते हैं कि श्री तिरूकुरल तिरूवल्लुवर की वांङ्मय मूर्ति है ।

श्री समर्थ रामदास ने कहा है कि "मेरे महाप्रयाण के पश्चात् यदि कोई मेरा दर्शन करने के लिए आतुर हो तो वह मेरे "दासबोध" का दर्शन करे । "दासबोध" का दर्शन अर्थात मेरा दर्शन ।"

शायद सभी महापुरुषों का अपनी कृतियों के साथ इसी तरह का अविभाज्य संबंध हुआ करता है ।

जिन पाठकों को श्री गुरुजी का प्रत्यक्ष दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, इस संकलन का महत्व उनकी दृष्टि से दूसरे प्रकार का है । ●

— दत्ता हेंगडी

"एषः पंथा :"

सन् १८५७ के पश्चात् इस देश में कई महापुरुषों का जन्म हुआ। राष्ट्र-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उन्होंने अपनी-अपनी संकल्पना के अनुसार महाकार्यों का निर्माण किया। परन्तु अनुभव यह आया कि आद्यप्रणेता के निर्वाण के पश्चात् उसके कार्य की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है, धीरे-धीरे कार्य परागति की ओर जाता है, और अन्ततोगत्वा निष्प्राण हो जाता है। कार्य की मूल प्रेरणाएं तथा परम्पराएं प्रथमतः विकृत हो जाती हैं और बाद में खण्डित। इस प्रकार के सभी महापुरुषों के नाम — निर्देश करने की आवश्यकता नहीं है, वे सब सुप्रसिद्ध हैं। केवल उदाहरण के लिए हम लोकमान्य तिलक तथा महात्मा गांधी की ही बात लें। दोनों की श्रेष्ठता सर्वविदित है। किन्तु उनके निर्वाण के पश्चात् उनकी विचार-प्रणाली तथा कार्य प्रणाली का क्या हुआ, यह एक अध्ययनीय विषय है। गांधी जी के पश्चात् गांधीवाद की अवनति इतनी तेजी से क्यों हुई ? इस प्रश्न की मीमांसा आचार्य विनोबा जी ने की है। तिलक जी अपने जीवन के अन्तिम चरण में कहा करते थे कि— "मेरे कंधों पर पांव रखकर ऊपर चढ़ने वाला कोई युवक मैं अपने जीवन-काल में देखूंगा, ऐसा मुझे अब नहीं लगता।" उनके निर्वाण के पश्चात् कितनी शीघ्रता से उनकी परम्परा दुर्बल हो गई यह सब जानते हैं।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक परमपूज्य डाक्टरजी के विषय में इससे एकदम विपरीत अनुभव आया। उनके निर्वाण के पश्चात् कार्य, प्रेरणा तथा परम्परा दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक बलवान तथा प्रभावशाली होती गई। अनेक बार आए हुए प्राण-संकट भी इसकी प्रगति को रोक नहीं सके। श्री बापू साहेब भिशीकर ने ठीक कहा है कि "जिनकी मृत्यु के पश्चात् कार्यकर्ताओं में किंचित् भी विचलितता नहीं आई, और जिनका कार्य सुसूत्र रूप से चलता रहा, आधुनिक भारत में डाक्टरजी ऐसे एकमेव नेता थे।"

इस अभूतपूर्व उपलब्धि का श्रेय डाक्टरजी के सम्पूर्ण व्यक्तितत्व को है। इस अलौकिक व्यक्तित्व द्वारा राष्ट्र को प्रदान किया गया सबसे बड़ा साधन तथा साधना अर्थात् 'शाखा' है। एक ही समय संजीवनीमंत्र तथा पाशुपतास्त्र की भूमिका का निर्वाह करने वाली – 'शाखा'। 'परम् वैभवम्' की श्रेष्ठतम राष्ट्रीय आकांक्षा की पूर्ति करने वाला राष्ट्रीय कल्पवृक्ष–'संघ शाखा'।

पूजनीय डाक्टरजी के इस जीवन-कार्य का प्रारम्भ सन् १९२५ की विजयादशमी के शुभ मुहूर्त पर हुआ। किन्तु उस समय कार्य का नामकरण नहीं किया गया। प्रारम्भिक दिनें में न संघ स्थान था, न कार्यालय, न संविधान, न आज्ञाएं, न प्रार्थना, न प्रतिज्ञा और न दैनंदिन कार्यक्रम। उस कार्य का 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' नामकरण १७ अप्रैल, १९२६ को हुआ। कार्यक्रम के लिए किसी विशेष गणवेश की कल्पना का आंशिक प्रकटीकरण उसी वर्ष रामनवमी के अवसर पर हुआ। उन दिनों केवल इतनी अपेक्षा रहती थी कि सभी को किसी न किसी व्यायामशाला में जाना ही चाहिए। केवल रविवार को सुबह पांच बजे एकत्रीकरण होता था और रविवार तथा गुरुवार को नियमित रूप से भाषण का कार्यक्रम हुआ करता था। उन दिनों इस कार्यक्रम को 'राजकीय वर्ग' कहा जाता था। उसे 'बौद्धिक वर्ग' संज्ञा सन् १९२७ के पश्चात् प्राप्त हुई।

संघ में दण्ड (लाठी) कि शिक्षा २८ मई, १९२६ से नियमित रूप से शुरू हुई। तभी से दैनंदिन एकत्रीकरण तथा प्रार्थना का भी प्रारम्भ हुआ और तभी हर महीने के प्रथम रविवार को बैठक का कार्यक्रम भी शुरू हुआ।

संघ के प्रथम वार्षिकोत्सव पर पथ-संचलन का कार्यक्रम नहीं हुआ था, क्योंकि तब तक उसके लिए आवश्यक संख्या तथा अनुशासन का निर्माण पर्याप्त मात्रा में नहीं हुआ था। सन् १९२६ में सर्वप्रथम 'रक्षा बंधनोत्सव' बैठक के रूप में मनाया गया। उसी वर्ष दिसम्बर से हर रविवार की सबह सैनिकी शिक्षा देने का उपक्रम हुआ। सन् १९२७ में अल्पस्वरूप में पथ-संचलन होने लगा। तभी लोगों के मन में घोष का विचार आया सन् १९२७ में(मुस्लिम दंगों के कुछ पूर्व) ग्रीष्मकाल में पहला 'अधिकारी शिक्षण वर्ग' (ओ.टी.सी.) हुआ। संघ की प्रतिज्ञा का सर्वप्रथम कार्यक्रम मार्च, १९२८ में हुआ। उसी वर्ष विजयादशमी के दिन सर्वप्रथम गणवेशधारी स्वयंसेवकों का पथ संचलन हुआ। और उसी वर्ष संघ— विस्तार की दृष्टि से शिक्षा के निमित्त भैयाजी दाणी आदि तीन विद्यार्थी स्वयंसेवकों को वाराणसी भेजा गया। सन् १९२८ में श्री गुरुदक्षिणा उत्सव पहली बार मनाया गया।

'बिगुल' आदि आंशिक घोष का काम उन दिनों चल रहा था, किन्तु नियमित घोष का प्रारम्भ सन् १९२९ में हुआ। १० नवम्बर, १९२९ को 'सरसंघचालक' पद का निर्माण किया गया।

संघ-कार्य के प्रारम्भ के लगभग छ : महीने तीन सप्ताह के पश्चात् इसका नामकरण हुआ। 'सरसंघचालक' पद का निर्माण लगभग चार वर्ष और डेढ़ महीने के पश्चात् हुआ।

विभिन्न कार्यों का संचालन करने वाले नेताओं में प्रायः दो तरह की कार्यशैलियां दिखाई देती हैं। एक, अपने मन में कार्य की दिशा निश्चित होने के पश्चात् सके विषय में अपने अनुयायियों को बताना और मार्गदर्शन का औचित्य समझने की क्षमता उन अनुयायियों में न रही तो भी तदनुसार उन्हें कार्य करने का आदेश देना। इस शैली के फलस्वरूप तात्कालिक कार्य ठीक ढंग से सम्पन्न हो सकता है, और शायद श्रद्धा के कारण लोगों में भी यह भाव निर्माण नहीं होता कि हमारे ऊपर यह निर्णय थोपा जा रहा है। किन्तु अनुयायियों में स्वयं विचार करने तथा ठीक निष्कर्ष पर पहुंचने की क्षमता इस शैली के कारण निर्माण नहीं हो पाती।

दूसरी शैली ऐसे नेताओं द्वारा अपनाई जाती है जिनके विचारों में स्पष्टता न होने के कारण आगामी योजना या निर्णय के विषय में भी स्पष्टता नहीं रहती। "हमने लिया हुआ निर्णय ही उचित है", दृढ़ता के साथ ऐसा वे मन में भी नहीं सोच सकते। इसलिए यह चिंता उनके मन में रहती है कि यदि निर्णय के कुछ विपरीत परिणाम निकले तो उनके लिए हमें जिम्मेदार न ठहराया जाय, इसका आसान रास्ता है— स्वयं कुछ भी निर्णय न करने का। इस दृष्टि से उन्हें लोकतांत्रिक प्रणाली उपयुक्त दिखाई देती है। अपना खुद का निर्णय कुछ नहीं, स्पष्ट मार्गदर्शन करने की अपनी क्षमता नहीं, इस स्थिति में लोकतान्त्रिक पद्धति के नाम पर निर्णय की जिम्मेदारी लोगों पर डालना, परिणाम अच्छा निकला तो श्रेय में अपनी साझेदारी है ही, परिणाम बुरा निकला तो उसकी जिम्मेदारी अपने ऊपर नहीं। "आपने ही यह सामूहिक निर्णय लिया था" यह कहकर पूरी जिम्मेदारी और लोगों की ही है यह बताने के लिए पर्याप्त गुंजाइश, और फिर इस तरह निर्णय की जिम्मेदारी टालते हुए यह श्रेय लेने के लिए भी पूरी गुंजाइश कि हमारा स्वभाव लोकतांत्रिक और उदार है।

ये दोनों शैलियां पूजनीय डाक्टरजी के विचार तथा दूरदर्शिता के अनुकूल नहीं थीं।

दूरदर्शिता अर्थात् शेखमहंमदी स्वप्नरंजन नहीं है। कुछ बातें निश्चित होती हैं। ध्येय या अधिष्ठान, वहां तक जाने की दिशा, उपयुक्त साधन, आवश्यक विधि-निषेध आदि मौलिक बातों में निश्चितता होती है। किन्तु समय-समय पर निर्माण होने वाली परिस्थितियों में अनिश्चितता रहती है। अपने सहयोगियों के स्वभाव विशेष, विरोधकों के स्वभाव विशेष तथा क्षमताएं, अकस्मात् आने वाली प्राकृतिक या मनुष्य निर्मित बाधाएं और घटित होने वाली घटनाएं, सर्वसाधारण जनमानस का झुकाव, जिन पर अपना नियंत्रण नहीं, ऐसे विविध तत्त्वों और ताकतों की गतिविधियां आदि बातों के कारण परिस्थितियां किस समय कैसा मोड़ लेंगी यह अनिश्चितता हमेशा बनी रहती है। उनके प्रभाव में आकर कुछ लोग केवल प्रवाह— पतित बनना स्वीकार कर लेते हैं, यह उचित नहीं। किन्तु भविष्य की दिशा के विषय में मन में केवल एक ही अनुमान रखकर योजनाएं बनाना भी उचित नहीं है। आने वाली परिस्थितियों के कितने विभिन्न विकल्प हो सकते हैं इसका सर्वंकष विचार करना, सभी वैकल्पिक परिस्थितियों की सम्यक् कल्पना करना, और हर एक वैकल्पिक परिस्थिति में कार्य को आगे कैसे बढ़ाया जा सकता है, इसकी विभिन्न योजनाएं मन में तैयार रखना दूरदर्शिता का लक्षण है। नेपोलियन

कहा करता था कि — "मास्को अपने हाथ में आने के बाद वहां का प्रशासन किस तरह का होना चाहिए, इसका प्रारूप एक जेब में रखना, और साथ ही रूसी सेनाएं बर्लिन में घुस आईं तो बर्लिन का बचाव कैसे करना, इसका प्रारूप दूसरी जेब में रखना, यह दूरदर्शिता है।" निश्चित बातों के प्रकाश में सर्वथा अनिश्चित भविष्य काल के विषय में बनाने वाली योजनाओं में लचीलापन होना चाहिए, यह स्पष्ट है। यह लचीलापन यानी प्रवाहपतितत्व नहीं हैं। यह निश्चयात्मिका बुद्धि का अभाव नहीं है, परिपक्वता है।

जन्मजात देशभक्ति, समकालीन सभी सार्वजनिक कार्यों में प्रत्यक्ष सक्रिय सहभाग, विभिन्न देशी-विदेशी विचारधाराओं का अध्ययन और इन सब बातों के चलते हुए स्वयं अपना गहन, मौलिक और दूरदर्शी चिंतन पूजनीय डाक्टरजी की विशेषता थी और इसी के फलस्वरूप राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का निर्माण हुआ, यह तथ्य अब सब जानते हैं।

सभी सम्बन्धित विषयों पर उनके अपने निश्चित विचार थे, किन्तु उनको प्रकट करने में उन्होंने कभी भी जल्दबाजी नहीं की।

उनकी अपनी विशिष्ट कार्यशैली थी। संघ के ध्येय आदि अपरिवर्तनीय विषयों की बात अलग है। उनके बारे में तो समझौते का प्रश्न ही नहीं था। वे जानते थे कि "Compromisation is an umbrella, not a roof." – "समझौता केवल छाता है, छत नहीं।" कार्यपद्धति की बात ही अलग थी। ऐसी स्थिति थी कि अपनी कोई भी पूर्व नियोजित बात यदि वे सबके सामने सीधे रखते तो सभी उसको सहर्ष स्वीकार करते। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। हर विषय में उचित निर्णय हो, यह चिंता तो उन्हें अवश्य थी, किन्तु वे सोचते थे कि किसी भी विषय में पहले ही स्वयं अपना मत प्रकट न करके अपने सहयोगियों की समझदारी का स्तर इतना ऊंचा किया जाय कि वे स्वयं अपने ही विचार से अभिप्रेत निर्णय पर पहुंच सकें, फिर यह प्रक्रिया पूरी होने में विलम्ब भले ही हो जाए। डाक्टरजी का विचार था कि उतनी देर प्रतीक्षा करना अधिक लाभदायक होगा, बनिस्वत इसके कि अपना विचार कार्यकर्ताओं और सहयोगियों पर थोपा जाए। इस शैली के लिए धीरज और इस आत्मविश्वास की भी आवश्यकता थी कि धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूप से मैं अपने सहयोगियों को अपने निष्कर्षपर ले आऊंगा।

कार्य का नामकरण १७ अप्रैल, १९२६ को हुआ। इसके लिए हुई बैठक का प्राध्यापक दादा साहेब सावलापूरकर द्वारा दिया हुआ वृतान्त उद्‌बोधक है। बैठक में नाम के विषय में तीन सुझाव आये। भारतोद्धारक मण्डल, जरीपटका मण्डल और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ। इस पर खुली चर्चा हुई और सबकी सहमति से तीसरा नाम स्वीकृत किया गया। प्रा. सावलापूरकर लिखते हैं, "डाक्टर जी ने संस्था का नाम अपने मन में पहले ही निश्चित किया हुआ था।" प्रथम अपने साथियों की समझदारी का स्तर बढ़ाना और फिर सम्बन्धित विषय चर्चा के लिए लाना, उनकी कार्यशैली का क्रम था।

सन् १९२८ में यह सुझाव आया कि ज्येष्ठ शुक्ल त्रयोदशी को (शिवाजी राज्याभिषेक दिन) नागपुर में स्वयंसेवकों का विशाल एकत्रीकरण किया जाए। इससे स्वयंसेवकों का आत्मविश्वास बढ़ेगा। डाक्टरजी का मत था कि इससे विरोधी अधिक सतर्क तथा सक्रिय हो जाएंगे। किन्तु उन्होंने अपना विचार प्रकट नहीं किया। वे कार्यकर्ताओं को प्रारम्भ में ही निराश नहीं करना चाहते थे। उन्होंने कहा — "इस सुझाव पर प्रदेश के प्रमुख संघचालकों की प्रतिक्रिया जानने के पश्चात् ही निर्णय लेना ठीक रहेगा।" पत्र लिखे गए। सभी के उत्तर विशाल कार्यक्रम करने के सुझाव के प्रतिकूल थे। अतएव यह विचार छोड़ दिया गया।

संघ कार्य की नींव मजबूत बनाने की दृष्टि से यह शैली बहुत उपयुक्त सिद्ध हुई। डाक्टरजी की यह मान्यता थी कि किसी भी संगठन में अनुशासन की गारण्टी उसके संविधान की धाराओं में नहीं, अपितु सदस्यों की समझदारी के स्तर में है।

पूजनीय डाक्टरजी के प्रदीर्घ गहन चिंतन और तपश्चर्या का परिपक्व फल है— राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ। उनका चिंतन मूलगामी भी था तथा दूरगामी भी। इस कारण बड़े से बड़े राष्ट्रीय प्रश्नों से लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यक्तिगत मनोव्यापारों तक सभी बातों पर उनका चिकित्सक तथा रचनात्मक ध्यान रहता था।

सर्वसाधारण व्यावहारिक शब्दों के प्रयोग की छोटी- सी बात ही लीजिये।

'हिन्दी' नहीं 'हिन्दू'। 'हिन्दभूमि' नहीं 'हिन्दुभूमि'। 'वयं संघीया' नहीं 'वयं हिन्दूराष्ट्रङ्गभूताः'। 'संघ की जय' नहीं 'भारत माता की जय'। 'संघ की बैंक' नहीं 'बैंक में संघ'। 'संघ संस्था' नहीं 'अपना संघ रूपी राष्ट्र'। 'राष्ट्र सेनापति' नहीं 'सरसंघचालक'। 'सैनिकी संगठन' नहीं 'पारिवारिक संगठन'। 'सभासद' नहीं 'स्वयंसेवक'। 'राजकीय वर्ग' नहीं 'बौद्धिक वर्ग'। 'मैं' नहीं 'हम'। 'हमारे संघ का उत्सव' नहीं 'अपने संघ का उत्सव'। 'अहिन्दू-विरोध' नहीं 'हिन्दू संगठन'। 'आपसी भेद नष्ट करो' नहीं 'हम सब एक हैं'। 'शिवाजी राज्याभिषेक दिन' नहीं 'हिन्दू साम्राज्य दिन'। 'हिन्दू-मुस्लिम दंगा' नहीं 'मुस्लिम दंगा'। 'देशद्रोही' नहीं 'देशशत्रु'। केवल 'धर्मपालन' नहीं 'धर्मरक्षण'। 'यथाशक्ति' नहीं 'तन-मन-धनपूर्वक'। 'दान' नहीं 'समर्पण'। 'चंदा' नहीं 'श्रीगुरुदक्षिणा'। 'स्वार्थत्याग' नहीं 'पारिवारिक कर्तव्य'। 'राजमान्य राजेश्री' नहीं 'परममित्र'। 'पांच बजे' नहीं 'ठीक पांच बजे'। संख्या '२७-२८' नहीं, '२७' या '२८'। 'हिन्दू कालोनी' नहीं 'गोले कॉलनी'। 'मैं पांच वर्ष पूर्व संघ का सदस्य था' नहीं 'मैं आमरण संघ-स्वयंसेवक हूं'। 'शीघ्र सारे दुर्गुणों को दूर हमसे कीजिए' नहीं 'शीघ्र सारे सदगुणों से पूर्ण हिन्दू कीजिए'। 'राजपूत रमणी' नहीं 'राजपूत देवी'। 'मगरूक दस्तगीर' नहीं 'मंगरूक दत्त'। 'Teach me how to die.' नहीं 'Teach me how to live' (मरने की नहीं, जीने की शिक्षा)।

ऐसे कितने ही उदाहरण हैं। ये सब स्वयं अपने में स्पष्ट हैं। इनका भाष्य करने की आवश्यकता नहीं है।

पूज्य डाक्टरजी ने जिस कार्य का संकल्प किया वह केवल दूरदर्शिता का ही नहीं, अपितु परम साहस का भी परिचायक है। पिछली कई शताब्दियों में हिन्दू इतिहास में इस तरह की प्रक्रिया हुई ही नहीं थी। हिन्दुत्व तथा हिन्दू समाज के संरक्षण, संवर्धन तथा सुधार के लिए कई महापुरुषों ने इतिहास काल में श्रेष्ठ प्रयास किए थे और उन प्रयासों के श्रेष्ठ परिणामों से हिन्दू समाज उस कालखण्ड में लाभान्वित भी होता रहता था। किन्तु इनमें से हर एक प्रयास की परिणति अन्ततोगत्वा सम्प्रदाय निर्मिति में हुई। प्रत्येक प्रयास ने हिन्दू समाज के अन्तर्गत एक संगठित विभाग का स्वरूप धारण किया। पूजनीय डाक्टरजी ने इस पहलू पर बारीकी से विचार किया कि इतिहासकालीन हर श्रेष्ठ प्रयास 'अखिल हिन्दू' भाव से प्रारम्भ हुआ किन्तु आगे चलकर केवल एक पंथ या सम्प्रदाय बनकर क्यों रह गया? मनोविज्ञान का उनका अध्ययन बहुत सूक्ष्म था। वे समझ चुके थे कि इस तरह का सम्प्रदाय-भाव सम्पूर्ण समाज के हित की दृष्टि से घातक है, यह बात जितनी सही है उतनी ही यह बात भी सही है कि यह मनुष्य का स्वभाव सुलभ भाव है। जिस तरह पानी स्वाभाविक प्रक्रिया में नीचे की ओर जाता है, और यदि उसे ऊपर चढ़ाना हो तो उसके लिए विशेष प्रयास (पंपिंग आदि) करने पड़ते हैं, वैसे ही सामान्य मनुष्य का मन स्वाभाविक रूप से पांथिकता-साम्प्रदायिकता की ओर जाता है। यदि 'अखिल हिन्दू' भाव की ओर उसे ले जाना हो तो उसके लिए विशेष सतर्कता रखने और विशेष संस्कार अंकित करने की आवश्यकता है। प्रारंभ से ही यह सतर्कता न रखी जाने के कारण ही महाप्रयासों में संकीर्णता ने प्रवेश किया। पूज्य डाक्टरजी ने प्रारम्भ से ही यह सतर्कता रखी। उन्होंने यह तो स्पष्ट किया ही कि परिकल्पना की दृष्टि से संघ और समाज समव्याप्त हैं और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संघ सम्पूर्ण हिन्दू समाज के साथ एकात्म है। संघ हिन्दू समाज के अन्तर्गत संगठन नहीं खड़ा करना चाहता बल्कि सम्पूर्ण, निःशेष हिन्दू समाज को सुसंगठित अवस्था में लाना चाहता है, किन्तु संस्था भाव (Institutionalism) मनुष्य स्वभाव-सुलभ होते हुए भी उसका सम्पूर्ण अभाव रह सके इस दृष्टि से समर्थ संस्कारों की योजना करना और मनसा-वाचा-कर्मणा इस विषय में सदैव सतर्कता रखी जा सके, इस तरह कार्यपद्धति का सूत्रपात करना, डाक्टरजी की योजना की ऐतिहासिक विशेषता है। डाक्टरजी के जन्म शताब्दी वर्ष (१९८९) में इस पहलू पर पूरा प्रकाश डाला गया है, इसलिए यहां इसका विस्तृत, सोदाहरण विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है।

जिसके मन में संस्थाभाव (Institutionalism) है वह व्यक्ति क्या निम्नलिखित विचार अपने अनुयायियों को बता सकेगा?

— In our Country there are so many colleges of arts, but there are no colleges of heart.

(अपने देश में कला के तो अनेक महाविद्यालय हैं किन्तु हृदय का महाविद्यालय एक भी नहीं है ।) मेरी अभिलाषा है कि हृदय परिवर्तन का भी महाविद्यालय बने ।

— "लोगों से अत्यंतिक प्रेम करो । कांग्रेस, सोशलिस्ट, हिन्दू सभा आदि संस्थाओं के लोग अपने ही हैं । अतः उनसे शुद्ध मन से व्यवहार करो । कांग्रेस का कोई भी व्यक्ति हमसे द्वेष नहीं कर सकता । द्वेष का कारण ही कहां है ? दल भिन्न रहें तो भी मित्र के नाते हम व्यवहार में खुले दिल से एकत्र हो सकते हैं । हमें अपने ही मत के लोगों में काम नहीं करना है, बल्कि विरोधकों को भी अपना बनाना है । इसलिए संघ के विषय में उनकी भावना शुद्ध चाहिए । अपना ध्वज तथा विचार-प्रणाली उन्हें अमान्य होगी तो भी हमको उनसे द्वेष नहीं करना चाहिये । उन्हें हमारा द्वेष करने के लिए कोई कारण हमारी ओर से नहीं मिलना चाहिए । सभी बातें सुव्यवस्थित हों इसलिए अपना व्यवहार प्रेममय ही चाहिए । प्रेम के अलावा दूसरा मार्ग ही नहीं । प्रेम तथा आदर बढ़ाते-बढ़ाते अपनी शक्ति बढ़ाते रहना चाहिए" ।

— "देश कार्य कहीं भी रुक गया और उसे आगे ले जाने की क्षमता अपने पास है तो उस स्थिति में वह कार्य किस दल का है यह न देखते हुए उसको पूरा करने के लिए हमें आगे बढ़ना चाहिए ।"

— "हम भगवान से प्रार्थना करें कि वह सबको सद्‌बुद्धि दे । किन्तु अपनी सद्‌विवेक बुद्धि और परमेश्वर का स्मरण करते हुए हमने कार्य किया तो भी यदि कोई नाराज हो जाए और अपना विरोध करे तो उसका कोई इलाज नहीं है । ऐसी बातों से डरकर हम कितने दिन चल सकते हैं ?"

यह वृत्ति पूजनीय डाक्टरजी के पश्चात् भी कायम रही । प्रथम प्रतिबंध के पश्चात् पूज्य श्री गुरुजी का 'वयम् पंचाधिकम् शतम्' और द्वितीय प्रतिबंध के पश्चात् पूजनीय बालासाहब का 'भूल जाओ और क्षमा करो' (Forget and forgive) का निर्देश इसी वृत्ति का परिचायक है ।

इसी मनोभूमिका में से संघ के साध्य-साधन-विवेक का उदय हुआ ।

साध्य— **'परं वैभवं नेतुमेतत् स्वराष्ट्रम्'**

उसका आधार— **'विजेत्री च नः संहता कार्यशक्तिः'** ।

हिन्दुओं की विजयशालिनी संगठित कार्यशक्ति यानी सम्पूर्ण हिन्दू समाज का विजयशाली संगठन कार्य का आधार, उसके द्वारा कार्य का संरक्षण और उसके फलस्वरूप हिन्दू राष्ट्र का परम वैभव । यह है साध्य-साधन विवेक ।

इसमें से आधारभूत कार्य अर्थात् समाज संगठन, संघ करेगा । एक-एक हिन्दू के साथ सम्पर्क

प्रस्थापित करना, उसके हृदय पर समाज के साथ एकात्मता और अंगांगीभाव का संस्कार अंकित करना, इस प्रकार के सुसंस्कारित हिन्दुओं अर्थात् स्वयंसेवकों का अनुशासनबद्ध संगठन निर्माण करना और उस संगठन की सीमाएं बढ़ाते-बढ़ाते इतना बढ़ाना कि संघ स्थान की सीमाएं और हिन्दुस्थान की सीमाएं समव्याप्त हो जाएं, और उस स्थिति में संघ समाज में विलीन हो जाए और समाज संघमय हो जाए। जिस तरह कोई भी जख्म तब तक पूरी तरह अच्छा नहीं होता जब तक उसके ऊपर झिल्ली बनी रहती है। और जख्म पूरा अच्छा होते ही झिल्ली स्वयंमेव गल जाती है, उसी तरह जब तक विघटन का जख्म कायम है तब तक 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' नाम की विशेष झिल्ली रहेगी। विघटन का जख्म जैसे ही भर जायेगा वैसे ही 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' नाम की झिल्ली भी स्वयमेव गल जायेगी और उस अवस्था में संघ और समाज एकरूप हो जाएंगे।

इस आधारभूत कार्य का समर्थ साधन, अर्थात् कार्यपद्धति का डाक्टर जी ने निर्माण किया। हर दिन हिन्दू कुछ समय के लिए एकत्रित आएं, एकत्रित आकर सामूहिक कार्यक्रम करें, सामूहिक समष्टिगत कार्यक्रमों के माध्यम से सामूहिक समष्टिगत मानसिकता निर्माण होती है, इस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार अपने-अपने हृदय में सामूहिकता का, समष्टि का संस्कार ग्रहण करें, और यह संस्कार ग्रहण करने की पुनरावृत्ति हर दिन करते रहें। जैसे पीतल के बर्तन को हर दिन मांजना पड़ता है, इस कार्यपद्धति का भी यही केन्द्र-बिन्दु है। इस पद्धति का नाम है 'शाखा'। कई दशकों के अनुभव के आधार पर सभी इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि सम्पूर्ण समाज को सुसंगठित करने की दृष्टि से संघ की कार्यपद्धति दोनों अर्थों में स्वयंपूर्ण है। यदि इस कार्यपद्धति को लेकर चलें तो संगठन कार्य की सिद्धि के लिए दूसरी किसी भी पूरक कार्यपद्धति की आवश्यकता नहीं है, और किसी भी मोह के कारण इस कार्य-पद्धति का त्याग किया तो दूसरी कोई भी वैकल्पिक कार्यपद्धति ऐसी नहीं हो सकती, जो समाज संगठन का कार्य सिद्ध कर सके। समाज संगठन के लिए समर्थ एक मात्र कार्य पद्धति अर्थात् 'शाखा'। एषाः पंथाः।

कार्य-सिद्धि के लिए प्रमुख आधारभूत साधन है— शाखा। किन्तु "परं वैभवम्" तक पहुंचने की दृष्टि से राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न उपयुक्त कार्यों की रचना तथा विचारों का विकास करने की आवश्यकता है। यह सब कैसे होगा? संघ अपने को सम्पर्क, संस्कार, स्वयंसेवक, संगठन तक ही सीमित रखेगा तो ये सब कार्य कौन करेगा? इन प्रश्नों के उत्तर में बताया गया कि ये सब कार्य होकर रहेंगे। कोई भी ऐसा कार्य नहीं बचेगा जो करणीय न हो, किन्तु किया नहीं गया हो। किन्तु संघ अपनी निश्चित परिधि के बाहर नहीं जाएगा। सम्पर्क, संस्कार, स्वयंसेवक, संगठन कितना कठिन कार्य है, यह बाहर के लोग नहीं जानते।वे समझते नहीं कि 'स्वयंसेवक' और 'मतदाता' में कितना गुणात्मक अंतर है। एक-एक स्वयंसेवक का निर्माण बहुत ही परिश्रम के फलस्वरूप होता है। संघ अपनी पूरी शक्ति इसी पर केन्द्रित करेगा तो भी इसको पूर्ण करने में बहुत समय लगेगा। यदि संघ अपना ध्यान इधर-उधर जाने देगा तो यह आधारभूत कार्य कभी पूरा होगा ही नहीं। इसलिए संघ तो इसी पर अपनी सारी शक्ति केन्द्रित करेगा। किन्तु संघ से प्रेरणा और संस्कार प्राप्त किए हुए स्वयंसेवक

अपनी रुचि, प्रकृति, प्रवृत्ति के अनुसार राष्ट्रजीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रवेश करेंगे और अपने-अपने क्षेत्र में संघ द्वारा बताये हुए पथ्य तथा निषेधों का पालन करते हुए, उपयुक्त कार्यों की रचना तथा विचारों का विकास करेंगे। इस प्रकार राष्ट्र के पुनर्निर्माण का कार्य सम्पन्न होगा। मानो एक तरह से यह श्रम-विभाजन है। संघ स्वयंसेवकों का निर्माण करेगा, स्वयंसेवक विविध कार्यों तथा विचारों का विकास करेंगे। यह करते समय बरतने की सावधानियां, पालन करने के पथ्य, विविध कार्यों के आनुपातिक महत्त्व की प्रमाणबद्धता (Sense of proportion) तथा प्राथमिक-क्रम (Order of priorities) आदि सभी बातों पर सूक्ष्मता से दूरदर्शी विचार करते हुए राष्ट्र-पुनर्निर्माण की संघ की सर्वंकष योजना (All out scheme) सोची गई। योजना सर्वसमावेशक है, किन्तु साथ ही यह भी आग्रहपूर्वक कहा गया कि इसका मूलाधार शाखा ही है। इन सभी कार्यों की रचना पिरामिड के समान रहनी चाहिए। पिरामिड में चूना, सीमेन्ट आदि का उपयोग नहीं किया गया। केवल बड़े-बड़े पत्थर एक के ऊपर एक रखकर पिरामिड बनाए गए। फिर भी वे ३-४ हजार वर्षों से वैसे के वैसे खड़े हैं। इसका रहस्य क्या है ? इसका रहस्य है उनका पहला स्तर सबसे विस्तृत होना, दूसरा उससे छोटा, तीसरा दूसरे से छोटा और चौथा तीसरे से छोटा, इस तरकीब से सारे पत्थर एक दूसरे पर जमाकर (Standing) रखे गए हैं। यदि कोई व्यक्ति सोचे कि मैं उल्टा पिरामिड (Inverted Pyramid) बनाऊंगा, जिसका पहला स्तर सबसे छोटा होगा और ऊपर का स्तर उत्तरोत्तर अधिकाधिक विस्तृत होने वाला होगा, तो ऐसा पिरामिड बनते-बनते ही गिर जायेगा। संघ-सृष्टि के पिरामिड का पहला आधारभूत स्तर यानी शाखा है। यह स्तर छोटा रहा और इसके ऊपर के विभिन्न संस्थानों के स्तर उत्तरोत्तर अधिकाधिक विस्तृत बनने वाले रहे तो इस सृष्टि का यह पिरामिड बनते-बनते ही टूट जायेगा, सारे पत्थर गिर जाएंगे। योजना सर्वंकष है, किन्तु क्रियान्वयन का मूलाधार केन्द्र-बिन्दु, शाखा है। जिस तरह संघ-दर्शन का केन्द्र-बिन्दु 'हिन्दू राष्ट्र' है, बिना हिन्दू राष्ट्र के संघ-दर्शन अर्थात् बिना प्रिन्स ऑफ डेन्मार्क के 'हम्लेट' नाटक, वैसे ही संघ-योजना का केन्द्र-बिन्दु शाखा है, बिना शाखा के संघ-योजना अर्थात् बिना छेना के रसगुल्ला या बगैर पौरुष के पुरुष।

औषधि कितनी भी गुणकारी क्यों न हो, उसके साथ बताए हुए पथ्यों का पालन नहीं किया तो उसकी गुणकारिता कम हो जाती है। संघ की कार्यपद्धति की भी बात ऐसी ही है। इसकी परिणाम-कारकता इस बात पर अवलम्बित है कि स्वयंसेवक पथ्यों का पालन कहां तक करते हैं। पथ्यों का पालन दो कारणों से कठिन हो जाता है। एक, मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियां। इसके कारण स्वतंत्रतापूर्व काल में भी कठिनाइयां आती थीं। दूसरा, स्वातंत्र्योत्तर कालखण्ड में सार्वजनिक जीवन में निर्माण हुए विशेष कीटाणु, जिनके संस्पर्श से खुद को बचाना अच्छे-अच्छे लोगों के लिए भी दुष्कर हो जाता है। जहां गलत जीवन-मूल्य, गलत प्रतिष्ठानिकष, ध्येयवादिता का ह्रास, व्यक्तिवाद का बोलबाला, सस्ती लोकप्रियता की होड़, तात्कालिक व्यक्तिगत लाभ के लिए चिरकालीन राष्ट्रीय क्षति को स्वीकार करने की प्रवृत्ति, प्रत्यक्ष कार्यविरहित प्रसिद्धि प्राप्त करने की प्रवृत्ति आदि कई बातों के कारण देश के सार्वजनिक जीवन में विषैला वायुमण्डल फैल गया हो वहां सही व्यवहार करने वालों

को व्यवहार-शून्य पागल कहा जाता है। किन्तु हर एक गलत बात के दुष्परिणाम आगे चलकर भुगतने ही पड़ते हैं। तत्काल तो उससे लाभ ही लाभ दिखाई देता है।

ऐसी सभी वर्तमान तथा संभाव्य बातों का दूरदृष्टि से विचार करते हुएं उनके बारे में स्वयंसेवकों को सचेत करने का काम सन् १९२५ में ही प्रारम्भ हुआ था और अभी वह चल ही रहा है।

वैसे तो अपने आचार, व्यवहार तथा जीवन-पद्धति से पूजनीय डाक्टरजी द्वारा उपस्थित किए हुए आदर्श उनके जन्म-शताब्दी वर्ष (१९८९) में पर्याप्त मात्रा में सबके ध्यान में आए हैं। उदाहरणार्थ, यह सब जानते हैं कि विशुद्ध प्रेम के कारण पूज्य डाक्टरजी लोगों के सुख दुख के साथ एकात्म हो जाते थे। व्यक्ति-जीवन तथा पारिवारिक जीवन में कुछ प्रसंग भौतिक महत्त्व रखते हैं। जैसे पुत्र-जन्म, नामकरण विधि, उपनयन, परीक्षा के लिए जाने का समय, परीक्षा पास होना या पास न होना, प्रथम वर्ग का डिस्टिंक्शन प्राप्त होना, बीमारी-रुग्णावस्था, अपघात (Accident) विवाह, मृत्यु, शवयात्रा, तेरहवीं, मासिक श्राद्ध, शिशु का नर्सरी में प्रथम प्रवेश, हाई स्कूल या कालेज में प्रथम प्रवेश, छात्रावास में रहने या स्वतन्त्र कमरा लेकर रहने का प्रारम्भिक दिन, ऐसे कुछ व्यक्ति-परिवार में किसी के बीमार होने के कारण जिनको रात-रात जागरण करना पड़ रहा है, दुर्घटना के कारण जो शोकाकुल हैं, शारीरिक अक्षमता, मंदबुद्धि या मानसिक रुग्णावस्था के कारण जो सार्वजनिक उपहास का विषय बने हैं, दुर्लक्षित तथा उपेक्षित या जिनके मन में यह भावना है कि "हम दुर्लक्षित, उपेक्षित हैं", समाज के दुर्बल घटक या ऐसे घटक जो स्वयं अपने को दुर्बल मानते हैं— इस प्रकार के सभी प्रसंगों में और सभी व्यक्तियों को डाक्टर जी के हार्दिक प्रेम का अनुभव आता था। उनका सम्पूर्ण जीवन इस प्रकार के नानाविध आदर्श प्रस्तुत करने वाला था। किन्तु इसके अलावा भी कार्यपद्धति तथा कार्य की दृष्टि से संभाव्य गलतियों के विषय में स्वयंसेवकों को पहले से ही सावधान करने का कार्य भी उन्होंने दूरदर्शितापूर्वक प्रारम्भ से किया।

केशव उवाच :

- किसी भी परिस्थिति की चिंता न करते हुए कम से कम एक स्थान पर प्रतिदिन इकट्ठा होने के कार्यक्रम पर बल दिया जाए।

- Sangh does not take part in day-to-day politics.
(संघ दिन-प्रतिदिन की प्रचलित राजनीति में भाग नहीं लेता है)

- शिशुओं का गणप्रमुख त्यागी होना चाहिए। शिशुओं को खिलाना सरल काम नहीं है। उन्हें खिलाते-खिलाते कभी-कभी नीरसपन एवं ऊब आने लगती है। किन्तु ये उबाने वाले काम राष्ट्र

के लिए करने ही पड़ते हैं। आज के नेतागण ये काम नहीं करते। राष्ट्रीय संगठन का काम अत्यन्त कष्ट और कसाले का है। परन्तु उसमें से ही तेज निर्माण होता है। नागपुर की शाखा में पहले जो शिशु आते थे वे ही आज उत्साही तरुण कार्यकर्ता बनकर कार्य कर रहे हैं। इसी प्रकार आज के बाल स्वयंसेवक हमारी भावी शक्ति हैं। .... बाल स्वयंसेवकों के कारण ही आज संघ की शोभा है।

- स्वयंसेवक-वृद्धि की कला हमें अवगत कर लेनी चाहिए तथा कोई भी बात अभ्यास से सिद्ध हो सकती है।

- हमारा आग्रह लेखन, भाषण, प्रकाशन आदि पर न होकर सब का-सब बल कार्य करने पर है।

- हमें जो सफलता मिली है वह स्वयंसेवकों की निष्ठा और अध्यवसाय के बल पर है, समाचार-पत्रों द्वारा यह कार्य नहीं हो सकता था।

- लाखों लोगों को सुसम्बद्ध रूप से संग्रह करने वालों के लिए श्री समर्थ रामदास द्वारा ग्रंथित संगठन के सूत्र व्यवहार में अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

- काम बढ़ाओ अन्यथा विशाल कार्यालय बना दोगे और उसमें अंग्रेज ठाठ के साथ अपनी कचहरी लगाकर बैठेंगे।

- संघ केवल शब्दों का खेल न होकर एक आचरणीय जीवन पद्धति है तथा मन और तन को उस पद्धति की आदत लगाने के लिए संघ के दिन-प्रतिदिन के कार्यक्रम अत्यन्त प्रभावी साधन हैं।

- लोगों की मनोवृत्ति पर परिणाम करने के लिए समाचार-पत्रों का थोड़ा-बहुत उपयोग अवश्य है, किन्तु एक टिकाऊ एवं अनुशासनपूर्ण संगठन निर्माण करने में उनका कोई उपयोग एवं महत्त्व नहीं है। इसके लिए तो स्वयंसेवकों को नित्य एकत्र करके खेल-कूद लाठी-काठी, संचलन, गीत, बौद्धिक और प्रार्थना द्वारा संस्कार करने वाले कार्यक्रम ही प्रभावी होते हैं।

- मेरी इच्छा सफेद को काला न करते हुए हिन्दुओं का अभेद्य एवं अजेय संगठन निर्माण करने की है।

- निरंतर बढ़ने वाला प्रत्यक्ष कार्य ही बिना कारण आघात करने वालों को सही उत्तर होता है।

- सत्याग्रह में जो लोग भाग लेना चाहते हैं वे व्यक्तिगतरूप से भाग ले सकते हैं।

- आपने जिन व्याख्याताओं की योजना की है वे बहुत तरुण हैं। सार्वजनिक क्षेत्र में भाषण देने की चाह अभी से लग जाना उनके लिए ठीक नहीं होगा। यह हो गया तो उनकी मनोवृत्ति में अपनी दृष्टि से अवांछनीय परिवर्तन हो सकता है।

- आपके यहां के समाचारपत्रों में संघ के विरुद्ध उठा हुआ तूफान हम सबके लिए खूब विनोद का विषय बन गया है। हमारे मन पर इन बातों का कोई परिणाम नहीं होता। आप इस विषय में निःशंक रहें। किन्तु आप इस बात की चिन्ता अवश्य करें कि इस प्रकार के अपप्रचार से आपके यहां के कार्य को किसी प्रकार का धक्का न लगने पाए। इस प्रकार की वार्ता से अपने कार्य की निश्चित वृद्धि होगी, इसमें कतई शंका नहीं है।

- इस तरह प्रसिद्धि हुई तो कार्य के प्रथमारम्भ में ही तरह-तरह के विघ्न आएंगे। इस कारण हमें अपने कार्यारम्भ में ही प्रसिद्धि नहीं चाहिए। लोगों के सामने दृश्य स्वरूप कार्य आता है तो अपने आप उसकी प्रसिद्धि होती है और वह संगठन के लिए हितकारक हुआ करती है।

- इसमें कतई शंका नहीं कि (आप निकाल रहे) इस पत्र के द्वारा सदैव अपनी ही विचार-सरणी का प्रतिपादन होगा। किन्तु संघ पर विभिन्न लोगों द्वारा किए जाने वाले आरोप तथा उनके उत्तर-प्रत्युत्तर के झगड़े में आप बिल्कुल न पड़ें। आजकल आपके यहां के पत्रों में संघ पर अनेक प्रकार के झूठे आरोप पढ़ने को मिलते हैं। ये आरोप चाहे समाचारपत्रों में हों अथवा सार्वजनिक सभाओं में, हमें उनका उत्तर न देते हुए उनकी ओर पूर्णतः दुर्लक्ष्य करना चाहिए।

- मान लीजिये किसी घर में आग लगने पर कुछ व्यक्ति घर के आदमियों को बचाने की कोशिश कर रहे हैं, उस समय यदि कोई कहने लगे कि "बरामदे की बल्ली में भी आग लगी है, यदि आप उसे नहीं बचा सकते तो आपके प्रयत्नों का क्या उपयोग ? तो उसका यह कहना ठीक होगा क्या ? आज देश की ऐसी ही स्थिति है। संघ ने समाज जागरण का कार्य अपने हाथ में लिया है। जिन्हें दूसरे भाग जलते हुए दिख रहे हैं तथा उनके सम्बन्ध में उनके मन में वेदना है तो वे अवश्य काम करें, किन्तु संगठित समाज निर्माण होने तक संघ ही सब कुछ करेगा, ऐसी अपेक्षा किसी को नहीं रखनी चाहिए। हम वह स्थिति निर्माण करने के लिए प्रयत्नशील हैं कि जिसके बाद 'संघ क्या करेगा' यह प्रश्न पूछने की आवश्यकता न रह जाये।

- क्षणमात्र के लिए उत्साहवर्धक तथा तात्कालिक वीरता प्रगट करने वाले कार्यक्रम से संघ अलिप्त रहे, क्योंकि उनसे संगठन की मजबूती को धक्का लग सकता है।

- संघ का प्रत्येक अधिकारी संघ की सम्पूर्ण शिक्षा का तज्ञ होना चाहिए।

- स्वयंसेवक के जीवन में यदि कोई हर्ष का प्रसंग उपस्थित हो तो उसका परिणाम संघ-कार्य की वृद्धि में होना चाहिए।

- राष्ट्र-सेवा में लीन व्यक्ति में यदि प्रसिद्धि की कामना जग गई तो फिर उसकी दृष्टि सेवा से हट जाती है।

- देश की सर्वांगीण उन्नति के लिए आत्मीयता से अपना सार-सर्वस्व अर्पण करने के लिए सिद्ध नेता को हम स्वयंसेवक समझते हैं तथा संघ का लक्ष्य इस प्रकार के स्वयंसेवकों के निर्माण का है। इस संगठन में स्वयंसेवक और नेता में भेद नहीं है। हम सभी स्वयंसेवक हैं, यह जानकर ही एक-दूसरे को समान समझते हैं तथा सबसे समान रूप से प्रेम करते हैं। हम किसी प्रकार के भेद को प्रश्रय नहीं देते। धन तथा अन्य साधनों का आधार न होते हुए भी संघ कार्य की इतने थोड़े समय में इतनी वृद्धि का यही रहस्य है।

- संघ बन्द करना सरकार के लिए संभव नहीं। सरकार संघ बन्द नहीं कर सकती, क्योंकि यह तो अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना ही होगा। जिस दिन सरकार संघ को गैर-कानूनी बताकर बन्द करेगी उसी दिन नागपुर में दो सौ शाखाएं हो जाएंगी। संघ में जितने स्वयंसेवक हैं उतनी ही शाखाएं संघ बन्द करने के बाद निर्माण होंगी। मैंने यह सब सभी स्वयंसेवकों के भरोसे, उनके कर्तृत्व पर विश्वास रखकर कहा है।

- काशी विश्वेश्वर के पास मस्जिद तथा गंगा के घाट पर मीनार क्यों खड़ी है? हिन्दू मन में तो यह प्रश्न ही नहीं पैदा होता और न उसकी पीड़ा ही उसे अनुभव होती है। मत भूलिये कि संघ इस अवस्था को बदलना चाहता है।

- सस्ती लोकप्रियता के पीछे लगकर लोकमत के प्रवाह में बहते जाना सरल है, किन्तु सच्चे नेता का काम तो यह है कि यदि स्वतः की सद्विवेक बुद्धि को लोकमत की बात नहीं जंचे तो लोकमत के प्रवाह के विरुद्ध खड़ा रहकर भी अपना मत छाती ठोंककर जनता के सामने रखे। प्रवाह के साथ-साथ बहना नेता का नहीं, अनुयायी का लक्षण है। सच्चा नेता तो वह है जो अपने मत के अनुसार परिस्थिति को बदलकर लोकमत को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। नेतृत्व की कसौटी लोकमतानुवर्तित्व नहीं, लोकनियंत्रण है। अवसर पड़ने पर लोकमत के विरुद्ध जाने में भी न हिचकना ही सत्यनिष्ठा है।

- संघ ने चालू आन्दोलन में भाग लेने का निर्णय अभी नहीं किया है। व्यक्तिशः जिस किसी को भाग लेना हो उसे अपने संघचालक की अनुमति से भाग लेने में कोई प्रतिवाद नहीं है। संघ के कार्य के लिए जो रीति पोषक हो ऐसी नीति से ही वह कार्य करें।

- संघ की स्थापना से जनवरी, १९३० तक और तब से आज तक का सब हिसाब, इस प्रकार जांचकर ठीक-ठीक तैयार करना कि कोई भी आलोचक उसमें दोष न निकाल सके। कारण इसके आगे इस व्यवस्थितता की अत्यन्त आवश्यकता है।

- परन्तु मेरे इस काम के लिए अयोग्य होने के कारण मुझसे संघ का नुकसान होता है ऐसा यदि आपको लगे तो दूसरा योग्य मनुष्य इस स्थान के लिए ढूंढ निकालिए। आपकी आज्ञा से जितने आनन्द के साथ मैंने यह पद स्वीकार किया है उतने ही आनन्द से आपके द्वारा नियोजित व्यक्ति के हाथ में सब अधिकार- सूत्र देकर उसी क्षण से उसके आज्ञापालक स्वयंसेवक के नाते चलूंगा।

कारण, मेरे लिए अपने व्यक्तित्व का मूल्य नहीं, संघ कार्य का मूल्य है, और संघ के हित के लिए कोई भी बात करने में मुझे किसी भी प्रकार का अपमान कभी प्रतीत नहीं होगा।

संघचालक की आज्ञा का किसी भी परिस्थिति में स्वयंसेवक के द्वारा बिना-ननु-नच किये पालन होना आवश्यक है तथा 'नाक से भारी नथ' वाली स्थिति संघ में कभी न उत्पन्न होने देने में ही संघकार्य का रहस्य है।

अतः स्वतः वह आज्ञापालन करना तथा दूसरे स्वयंसेवक से भी उसका पालन करवाना, प्रत्येक स्वयंसेवक का कर्तव्य है।

- राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ "किसी भी व्यक्ति को गुरु न मानकर परम पवित्र भगवद्ध्वज को ही गुरु मानता है। व्यक्ति कितना भी महान हो फिर भी उसमें अपूर्णता रह सकती है। इसके अतिरिक्त यह नहीं कहा जा सकता कि व्यक्ति सदैव ही अडिग रहेगा। तत्त्व सदा अटल रहता है। उस तत्त्व का प्रतीक भगवाध्वज भी अटल है।"

- बताया हुआ काम करने के लिए हुआ करता है, उसका ढोल पीटने के लिए नहीं। यह कभी नहीं सोचना चाहिए कि यदि अकेले मैंने काम से जी चुराया तो कौन सा बड़ा बिगड़ने वाला है। यह काम की सही पद्धति नहीं है।

केवल उदाहरण के नाते डाक्टरजी के ये वचन यहां उद्धृत किए हैं। वैसे तो उनके मुख से निकलने वाला हर एक शब्द और शरीर द्वारा होने वाली हर एक क्रिया स्वयंसेवक का मार्ग दर्शन करने वाली थी कि हर क्षण किस- किस पथ्य का पालन करना कार्य-सिद्धि के लिए आवश्यक है।

* * * * *

पूजनीय डाक्टरजी ने २१ जून, १९४० के पश्चात् श्रीगुरुजी के रूप में अपना अभीष्ट कार्य आगे बढ़ाया।

दोनों के परस्पर संबंधों की कल्पना संत ज्ञानेश्वर के इन शब्दों में दी जा सकती है—

"हृदया हृदय एक जाले। ये हृदयींचे ते हृदयीं घातले।
द्वैत न मोडितांकेलें। आपना जैसे से अर्जुना॥"

हृदय से हृदय एक हुआ। इस हृदय को उस हृदय में डाला।
द्वैत न मोड़ते हुए, किया अपने जैसा अर्जुन को॥

माधव उवाच :

* राष्ट्र पुनर्निर्माण की पूर्व नियोजित सर्वंकष योजना का जैसे-जैसे समयानुकूल उत्तरोत्तर उन्मीलन होने लगा वैसे-वैसे नवनवीन परिस्थितियों में मूल योजना तथा उसके लिए आधारभूत कार्यपद्धति का स्वरूप पूर्ववत् अक्षुण्ण रहे, मनुष्य स्वभाव सुलभ दोषों से अस्पृश्य रहे, इस हेतु पूर्व चिंतित पथ्यों का जो नवनवीन विवेचन श्रीगुरुजी को करना पड़ा, उसका पूरा विवरण यहां सम्भव नहीं, अपेक्षित भी नहीं है। नमूने के तौर पर कुछ बातों को यहां रखना पर्याप्त होगा। मनु महर्षि ने कहा है कि प्राकृतिक दुर्बलताओं के वशीभूत होकर मनुष्य स्वभाविक रूप से व्यवहार करता है।

प्रवृत्तिरेषा भूतानाम् –निवृत्तिस्तु महाफला॥

इस कारण निवृत्ति के पथ्यों के विषय में बार-बार चेतावनी देनी पड़ती है।

* भले ही कुछ लोग अलग-अलग पार्टियों में हों, क्या वह लोग हिन्दू नहीं हैं? हां, वे अवश्य हिन्दू हैं, अतएव हमें उनसे मिलना ही होगा। सब लोगों को अपना बनाना ही तो हमारा धर्म है।

* अभी कुछ दिन पूर्व हम लोगों ने जनसंपर्क किया। जनसंपर्क का कार्यक्रम अल्पमात्रा में हुआ। विचार करना चाहिए कि किसी समय जनसंपर्क करने के लिए हमें विशेष रूप से प्रयत्न करने की आवश्यकता क्यों पड़ती है? अपना नित्य का जनसंपर्क नहीं होता, इसलिए। नित्य का सम्पर्क रहना चाहिए, यह अपने कार्य का स्वरूप है।

अभियान (कॅम्पेन) शब्द मुझे कभी अच्छा नहीं लगा। कॅम्पेन यानी तात्कालिक (टेम्परेरी) यानी

थोड़े समय के लिए चलाना और फिर उसे भुला देना। हमें जनता का सम्पर्क जीता-जागता, नित्य के लिए बनाकर रखना है। अभियान अपने लिए उपयोगी नहीं है।

हां, यदि विवेकानन्द शिला-स्मारक जैसे अवसर पर धन इकट्ठा करने के लिए थोड़ा अभियान है, तो ठीक है, क्योंकि वह नित्य कार्य नहीं है। वहअनित्य है। पर संघ कार्य, संघ का जनसंपर्क कार्य तो नित्य है। इसलिए वहां अभियान की भावना रखनी ही नहीं चाहिए।

तात्कालिक हेतु को लेकर काम करना (अभियान इत्यादि) मुझे पसन्द नहीं, किसी तात्कालिक हेतु का, संघ के नित्य कार्य से कोई मेल नहीं।

किसी तात्कालिक हेतु को लेकर जैसे-जैसे काम होता है, वैसे-वैसे मनुष्य स्वयं को एक छोटी-सी दीवार के अन्दर बंद करने लगता है। यानी कार्य का पंथ बनने लग जाता है। फिर बाहर देखने की, समाज के अन्दर अन्य लोगों की ओर देखने की प्रवृत्ति कम होती है। .... अपना तो संगठन है। अपना कोई पंथ नहीं, सम्प्रदाय नहीं।

* प्रतिदिन शाखा में जाना, यह तो अपने यहां एक 'मिनिमम लेव्हल' (न्यूनतम स्तर) के रूप में रखा गया है। मिनिमम लेव्हल न छोड़ते हुए अपने यथार्थ गुणों का उपयोग संघ के लिए करना है। शास्त्र में दो प्रकार के कार्य बताए गये हैं। एक, नित्य कर्म और दूसरा, नैमित्तिक कर्म। यदि कोई कहे कि नैमित्तिक कर्म मैं कर सकता हूं, नित्य कर्म नहीं, तो यह धारणा हानिकारक होगी।

* संघ के कार्य का अन्यान्य क्षेत्र के कार्य से वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान ने अपना सम्बन्ध चराचर सृष्टि से बताया है। ....समझने के लिए यह जरा जटिल बात है। इसी प्रकार का अपना भी संबंध विभिन्न कार्यों से है कि इसमें से हम किसी में नहीं और वे हमारे में नहीं। इस आधार पर हमारी उनसे अपेक्षा क्या है ? संघ के कार्य, सिद्धान्त, अनुशासन, सुव्यवस्था, ध्येयवाद आदि भावों की इन विभिन्न क्षेत्रों में अभिव्यक्ति होती रहे, यह अपेक्षा है। अपने-अपने क्षेत्र को संघकार्य के लिए भर्ती का क्षेत्र 'रिक्रूटिंग ग्राउन्ड' बनाएं। उनका संघकार्य के पोषण एवं अभिवृद्धि की दृष्टि से उपयोग करें।

* सर्वसाधारण नियम है कि जो अत्यंत प्रिय और आवश्यक मूल्यवान वस्तु हमें लेनी है उसके लिए जो कुछ मूल्य देना होता है उसे हम सर्वप्रथम स्थान देते हैं और फिर बचे हुए धन में से अपनी अन्य कम आवश्यकता की वस्तुओं का क्रय करते हैं। अपने सामने जीवन की सर्वशक्ति लगाकर जिस लक्ष्य को प्राप्त करना है वह संघकार्य है। उसके लिए अपनी सर्वशक्ति लगाने की अपनी सिद्धता चाहिए।

* समाज संगठित करने के लिए उसके (शाखा के) दृढ़ आधार पर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अपने विभिन्न गुणों का उपयोग करूंगा यह विचार हर एक स्वयंसेवक के मन में दृढ़ करना और उसको प्रोत्साहित करना आवश्यक है ।

* अन्य क्षेत्रों में काम करते समय पालन करने के तीन पथ्य हैं—

  १. अपने क्षेत्र में कार्य की रचना तथा विचारों का विकास संघ के सिद्धान्तों-आदर्शों के प्रकाश में हो ।

  २. संघ में सिखाई हुई रीति-नीति और पद्धति को अपने-अपने क्षेत्र में प्रविष्ट किया जाए ।

  ३. सामान्य स्वयंसेवक की तुलना में अधिक तत्परता से दैनंदिन नित्य शाखा से सम्पर्क रखा जाए ।

* संघ के स्वयंसेवक के नाते से विभिन्न क्षेत्र में काम करने वाले हम सभी के विचारों, भावनाओं एवं श्रद्धा का अधिष्ठान भी अधिक बलिष्ठ बना रहना चाहिए ।

* एक ही राष्ट्र के लिए परन्तु विभिन्न क्षेत्र में काम करने वाले हम लोगों को एक-दूसरे के साथ मेल करके चलना है तथा एक राष्ट्रत्व का बोध अपने हृदय में जाग्रत रखना है । अपने विभिन्न कार्यक्रमों द्वारा अपने साथ जो-जो लोग आते हैं उनको राष्ट्र-भक्ति का योग्य संस्कार देने के लिए अपने संघ कार्य की ओर आकृष्ट करना अपना धर्म है । लोगों के मन में किसी प्रकार की अन्यथा भावना उठने न देते हुए यह कार्य कुशलता से धीरे-धीरे करना है ।

* किसी बड़े परिवार के कुछ युवक अनेक क्षेत्रों में यदि काम करने के लिए जाएं, तो उनका कर्तव्य है कि अपने खर्च मात्र के लिए घर से पैसा मंगवाकर अपने पराक्रम से अधिकाधिक मात्रा में सम्पत्ति, समृद्धि व सम्मान प्राप्त करें, उसके द्वारा अपने कुल की प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य वृद्धि, श्रेष्ठत्व तथा प्रभाव बढ़ाएं । उसी प्रकार हम लोग भी विभिन्न प्रकार से चलने वाले इन कामों के विषय में सोचें कि अपना मूल-कुल 'संघ' है । उसकी सभी प्रकार से उन्नति होने के लिए जिस-जिस क्षेत्र में काम करेंगे, उस-उस क्षेत्र का उपयोग करते हुए अपने इस संघ-कार्य को समृद्ध करेंगे । इस कार्य का ही सब प्रकार से विस्तार और प्रभाव बढ़ाएंगे ।

* हम स्वयंसेवक हैं । जिस प्रकार कहीं भी रखे गए अंगारे अपने आसपास ऊष्णता फैलाते हैं, उसी प्रकार एक-एक अग्निपुंज के समान अपना प्रत्येक स्वयंसेवक हर क्षेत्र में जाकर अपने गुण, अपनी तेजस्विता, अपने व्यवहार-माधुर्य से प्रभाव उत्पन्न करने वाला चाहिए, अपने चारों ओर संघ के लिए योग्य वायुमण्डल तथा अत्यन्त श्रद्धा का भाव उत्पन्न करने वाला चाहिए । इसके विपरीत

यदि अन्य क्षेत्रों में पाई जाने वाली कई प्रकार की न्यूनताओं को हमने अपने अंदर आने दिया और वहां दिखाई देने वाली व्यक्तिगत ईर्ष्या और स्पर्धा का स्वयं को शिकार बनने दिया तो कहना पड़ेगा कि स्वयंसेवक का कर्तव्य हमने नहीं निभाया।

* यदि अन्य क्षेत्रों के वर्तमान गुणावगुणों को लेकर हम चलें तथा सोचने लगें कि संघ से अपना कोई सम्बन्ध नहीं, तब तो स्वयंसेवक के नाते किसी अन्य कार्य में जाना कदापि उपयोगी नहीं होगा।

* इसलिए अपने विभिन्न कार्यों में भी अपने मन का पूर्ण संतुलन रखकर मूलकार्य के प्रति अटूट श्रद्धा रखते हुए उन भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के कार्य का हम अपने इस मूल कार्य के परिपोषण के लिए अधिकाधिक मात्रा में उपयोग करें।

* अपने कुछ मित्रों से कहा कि राजनीति में काम करो। इसका अर्थ यह नहीं कि उन्हें उसके लिए बड़ी रुचि या प्रेरणा है। यदि उन्हें राजनीति से वापस आने को कहा तो उसमें उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी। अपने को गंदगी उठाने को कहा तो गंदगी उठाना चाहिए। उसी में संघकार्य होगा। जहां रख दिया जाए वहीं काम करना चाहिए— "विदाउट रिजर्वेशन"। तभी कार्य करने की पात्रता उत्पन्न होती है।

* अपने कुछ स्वयंसेवक राजनीति में काम करते हैं। उन्हें कार्य की आवश्यकता के अनुरूप जलसे-जुलूस आदि करने पड़ते हैं। इन सब बातों का हमारे काम में कोई स्थान नहीं है। परन्तु नाटक के पात्र के समान जो भूमिका ली— उसका योग्य निर्वाह तो करना ही चाहिए। किन्तु इस नाटक की भूमिका से आगे बढ़कर कभी-कभी लोगों के मन में उसका अभिनिवेश उत्पन्न हो जाता है। यहां तक कि फिर इस कार्य में आने के लिए वे अपात्र सिद्ध हो जाते हैं। यह तो ठीक नहीं।

* संघ के अतिरिक्त अन्यत्र कार्य करने वालों की दिशा में मोड़ उत्पन्न न हो, सिद्धान्तों में भी ढीलापन न आए तथा राष्ट्रीय विचारों की तीव्रता किंचित भी कम न हो, यह अत्यन्त आवश्यक है।

* समग्र समाज को अपने स्नेह के, आत्मीयता के, ध्येयवाद के नियन्त्रण में अपने साथ लेकर चलने वाला प्रबल, संगठित, सामर्थ्यशाली हिन्दू समाज यदि राष्ट्रव्यापी बनकर खड़ा रहा तो राजसत्ता नियंत्रित रहेगी। चाहे कोई भी दल राजसत्ता पर बैठे, परन्तु सबको प्रणाम यहीं करना होगा, जहां समाज की निस्स्वार्थ सेवा मूर्तिमंत प्रकट हुई है। ऐसी स्थिति उत्पन्न करना है।

* तात्कालिक चुनावों की सफलता कार्य का मापदण्ड नहीं है। वास्तविक रूप से जनसाधारण के विचार परिवर्तन, उनका स्थाई होना, सच्चाई से विचारों पर दृढ़ रहना, 'राष्ट्रीय' चारित्र्य युक्त होने

के फलस्वरूप सामयिक भावनाओं की लहरों में न बहने की शक्ति रहना आदि बातों में कितनी सफलता मिली है, यही विचारणीय है, ऐसा मुझे लगता है।'

* अन्य यूनियन के कुशल कार्यकर्ताओं से आत्मीयता के सम्बन्ध प्रस्थापित करो।

* कांग्रेसी आदि नामों से प्रसिद्ध अपने बन्धुओं को अपनाकर नगरपालिका में पूर्ण सहयोग का वातावरण निर्माण करें।

* राजनीति में रुचि लेने वालों या उसके अनुकूल विचार करने वालों की अपेक्षा अपना अनादिकाल से चलता आ रहा समाज जीवन और उसके आदर्शों को अपनाकर अपनी संस्कृति को जीवन में चरितार्थ करने वाले और इसी दृष्टिकोण को जनसाधारण के पास योग्य शब्दों में पहुंचाने की कामना करने वाले पुरुषों की संघ को अधिक आवश्यकता है।

* 'सिख और हिन्दू' भेदभाव निर्माण करने वाले शब्द प्रयोगों का सर्वथा त्याग कर 'हिन्दू' शब्द में शैव, वैष्णावादि, जैन, बौद्ध, सिख, आर्यसमाज आदि सबका अन्तर्भाव है, इस तथ्य के अनुरूप ही बोलने-लिखने से सत्यानुकूल बरतने की दक्षता अपने सब कार्य करने वाले महानुभाव व्यवहृत करें।

* नये कार्य में कभी-कभी स्वार्थपरता, अहंकार, बड़प्पन की चाह, स्पर्धा इत्यादि अवगुण, अन्य सबको हीन मानकर उनकी खिल्ली उड़ाने की अनिष्ट प्रवृत्ति आदि बातें पैदा होती हैं। स्वपक्ष का मंडन, दूसरों का खंडन आदि करते समय अनेक बार अपने अनजाने में ये सब ऐसे अनेक अवगुण हृदय में प्रवेश करके बढ़ने लगते हैं। तथापि आपके पूर्वायुष्य का संस्कार-निर्माण तथा दृढ़ीकरण की योजना से आपका नित्य नियमित दैनिक सम्पर्क रहने से आप सुरक्षित रहकर कार्यकर्ताओं का आचरण और आदर्श सार्वजनिक समझे जाने वाले कामों में भी कैसा शुद्ध रहता है, यह आप अपने व्यवहार से सिद्ध करेंगे, यह मुझे विश्वास है।

* परस्पर के दोषदर्शन की प्रवृत्ति स्वभाव सुलभ है, परन्तु कार्य-पोषक नहीं। जो विषय मुझे सूचित किया गया है, वह योग्य दायित्व के साथ संबंधित काम करने वाले कार्यकर्ताओं के सामने खुले मन से, कटुता-वैमनस्य आदि निर्माण नहीं होगा, इस ढंग से रखा जाता, तो ठीक होता। संबंधित कार्यकर्ताओं को जान-बूझकर टालकर व्यवहार करने की प्रवृत्ति भी स्वाभाविक हो तो भी कार्य विघातक हो सकती है, यह नित्य ध्यान रखें।

* ग्रीष्म के परिणामस्वरूप कुछ स्थानों की शाखाएं बन्द पड़ जाती हैं, ऐसा पुराना अनुभव है। परन्तु इसका विशेष विचार किसी ने नहीं किया है। ....इसलिए अभी से ध्यान रखकर ग्रीष्मकाल में

ही नहीं, तो निरन्तर शाखाओं का दायित्व संभाल सकने वाले स्वयंसेवक बंधु स्थान-स्थान पर रहेंगे, ऐसा करना आवश्यक प्रतीत होता है।

* जो उद्देश्य हम प्राप्त करना चाहते हैं उसे हम राजनीति द्वारा अथवा सत्ता के द्वारा पा सकेंगे ऐसा संभ्रम हमारे मन में थोड़ा भी न रहे। अपना कार्य राजनीति को उच्छृंखल न होने देने के लिए उस पर अंकुश रखने वाली शक्ति के निर्माण का कार्य है। परन्तु उसके लिए शर्त यह है कि हम अपने कार्य को खूब बढ़ाएं और हम सब अपने निजी गुणों का उपयोग कार्य-वृद्धि में करें। और अभिमान रहे कार्य की श्रेष्ठता का, न कि अपने व्यक्तिगत गुणों का।

* I have had to write this because on my way I had a very unpleasant experience. But at Vindhyachala station, there was such shouting of 'JAI' and other exuberance of undisciplined enthusiasm that I did not feel quite happy and our worker in that district Shri... was visibly affected by the whole affairs. He could not possibly control it. Anyway, we have to gradually guide people's love and enthusiasm into proper channels. No use getting merely upset or annoyed, workers concerned may be intimated about this.

(मुझे यह इसलिए लिखना पड़ा क्योंकि रास्ते में मुझे एक बहुत ही अप्रिय अनुभव हुआ था। विन्ध्याचल स्टेशन पर "जय" के जोर से नारे लगे, शोरगुल हुआ तथा अनुशासनहीन उत्साह कुछ इस प्रकार फूट पड़ा कि मुझे यह देखकर प्रसन्नता नहीं हुई और उस जिले में हमारे कार्यकर्ता श्री ....पर भी पूरे मामले का असर पड़ा, जो उनके चेहरे पर देखा जा सकता था। संभवतः वे यह सब नियंत्रित नहीं कर पाए। बहरहाल, हमें लोगों के प्रेम और उत्साह को धीरे-धीरे उचित स्वरूप में ढालना चाहिए। सिर्फ परेशान होने या गुस्सा करने से कोई लाभ नहीं है। हां, सम्बन्धित कार्यकर्ताओं को इस बारे में बता देना चाहिए।)

* ....As you know my frame of mind, I would prefer to remain a small stone dug and pressed in the foundation of our great national edifice.

(...जैसा कि आप मेरी मन-स्थिति समझते हो, मैं वह खोदकर निकाला गया पत्थर बनना अधिक पसन्द करूंगा जो अपने महान राष्ट्रीय भवन की नींव में दबा रहे।)

* Especially in the present atmosphere of elections eating into the basic solidarity of our people and driving wedges to divide one part from another, effecting numerous cleavages and creating feelings of mutual distrust and hostility. In this vicious atmosphere we have to take particular care that our workers are not a prey to the prevailing

poisonous atmosphere and also that our work grows in extent and strength so as to be able to re-educate the minds of the people into firm belief in the truth of our national solidarity.

(....विशेषकर चुनावों के वर्तमान वातावरण में, जो हमारे नागरिकों की आधारभूत एकता को ही नष्ट किए दे रहे हैं और एक हिस्से को दूसरे से विभाजित करने के लिए दरारें पैदा कर रहे हैं, जिसके कारण अनेक मतभेद तथा परस्पर अविश्वास और शत्रुता पैदा हो रही है, इस विषैले वातावरण में हमें यह विशेष सावधानी बरतनी है कि हमारे कार्यकर्ता इस विषैले माहौल के शिकार न बनें और यह भी कि हमारे कार्य की व्यापकता और शक्ति में वृद्धि होती रहे ताकि इस राष्ट्रीय एकता के सत्य में अचल निष्ठा हेतु लोगों को पुनः संस्कारित (दीक्षित) कर सकें।)

* इसलिए दिन-प्रतिदिन सुसंस्कारों का आदान-प्रदान करना, स्वयं अनुकूल वायुमण्डल निर्माण करके अन्य लोगों को भी संस्कार देना, इसी में से शाखा का स्वरूप निर्धारित हुआ। दिन-प्रतिदिन एकत्र जीवन, स्नेहपूर्ण, हृदय में गहराई तक भावना का आरोपण हो सके इस तरह का आह्वान, यह नित्य करते रहने की योजना निरंतर चलाना, संगठन की दृष्टि से आवश्यक ऐसी रचना डाक्टर जी ने की। कार्य योजना का यह सम्पूर्ण मर्म हमें समझना चाहिए।

ब्रह्मलीन होने के पर्याप्त समय पूर्व पूजनीय श्रीगुरुजी आगामी घटनाक्रम की कल्पना कर चुके थे।

सन् १९७३ की प्रतिनिधि सभा की बैठक के समापन का उनका भाषण उसी मानसिक पृष्ठभूमि पर दिया गया। उनका वह अन्तिम सार्वजिनक भाषण था। उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन के अनुभवों तथा निष्कर्षों का निचोड़ इस बिदाई के भाषण में सबके सामने रखा था। अपने अन्तिम संदेश का समारोप श्रीगुरुजी ने इन शब्दों में किया था—

"साथ ही हमें ध्यान रखना चाहिए कि शाखा के बिना हम भिन्न-भिन्न कार्य नहीं कर पाएंगे। जहां अपनी शाखा अच्छी प्रकार से चलती है वहां कोई भी कार्य उठाया तो उसे हम निश्चयपूर्वक सफल कर सकते हैं। अतः संघशाखा के कार्यक्रम, उसकी आचारपद्धति, स्वयंसेवक का व्यवहार, स्वभाव तथा उनके गुणोत्कर्ष आदि की ओर हम ध्यान दें और उनका प्रसार तथा दृढ़ीकरण करने का एकाग्रचित्त से प्रयत्न करें। इतना यदि हम करेंगे तो सब क्षेत्रों में हम लोग विजय प्राप्त करेंगे और जितना यह कार्य सुदृढ़ता से चलेगा और उसे हम एक अन्तःकरण से करेंगे, उतनी ही अपने लिए सर्वदूर 'विजय ही विजय' है, ऐसा मैं पूर्ण विश्वास से कहता हूं।

(कल्पवृक्ष की प्रस्तावना)

* * * * *

अथतो तत्त्वजिज्ञासा

दिनांक ११ फरवरी, १९६८ ।

भारत पर उस दिन वज्रपात हुआ ।

पं. दीनदयाल उपाध्याय की हत्या का आकस्मिक समाचार सुनकर सारा देश सन्न रह गया । चारों ओर से शोक -संवेदनाएं व्यक्त होने लगीं ।

राष्ट्रपति डा. जाकिर हुसैन ने कहा, "मुझे श्री दीनदयाल उपाध्याय की मृत्यु का समाचार सुनकर गहरा आघात लगा ।"

सभी दलों तथा निर्दलीय नेताओं नें उन्हें उत्स्फूर्त श्रद्धांजलि अर्पित की । उपराष्ट्रपति श्री वी. वी. गिरि, श्री नीलम संजीव रेड्डी, मोरारजी देसाई, श्री यशवन्तराव चव्हाण, श्री जयप्रकाश नारायण, श्री हीरेन मुखर्जी, श्रीमती वायलेट अल्वा, श्रीमती तथा आचार्य कृपलानी, श्री नानासाहब गोरे, श्री नाथ पै, श्री एस. एम. जोशी, मधु लिमये, श्री प्रेम भसीन, श्री राजाभाऊ खोब्रागड़े, संत फतेहसिंह, श्री जगजीवनराम, श्री स. का. पाटिल, चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, बैरिस्टर एन. सी. चटर्जी, श्री चरणसिंह, श्री के. एम. मुंशी, सेठ गोविंददास, बख्शी गुलाम मुहम्मद, श्री गुलाम मोहम्मद सादिक, सरदार स्वर्णसिंह, श्री लक्ष्मणसिंह गिल, श्री हुमायूं कबीर, श्री फखरूद्दीन अली अहमद, श्री ओमप्रकाश त्यागी, श्री रामगोपाल शालवाले, श्रीमती सिंधुताई फाटक, श्री रघुबीरसिंह शास्त्री, श्री रामचन्द्र विकल आदि नेताओं ने पंडित जी को भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की ।

संघ के सरकार्यवाह माननीय बालासाहब देवरस, मा. लाला हंसराज गुप्त, मा. माधवराव मुले, मा.

प्रकाशदत्त भार्गव, मा. बाबा साहब घटाटे, मा. वसंतराव ओक, मा. ब्रह्मदेव जी, मा. सोहनसिंह जी आदि निकटवासियों ने तथा मा. भाऊराव देवरस, बैरिस्टर नरेन्द्रजीत सिंह जी, श्रीमती बुआ जी आदि लोगों ने उन्हें हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित की।

जनसंघ की कार्यकारिणी ने श्रद्धांजलि अर्पित करते समय कहा— "थोड़े ही वर्षों में देश के राजनीतिक जीवन में जनसंघ ने जो प्रमुख स्थान प्राप्त किया है, उसका श्रेय यदि किसी एक व्यक्ति को है तो वह उपाध्याय जी को है।"

पंडित जी के उत्तराधिकारी श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने कहा— "एक दीपक बुझ गया है और चारों ओर अंधकार है। श्री उपाध्याय दूरदृष्टि वाले और संपूर्ण देश का विचार करने वाले थे। वे मौलिक विचारक, कुशल संगठनकर्ता और सबको साथ लेकर चलने में प्रवीण थे। जनसंघ को बनाने का श्रेय उन्हीं को है।"

प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने कहा, "श्री उपाध्याय देश के राजनीतिक जीवन में एक प्रमुख भूमिका अदा कर रहे थे। जनसंघ और कांग्रेस के बीच मतभेद चाहे जो हों, श्री उपाध्याय सर्वाधिक सम्मानपात्र नेता थे और उन्होंने अपना जीवन देश की एकता एवं संस्कृति को समर्पित कर दिया था।

सरसंघचालक परम पूजनीय श्री गुरुजी ने कहा, "हे प्रभो !"

भारत की संसद ने— पंडित जी के सांसद न होते हुए भी— उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की। पंडित जी के ममेरे भाई श्री प्रभुदयाल जी के शोक में सारे देशवासी सहभागी हो गये।

मानो भारत की राष्ट्रशक्ति ही आर्त हृदय से कह रही थी—

"बड़े शौक से सुन रहा था जमाना,
तुम्हीं सो गये दास्तां कहते-कहते"

२.

संघ में प्रवेश करने से पहले के पंडित जी के जीवन के बारे में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। उनकी प्रसिद्धिविमुखता ही इसका एक कारण रही है। वे अपने बारे में कभी नहीं बोलते थे।

दीनदयाल जी का जन्म २५ सितम्बर, १९१६ (विक्रमी सं. १९७३) शालिवाहन शक १६३८,

भाद्रपद-आश्विन, कृष्ण-१३, सोमवार के दिन जयपुर-अजमेर रेलमार्ग पर धनकिया गांव में उनके नाना श्री चुन्नीलाल जी शुक्ल के घर में हुआ। उनके नाना धनकिया के स्टेशन मास्टर थे। पंडित जी के पिता श्री भगवती प्रसाद जी मथुरा जिले के नगला चन्द्रभान के मूल निवासी थे। वे मथुरा के जलेसर रोड स्टेशन पर स्टेशन मास्टर के रूप में काम करते थे। पंडित जी की माताजी का नाम श्रीमती रामपियारी था। पंडित जी के दादा पंडित हरिराम जी प्रख्यात ज्योतिषी थे। उनकी मृत्यु होने पर आगरा और मथुरा में लोगों ने हड़ताल की थी।

पंडित जी के जन्म को दो वर्ष बाद उनके एक और भाई हुआ। उसका नाम शिवदयाल रखा गया था। इसके छः माह बाद ही पंडित भगवतीप्रसाद का निधन हो गया। तब अपनी मां के साथ वे नाना श्री चुन्नीलाल शुक्ल के यहां रहने लगे। पंडित जी साढ़े छः वर्ष के थे, तब उनकी माताजी का भी स्वर्गवास हो गया। तब से उनका पालन-पोषण उनके मामा श्री राधारमण शुक्ल ने किया। वे गंगापुर (राजस्थान) स्टेशन पर फ्रंटियर मेल के गार्ड थे। सन् १९३४ के कार्तिक मास की कृष्ण-११ को छोटा भाई शिवदयाल भी चल बसा और पंडित जी का जीवन एकाकी बन गया। फिर भी ननिहाल के सब लोगों का उनके प्रति व्यवहार बहुत ही ममत्व भरा था। श्री प्रभुदयाल शुक्ल, स्वामीनाथ, ब्रह्मानंद, विजयकुमार, अरुण कुमार आदि लोगों ने पंडित जी के साथ अन्त तक निकटता के स्नेह-संबंध बनाए रखे थे।

पंडित जी ने सीकर के कल्याण हाई स्कूल से मैट्रिक की परीक्षा दी और अजमेर बोर्ड में वे प्रथम श्रेणी में प्रथम रहकर उत्तीर्ण हुए। फलस्वरूप बोर्ड ने और विद्यालय ने उन्हें स्वर्ण पदक दिये। उसके दो वर्ष बाद उन्होंने पिलानी के बिरला कालेज से इंटर की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। उन्हें फिर दो स्वर्ण पदक मिले— एक बोर्ड की ओर से, दूसरा विद्यालय की ओर से। कानपुर के सनातन धर्म कालेज से गणित विषय लेकर उन्होंने बी. ए. प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण किया। इलाहाबाद से वे एल. टी. हुए। इस बीच पढ़ाई के लिए उन्हें कुछ समय गंगापुर, कोटा, आगरा तथा रामगढ़ में भी रहना पड़ा। रामगढ़ में उनके एक मामा श्री नारायण शुक्ल स्टेशन मास्टर थे। विद्यार्थी अवस्था में ही श्री सुन्दरसिंह जी भण्डारी के साथ उनकी मित्रता हो गयी। पूरी महाविद्यालयीन शिक्षा उन्होंने छात्रवृत्ति के बल पर पूरी की।

सन् १९३७ में उनका संबंध राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से आया। उस वर्ष मकर-संक्रमण के उत्सव में वेदमूर्ति पंडित सातवलेकर के करकमलों द्वारा कानपुर की शाखा को ध्वज दिया गया। इस शुभ अवसर पर पंडित जी ने संघ की प्रतिज्ञा ली। उन्हें संघ में लाने का श्रेय मुख्यतया माननीय भाऊराव जी देवरस को है। मा. बापूराव मोघे, भैया जी सहस्रबुद्धे, नानाजी देशमुख, बापू जोशी आदि लोग उन दिनों संघ-कार्य के लिए उत्तरप्रदेश में रह रहे थे। सन् १९४२ में पंडित दीनदयाल जी ने लखीमपुर जिला-प्रचारक के नाते प्रचारक-जीवन प्रारंभ किया। मा. पंडित श्यामनारायण मिश्र के घर ही वे मुख्यतः रहते थे। उस समय एक उच्च माध्यमिक विद्यालय का प्राचार्य पद उन्हें देने का प्रस्ताव किया गया

था, किन्तु संघ-प्रचारक की भूमिका में ऐसे पद को स्वीकार करना तर्कसंगत न होने के कारण उन्होंने उसे अस्वीकार कर दिया। सन् १९४७ में उत्तर प्रदेश के सहप्रांत प्रचारक के नाते उनकी नियुक्ति हुई। इस काल में उत्तर प्रदेश के सभी संघ-कार्यकर्ताओं को उनके निकट-सहवास का लाभ मिला।

सर्वश्री रामनाथ भल्ला, सत्यव्रत सिन्हा, मा. राजेन्द्रसिंह, वीरेन भाई, डा. कृष्णबिहारी, जुगादे बंधु, करंजकर बंधु, कृष्णदत्त शर्मा, गोपालकृष्ण कलंत्री, कुंजबिहारीलाल राठी, रजनीकांत लाहिरी, राधेश्याम कपूर, डा. पी. के . बनर्जी, मा. देवले, गोपालराव कालिया, जयगोपालजी, अनंतराव गोखले, पंडित श्योवरण सिंह, सतीश सक्सेना, मधुसूदन बापट, विजय मुंजे, मनोहर आठवले, राजाभाऊ सावरगांवकर और ग्वालियर के डा. गुणे आदि कार्यकर्ताओं को पंडित जी के सहयोगी के नाते काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

सन् १९४७ में 'राष्ट्रधर्म प्रकाशन' की स्थापना हुई। उसकी ओर से *'राष्ट्रधर्म'* मासिक, *'पाञ्चजन्य'* साप्ताहिक तथा *'स्वदेश'* दैनिक प्रकाशित होते थे। पंडित जी अंतिम दो पत्रों के मार्गदर्शक के रूप में काम करते थे। प्रकाशन के प्रबंध निदेशक श्री नानाजी देशमुख थे। संपादन का कार्य सर्वश्री महावीर प्रसाद त्रिपाठी, राजीवलोचन अग्निहोत्री, अटलबिहारी वाजपेयी, महेन्द्र कुलश्रेष्ठ, गिरीशचन्द्र मिश्र, तिलक सिंह परमार, यादवराव देशमुख, वचनेश त्रिपाठी आदि ने क्रमशः संभाला था। इनके अतिरिक्त मनमोहन गुप्त, ज्वालाप्रसाद चतुर्वेदी (प्रबंधक), राधेश्याम कपूर (प्रकाशक), पावगी, बजरंगशरण तिवारी (प्रेस व्यवस्थापक) आदि कार्यकर्ता भी राष्ट्रधर्म-परिवार में थे। इस परिवार के वत्सलकर्ता दीनदयाल जी थे।

अधिवक्ता राजकुमार (लखनऊ) की अध्यक्षता में उत्तर प्रदेश जनसंघ की स्थापना हुई। उस समय दीनदयाल जी को प्रदेश जनसंघ का काम सौंपा गया। उससे पूर्व ५ मई, १९५१ को डा. श्यामा प्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में कलकत्ता में 'पीपुल्स पार्टी' की स्थापना हुई। २७ मई, १९५१ को जालंधर में प्रादेशिक स्तर पर भारतीय जनसंघ की स्थापना हुई। ८ सितम्बर, १९५१ को विविध प्रांतों के कार्यकर्ताओं की दिल्ली में प्रारंभिक बैठक हुई। अखिल भारतीय दल की स्थापना का उसमें विचार हुआ। २० से २२ अक्तूबर तक दिल्ली में अखिल भारतीय सम्मेलन आयोजित किया गया। उसका उद्घाटन राघोमल हायर सेकेण्डरी स्कूल के प्रांगण में हुआ। २१ अक्तूबर को भारतीय जनसंघ की स्थापना की अधिकृत घोषणा की गयी। जनसंघ का प्रथम अखिल भारतीय अधिवेशन दिसम्बर १९५२ में कानपुर में हुआ। उस समय जनसंघ के अखिल भारतीय महामंत्री के रूप में दीनदयाल जी के नाम की घोषणा की गयी।

राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश करने से पूर्व राजनीतिक प्रश्नों के विषय में पंडित जी के मन में क्या था, इसे समझ लेना आवश्यक है। राजनीति एवं राजनीतिक दलों के बारे में संघ की भूमिका परम पूजनीय श्री गुरुजी के उन दिनों के भाषणों में स्पष्ट की गयी है। यही भाषणमाला आगे चलकर 'ध्येय-दर्शन'

शीर्षक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित की गयी है। उससे संघ की सर्वसाधारण भूमिका का बोध होता है। व्यक्तिशः पंडित जी के मन में इस विषय में उन दिनों क्या विचार थे, इसे समझ लेना भी उपयोगी होगा। उस दृष्टि से निम्न लेखों का मूल पाठ पढ़ना ही अधिक अच्छा रहेगाः—

पंडित दीनदयाल जी के लेख सं० २००५-६ (१९४७-४९)

राष्ट्रधर्म इतिहास : (१) भारतीय राष्ट्रधारा का पुण्यप्रवाह (बुद्ध से शंकराचार्य तक) वर्ष-१, अंक-१, श्रावणी पूर्णिमा, विक्रम सं. २००४ (२) भगवान कृष्ण : वर्ष-१, अंक-२, भाद्रपद पूर्णिमा, २००४ संस्कृति : (३) चितिः वर्ष-१, अंक-३-४, कार्तिक पूर्णिमा, २००४१।
राजनीति : (४) राष्ट्रजीवन की समस्याएं : अंक-९, शरद्पूर्णिमा, २००६ (५) भारतीय राजनीति की मौलिक भूलें: अंक-११, मार्गशीर्ष पूर्णीमा, २००६१।

पाञ्चजन्य इतिहास-दृष्टि : (१) लोकमान्य तिलक की राजनीति : स्वतंत्र भारत में लोकमान्य की प्रथम जयंती के अवसर पर, श्रावण कृष्ण ८, २००५ व्यंग्यात्मक : (२) १४४ (धारा १४४ के इतिहास एवं उपयोग पर व्यंग्य) आषाढ़ शुक्ल ७, २००५।
ललित निबंध : (३) राजनीतिक आय-व्यय : भाद्रपद शुक्ल १०, २००५, जुलाई १९४९ से जुलाई १९५०।
सांस्कृतिक : (४) जीवन का ध्येय राष्ट्रीय आत्मानुभूति : भाद्रपद कृष्ण ९, २००६ (५) विजयादशमी (सहिष्णुता के समान ही जयिष्णुता की आवश्यकता) : विजयादशमी विशेषांक, २००६।
राजनीति : (६) भारतीय संविधान पर एक दृष्टि (कठोर एवं बृहद् संविधान के निर्माण के स्थान पर संवैधानिक विकास-प्रक्रिया प्रारंभ करने का आग्रह) मार्गशीर्ष शुक्ल ४, संवत् २००६।

इसी कालखण्ड में दीनदयाल जी की दो साहित्यिक रचनाएं प्रकाशित हुईं—'जगद्गुरु शंकराचार्य' तथा 'सम्राट् चन्द्रगुप्त'। इन रचनाओं से बहुत कुछ कल्पना की जा सकती है कि राजनीति में प्रवेश करने से पूर्व दीनदयाल जी के विचारों की दिशा क्या थी।

वस्तुतः दीनदयाल जी का मूल स्वभाव संघ प्रचारक का ही था। संघ कार्य की प्रारंभिक अवस्था में नए स्थान पर कार्य प्रारंभ करने में कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था, इसकी कल्पना आज नहीं की जा सकती। आज यदि यह बतायें तो लोगों को आश्चर्य होगा कि गोलागोकर्णनाथ के लोगों ने उन्हें भड़भूजे की दुकान से चने खरीदकर उन्हीं पर कई दिन तक जीवन-निर्वाह करते देखा था। मुहम्मदी के लोगों ने उन्हें दुकान के बाहर की पटरी पर रात बिताते देखा था। स्टेशन से गांव जाने के लिए तांगेवाला दो पैसे अधिक मांग रहा था, तो उनकी बचत करने के लिए भारी वर्षा में दीनदयाल को भीगते हुए गांव जाते हरदोई के लोगों ने देखा था। बाह्य परिस्थिति की प्रतिकूलता तो

थी ही, साथ ही स्वयं दीनदयाल जी की अनासक्त कर्मयोगी प्रवृत्ति भी महत्त्वपूर्ण थी। आगे चलकर जीवन में अनुकूलता प्राप्त होने के बाद भी उन्होंने उसका लाभ नहीं उठाया। अपने कपड़े वे स्वयं धोया करते थे और अपने फटे-पुराने कपड़ों की सिलाई भी वे स्वयं करते थे। कोई भी चप्पल या कपड़ा-लत्ता जब तक पहनने के लिए बिल्कुल अयोग्य न हो जाता, तब तक उसे बदलते नहीं थे। स्वदेशी का आग्रह उन्होंने प्रत्यक्ष आचरण में उतारा था। सार्वजनिक धन का उपयोग न्यासी की भांति कितनी मितव्ययिता से करना होता है, इसका आदर्श उदाहरण उन्होंने अपने आचरण से प्रस्तुत किया था। बिल्कुल छोटे-मोटे काम वे समान उत्साह से करते थे।

सभी छोटी-छोटी बातों का सदा ध्यान रखना उनका स्वभाव बन गया था। कारण, बाह्यतः वे लौकिक व्यवहार में कितने ही निमग्न क्यों न दिखाई देते हों, उनका सच्चा लक्ष्य 'ज्ञानोत्तर भक्तिपूर्ण कर्मयोग' ही था। फिर भी दैनिक व्यवहार में उनका आचरण सामान्य लोगों जैसा होता था। इसीलिए उनके पास के लोग भी इसकी कल्पना नहीं कर पाते थे कि वास्तव में वे कितने महान हैं।

राष्ट्रधर्म का काम देखते समय उन्होंने कई बार कम्पोजिंग, बाइंडिंग तथा डिस्पैचिंग का काम भी स्वयं किया था। निष्काम कर्मयोगी उनकी सहज प्रवृत्ति थी।

"सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व ..... ॥"

यह उनका स्वभाव ही बन गया था। अहंकार, व्यक्तिगत आकांक्षा आदि क्षुद्र भावनाओं का स्पर्श भी उनको नहीं होता था। आदेश के अनुसार उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश किया, किन्तु उनकी वृत्ति थी— "दुनिया में हैं, दुनिया के तलबगार नहीं। बाजार से निकले हैं, खरीदार नहीं।" इतनी निर्लेप!

सक्रिय राजनीति में होते हुए भी पंडित जी की महत्त्वाकांक्षा पानी में कमल के पत्ते जैसी थी। परम-पूजनीय श्री गुरुजी ने अपने जौनपुर के भाषण में कहा था— "दीनदयाल जी का राजनीतिक क्षेत्र की ओर कतई झुकाव नहीं था। पिछले वर्षों में कितनी ही बार मुझसे उन्होंने कहा, "यह आपने मुझे किस झमेले में डाल दिया! मुझे फिर से अपना प्रचारक का काम करने दें।" मैंने कहा, "भाई, तुम्हारे सिवा इस झमेले में किसको डालें? संगठन के कार्य के प्रति जिसके मन में इतनी अविचल श्रद्धा और दृढ़ निष्ठा है वही उस झमेले में रहकर कीचड़ में अस्पृश्य (अछूता) रहता हुआ सुचारु रूप से वहां की सफाई कर सकेगा, दूसरा कोई नहीं कर सकेगा।" (संभवतः इसीलिए परम पूजनीय बालासाहब देवरस ने भी कहा था— "श्री दीनदयाल जी को देखकर मुझे किसी अन्य की नहीं, संघ के संस्थापक डा. हेडगेवार जी की स्मृति हो आती है।")

राजनीति के बारे में इतनी उदासीनता होने पर भी एक बार जो कार्य दे दिया, दीनदयाल जी ने उसे इतनी सुव्यवस्थित रीति एवं शास्त्रीय पद्धति से, पूरा मन लगाकर तथा सारी शक्ति जुटाकर किया कि उसके कारण 'योगः कर्मेसु कौशलम्' वाली उक्ति का व्यावहारिक अर्थ किसी के भी ध्यान में आ जाता।

अपने 'जनसंघ' शीर्षक अंग्रेजी प्रबन्ध में ग्रेग बैक्स्टर ने लिखा है— "जनसंघ ही एकमात्र ऐसा दल है जिसने १९५२ से १९६७ तक के हर चुनाव में प्राप्त मतों का प्रतिशत एवं लोकसभा तथा विधानसभाओं में मिले स्थानों का अनुपात लगातार बढ़ाया है।"

'जनसंघ : आइडियोलाजी एण्ड आर्गनाइजेशन इन पार्टी बिहेवियर' शीर्षक अपने प्रदीर्घ अंग्रेजी निबंध में वाल्टर के. एण्डरसन लिखते हैं— "उपाध्याय के १९६७ में जनसंघ का अध्यक्ष पद स्वीकार करने का यही अर्थ था कि दल की संगठनात्मक नींव डालने का काम पूरा हो गया है और राष्ट्रीय स्तर पर एक प्रबल प्रतिस्पर्धी के नाते सत्ता की प्रतियोगिता में उतरने का उसका संकल्प है।"

यह तो मानो शून्य से ब्रह्माण्ड की सृष्टि ही थी।

अखिल भारतीय दायित्व उन पर आने के बाद उनका व्यावहारिक अनुभव एवं घनिष्ठ व्यक्तिगत संबंधों का क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत होता गया। जनसंघ की प्रारंभिक अवस्था में सर्वश्री डा. मुखर्जी, डा. भाई महावीर, बलराज मधोक, महाशय कृष्ण, भल्ला बन्धु, वैद्य गुरुदत्त, मौलिचन्द्र शर्मा, उमाशंकर त्रिवेदी, वसंतराव ओक आदि लोगों के साथ काम करने का अवसर उन्हें मिला। सर्वश्री बापूसाहब सोनी, प्रेमनाथ जी डोगरा, डा. रघुवीर, देवप्रकाश घोष, पीताम्बरदास, ए. रामराव, बच्छराज व्यास आदि सभी अध्यक्षों के कार्यकाल में सूत्रसंचालन का कार्य दीनदयाल जी ही किया करते थे। जनसंघ के कार्यालय-प्रमुख श्री जगदीश माथुर तो उनके अनुचर थे। जनसंघ के सभी पदाधिकारियों तथा कार्यकर्ताओं और उनमें भी विशेषकर सभी संगठन-मंत्रियों को उनके सहवास का लाभ प्राप्त होता था। रा. स्व. संघ से संस्कार एवं प्रेरणा ग्रहण कर राष्ट्र-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाले स्वयंसेवक सदा ही पंडित जी के मार्गदर्शन की आशा रखते और वे भी इन सब कार्यों को अपने ही परिवार का कार्य मानते थे। (अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् के प्रथम अध्यक्ष तथा महामंत्री श्री ओमप्रकाश बहल तथा श्री वेदप्रकाश नन्दा के साथ उनके पुराने संबंध थे।) दीनदयाल जी का मुख्य कार्यालय दिल्ली में ही रहता था। श्री जगदीश अब्रोल तथा श्री चमनलाल जी जैसे कार्यकर्ता भी, जो राजनीतिक क्षेत्र में नहीं थे, उन दिनों दीनदयाल जी के निकट सहवास में रहते थे। दीनदयाल जी जब भी वहां रहते, *आर्गनाइजर* के कार्यालय को अवश्य भेंट देते और के. आर. मलकानी, लालकृष्ण आडवाणी तथा सुधाकर राजे के साथ विचारों का आदान-प्रदान करते थे। इसी प्रकार का विचारों का आदान-प्रदान देशभर की विभिन्न भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं में काम करने वाले सभी समविचार वाले बंधुओं के साथ भी वे हार्दिकता से किया करते थे। 'हिन्दुस्थान समाचार' के संस्थापक श्री दादासाहेब आपटे, श्री बापूराव लेले तथा श्री बालेश्वर अग्रवाल ऐसे लोगों में प्रमुख थे।

संघ-क्षेत्र में उनका सभी स्तरों के कार्यकर्ताओं के साथ न्यूनाधिक संबंध रहता था। संघ की बैठकों में उनका योगदान उल्लेखनीय था। मा. एकनाथ रानडे के मार्गदर्शन में संघ का संविधान अक्षरबद्ध करने के काम में भी उनका प्रमुख सहयोग था। इस काम में उन्हें मा. बाबासाहेब आपटे तथा मा. राजपाल पुरी की विशेष सहायता मिली थी। मा. बाबासाहेब आपटे के साथ पंडित जी की बैठक 'समसमासंयोग' का अनुभव कराती थी। सहसरकार्यवाह एवं सरकार्यवाह का दायित्व संभालने वाले सभी अधिकारियों के साथ उनके घनिष्ठ संबंध थे। मा.श्री मल्हारराव काले, मा. अप्पाजी जोशी, मा. भैयाजी दाणी, मा. एकनाथ रानडे, मा. माधवराव मुले इस श्रेणी में आते थे। वही बात मा. यादवराव जोशी आदि संघ के अन्यान्य पदाधिकारियों एवं सरसंघचालक जी के निजी सचिव डा. आबासाहब थत्ते एवं केन्द्रीय कार्यालय-प्रमुख श्री पांडुरंगपंत क्षीरसागर के बारे में भी थी।

संघ पर लगा प्रथम प्रतिबंध हटने के बाद महत्त्वपूर्ण कालखण्ड में अन्य क्षेत्रों के कार्यकर्ताओं के परम पूजनीय बालासाहब देवरस के साथ विशेष संबंध रहे। यह सच है कि स्वयंसेवकों द्वारा चलायी गयी सभी संस्थाएं अपने में स्वशासी हैं। किसी भी संस्था को संघ अपना अग्रपंक्ति-संगठन (विशिष्ट क्षेत्र में काम करने वाला फ्रंट आर्गनाइजेशन या मोर्चा) अथवा संक्रमण-साधन (ट्रान्समिशन बेल्ट) नहीं मानता, तथापि व्यक्तिगत जीवन की भांति सार्वजनिक जीवन में भी योग्य स्थान से मार्गदर्शन प्राप्त करने की इच्छा कार्यकर्ताओं के मन में तो होती ही है। तदनुसार ज्येष्ठ व्यावहारिक मार्गदर्शक के नाते परम पूजनीय बालासाहब देवरस की ओर कार्यकर्ता देखा करते थे। अपने क्षेत्र में नयी संरचना करने के बारे में पंडित जी भी उनसे बार-बार परामर्श करते थे।

पंडित जी का सबसे महत्त्वपूर्ण एवं आत्मीयता का अलौकिक संबंध तत्कालीन सरसंघचालक परम पूजनीय श्री गुरुजी के साथ था।

परम पूजनीय श्री गुरुजी तथा श्री दीनदयाल जी के संबंधों का वर्णन करने में शब्द असमर्थ हैं। यह बात सभी निकटवर्तियों के ध्यान में आती थी कि स्वयंसेवक, प्रचारक तथा कार्यकर्ता के नाते दीनदयाल जी से श्री गुरुजी विशेष अपेक्षा रखते थे। दोनों की 'वेवलैंग्थ' (वैचारिक तरंग-दैर्ध्य) एक ही थी। किसी भी घटना पर श्री गुरुजी की प्रतिक्रिया क्या होगी, इसकी अचूक कल्पना दीनदयाल जी कर सकते थे। स्वयंसेवकों द्वारा चलायी गयी संस्थाओं पर कम्युनिस्ट दल की भांति नियंत्रण रखना संघ को स्वीकार नहीं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, ऐसी कोई भी संस्था संघ का 'फ्रंट आर्गनाइजेशन' या 'ट्रान्समिशन बेल्ट' नहीं। संघ के घटक (विंग्ज) उसके अपने स्वयंसेवक ही हैं। संघ का संबंध स्वयंसेवकों के साथ है। उनसे यह आशा की जाती है कि अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में कार्य की रचना एवं विचारों का विकास वे संघ के आदर्शों के प्रकाश में करेंगे, किन्तु कम्युनिस्ट दल की भांति विभिन्न क्षेत्रों में काम कर रहे कार्यकर्ताओं की गतिविधियों पर नियंत्रण रखने की कल्पना संघ की योजना में बैठती नहीं। अर्थात् संघ को भी यह आशा एवं विश्वास है कि उसके अपने स्वयंसेवक सब कुछ सुयोग्य ढंग से ही करेंगे। श्री गुरुजी तथा पंडित दीनदयाल जी में वैचारिक समरसता होने

के कारण यह अपेक्षा जनसंघ के बारे में पूर्ण होती गयी ।

स्वराज्य-प्राप्ति के बाद नवरचना का कालखण्ड प्रारम्भ हुआ । देश के विभाजन के कारण उत्पन्न हुए प्रश्न, विस्थापितों के पूनर्वास की समस्याएं, जम्मू-कश्मीर पर हुआ पाक का आक्रमण, पंडित नेहरू का अब्दुल्ला प्रेम, शेख अब्दुल्ला की महत्त्वाकांक्षा और उसका पोषण करने वाली संविधान की ३७० वीं. धारा, पंडित नेहरू का संयुक्त राष्ट्र संघ में जाना और पाकिस्तान द्वारा हथियाये गये कश्मीर के एक भाग की उलझी हुई समस्या, पूर्वी पाकिस्तान की हिन्दू विरोधी नीति, नेहरू सरकार की पाक तुष्टिकरण की नीति एवं उसके साथ किये गये विभिन्न समझौते, पुर्तगाल तथा फ्रांस द्वारा शासित प्रदेशों के बारे में उनकी नीति आदि सारी बातें देशभक्तों को चिंता में डालने वाली थीं । स्पष्ट दिखाई देता था कि स्वदेशी, स्वधर्म एवं स्वातंत्र्य के लिए संघर्ष अभी समाप्त नहीं हुआ है । स्पष्ट था कि देश की प्रतिरक्षा के प्रश्न को प्रधानता देकर इन प्रश्नों पर जन-जागरण करने, सैनिक शिक्षा अनिवार्य करने, शस्त्र-धारण करने का अधिकार सभी नागरिकों को देने और सैनिकों तथा निवृत्त सैनिकों के कल्याण की विशेष चिंता करने की नीति स्वीकार करने को कांग्रेस सरकार तैयार नहीं है । पाकिस्तान निर्माण के बाद भी शेष भारत में कांग्रेस ने 'वोट' प्राप्त करने की लालसा से मुसलमानों का लाड़ करना छोड़ा नहीं था । मतों के मोह में हिन्दू समाज को विघटित कर उसके अंगभूत सिख, बौद्ध, जैन, लिंगायत आदि के मन में पृथकता की भावना भरने का प्रयास चालू ही था । विदेशी मिशनरियों की देश-घातक कार्यवाहियों को भी सरकार जानबूझकर अनदेखा करती थी । (यही कारण था कि आगे चलकर नियोगी समिति तथा रेगे समिति ने इस विषय पर जो संस्तुतियां की थीं, उनकी भी उपेक्षा की गयी ।) उन्हीं कारणों से संपूर्ण गोवंश-हत्या पर प्रतिबंध लगाने की हिन्दुओं की मांग भी सरकार लगातार अस्वीकार कर रही थी । कांग्रेस मुसलमानों को यह बताने के लिए तैयार नहीं थी कि धर्म बदलने से राष्ट्र बदलता नहीं और अपनी उपासना-पद्धति को बनाये रखते हुए भी भारत की संस्कृति के साथ इंडोनेशिया के मुसलमानों की भांति एकात्म बना जा सकता है । प्रवासी भारतीयों के भविष्य के बारे में सरकार उदासीन थी और परिणामस्वरूप दक्षिण अफ्रीका, श्री लंका, बर्मा, मलाया, मारीशस और फिजी में बसे भारतीयों को पूर्ण नागरिक अधिकार प्राप्त करा देने और इन देशों तथा सूरिनाम, ग्वायना, त्रिनिदाद आदि देशों के साथ विशेष संबंध स्थापित करने के दायित्व को भारत सरकार टाल रही थी । अपने उदार मन की प्रतिमा विश्वभर में खड़ी कर सरलता से विश्व-नेतृत्व प्राप्त करने की आशा के साथ पंडित नेहरू देशहित प्रतिकूल विदेश-नीति विकसित करते जा रहे थे । नेपाल जैसे सांस्कृतिक दृष्टि से अन्तरंग राष्ट्र की उपेक्षा, पड़ोसी राष्ट्रों के साथ अच्छे संबंध रखने के प्रति उदासीनता, डा. मुखर्जी, श्री गुरुजी तथा डा. अम्बेडकर जैसे नेताओं द्वारा दी गयी चेतावनी की उपेक्षा कर चीन द्वारा तिब्बत पर किये गये आक्रमण की ओर आंख मूंदना, कोलम्बो-प्रस्ताव का स्वागत, बेरूवांड़ी का हस्तांतरण, कच्छ, गोवा, चीन-पाक व्याप्त भारतीय प्रदेशों, असम में पाकिस्तानी घुसपैठ तथा नागा आदि विद्रोहियों के बारे में बरती गयी उदार (?) नीति, (आगे चलकर इसी की परिणति ताशकंद समझौते में हुई), मोहन रानडे तथा मस्कारिनस के भवितव्य के बारे में अनुत्तरदायी उदासीनता, भारत की सीमा पर चीन द्वारा सैनिक

सज्जा की ओर अनदेखी करते हुए "हिन्दी-चीनी भाई-भाई" का नारा, ब्रिटिश कामनवेल्थ के बारे में स्वाभिमानशून्य निर्णय तथा दुर्बल राष्ट्र के घोषित गुटनिरपेक्षवाद की व्यर्थता न समझने वाली स्वप्निलता— ये सब बातें पंडित नेहरू की विश्व-नेतृत्व की शेख मुहम्मदी इच्छा के ही कटु फल थे। इसी कारण श्री महावीर त्यागी ने पंडित नेहरू की उपस्थिति में ही उनकी नीति का वर्णन करते हुए कहा था—

" अपनो से बैर कर लिया, गैरों से दोस्ती।
अपनों के सर कटा, सरदार बन गये॥"

विदेशी पूंजी के बारे में भी सरकार ने इसी प्रकार की ढीली नीति रखी थी। सहज ही ध्यान में आ सकता है कि इन सब सामयिक बातों पर श्री गुरुजी एवं पंडित दीनदयाल जी की प्रतिक्रियाएं समान थीं। किन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि 'परं वैभवं नेतुमेतत् स्वराष्ट्रम्' का ध्येय, अखण्ड भारत के बारे में संकल्प, 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का बोध-वाक्य, दल के ध्वज का सूचक रंग (भगवे ध्वज के बारे में दीनदयाल जी कहा करते थे— "यही ध्वज हमें अपने अतीत का यथार्थ ज्ञान, विश्व की उत्तम प्रेरणा तथा वर्तमान की स्वयंप्रेरित कर्मचेतना प्रदान कर सकता है।") भारत की राष्ट्रीयता का (एक देश, एक जन, एक संस्कृति, एक राष्ट्र) स्वरूप, भारत में सर्वधर्म-समादर की सभ्यता, भारत के संविधान का स्वरूप, धर्मराज्य (Rule of Law) की स्वागतार्हता, राष्ट्रीयता स्वयंपूर्णता एवं भारतीयकरण का आग्रह जैसी मौलिक मान्यताओं के भी दोनों कट्टर समर्थक थे।

इस बारे में भी दोनों का मतैक्य था कि राजनीति का उद्देश्य क्या हो। बेंथम का कथन— "अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक सुख" उनके राजनीतिक कार्य का लक्ष्य नहीं हो सकता था, क्योंकि वे 'सर्वभूतिहे रताः' वाली परम्परा के थे। बार्हस्पत्य सूत्र में कहा गया है "नीतेः फलं धर्मार्थकामावाप्ति" अर्थात् राजनीति का उद्देश्य धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि है। किन्तु इसी सूत्र के अनुसार अर्थ और काम धर्म की कसौटी पर खरे उतरने वाले होने चाहिए। मनु एवं कौटिल्य तथा कामदंडीय का भी यही मत है। अपने धर्मशास्त्रों में प्रस्तुत इस विषय की चर्चा का मानो समारोपन करते हुए इस विषय के अधिकारी लेखक महामहोपाध्याय डा. पांडुरंग वामन काणे ने लिखा है :—

"चारों, विशेषतः पहले तीन पुरुषार्थों की प्राप्ति करने के लिए आवश्यक अनुकूलता लोगों को उपलब्ध करा देना राज्य का लक्ष्य माना जाता था (क्योंकि अंतिम मोक्ष पुरुषार्थ व्यक्ति की गहन तत्त्वदृष्टि तथा गुणानुभूति पर ही निर्भर रहता है और उसे प्राप्त कर सकने वालों की संख्या बहुत ही अल्प होती है) बार्हस्पत्य सूत्र (२-४३) में कहा गया है कि राजनीति का फल धर्म अर्थ और काम की सिद्धि ही है। सोमदेव अपने नीतिवाक्यसूत्र का प्रारम्भ ही विशिष्ट प्रकार से करते हैं। वे प्रारम्भ में राज्य का गुणगान करते हैं और कहते हैं कि राज्य, धर्म, अर्थ और काम तीनों फल देता है।

धर्मशास्त्रकारों का मत था कि राज्य में धर्म सर्वश्रेष्ठ शक्ति है और प्रत्यक्ष राजा से भी उसका अधिकार बड़ा होता है। राजा धर्म का लक्ष्य साध्य करा देने वाला केवल एक साधन मात्र होता है। इसी लक्ष्य की युगानुकूल सिद्धि दोनों को अभिप्रेत थी।

मूलभूत मान्यताएं समान होने के कारण विविध प्रश्नों पर उनकी प्रतिक्रियाएं भी समान होती थीं। राष्ट्रजीवन के विभिन्न क्षेत्रों में दोनों के नीतिविषयक विचार एक से होते थे। विदेश नीति के आधारभूत सिद्धान्त के बारे में दोनों का समान आग्रह रहता था। ये सिद्धान्त थे दक्षिण-पूर्व एशिया में सांस्कृतिक राष्ट्रमंडल की अवधारणा, परमाणु अस्त्रसज्जता का दबदबा रखने की आवश्यकता, मानवीय अधिकार एवं नागरिक स्वतंत्रताओं की रक्षा, राज्य-पुनर्रचना के मार्गदर्शक तत्त्व, शासनप्रणाली का स्वरूप, सामाजिक समरसता एवं समता स्थापित करने के उपाय, संयुक्त स्वतंत्र राष्ट्रीय चर्च की आवश्यकता और भाषा, शिक्षा, स्वास्थ्य एवं देश की आन्तरिक व्यवस्था के बारे में दूरगामी नीति आदि। उनका यह भी आग्रह रहता था कि आर्थिक क्षेत्र की पुनर्रचना करते समय अर्थ और काम के अभाव एवं प्रभाव दोनों से बचने की दक्षता बरतनी चाहिए। राष्ट्रनिर्माण के कार्य में नियोजन का स्थान एवं मर्यादा, नियोजन में वरीयता का क्रम, बेकारी-निवारण तथा मूल्यों पर नियंत्रण रखने के प्रश्न को प्रधानता, जीवनोपयोगी वस्तुओं की सुनियंत्रित एवं सस्ते दामों पर आपूर्ति, अन्न-समस्या दूर करने के उपाय, स्वदेशी का प्रचार-प्रसार, आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण, श्री चारु मजूमदार के नवोदित नक्सलवाद का विश्लेषण, भूमि और उद्योग के स्वामित्व की कसौटियां, अधिकतम उत्पादन, समान वितरण एवं संयत उपभोग प्रयोज्यता, काम के अधिकार एवं न्यूनतम निर्वाह की आश्वस्ति, न्यूनतम तथा अधिकतम आय में निश्चित अनुपात रखने की आवश्यकता, 'हर हाथ को काम और हर खेत को पानी' का लक्ष्य सामने रखने का औचित्य, कर प्रणाली का अभिनवीकरण, भारतीय परिस्थिति में उपयोगी तंत्र विज्ञान की समस्या आदि विषयों पर भी दोनों के विचार एक से थे। आगे चलकर २३ से २६ जनवरी, १९६४ के दिनों में पंडित बच्छराज जी व्यास की अध्यक्षता में स्वीकृत 'सिद्धान्त एवं नीति' शीर्षक अभिलेख (दस्तावेज) इन्हीं विचारों का परिचायक था। उसी प्रकार सन् १९५४ में सिन्दी शिविर में इस विषय पर हुई श्री गुरुजी की भाषणमाला एवं एकात्म मानवतावाद पर पंडित जी द्वारा किये गये भाष्य, दोनों का तुलनात्मक अध्ययन उद्‌बोधक होगा।

ऐसी बात नहीं कि दोनों के केवल विचारों में ही एकता थी, अपितु उनकी अभिव्यक्ति के बारे में भी दोनों की नीति समान थी। दोनों आग्रह रखते थे कि पारिभाषिक शब्द भारतीय परम्परा से ही चुने जाएं, वे विदेशी न हों। दोनों की धारणा थी— 'एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुप्रयुक्तः लोके त्वर्गे च कामधुक् भवति। सौभाग्य से इन दोनों ही बातों में डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी की भी 'वेवलैंग्थ' (वैचारिक तरंग-दैर्ध्य) एक ही थी। इससे कल्पना की जा सकती है कि जनसंघ के प्रारंम्भिक दिनों में मानसिक वातावरण कैसा था।

यह सच है कि संघ को राजनीति में कोई रस नहीं। सत्ता की राजनीति से संघ का कोई संबंध नहीं।

किन्तु अवधारणा की दृष्टि से संघ और राष्ट्र में समव्याप्ति होने के कारण तथा मानसिक दृष्टि से संघ के संपूर्ण राष्ट्र के साथ एकात्म होने के कारण संघ राष्ट्रनीति से अलग नहीं रह सकता। राष्ट्रनीति के लिए राजनीति, संघ की स्वभाविक अपेक्षा है। राजनीति एवं राष्ट्रनीति के वृत्त एकरूप नहीं हैं, किन्तु उनमें समव्याप्ति (Overlapping) भी प्रयाप्त है। 'लोकवृत्तावाद् राजवृत्तम् अन्यदाह बृहस्पतिः।' राष्ट्र और राज्य की अवधारणा के भेद न जानने के कारण होने वाले वैचारिक संभ्रम को हम लोगों ने अनेक बार अनुभव किया है। राष्ट्र-नीति के लिए राजनीति और धर्मनीति के प्रकाश में राष्ट्रनीति भारत की परम्परा रही है।

इस परम्परा का निर्वाह करना केवल सत्तावादी नेताओं के लिए क्या कभी संभव होगा? फरवरी, १९६३ में भारतीय जनसंघ के भोपाल में हुए अखिल भारतीय सम्मेलन में प्रतिनिधियों को सम्बोधित करते हुए पंडित जी ने कहा था— "आज जनसंघ, प्रजासमाजवादी दल, समाजवादी दल या कांग्रेस में मतभेदों की खाई को और अधिक चौड़ी न करते हुए उसको भुलाने की आवश्यकता है। राष्ट्रद्रोही कम्युनिस्टों को अलग-थलग करना राष्ट्रहित की दृष्टि से आवश्यक है। किन्तु हमारे इस प्रयास में कोई दल अथवा व्यक्ति पूर्णतः हमारे साथ न होता हो तो ऐसे दल या व्यक्ति को बार-बार कम्युनिस्ट-समर्थक कहकर उसे कम्युनिस्टों के जाल में धकेल देना उचित नहीं होगा।"

"गांव-गांव जाकर समाज में आशा एवं विश्वास का निर्माण करने के लिए हमें अग्रसर होना चाहिए। यह बात हमें जनता को समझानी पड़ेगी कि राष्ट्रद्रोही लोग पंडित नेहरू को च्यांग काईशेक बनाने का षड्यंत्र कर रहे हैं और ऐसी घोषणा करनी पड़ेगी कि चीन के उस दुर्भाग्यपूर्ण इतिहास की पुनरावृत्ति हम इस भारतभूमि में कदापि नहीं होने देंगे। हमारे सम्मुख पन्ना दाई का आदर्श है। उसने उदयसिंह के प्राण बचाने के लिए अपने हृदय पर पत्थर रखकर अपने पुत्र की बलि चढ़ा दी थी। उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त राष्ट्र की अस्मिता, अखण्डता और विश्वभर में सर्वश्रेष्ठ भारतीय संस्कृति एवं जीवनदर्शन के संरक्षण के लिए हम कोई भी बलिदान करने के लिए सदैव कटिबद्ध हैं।"

पंडित जी के अमरीका-प्रवास में 'फ्रेण्डस ऑफ इंडिया कमेटी' ने उनके सम्मान में एक स्वागत-समारोह आयोजित किया था। उस समिति के अध्यक्ष डा. नॉर्मन डी. पामर ने पंडित जी की मृत्यु के बाद कहा— "पंडित जी उन लोगों में नहीं थे जिनके बारे में अलेक्जैंडर पोप ने कहा था—

"Born for the Universe, narrowed his mind
And to party gave up what was meant for mankind."

(ब्रह्मांड के लिए जो जन्मा था, उसने अपना मन संकुचित बना लिया और एक दल के हाथों में वह सब दे डाला जो संपूर्ण मानव-जाति के लिए था।)

इस पृष्ठभूमि में पंडित जी द्वारा डा. श्यामबहादुर वर्मा के एक प्रश्न पर दिया गया भ्रम भंजक उत्तर उनकी मनः स्थिति पर प्रकाश डालने वाला है। श्री वर्मा ने पूछा था— "दीनदयाल जी ! क्या आपको ऐसा लगता है कि सत्ता मिलने के बाद कांग्रेस जिस प्रकार भ्रष्ट हो गयी, उसी प्रकार भारतीय जनसंघ सत्ता मिलने के बाद भ्रष्ट नहीं होगा ?" पंडित जी ने उत्तर दिया था— "सत्ता सामान्यतः भ्रष्ट करती है। इस संबंध में पूरी दक्षता बरतने के बाद भी जनसंघ में यदि भ्रष्टाचार आ जाता है तो हम उसे विसर्जित कर दूसरे जनसंघ का निर्माण करेंगे और उससे भी काम न बना तो तीसरे जनसंघ का निर्माण करेंगे। और यही क्रम चलता रहेगा। भगवान परशुराम ने २१ बार राजाओं का संहार किया था। आदर्श राजा के रूप में अन्त में रामचन्द्र सामने आये। रामराज्य की स्थापना के बाद परशुराम ने वन की ओर प्रस्थान किया। हम भी अपने द्वारा निर्मित संस्थाओं के बारे में मोह क्यों रखें ? छोटा बच्चा गाजर के साथ खेलता रहता है और जब खिलौने के रूप में उसका उपयोग समाप्त हो जाता है तो उसे खा डालता है। अपने ही हाथों से निर्मित संस्था भी जब राष्ट्रहित के विरोध में कार्य करेगी तो ऐसी स्वनिर्मित संस्था का विनाश करना धर्म ही होता है। राष्ट्र सर्वश्रेष्ठ है, संस्था नहीं।" सत्ता-पिपासु राजनीतिक नेता भला क्या कभी ऐसा कह सकता है ?

किसी भी नवस्वतंत्र देश के सार्वजनिक नेताओं का वर्गीकरण चार वर्गों में किया जाता है। एक वर्ग है शुद्ध सत्तावादियों का। पक्षी की बायीं आंख पर सारा ध्यान केन्द्रित करने वाले अर्जुन की भांति ये शुद्ध सत्तावादी अपने चित्त को केवल सत्ता पर एकाग्र करते हैं और अन्य कोई भी सत्कार्य या सद्विचार उनकी इस एकाग्रता को भंग नहीं कर सकता। दूसरा वर्ग है विशुद्ध राष्ट्र-निर्माताओं का। उनका चित्त भी एकाग्र ही होता है, किन्तु राष्ट्र-निर्माण के कार्य पर। इस कार्य की सिद्धि के लिए आवश्यकता पड़ने पर राजनीति में भाग लेना अपरिहार्य हो, तब भी ऐसा करने से होने वाले लाभ एवं हानि तथा अपनी भूमिका का समग्र विचार करते हुए इस वर्ग के लोग राजनीतिक कार्य से दूर रहते हैं। या यों कहा जा सकता है कि इन लोगों के गणित के अनुसार राजनीतिक कार्य को किन्हीं अन्य लोगों के द्वारा तो करवाया जा सकता है, किन्तु स्वयं ही राजनीति में उतरने के कारण नैतिक अधिकार कम होता दिखाई देता हो तो उससे होने वाली हानि अधिक बड़ी रहेगी। इन दोनों वर्गों के लोगों को स्पष्टतः पहचाना जा सकता है। उनकी पहचान में विभ्रम होने की कोई संभावना नहीं होती। किन्तु दो अन्य वर्गों की सीमारेखा बहुत ही सूक्ष्म होती है और परिणामस्वरूप उनका वर्गीकरण कठिन हो जाता है। मुख्यतः सत्तावादी, किन्तु यह सोचकर कि सत्ता के गौरीशंकर शिखर पर चढ़ना हो तो उसके लिए थोड़ा-थोड़ा राष्ट्र निर्माण कार्यों के तीर्थ क्षेत्रों से होते हुए चले बिना अन्य उपाय नहीं है, बरबस थोड़ा-बहुत राष्ट्र निर्माण का कार्य करने वाले व्यक्तियों का एक वर्ग होता है। ये मुख्यतः सत्तावादी होते हुए आनुषंगिक रूप से राष्ट्र निर्माता होते हैं। दूसरा वर्ग ऐसे नेताओं का होता है जिन्हें राजनीति में कोई रुचि नहीं होती, राष्ट्र निर्माण का कार्य ही उनका एकमात्र लक्ष्य होता है, किन्तु उस ध्येयमंदिर की ओर जाने वाला मार्ग राजनीति के बाजार से होता हुआ जाता हो तो अनिवार्य रूप से उन्हें राजनीति में प्रवेश करना पड़ता है। अर्थात् मुख्यतः राष्ट्र निर्माता एवं आनुषंगिक रीति से राजनीतिक भूमिका

निभाने वाले व्यक्तियों का यह वर्ग होता है। स्पष्ट है कि पंडित जी इस चौथे वर्ग के नेता थे।

भारतीय राष्ट्र-पुरुषों की मानसिकता का आंकलन कर पाना पश्चिमी राज्यशास्त्रवेत्ताओं एवं उनके भारतीय शिष्यों के लिए कठिन होता है। किंबहुना, अपने मापदण्ड से मूल्यांकन करने पर वे यदि इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ऐतिहासिक भारत का नेतृत्व करने वालों में पागल लोगों की संख्या अधिक होती है, तो कोई आश्चर्य नहीं।

रामचन्द्र और भरत में चित्रकूट पर्वत पर अयोध्या के राज्य के स्वामित्व के बारे में विवाद हुआ। प्रत्येक का दूसरे से कहना था कि यह तुम्हारा है, मेरा नहीं और तुम्हें ही इसे संभालना है। नवशिक्षित भारत की किसी नगरपालिका के एकाध वार्ड के लिए भी ऐसा विवाद सुनाई नहीं देगा!

साम्राज्यसत्ता के एक प्रत्याशी की मां ने भगवान से प्रार्थना की कि मुझ पर और मेरे पुत्र पर सदा संकट आते रहें ताकि हम सबको तुम्हारा स्मरण सदैव होता रहेगा। ऐसी प्रार्थना करने के लिए आज एक ग्राम पंचायत के प्रत्याशी की मां भी तैयार नहीं होगी।

अपने कर्तृत्व से स्थापित साम्राज्य का प्रधानमंत्री पद स्वयं दूसरे को सौंपकर हिमालय का मार्ग पकड़ने वाले को आज पागलखाने में भरती करने योग्य ही माना जायेगा।

हिंदवी स्वराज्य हो, यह 'श्री' की इच्छा है। यह 'श्री' कौन है? चुनाव आयोग द्वारा प्रकाशित मतदाताओं की सूची में उसका उसका नाम नहीं मिलता। जिसे एक मत देने का अधिकार भी न हो, उस 'श्री' की इच्छा का क्या महत्त्व है?

"मुख्य है हरिकथा-निरूपण, दूसरा राजकारण"

यह एक संत-वचन है। अब यदि संसार की सारी बातें सत्ता के माध्यम से ही प्राप्त होती हैं, तो उस सत्ता की ओर सीधे दौड़ लगाना छोड़कर बीच में ही यह हरिकथा-निरूपण की झंझट किस लिये?

"सकल सुखों का त्याग करके साध्य करें यह योग।
राज्य साधना का उद्योग— करना चाहिए॥"

ऐसा कहना भी कितनी मूर्खता है! सकल सुखों का भोग लेना हो तो राज्य की आवश्यकता होती है। उसे योग की संज्ञा देना और उसके लिए सुखी जीवन को दुख में डालने की सीख देना क्या पागलपन का लक्षण नहीं है? 'राजा प्रजा का उपभोगशून्य स्वामी है'। 'राज्य का भोग, अर्थात् राज-संन्यास'। इन दोनों व्याख्याओं में जो अन्तर्विरोध है, आज मैट्रिक फेल लड़के की भी समझ में सरलता से आयेगा।

आधुनिक वातावरण की दृष्टि से इन सब विचार-परम्पराओं का उपहास होना स्वाभाविक है। किन्तु साथ ही यह भी सच है कि भारत की श्रेष्ठता एवं चिरंतनता प्रस्थापित करने के कार्य में ऐसे पागल लोगों और उनके द्वारा स्थापित जीवनमूल्यों का योगदान सबसे बड़ा है। ऐसे लोगों के आचरण के बारे में अचूक अनुमान लगाना आज के प्रगतिशील लोगों के लिए भी कठिन होगा। 'तुम ही अपना बनाओ राजा, शीघ्र हमारे जीते जी'— ऐसा वर देवी से मांगने वाले समर्थ रामदास स्वामी प्रत्यक्ष में शिवराज्याभिषेक के अवसर पर रायगढ़ में क्यों उपस्थित नहीं थे ? उसी प्रकार १९६७ में जब विभिन्न संविद् सरकारों में जनसंघ के मंत्रियों का शपथ-ग्रहण समारोह हो रहा था, तब "हम सज्जनगढ़ ही रहते हैं, शिवाजी का कौतुक देखते हैं।" —इसी भावना से अजमेरी गेट कार्यालय में रहने वाले दीनदयाल की तटस्थता भी नई पीढ़ी के लिए अनाकलनीय ही रहेगी।

इस संदर्भ में एक प्रसंग उल्लेखनीय है—

कालीकत का अधिवेशन समाप्त हुआ था। जनसंघ के कुछ नेताओं के साथ पंडित जी बंगलोर से डोडा बल्लापुर पहुंचे थे। वहां संघ का शिविर लगा था और स्वयं श्री गुरुजी शिविर में उपस्थित थे। सायंकाल श्री गुरुजी का बौद्धिक वर्ग होना था। किन्तु उससे पूर्व चायपान के समय श्री गुरुजी ने कहा, "अब दीनदयाल बोलेंगे।" इस पर सभी चकित रह गये। एक ने कहा, "शिविर में सब लोग आपके मार्गदर्शन के लिए एकत्र हैं।" इस पर सभी चकित रह गये। एक ने कहा, "शिविर में सब लोग आपके मार्गदर्शन के लिए एकत्र हैं।" श्री गुरुजी ने कहा, "नहीं भाई ! दीनदयाल जी ही बोलेंगे।" इस पर किसी ने कहा, "वे तो जनसंघ के अध्यक्ष हैं।" इस पर श्री गुरुजी ने तुरंत कहा, "नहीं, दीनदयाल संघस्वयंसेवक हैं, वह स्वयंसेवक के नाते बोलेंगे, जनसंघ के अध्यक्ष के नाते नहीं।" और श्री गुरुजी की उपस्थिति में पंडित जी का ही बौद्धिक हुआ। इस घटना पर और भाष्य करने की आवश्यकता नहीं।

जनसंघ के ध्येय तथा नीति के प्रमुख शिल्पी दीनदयाल जी ही थे।

अतः प्रगतिशील (?) दलों के चिंतन में पाया जाने वाला संभ्रम, परस्पर विसंगति एवं अन्तर्विरोध अखिल भारतीय जनसंघ में नहीं पाया जाता। जनसंघ के ध्येय एवं नीति में स्वयं-प्रतिभा, सुस्पष्टता, एवं मौलिकता का दर्शन होता है। उदाहरण के लिए 'सेक्यूलरिज्म' की परिकल्पना को ही लीजिए।

हमारे देश में इस शब्द का उपयोग जिस अर्थ में किया जाता है, उस अर्थ में विश्व के किसी भी देश में नहीं किया जाता। किसी भी अंग्रेजी शब्दकोश में 'सेक्यूलर' शब्द का ऐसा अर्थ आपको नहीं मिलेगा। वास्तव में पंडित नेहरू के अभिप्रेत भाव को व्यक्त करने के लिए सबसे निकट पर्याय वाला अंग्रेजी शब्द था NON-DENOMINATIONAL (असाम्प्रदायिक)।

सेक्यूलरिज्म की परिकल्पना के बारे में संविधान-सभा में हुई परिचर्चा से लेकर हाल ही में श्री पी. सी. चटर्जी लिखित 'सेक्यूलर वैल्यूज फॉर सेक्यूलर इंडिया' के प्रकाशन तक पर्याप्त उल्टी-सीधी चर्चा हो चुकी है। स्वयं बाबासाहेब अम्बेडकर ने भी इस परिकल्पना का स्वरूप संविधान-सभा के भाषण में स्पष्ट किया है।

वास्तव में सेक्यूलरिज्म का व्यावहारिक अर्थ बाइबल के इस निर्देश में स्पष्ट है कि "जो सीजर का हो वह सीजर का दो और जो ईश्वर का हो उसे ईश्वर को"। स्मरणीय है कि प्रारम्भ में भारत के संविधान में भी 'सेक्यूलर' शब्द नहीं था। सन् १९७६ में पारित ४२ वे संविधान-संशोधन द्वारा 'सेक्यूलर' तथा 'सोशलिस्ट' दोनों शब्दों का उसमें समावेश किया गया। पंडित दीनदयाल जी मानते थे कि हिन्दू- राष्ट्र की अवधारणा तथा सेक्यूलरिज्म में परस्पर विरोध या असंगति नहीं है। हिन्दुस्थान में राज्य संस्था सदैव सेक्यूलर रही है। हिन्दू राज्य सेक्यूलर ही होता है। फर्डिनांड तथा ईजावेला के क्रूर रिलीजियस कोर्ट की परिकल्पना भी इस देश के वातावरण के साथ बेमेल है। सेक्यूलर का अर्थ निर्धर्मी करना गलत है। सेक्यूलर का अर्थ है सर्वसम्प्रदायसमभावी। हिन्दू कोड बिल पर संसद् में बोलते हुए डा. बाबासाहेब अम्बेडकर ने कहा था, "सेक्यूलर स्टेट का अर्थ यह नहीं है कि लोगों की धर्म-भावनाओं का हम कोई विचार नहीं करेंगे। सेक्यूलर स्टेट का अर्थ केवल इतना ही होता है कि अन्य लोगों पर एक विशिष्ट सम्प्रदाय लादने का अधिकार इस लोकसभा को नहीं है। संविधान ने इतनी ही मर्यादा को स्वीकार किया है। सेक्यूलरिज्म का अर्थ धर्म को नष्ट करना कदापि नहीं।"

हिन्दू राष्ट्र-समर्थकों की सदैव यही भूमिका रही है। पंडित जी ने भी इस सत्य को नाना दृष्टांत देकर जनता के सम्मुख रखा था।

प.पू.श्री गुरुजी ने बार-बार स्पष्ट किया है कि हिन्दू इतिहास में राज्य (स्टेट) सदैव सेक्यूलर ही रहा है। हिन्दुओं का स्टेट सेक्यूलर स्टेट है। हिन्दू 'रिलीजन' नहीं है, वह राष्ट्रवाचक शब्द है। उससे भी बढ़कर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हिन्दू अवधारणा बहु-आयामी तथा अनेक पहलूवाली है। फलस्वरूप संकीर्ण पश्चिमी प्रणाली के अनुसार किसी परिभाषा की चौखट में उसे सीमित करना वास्तविकता से परे होगा। पूज्य महात्मा जी ने भी स्पष्ट कहा था, "हिन्दुत्व में जीसस के लिए भी पर्याप्त स्थान है और उसी प्रकार मुहम्मद, जरथुस्त्र तथा मोजेस के लिए भी।

अहिन्दुओं से यह अपेक्षा उचित ही है कि यहां की राष्ट्रीय संस्कृति के साथ वे एकात्म हों और फलस्वरूप हमारे राम, कृष्ण आदि राष्ट्रीय महापुरुषों के प्रति उनके मन में वैसा ही आदर हो, जैसा कि पिरामिड के निर्माताओं के बारे में मिस्री, एटिल्ला के बारे में तुर्की अथवा दरायस के विषय में ईरानी मुसलमानों के मन में है।

इस संदर्भ में श्री अर्नाल्ड टायनबी ने कहा है, "हिन्दू धर्म यह मानकर चलता है कि सत्य एवं मुक्ति

की ओर जाने के मार्ग अनेक हैं। उसे यह भी मान्य है कि ये विभिन्न मार्ग न केवल एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं, अपितु परस्पर पूरक हैं।"

सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री गजेन्द्र गडकर का निम्न अभिप्राय चिंतनीय है—

"..... विश्व के अन्य धर्म-सम्प्रदायों की भांति हिन्दू धर्म किसी एक ही देवदूत का दावा नहीं करता, किसी एक ही ईश्वर की पूजा नहीं करता। किसी एक ही दार्शनिक अवधारणा का वह अनुगामी नहीं है। पूजा-विधि एवं धार्मिक आचार का एक ही सांचा उसे स्वीकार नहीं। वास्तविकता यह है कि हिन्दू धर्म किसी भी धर्म या सम्प्रदाय के पारंपरिक संकीर्ण अंगों को पूर्ण नहीं करता। हिन्दू धर्म का वर्णन बहुत ही हो तो एक जीवनधारा के रूप में ही किया जा सकता है। ...भारतीय दर्शन के इतिहास से यह मोटा निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दू धर्म का विकास सदैव सत्य की अनंत खोज से हुआ है। वह इस बोध पर आधारित है कि सत्य के अनेक पक्ष होते हैं। सत्य एक ही है किन्तु सुज्ञ लोग उसका वर्णन अलग-अलग ढंग से करते हैं। (एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति।)"

इस पृष्ठभूमि में भगिनी निवेदिता का यह विचार देखिएः—

"किसी भी भारतीय सम्प्रदाय के अनुयायी का सबसे बड़ा अपराध है अन्य सम्प्रदायों की यह मानकर आलोचना करना कि मानो वे सनातन धर्म की कक्षा से बाहर हैं। उचित व्याख्या करने पर बुद्ध, इस्लाम, क्रिश्चियन, कन्फयूशियन आदि सब धार्मिक सम्प्रदायों की जड़ में वेदों की प्रामाण्यता ही है।"

इस दृष्टि से श्री हुमायूं कबीर द्वारा उद्धृत के. विलियम का निम्न अभिप्राय चिंतनीय हैः—

"मनुष्य की 'अन्तः प्रवृत्तियों' एवं आचरण के जितने निष, होंगे, सत्य एवं वास्तविकता के उतने पक्ष (पहलू) अवश्य होंगे। हिन्दू मानसिकता की सहिष्णुता का उद्गम इस अन्तः प्रवृत्ति की विपुलता एवं अन्य प्रवृत्तियों से प्रकट होने वाले वस्तु सत्य के विशिष्ट पहलू को उसके द्वारा दी गयी मान्यता में खोजा जा सकता है। यूरोपीय तत्त्वज्ञान का रूझान परस्पर विरोधी वर्गों को अमान्य करने की ओर है और स्पष्ट विभाजन करते समय एक ही अंतिम सत्य को प्रस्थापित करने की दिशा में तथ्यों की व्याख्या करने का प्रयास यूरोपीय चिंतन ने किया है। हिन्दू शास्त्र ने अनेक भूमिकाओं एवं सत्य की अनेक श्रेणियों को स्वीकार किया है। किसी को भी नकारा नहीं है। सम्पूर्ण सत्य तथा सम्पूर्ण असत्य निश्चित करने की दृष्टि से यूरोपीय चिंतन वस्तु-जगत् की व्याख्या करता है। अतः यूरोपीय चिंतन को एक तीव्रता तथा उद्रेक प्राप्त हुआ है। किन्तु यूरोपीय लोगों की सत्य की ओर देखने की दृष्टि को आग्राही तथा संकीर्ण बनाने में भी इस चिंतन ने पर्याप्त योगदान किया है। दूसरी ओर, प्राचीन काल से ही भारतीय दर्शन की यह मान्यता रही है कि सत्य के अनेक पक्ष होते हैं और उनको केवल परस्पर-विरोधी वर्गों में बांटकर समझाया नहीं जा सकता। भारतीय दर्शन ने सत्य की श्रेणियों को

इतनी अधिक संख्या में स्वीकार किया है कि यूरोपीय परमार्थ-चिंतन में उसका सानी रखने वाला कुछ भी नहीं पाया जाता।"

"बाह्यतः विसंगत एवं सरकार विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म-मतों की श्रद्धाओं का समन्वय और समभाव करने की हिन्दू संस्कृति की यह क्षमता ही इस संस्कृति को अन्य किसी बात की अपेक्षा अधिक चेतना एवं जीवनसातत्य देती रही है। भिन्नताओं को समा लेने का और विविधताओं के साथ जीने का यह गुण मानव इतिहास में बेजोड़ ही माना जायेगा।"

प. पू. श्री गुरुजी को हिन्दुत्व का यही वास्तविक अर्थात् सर्वव्यापी तथा सर्वसमावेशक स्वरूप अभिप्रेत था। उनकी श्रद्धा थी कि आगे चलकर एकात्म दर्शन या प्रचलित भाषा में विश्व-बंधुत्व * को हमें सम्पूर्ण विश्व में प्रस्थापित करना हो तो उस मंगल अभियान के लिए कार्य-क्षेत्र के रूप में अत्यंत उपयोगी होने वाला देश केवल हिन्दुस्थान ही है। इसी पृष्ठभूमि में उनका हिन्दूराष्ट्र की अवधारणा के बारे में आग्रह रहता था। वे कहा करते थे कि किसी मोह का शिकार होकर हम इस हिन्दुत्व शब्द को छोड़ देते हैं, अथवा इस शब्द के बारे में कोई समझौता स्वीकार करते हैं तो हम अपना स्वत्व एवं सर्वस्व खो बैठेंगे।

हिन्दुत्व के संदर्भ में जनसंघ की वैचारिक पृष्ठभूमि का विचार करना एक स्वतंत्र विषय है। संघ-जनसंघ की इस विषय में रही भूमिकाओं में कितनी समानता या असमानता है, इस पर भी सार्वजनिक परिचर्चा हो चुकी है। किन्तु सन् १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम का सच्चा नेतृत्व करने वाले सेनानी, महर्षि अन्नासाहब पटवर्धन की परम्परा के लोग, श्रीमद्भगवद्गीता हाथ में लेकर फांसी का झूला-झूलने वाले क्रांतिकारी, गांधी जी से पहले के युग में 'गीतारहस्यकार' तिलक जी की कांग्रेस के अन्दर लाल-बाल-पाल के नाम से जाना-जाने वाला गुट, गदरपार्टी के संस्थापक लाला हरदयाल जैसे दिव्य स्वप्न देखने वाले राष्ट्रभक्त, हिन्दूपन की प्रकृति तीसरे वर्ग वाली है। उसका कार्य-क्षेत्र भारत है।

उसी प्रकार गांधी युग में महात्मा जी के स्वातंत्र्य-संग्राम में प्रत्यक्ष सहभागी होकर भी उनकी

---

* इस शब्द को हमारे देश में बहुत ही अधिक ढीलेपन से प्रयुक्त किया जाता है। वास्तव में 'अन्तरराष्ट्रीय' कहलाने वाली विचारधाराओं का वर्गीकरण तीन भागों में होता है —

1. International Communalism
2. International Secterianism
3. International Humanism

मुस्लिम तुष्टिकरण ** की नीति से अप्रसन्न कांग्रेसजन, हिन्दुत्व के कट्टर समर्थक होते हुए भी हिन्दू महासभा की कुछ नीतिविषयक बातों से * असंतुष्ट हिन्दुत्ववादी, मालवीय, केलकर, मुञ्जे, जयकर आदि की प्रतियोगी सहकारिता की नीति के समर्थक एवं अणे- मालवीय की कांग्रेस नेशनलिस्ट पार्टी के अनुयायी आदि विभिन्न मतप्रवाहों में से किसका कितना वैचारिक उत्तराधिकार जनसंघ ने स्वीकार किया था,इस विषय पर खोज किया जाना अभी शेष है । तथापि एक निष्कर्ष निरपवाद रूप से निकाला जा सकता है कि *'आर्गनाइजर'* में जनसंघ की स्थापना से पूर्व प्रकाशित श्री पी.परमेश्वरन्,श्री बलराज मधोक,श्री केवल राम (के. आर.) मल्कानी तथा मा. दादा परमार्थ के लेखों तथा क्रिश्चियन विचारक एंथनी एलेनजिमित्तम की 'The Philosophy and action of the R.S.S. for the Hindu Swaraj' पुस्तिका,सब में एक ही विषय का प्रतिपादन था और वह था हिन्दुत्वनिष्ठ राजनीतिक दल एवं कार्य की आवश्यकता ।

'हिन्दुत्व' और 'हिन्दू राष्ट्र' का स्वरूप क्या है ? इन दिनों हिन्दू राष्ट्र या भारतीय राष्ट्र के प्रश्न पर पर्याप्त-चर्चा-परिचर्चा होती है । इस पुस्तक में भी इस विषय पर समर्थ एवं विस्तृत विवेचन किया गया है । यहां एक ही उल्लेख पर्याप्त है कि फरवरी १९५६ के प्रथम सप्ताह में पंजाब जनसंघ समिति के सम्मुख बोलते हुए दीनदयाल जी ने कहा था,"हमारे दल के जन्म से ही हम लोग निरंतर यह मानते आये हैं कि हिन्दू राष्ट्रवाद का ही दूसरा नाम भारतीय राष्ट्रवाद है ।"

भारतीय जनसंघ के कानपुर में हुए प्रथम वार्षिक अधिवेशन में डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने कहा था,"हमारा दल सभी नागरिकों को समानता देने के लिए सिद्ध है,फिर भी हिन्दू समाज के दृढ़ीकरण की आवश्यकता का प्रतिपादन करने में उसे कतई संकोच नहीं होता । साथ ही गर्व के साथ इस बात को स्वीकार करते हुए कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता के भव्य प्रासाद की रचना मुख्यतः हिन्दू साधु-संतों और देशभक्तों के परिश्रम,त्याग एवं ज्ञान पर ही की गई है,हमें किसी भी प्रकार की हीन भावना का स्पर्श नहीं होता ।"

भारतीय जनसंघ की सभी जीवन-श्रद्धाओं का अधिष्ठान हिन्दुत्व ही है । स्वाभाविक रीति से दल के अध्यक्ष डा.श्यामाप्रसाद मुखर्जी से लेकर देहात के छोटे कार्यकर्ताओं तक सभी की जीवन-श्रद्धाएं

** खिलाफत आंदोलन,मिली-जुली संस्कृति की परिकल्पना,विद्रोही मोपलाओं के प्रति नीति,स्वामी श्रद्धानंद की हत्या पर उनके उद्‌गार,अफगानिस्तान के अमीर को भारत पर आक्रमण करना चाहिए— इस सुझाव पर उनकी बहुत ही विचित्र प्रतिक्रियाएं,कम्युनल अवार्ड के प्रति दृष्टिकोण,जिन्ना को कोरा चेक देने की तैयारी,सत्तान्तरण से पूर्व चल रही बातचीत में बहुत ही घुटनाटेक भूमिका आदि बातों का समावेश इस तुष्टिकरण में होता है ।

* उदाहरण के लिए "कांग्रेस एक राष्ट्रीय दल है । मुस्लिम लीग के साथ समझौता वार्ता करने का काम हमारी हिन्दू सभा पर छोड़ देना चाहिए ।"

हिन्दुत्व पर अधिष्ठित थीं।

इस हिन्दुत्वनिष्ठ भूमिका के कारण ही 'अखण्ड भारत' जनसंघ की पहली जीवन-श्रद्धा थी। बहुत से शंकालु व्यक्ति प्रश्न किया करते थे, "क्या जनसंघ यह सब कर पायेगा?" डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी इस बारे में कहते थे। "अखंण्ड भारत हमारे लिए केवल चुनाव-घोषणा नहीं, अपितु वह जीवन-श्रद्धा है। अनेक कांग्रेसजनों ने भी मुझसे पूछा है कि जनसंघ भारत और पाकिस्तान को फिर से एक कैसे कर पायेगा, यह ठीक-ठीक बताइए। मैंने उनसे उल्टा पूछा, "कांग्रेस ने जब स्वतंत्रता-प्राप्ति के लक्ष्य का प्रथम उद्घोष किया था, तब क्या किसी ने यह कहा था कि स्वतंत्रता का यह आंदोलन ठीक-ठीक किस मोड़ से होकर जायेगा? यह साम्प्रदायिक प्रश्न नहीं है। यह राष्ट्रीय एवं राजनीतिक प्रश्न है। हमारे पौरुष एवं मानवता दोनों के लिए यह एक चुनौती है। भारत देश भौगोलिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक दृष्टियों से एक है और वह सदा एक ही रहता आया है। कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के गठबंधन से हमारी मातृभूमि पर हुए अन्याय को दूर करने और मातृभूमि को उसकी स्वाभाविक अवस्था प्राप्त करा देने का हम लोगों का संकल्प है।"

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैचारिक दृष्टि से जनसंघ का गोत्र क्या था। इसे भली-भांति समझते हुए भी मद्रास के डा. वी. के. जॉन जैसे नेता जनसंघ में सम्मिलित हुए, यह घटना विचारणीय है।

यह मौलिकता और स्वतंत्र प्रतिभा जनसंघ के विचारधन में भी दिखाई देती है।

पंडित जी भली-भांति जानते थे कि केवल योग्य विचारों के निर्माण, विकास, प्रतिपादन एवं प्रचार के भरोसे ही कोई भी दल सुदढ़ नहीं हो जाता। उनके मन में इसके लिए जो प्रक्रियाएं थीं उनमें प्रत्येक कार्यकर्ता का प्रयासपूर्वक निर्माण, इस प्रकार संस्कारित कार्यकर्ताओं की प्रत्येक स्तर पर एक टोली (टीम) बनाना, इन कार्यकर्ताओं के माध्यम से जन-संपर्क, जन-जागरण, जन-शिक्षा, जन-संगठन तथा जन-आंदोलन आदि कार्यक्रम करते हुए उनके फलस्वरूप एक ओर दल के वृक्ष की जड़ें गहरी जमाते जाना और दूसरी ओर लक्ष्य-प्राप्ति के आकाश की ओर उसकी शाखाओं को अधिकाधिक ऊंचा उठाते जाना सम्मिलत था। प्रचार का महत्त्व तो होता ही है, किंतु उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात होती है शिक्षण की तथा उससे भी महत्त्वपूर्ण बात है— विशेषतः कार्यकर्ताओं की दृष्टि से— संस्कार। योगी अरविंद ने कहा है, "प्रेरकता सच्चा कार्य है। यथार्थ में प्रेरणा देने वाले एक शब्द का ही उच्चार हो तो सूखी हड्डियों में भी चेतना का संचार हो जायेगा। प्रेरणादायी जीवन हो तो उसके परिणामस्वरूप हजारों कार्यकर्ताओं का निर्माण होगा।" कार्यकर्ताओं को संस्कारित करने के लिए सर्वोत्कृष्ट साधन नेता का अपना जीवन तथा उसका कार्यकर्ता के साथ नित्य, अनौपचारिक एवं पारिवारिक संबंध होता है। उसके लिए एक-एक कार्यकर्ता के साथ निजी सम्पर्क, कार्यकर्ताओं के छोटे-छोटे समूह बनाकर उनकी बैठकें लेना, मुक्त भाव से प्रश्नोत्तर करना, अभ्यासवर्गों का आयोजन करना और बड़े समाचारपत्रों में किये जाने वाले धुंआंधार प्रचार के अतिरिक्त अपने मित्रों द्वारा चलायी जा रही

पत्र-पत्रिकाओं एवं दल के साहित्य द्वारा कार्यकर्ताओं के शिक्षण की व्यवस्था करनी पड़ती है। ये भी संस्कार करने के ही माध्यम होते हैं। एक-एक कार्यकर्ता के स्वभाव, उसकी कार्य-प्रेरणाओं तथा विभिन्न कार्यकर्ताओं के आपसी संबंधों की जानकारी रखना भी आवश्यक होता है। इसी में से कब, कहां, कौन सी योजना की जाए, इसका अचूक निर्णय लेने की क्षमता उत्पन्न होती है। कार्यकर्ता किस परिस्थिति में है और उसे कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है, इसकी जानकारी लेकर तत्परता के साथ उचित मार्गदर्शन करने और उसके कार्य का योग्य मूल्यमापन करने की भी आवश्यकता होती है। नेता का व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि प्रत्येक कार्यकर्ता के मन में यह विश्वास अपने आप— बिना वैसा कहे— निर्मित हो कि संगठन के अंतर्गत काम करने वाले कार्यकर्ताओं को नेता से सदैव योग्य न्याय ही मिलेगा और कार्यकर्ताओं का मूल्यमापन उनकी ध्येयनिष्ठा, गुणवत्ता तथा कर्तृत्व की कसौटियों पर ही किया जाएगा। व्यक्तिगत रुचि या अरुचि (पसंद-नापसंद) का ऐसे निर्णय पर कोई प्रभाव नहीं होगा। नेता के ऐसे व्यवहार से ही कार्यकर्ताओं के मन में देश के सार्वजनिक जीवन में दुर्लभ होते जा रहे ध्येयानुकूल जीवनमूल्यों की प्रतिष्ठापना होगी और तदनुसार स्वकेन्द्रित नहीं वरन् संगठन-केन्द्रित विचार करते रहने का संस्कार उन्हें मिलेगा। व्यक्तिगत उपक्रमशीलता का विकास एवं संगठन की मर्यादाओं का पालन करते हुए समन्वय करने वाला लचीला अनुशासन ऐसे ही व्यवहार से आता है। नेता को अपने आचरण द्वारा यह भी सीख देनी होती है कि व्यक्तिगत सुविधा-असुविधा के बारे में कोई आग्रह न रखा जाए और सिद्धांत के बारे में किसी से कोई समझौता स्वीकार न किया जाये। कार्यकर्ताओं में यह बोध जगाने के कारण कि ध्येयनिष्ठा आकाश के तारों के साथ प्रेम जोड़ने का दीवानापन है, प्रदीर्घ काल तक निरपेक्ष बुद्धि से लगातार काम करते रहने की कार्यकर्ताओं की मानसिक तैयारी होती है। ऐसे कार्यकर्ताओं के केवल बोलने से नहीं, अपितु प्रत्यक्ष आचरण से उनके संपर्क में आने वाले लोगों के मन में दल के प्रति विश्वास पैदा होता है। इसी में से प्रत्यक्ष सदस्यता एवं सहानुभूति रखने वाले लोगों का पहला वृत्त बनता है। इसी में से आगे चलकर "उपकारक अलिप्तता का क्षेत्र" उत्पन्न होता है। यह सब मिलाकर दल-संगठन के लिए आवश्यक पूर्वसिद्धता पूर्ण होती है। बिना इस पूर्व तैयारी के केवल धुआंधार प्रचार और नेता की छवि-निर्माण करने के आधार पर दल के प्रभाव को बढ़ाने के प्रयास वैसे ही होते हैं जैसे कि धरती पर जड़ न रखने वाली पतंग का आकाश में मंडराना। पंडित जी का स्पष्ट मत था कि पूर्वसिद्धता ठीक करने के बाद ही आवश्यकता के अनुसार धुंआंधार प्रचार का तंत्र कभी-कभी स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु उस कार्य को सफलतापूर्वक करना हो तो ऐसी पूर्वसिद्धता के बिना वह भी संभव नहीं हो पाता। (कन्फ्यूशियस ने कहा है, "सत्ता प्राप्ति का एक मार्ग है—लोगों को जोड़िए और मान लीजिए कि सत्ता आपके हाथ आ गयी। लोगों को जोड़ने का एक मार्ग है उनके मनों को जीतिए और मानकर चलिए कि लोग आपके साथ हो गये हैं।" इतना ही नहीं, अपितु ऐसी पूर्वसिद्धता के बिना कार्यकाले समुत्पन्ने दल को धन और जन प्राप्त भी हो तो उनका पूर्ण और उचित उपयोग नहीं किया जा सकता। ऐसे शास्त्रशुद्ध ढंग से दल के संगठन की नींव डालने का काम पंडित जी ने किया। वे एक कुशल संगठक तो थे ही, किंतु एक श्रेष्ठ विचारक के नाते उनके जीवन का दूसरा पक्ष जनता के सम्मुख इतनी प्रखरता

से आया कि लोगों ने एक श्रेष्ठ संगठक की उनकी भूमिका को भुला दिया। एक विचारक की भूमिका ने उनकी संगठक की भूमिका के साथ यह एक प्रकार से अन्याय ही किया।

एक बार श्री गुरुजी ने कहा था, "हम लोग संगठनशास्त्र के विशेषज्ञ हैं।"

राजनीतिक दल का संगठन करने के क्षेत्र में पंडित जी ने श्री गुरुजी के इन शब्दों को पूर्णतः सार्थक कर दिखाया।

दल का संगठन खड़ा करने की प्रक्रिया में एक महत्त्वपूर्ण भाग होता है प्रत्येक स्तर पर कार्यकर्ताओं की सुसंवादी टोली या कार्यदल (टीम) तैयार करना। इस टीम के सभी कार्यकर्ता एक ही ध्येयनिष्ठा के पथिक होते हैं। ध्येय-प्राप्ति की लगन से वे प्रज्ज्वलित होते हैं। एक ही ध्येय के पुजारी और एक ही मार्ग के पथिक होने के कारण एक-दूसरे के प्रति प्रेम और विश्वास को लेकर वे चलते हैं। ऐसी सुसंवादी टोली को नेपोलियन हिल ने Master Mind Group कहा था। संगठन की शक्ति का मर्म यही है कि इस टोली के कार्यकर्ताओं की संख्या बढ़ती जाए और प्रत्येक कार्यकर्ता की ध्येयनिष्ठा एवं गुणवत्ता का निरंतर विकास होता जाए। पंडित जी इस बारे में अखण्ड सतर्क रहा करते थे कि ऐसे समूह का प्रत्येक स्तर पर निर्माण हो और वह संख्यात्मक तथा गुणात्मक दोनों दृष्टियों से निरंतर बढ़ता जाए। (संख्या एवं गुणात्मकता के अनुपात का मार्गदर्शक उदाहरण नेपोलियन के इन शब्दों में पाया जा सकता है— "आज के ये ही सुन्दर प्रशियन जेना में १:३ और मौण्टमिरेल में १:६ के अनुपात में थे।" गुरु गोविंदसिंह ने कहा था, "सवा लाख से एक लड़ाऊं।") इसके लिए पंडित जी सम्मेलन, अधिवेशन आदि प्रकट सार्वजनिक समारोहों की अपेक्षा, एक-एक कार्यकर्ता के साथ अनौपचारिक बातचीत करने से लेकर अभ्यास-शिविरों तक कार्यकर्ता-निर्माण करने के सभी कार्यक्रमों को अधिक महत्त्व देते थे। २७ जून १९५९ से पुणे में लगे १० दिन के अखिल भारतीय अभ्यास-शिविर का आज भी महाराष्ट्र के कार्यकर्ताओं को स्मरण है। उससे पूर्व सन् १९५७ में ८ अगस्त से १८ अगस्त तक छत्तीसगढ़ बिलासपुर में एक अखिल भारतीय अभ्यास शिविर आयोजित किया गया था। इन सभी अभ्यास- शिविरों में कार्यकर्ता तैयार करने की दृष्टि से विशेष सतर्कता बरती जाती थी। विविध बैठकों में इसी पर विशेष बल दिया जाता था। इन सबका फल पंडित जी के जीते जी ही दिखाई देने लगा था। सभी स्तरों पर कार्यकर्ताओं के दल तैयार होने लगे थे। उनके कार्यकर्ताओं का गुणात्मक विकास तो हो ही रहा था, उस गुणात्मकता के साथ ही प्रत्येक कार्यदल (टीम) के कार्यकर्ताओं की संख्या भी बढ़ती जा रही थी।[१२]

पंडित जी लोकतंत्र के कट्टर समर्थक थे, किंतु उन्हें यह स्वीकार नहीं था कि लोकतंत्र पाश्चात्य पद्धति का ही हो। भारतीय परंपरा के साथ सुसंगत रहने वाला लोकतंत्र उन्हें अभिप्रेत था। भारत सबसे विशाल लोकतंत्र है, किंतु उन्हें दुख था कि उसे सबसे श्रेष्ठ लोकतंत्र नहीं कहा जा सकता। लोकतंत्र की सफलता के लिए लोकशिक्षण को वे अनिवार्य मानते थे। दल-संगठन एवं जन-आंदोलन का

प्रभाव अंत में लोकशिक्षण के स्तर पर ही निर्भर होता है। लोक-शिक्षण का अर्थ केवल प्रचार नहीं होता। आत्मप्रशंसा तथा दूसरों की निंदा दलगत प्रचार के मुख्य आधार होते हैं। किंतु पंडित जी मानते थे कि उसके कारण लोकतंत्र सफल नहीं होगा। अतः दल के कार्यकर्ताओं के शिक्षण के साथ ही पंडित जी जन-शिक्षण का भी आग्रह रखते थे। वे कहा करते थे कि रचनात्मक विचार करने वाले दलों एवं नेताओं की संख्या प्रतिदिन कम होती जा रही है और यह बात लोकतंत्र के भविष्य की दृष्टि से चिंताजनक है। लोगों के स्तर पर आकर उनकी समझ में आने वाली भाषा में विषय का प्रतिपादन करना पंडित जी की विशेषता थी। उदाहरण के लिए, एक बार अल्पशिक्षित श्रोताओं के सम्मुख 'संस्कृति का अर्थ क्या है ?'—यह कठिन विषय रखने का दायित्व उन पर आया। उस समय उन्होंने एक उदाहरण दिया। उन्होंने कहा, "हर मनुष्य को किसी न किसी समय जमुहाई आती ही है। वह स्वाभाविक ढंग से आ जाए,तो वह है प्रकृति; किंतु जानबूझकर मुंह डेढ़ा-मेढ़ा कर मुंह से ऊंची आवाज निकालना है विकृति। कतई कोई आवाज एवं प्रदर्शन के बिना जमुहाई करते समय मुंह के आगे रूमाल धरना, यह हुई संस्कृति।" इतने सरल शब्दों में कठिन विषय को प्रस्तुत करने की कला पंडित जी को अवगत थी। वे उत्तम लोकशिक्षक थे। किंतु वे सोचते थे कि केवल सत्ता के पीछे दौड़ने वाला राजनीतिक व्यक्ति यथार्थ में लोक-शिक्षण का काम नहीं कर सकेगा। जिसे सत्तारूढ़ होने की कतई इच्छा नहीं, वही हार्दिकता से लोकशिक्षा का काम कर सकेगा।

यथार्थ में लोकशिक्षण का काम राजनीतिक नेताओं के लिए सुविधाजनक नहीं होता। उदाहरण के लिए आज पश्चिम में और इसीलिए भारत में भी भौतिकता प्रधान अधिकारवाद का बोलबाला है। इस प्रवाह का सामना करते हुए कर्तव्य-धर्म का आग्रहपूर्वक प्रतिपादन करने वाले केंट, कार्लाइल, मेजिनी, रेनोबीयर तथा ब्रैडले आदि पुरुष अपवाद ही हैं। कुल पश्चिमी मानस का रुझान अधिकारवाद की ओर है। अतः भारतीय सुशिक्षित लोग भी अधिकारवादी ही हैं। विचार की इस लहर के विरुद्ध खड़े होकर भारतीय संस्कृति के कर्तव्यधर्म के विचार का दो टूक प्रतिपादन करना इतना सरल नहीं था। किंतु सस्ती लोकप्रियता की कीमत देकर भी पंडित जी ने कर्तव्यधर्म की घोषणा की। ऐसे लोकशिक्षण के अभाव में, जैसा कि बिल ट्यूरेण्ट ने कहा है, क्रांतिकारी सफल हो गये तो वे उन्हीं लोगों की नीति एवं मार्ग का अनुसरण करते हैं जिन्हें उन्होंने अपदस्थ किया होता है।

जन-नेता अपने राष्ट्र का सजग प्रहरी होता है। वह जागता रहता है, इसीलिए अन्य लोग आराम की नींद सो सकते हैं। स्वतंत्रता -प्राप्ति के बाद थोड़े ही समय में श्री गुरुजी एवं अन्य देशभक्तों को भारत में काम करने वाली विदेशी गुप्तचर संस्थाओं की गतिविधियों के बारे में चिंता लगने लगी थी और उसे उन्होंने प्रकट भी किया था। मतों की याचना करने वाले सत्तारूढ़ एवं विपक्षी दलों को भी लगता था कि राजनीतिक क्षेत्र में इस प्रश्न को स्पर्श करना एक मर्म-स्थान पर उठे फोड़े को धक्का लगाने जैसा होगा। कारण ऐसी गुप्तचर संस्थाओं की गतिविधियां देशद्रोही होने पर भी उन सब के इकट्ठा मतों की 'लाबियां' उस समय विद्यमान थीं और उन्हें दुख पहुंचाना सत्ताकांक्षी लोगों के लिए सुविधाजनक नहीं था। राजनीतिक क्षेत्र में पंडित जी ऐसे पहले नेता थे जिन्होंने विशुद्ध राष्ट्र हित की

भावना से प्रेरित होकर वोट बैंकों की परवाह न करते हुए इस प्रश्न पर आवाज उठायी। उस समय उनकी बातें राजनीतिक क्षेत्रों में अरण्य-रुदन के समान लगती थीं। इस संबंध में उचित पग उठाने का मुख्य दायित्व सरकार पर था, किंतु पंडित जी की मृत्यु तक और उसके पश्चात् भी सरकार ने इन चेतावानियों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। संवदेनशील विषय होने के कारण धैर्य से काम लेना आवश्यक था। किंतु अंत में सरकार की निष्क्रियता असहनीय होने के कारण २० नवम्बर,१९७२ को जनसंघ ने प्रकट रूप से मांग की कि भारत में विद्यमान सभी विदेशी गुप्तचर संस्थाओं की गतिविधियों की जांच करने के लिए एक आयोग नियुक्त किया जाए। प्रकट प्रस्ताव बाद में हुआ। किंतु इस प्रश्न को राजकीय मंच से वाणी देने का काम सर्वप्रथम पंडित जी ने ही किया, यह बात उनकी विशुद्ध मातृभक्ति, दूरदर्शिता एवं अखण्ड सावधानवृत्ति का परिचय देने वाली है। संभाजी राजा को लिखे पत्र में समर्थ रामदास ने आग्रहपूर्वक लिखा था, "अखण्ड सावधान रहिए।" यह सावधानता रखने वाला ही सफल संगठक, संघर्षकारी एवं लोकशिक्षक बन सकता है।

सार्वजनिक संस्था एवं सामाजिक कार्य का आर्थिक व्यवहार एकदम व्यवस्थित और कुशल होना चाहिए, इस बारे में भी पंडित जी ने प्रारम्भ से ही आग्रह रखा था। किंतु सन् १९६७ के चुनाव के बाद कुछ प्रांतों में जनसंघ के साथ संविद सरकारें सत्ता में आयीं और उसके बाद इस विषय के बारे में उनकी जागरूकता और भी बढ़ गयी। कलकत्ता के एस.बी.दांडेकर एंड कंपनी के श्री वसंत विनायक बापट को पंडित जी ने योजनापूर्वक दिल्ली के केन्द्र-कार्यालय, बम्बई के महाराष्ट्र राज्य-कार्यालय और लखनऊ के उत्तर प्रदेश राज्य-कार्यालय के लेखा (Accounts) की जांच करने के लिए और वहां के आर्थिक व्यवहारों को अनुशासन में लगाने के लिए भेजा था। पंडित जी की योजना थी कि अन्य राज्यों में भी श्री बापट इसी उद्देश्य से प्रवास करें।

सच्चा लोकशिक्षक एवं संगठनशास्त्र का ज्ञाता ही आंदोलन का नेतृत्व सफलतापूर्वक कर सकता है। पंडित जी का राजनीतिक कार्यकाल एक आंदोलनपर्व ही था। विभिन्न प्रश्नों एवं स्तरों पर अनेक आंदोलन चल रहे थे। उन सबकी सूची यहां देने का कोई कारण नहीं। उनके कार्यकाल में पहला आन्दोलन कश्मीर-सत्याग्रह ही था। ६ मार्च १९५३ को दिल्ली में कश्मीर-सत्याग्रह प्रारंभ हुआ। देश की अखण्डता के लिए जम्मू की प्रजा परिषद् द्वारा प्रारम्भ किया गया यह आंदोलन जनसंघ ने अपने हाथ में लिया और उसे देशव्यापी स्वरूप दिया। ११ मई को डा.श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने जम्मू में प्रवेश कर अपने आपको गिरफ्तार करवा लिया और २३ जून को वे राष्ट्र की बलिवेदी पर चढ़ गए। पंडित जी के कार्यकाल का यह प्रथम आंदोलन था। इस सत्याग्रह में ११ हजार लोगों ने भाग लिया था।

सबसे बड़ा आंदोलन कच्छ समझौते के विरुद्ध हुआ। १ जुलाई,१९६५ को कच्छ समझौते पर हस्ताक्षर हुए। २३ जुलाई से ९ अगस्त तक की अवधि में संपूर्ण देश में कच्छ समझौते के विरोध में एक लाख प्रदर्शन हुए और १६ अगस्त, १९६५ को संसद भवन के सामने पांच लाख लोगों का

विशाल प्रदर्शन किया। ऐसे सभी छोटे-बड़े आंदोलनों का मार्गदर्शन करने का काम पंडित जी करते थे। यह बोध कि पंडित जी आंदोलन के सूत्रसंचालक है, कार्यकर्ताओं के लिए प्रेरणादायी बन जाता था। कार्यकर्ता पंडित जी की ओर केवल एक माननीय नेता के रूप में नहीं देखते थे। सबकी एक ही भावना होती थी कि पंडित जी हमारे ध्येयदेवता की राजनीतिक क्षेत्र में अवतीर्ण सगुण साकार मूर्ति हैं। अतः अटूट साहस एवं त्याग करने की इच्छा कार्यकर्ताओं के मन में जागती थी। सन् १९५४ के जुलाई मास के अंतिम सप्ताह में माननीय विनायकराव आपटे के नेतृत्व में 'आजाद गोमांतक दल' का नाम धारण कर राजधानी सेलवासा सहित दादरा नगर-हवेली की मुक्ति का सफल अभियान चलाने वाले सर्वश्री त्र्यम्बक भट्ट, विश्वनाथ नरवणे, सुधीर फड़के, नाना काजरेकर, राजाभाऊ वाकणकर, रमण गुजर, शिवाजी यादव, धनाजी बुरंगुले, विष्णु भोपले, शांताराम वैद्य, बालकृष्ण साने, वसंत बड़वे, बाबासाहब पुरंदरे, श्री कृष्ण भिड़े, बिन्दुमाधव जोशी और उनके बहादुर साथी, १५ अगस्त १९५४ को गोवा में पणजी के सचिवालय पर पुर्तगाली सैनिकों की गोलाबारी की परवाह न करते हुए भारत का तिरंगा फहराने वाले श्री हेमंत सोमण, २३ जून १९५५ को गोवा सीमा पार कर मृत्यु के मुंह में प्रवेश करने वाले श्री जगन्नाथराव जोशी या १५ अगस्त १९९५५ को गोवा-संग्राम में आत्म-बलिदान करने वाले राजाभाऊ महाकाल, सबके प्रेरणा-स्रोत पंडित जी ही हुआ करते थे। (यह दुख की बात है कि दादरा नगर हवेली के मुक्ति-संग्राम के वीरों को आधुनिक भारतीय इतिहास में उचित स्थान नहीं दिया जाता। इस संग्राम में गोवा के सर्वश्री अप्पा करमलकर, विश्वनाथ लवंदे, श्यामराव लाड, प्रभाकर सितारी तथा मोहन रानडे ने भी भाग लिया था। दादरा नगर हवेली के श्री जयंतभाई देसाई तथा दमण के श्री विष्णु भाई पंड्या ने भी साथ निभाया था।) पंडित जी प्रत्येक आंदोलन के प्रश्नों, उसकी व्यूह-रचना तथा बाह्य परिस्थिति की सूक्ष्म बातों का भलीभांति अध्ययन कर मार्गदर्शन किया करते थे। कार्यकर्ता अपना सब कुछ न्यौछावर करने के लिए सिद्ध रहते और पंडित जी प्रत्येक कार्यकर्ता को पुत्र समान मानते हुए उनके लिए निश्चित योजना बनाते थे।

नेतृत्व के लिए आवश्यक अनेक गुण पंडित जी में थे। फिर भी उनका सबसे बड़ा गुण यह था कि अपने बड़प्पन का बोध उनके मन को कभी स्पर्श तक नहीं करना था। "कमलिनी क्या जाने परिमल" अथवा "मोहे तृण बैटा दूध जैसा मीठा" जैसी उनकी अवस्था थी। उनके मन में अपना विचार ही नहीं होता था। सामने वाले व्यक्ति के साथ वे देखते ही एकरूप हो जाते थे। कालीकत अधिवेशन का वर्णन करते हुए श्री पी. परमेश्वरन ने कहा है:

"दीनदयाल जी अधिवेशन के स्थान पर मोटर में बैठकर कभी नहीं आते थे। अन्य प्रतिनिधियों की भांति वे भी पैदल चलकर जाते। प्रवेशद्वार के पास रुक कर वहां के स्वयंसेवक को अपना प्रवेश-पत्र दिखाते। जहां ठहरे होते थे वहां धोबी को कपड़े लेने के लिए आता तो उसे कहते, "बैठो भाई"। इतना बड़ा नेता अपने को भाई कहता है, इसी का धोबी को सादर आश्चर्य लगता था। कुछ ही दिनों में दीनदयाल जी के निधन का समाचार समाचारपत्रों में पढ़ते ही उस धोबी की आंखों में आंसू आ गये थे।"

हिटलर ने अपनी आत्मकथा में कहा है, "एक ही व्यक्ति में तत्त्वचिंतक, संगठक एवं नेता के गुण हों,यह विश्व की अत्यंत दुर्लभ घटना होगी ।"

पंडित जी के नेतृत्व-गुणों का साकल्य से विचार करना हो तो भगिनी निवेदिता द्वारा किये गए आद्य शंकराचार्य के नेतृत्व-गुणों के मूल्यांकन का स्मरण हो आना स्वाभाविक है ।निवेदिता ने कहा था, "शंकराचार्य जी में सेंट फ्रांसिस की भक्ति, एबेलार्ड की मेधा, मार्टिन लूथर का उत्साह एवं विमुक्तता और लोयोला के इग्नेशियस की व्यावहारिक कार्यक्षमता एकत्रित हुई थी ।"

पंडित जी के बारे में यह सब बराबर लागू होता था । संस्मरण सैकड़ों हैं । प्रवास में सदैव दल के सामान्य कार्यकर्ताओं के घर उनका निवास होता और घर के लोगों को लगता कि वे अपने परिवार के ही हैं । अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं के लिए कार्यकर्ता को कष्ट न देना उनका स्वभाव था । परिणामस्वरूप, वास्तव में उन्हें क्या रुचिकर लगता है और क्या नहीं, किसी को पता ही नहीं होता था । उनकी भाषा मृदु, स्वभाव मधुर और आदत प्रचारक को शोभा देने वाली थीं । श्री भा.कृ.केलकर ने हाल ही में प्रकाशित अपने एक लेख में पंडित जी के आत्मविलोपी व्यक्तित्व का वर्णन 'वेदांती व्यक्तित्व' कहकर किया है, जो एकदम यथार्थ है । परिणामस्वरूप उनके सहवास में रहने वाले व्यक्ति को वे सदैव अपने जैसे या अपने में से ही एक लगते थे । ऐसे सभी निकटवर्तियों को पंडित जी के आकस्मिक निधन के बाद उनकी सच्ची महानता का मानो एकाएक साक्षात्कार हुआ और विश्वरूप दर्शन के कारण विभ्रांत अर्जुन के समान उनकी भी मनः स्थिति हो गयीः

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण, हे यादव, हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणेयन वाऽपि ॥

वे लोग सचमुच भाग्यशाली हैं जिन्हें संगठनाशास्त्र की दृष्टि से पंडित जी के सहवास में रहकर काम करने का अवसर मिला । पंडित जी के ऐसे अनेक सहयोगी आज भी राजनीति में एवं विपुल प्रसिद्धि के प्रकाश में हैं । उन्हें आज कोई भी भुला नहीं सकता । वे अपने-अपने नेतृत्व को अपने कर्तव्य के बल पर बनाए रखे हुए हैं । किंतु कुछ प्रमुख संगठक एवं सहयोगी कार्यकर्ता आज विभिन्न कारणोंवश राजनीति के क्षेत्र के बाहर हैं । कर्नाटक के वरदराज सेठी, तमिलनाडु के वासुदेवन, महाकोशल के सुभाष बनर्जी, नागपुर के जाल गिमी, विंध्य प्रदेश के हुकुमचन्द्र जैन, बिहार के ताराकांत झा, असम के रमेश मिश्र, उड़ीसा के श्रीधर आचार्य, बम्बई के मधुकरराव महाजन, गुजरात के सुमंत पारीख, श्रीमती हीराबाई अय्यर आदि लोग इस श्रेणी में आते हैं । कुछ ऐसे भी हैं जो राजनीतिक क्षेत्र के बाहर हैं, किंतु सार्वजनिक जीवन में कार्य कर रहे हैं । सर्वश्री रामभाऊ गोडबोले, डा. ओमपकाश मैगी, प्रभाकरराव फैजपुरकर, पी. परमेश्वरन, श्रीमती सुमतिबाई सुकलीकर, लाला भगवानदास जी, गिरिराज किशोर आचार्य, ये सब लोग विविध मोर्चों पर आज सक्रिय हैं । किंतु दुर्भाग्य से पंडित जी

के कुछ सहयोगी कार्यकर्ता इस दुनिया से उठ गए हैं। इनमें बंगाल के रामप्रसाद दास, सत्येन बोस, हरिपद भारती तथा रामदास कलसकर, आंध्र के गोपालराव ठाकुर, कर्नाटक के सौमित्री शर्मा, एम. ए. वेंकटराव तथा भाऊराव देशपांडे, दिल्ली के टेकचंद शर्मा, गुजरात के वसंत गजेंद्रगडकर, महाराष्ट्र के रामभाऊ म्हालगी व प्रेमजी भाई असर, विद्रभ के बबनराव देशपांडे, महाकोशल के गिरिराजकिशोर कपूर, मद्रास के वी. राजगोपालाचारी तथा उत्तरप्रदेश के माधवप्रसाद त्रिपाठी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सब ब्रह्मीभूत महानुभावों का स्मरण ऋषिऋण से अल्प मात्रा में ही सही, मुक्त होने के लिए किया गया है।

अब यह अलग से बताने की आवश्यकता नहीं कि इनमें से अधिकांश लोग रा. स्व. संघ से आए हुए हैं और यह बात स्वभाविक भी है। कारण, सन् १९४७ के बाद देश के सभी लोग व्यवहारचतुर हो गए हैं। अपने घर का भोजन कर सेना की रोटियां सेंकने के लिए जाने वाले 'पागल' लोग संघ के बाहर शायद ही मिलेंगे।

रा. स्व. संघ एवं भारतीय जनसंघ के आपस में संबंध क्या हैं ? यह प्रश्न बार-बार उपस्थित किया जाता है और इस विषय में दोनों के प्रवक्ताओं और तटस्थों के वक्तव्य भी कई बार प्रकाशित होते हैं। श्री ग्रेग बैब्स्टर की भांति जनसंघ का गहन अध्ययन करने वाले एक अन्य विद्वान श्री वाल्टर के. एण्डरसन ने अपने 'जनसंघ-आइडियालाजी एण्ड आर्गेनाइजेशन इन पार्टी बिहेवियर' शीर्षक अंग्रेजी प्रबंध में इस विषय में जो अभिप्राय व्यक्त किया है वह विचारकों द्वारा निकाले गए सामान्य निष्कर्षों का प्रथम निरूपण करते हैं। अपने 'आइडियालाजी एज ए कल्चरल सिस्टम' (सांस्कृतिक प्रणाली के रूप में विचारधारा) शीर्षक अंग्रेजी ग्रंथ में श्री क्लीफर्ड ग्रीट्ज कहते हैं, "इच्छित राजनीतिक उद्देश्यों की ओर जाने के लिए विचारधारा मार्गसूचक मानचित्र काम करती है।"

श्री राबर्ट माइकेल अपनी पुस्तक 'पोलिटिकल पार्टीज' में कहते हैं, "लोकतंत्रीय राजनीतिक व्यवस्था में काम करने वाले दलों में विषम राजनीतिक घटकों का अधिकतम समर्थन प्राप्त करने के लिए राजनीतिक लक्ष्य को शिथिल करने की प्रवृत्ति होती है।"

इस पुस्तक में राबर्ट माइकेल का एक निष्कर्ष लेनिन के 'व्हाट इज दु बी डन' शीर्षक पुस्तक में निकाले गये निष्कर्ष के साथ मिलता जुलता है। वह निष्कर्ष है, "वैचारिक दृष्टि से प्रबुद्ध चुनींदा कार्यकर्ताओं का एक अलग वर्ग समाज में काम करते हुए दल को कार्यकर्ता देता रहे तो दल की वैचारिक प्रतिबद्धता शिथिल होने की संभावना बहुत कम होती है।"

इस पृष्ठभूमि में श्री एण्डरसन जनसंघ की दृढ़ता का निदान करते हैं—

"रा. स्व. संघ के कार्यकर्ता भर्ती कर अपनी वैचारिक भूमिका की दृढ़ता मुख्य कार्यकर्ताओं में

भलीभांति बनाए रखने में जनसंघ सफल रहा है।"

निष्कर्ष रूप में श्री एण्डरसन कहते हैं, "मेरा मुख्य प्रतिपादन यह है कि निष्ठावान कार्यकर्ताओं की 'टीम' को बनाए रखने की जनसंघ की क्षमता रा.स्व.संघ के साथ उसके निकट संबंधों के कारण ही संभव हो पायी है।"

इस रचना के कारण संघ और स्वयंसेवकों के प्रभाव-क्षेत्रों में काम करने वाली राजनीतिक एवं गैर राजनीतिक संस्थाओं के संबंध क्या कम्युनिस्ट पार्टी और उसके अग्रपंक्ति संगठनों (फ्रंट आर्गेनाइजेशनस) जैसे नहीं होंगे ? इस पर एण्डरसन का निष्कर्ष है—

"रा.स्व.संघ ने अपने संलग्न संगठनों के साथ एक सहजीवी (Symbiotic) संबंध स्थापित किया है। संलग्न संस्थाओं में काम करने वाले कार्यकर्ताओं के लिए समाज में कार्य करने का लक्ष्य स्वीकार कर उसने अपने मूल 'शैक्षणिक' उद्देश्य को बनाए रखा है। गोलवलकर तथा अन्य वरिष्ठ कार्यकर्ता इस बात को जानते हैं कि यदि संघ को समाजव्यापी बनाने की भूमिका बनाए रखनी हो तो प्रचलित राजनीतिक प्रक्रिया से उसे दूर रखना पड़ेगा और संलग्न संस्थाओं में निर्णय लेने की प्रक्रिया से अलिप्तता रखनी पड़ेगी। रा. स्व. संघ का नेतृत्व राजनीति में आकर्षित हो जाता है, तो उपदेशक, 'सांस्कृतिक भाष्यकार', और 'मध्यस्थ' के नाते मान्यता प्राप्त करने के लिए अलिप्तता के जिस वलय की आवश्यकता होती है उसे वह खो देगा। इसके अतिरिक्त उन्हें सचमुच यह भय लगता है कि राजनीतिक क्षेत्र में आवश्यक सौदेबाजी में संघ के प्राणभूत मूल्यों की कट्टरता समाप्त हो जाएगी।"

प.पू.श्री गुरुजी के मन में क्या था और क्या नहीं, यह अलग प्रश्न है किंतु एण्डरसन जैसे विदेशी प्रेक्षक का यह मन को पढ़ने का प्रयास सराहनीय ही कहा जाएगा।

राजनीतिक क्षेत्र में काम करने वाले स्वयंसेवकों की मानसिकता तथा अभिप्रेरणा के बारे में वे लिखते हैं :

"स्वयंसेवकों का रुझान यह मानने की ओर है कि राजनीति में भाग लेने का अर्थ अपने संघ वाले पूर्व कार्य का ही विस्तार है। जिनमें वैचारिक कट्टरता अधिक है, उनकी दृष्टि में राजनीतिक सहभाग इसलिए स्वागतार्ह नहीं होता कि उसमें भौतिक लाभ अथवा सत्ता मिलने की आशा रहती है। उनका मत है कि 'सांस्कृतिक' कार्य की भांति राजनीतिक कार्य का उद्देश्य भी संघ की विचारधारा को जनमत का अधिकाधिक समर्थन प्राप्त कराना ही होना चाहिए। ऐसा न होता तो सत्ता एवं भौतिक लाभों का वितरण करने की क्षमता न रखने वाले जनसंघ की इतने प्रदीर्घकाल तक निष्ठावान अनुयायियों का लाभ कभी न मिलता।"

एक विवेकशील विदेशी विचारक का यह अभिप्राय विचारणीय है। इस संबंध में वस्तुस्थिति को अधिकृत रीति से श्री गुरुजी ने *'आर्गनाइजर'* के २५ जून ,१९५६ के अंक में स्पष्ट किया है और उसका उल्लेख इस ग्रंथ में भी विस्तार से आया है।

(प. पू. श्री गुरुजी के इस लेख में एक संबंधित बात का उल्लेख नहीं आया है।उस समय ऐसा उल्लेख करना औचित्यपूर्ण न होता। आज उसका उल्लेख करने में औचित्य भंग तो होगा ही नहीं, प्रत्युत उस समय की परिस्थिति की पूर्ण कल्पना आने की दृष्टि से उसकी जानकारी यहां देना आवश्यक भी है। संघ एवं संघ के स्वयंसेवकों के बारे में सरदार पटेल और पंडित नेहरू के दृष्टिकोण कितने भिन्न थे, सब जानते हैं। संघ पर लगा प्रतिबंध उठाने के बाद संघ के बारे में सरदार पटेल के मन में क्या विचार चल रहे थे, उनका स्पष्ट दर्शन उनके एक पत्र में होता है। यह पत्र सरदार पटेल ने श्री वेंकटराम शास्त्री को १६ जुलाई, १९४९ को लिखा था। उसका संबंधित भाग इस प्रकार है—

"आप श्री गोलवलकर से मिलने वाले हैं और उन्हें कुछ हितकारी परामर्श देने वाले हैं। इसकी मुझे प्रसन्नता है। ऐसा परामर्श उनके लिए आवश्यक भी है। आपके प्रांत में क्या परिस्थिति है, आप भलीभांति जानते हैं। आपको यह भी भलीभांति विदित है कि आज कांग्रेस का एकमेव विकल्प अराजकता है। यह मेरी दृढ़ धारणा आपको भी ज्ञात है।इसमें संदेह नहीं कि कांग्रेस संगठन को बल देने वाली कोई भी राजनीतिक शक्ति आज देश में नहीं है। इससे पहले भी मैंने संघ को सलाह दी थी कि उनके विचार से यदि कांग्रेस गलत मार्ग पर चल रही है तो वे कांग्रेस में शामिल होकर भीतर से उसे सुधारें, यही एक मार्ग अब उनके लिए खुला है। आप मेरी इस भूमिका से सहमत हों, तो मेरा सुझाव है कि आप भी उसे स्वीकार करें।"

इस पर अलग से भाष्य करने की कोई आवश्यकता नहीं। मूल पत्र ही पर्याप्त है।

सत्तावादी राजनीतिक नेता इन सब बातों को कहां तक समझ सकेंगे, संदेह ही है। कारण, जैसा कि पहले कहा गया है, एकाग्रचित्त से केवल सत्ता पर दृष्टि रखकर ही वे चला करते हैं। उनकी धारणा होती है कि जीवन में राजनीतिक सत्ता ही सब कुछ है। (वास्तव में राजनीतिक दर्शन में क्रांति हुए बिना भी सत्तापरिवर्तन हो सकता है। ऐसी राजनीतिक क्रांति के बाद भी समाज-रचना में गुणात्मक अंतर नहीं पड़ता। राजनीतिक दर्शन में क्रांति दो प्रकार से होती है। एक तो प्रचलित विचारधाराओं से एकदम भिन्न किसी नई विचारधारा का विकास करने से और दूसरे विद्यमान विचारधाराओं को अब तक अप्रचलित नया अर्थ प्रदान करने से।) वास्तव में राज्यसत्ता को ही सब कुछ मानने की धारणा गलत है और समग्रता से प्रत्येक पक्ष का विचार करने की हिंदू परंपरा से हटकर है, साथ ही सच्चे बुद्धिवादी मन को न जंचने वाली है। सच्चा बुद्धिवादी— वह हिन्दू परंपरा का अनुयायी हो या न हो—समग्र बुद्धि से ही प्रत्येक प्रश्न का विचार करता है। उदाहरण के लिए, 'रेडिकल ह्युमैनिस्ट' विचारक श्री वी.एम. तारकुंडे का यह वक्तव्य देखिए—

"राजनीति क्योंकि समाज-जीवन का ही एक भाग होता है, राजनीतिक उद्देश्य एवं व्यवहार एक दूसरे के साथ जुड़े होने चाहिएं। वे परस्पर सम्बद्ध हों और इतना ही नहीं, अपितु मूलभूत मानवीय प्रवृत्ति, व्यक्ति के समाज में स्थान और इतिहास तथा उत्क्रांति की सामान्य दिशा की स्पष्ट कल्पना रखकर अस्तित्व के समग्र विचार के साथ उनकी सुसंबद्धता भी होनी चाहिए।"

इस विशिष्ट संदर्भ में यह अलग से कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दू विचार-पद्धति की दिशा यही है।

सारांश यह कि प्रतिज्ञा ग्रहण करने के क्षण से पंडित जी का व्यवहार आदर्श स्वयंसेवक को शोभा देने वाला ही था।

राष्ट्रजीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करने वाले स्वयंसेवकों से संघ को जो अपेक्षाएं रहती हैं, उनको उन्होंने शतप्रतिशत पूरा किया। अपने क्षेत्र के कार्य की रचना एवं विचारों का विकास उन्होंने संघ-सिद्धांतों के प्रकाश में ही किया। सामान्य मनुष्य को यह मोह होता है कि अपने क्षेत्र में शीघ्र यश प्राप्त करने के लिए उसमें पहले से चली आ रही आदतों एवं रीति-नीतियों को अंगीकार कर ले। पंडित जी ऐसे मोह के शिकार कभी नहीं हुए। उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में संघ-संस्कारों के लिए अनुकूल पद्धति एवं रीति-नीतियों का सूत्रपात किया। वे जानते थे कि इसके परिणामस्वरूप तात्कालिक यश-प्राप्ति में बाधा आएगी। किंतु उनके सोचने का ढंग यह था कि दूसरों द्वारा अस्वच्छ किए गए कार्य-क्षेत्र को स्वच्छ एवं परिष्कृत करना अपना काम है। उसके कारण कार्यसिद्धि में विलम्ब हो जाए तो भी चल सकता है। राजस्थान में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि जमींदारी उन्मूलन के सम्बन्ध में जनसंघ अपनी भूमिका पर अटल रहता है तो उसकी तत्काल बड़ी हानि होगी और इस सिद्धांत के साथ समझौता कर ले तो वह हानि टल सकती है। उस समय दल को तत्काल लगने वाले आघात को स्वीकार करते हुए भी पंडित जी ने सिद्धांत के साथ समझौता करने से स्पष्ट इनकार कर दिया और उसके परिणामस्वरूप होने वाली हानि को स्वीकार कर लिया। अनेक लोगों को इस घटना का स्मरण होगा। इसी प्रकार के अन्य कठोर निर्णय उन्हें करने पड़े थे। ध्येयनिष्ठा, विचारों की स्पष्टता, एवं दूरदर्शिता— तीनों गुणों का संगम पंडित जी में हुआ था, अतः वे जानते थे कि अशास्त्रीय शीघ्रता के कारण अक्षम्य विलंब ही होता है। श्रीगुरुजी के 'धीरे-धीरे शीघ्रता करो' वाले मार्गदर्शन का रहस्य उन्होंने आत्मसात कर लिया था। वह सूचना थी— इतर क्षेत्रों में कार्य करने वाले स्वयंसेवकों को शाखा के साथ नित्य संबंध रखने के बारे में अन्य स्वयंसेवकों से अधिक आग्रही रहना चाहिए। इन सभी परहेजों का निरंतर पालन करते हुए उन्होंने ऐसे स्वयंसेवकों के लिए एक परिपूर्ण आदर्श प्रस्तुत किया था। इस दृष्टि से पंडित जी की विशेषताओं का व्यवच्छेदक विवरण माननीय भाऊराव देवरस ने २५ सितम्बर, १९७९ को दीनदयाल शोध संस्थान में अपने भाषण में दिया था।

(पश्चिम के पुनर्रचित नेतृत्वशास्त्र की परिभाषा में कहा जा सकता है कि पंडित जी का नेतृत्व

रूपान्तरकारी (Transforming) नेतृत्व था, कार्यसम्पादक (Transactional) नेतृत्व नहीं।

३.

इसका कोई सामान्य नियम नहीं बताया जा सकता कि इतिहास निर्माण करने वाले किसी भी महापुरुष का व्यक्तिदर्शन एवं विचारदर्शन प्रकाशित करने का उचित समय कौन सा होता है ? यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि विचारदर्शन के लिए उचित समय व्यक्तिदर्शन के लिए भी उचित ही होगा।

अनेक श्रेष्ठ पुरुषों के बारे में दिखाई देता है कि उनके कार्य का यथार्थ मूल्यांकन उनके समकालीन लोगों द्वारा ठीक से नहीं किया जा सकता। समकालीन लोगों के सम्मुख एक कठिनाई होती है— उस कालखंड में उत्पन्न समस्याएं। उसमें विभिन्न लोगों द्वारा की गयी नाना प्रकार की भूमिकाओं एवं परिणामस्वरूप पैदा हुए पूर्वाग्रहों के कारण समकालीन लोग घटनाक्रम के अंधड़ में उसी प्रकार फंस जाते हैं जैसे कोई स्वच्छ दृष्टि वाला व्यक्ति भी आंधी में घिर जाने के बाद आंखों में धूल भर जाने के कारण सामने की वस्तु को स्पष्ट रूप में नहीं देख पाता। ऐसे लोगों के लिए इसी कारण बड़े लोगों के जीवन तथा उनके कार्य के बारे में यथार्थ मूल्यांकन करना संभव नहीं होता है। इस बात के लिए समय लगता है— कभी-कभी कुछ दशकों का और कभी तो कुछ सदियों का भी।

इस प्रकार यह एक विलक्षण प्रक्रिया है। नेपोलियन के वाटरलू से लौटने के बाद समूचे फ्रेंच राष्ट्र द्वारा किया गया उसका मूल्यांकन बहुत ही घटिया स्तर का था। किंतु कुछ दशकों बाद उसी समूचे फ्रेंच राष्ट्र का यह मत बना कि नेपोलियन उनका बहुत श्रेष्ठ राष्ट्रपुरुष था। उसकी अस्थियों को गौरवपूर्वक सेंट हेलिना से लाया गया और उसकी मूर्तियाँ खड़ी की गयीं।

जीसस क्राइस्ट को जिन राज्यकर्ताओं ने 'एक दुष्ट मनुष्य' कहकर सूली पर चढ़ा दिया था, उन्हें ३३० वर्ष के बाद अपना मूल्यांकन बदलना पड़ा। वे राज्यकर्ता जीसस को केवल एक श्रेष्ठ पुरुष कहकर ही रुक नहीं गए, अपितु उन रोमन शासकों ने उसके मत को भी स्वीकार कर लिया।

शायद संस्थापित उदाहरण जोन ऑफ आर्क का होगा। केवल गलत प्रचार के शिकार लोगों ने इस महान नारी की निंदा की। वेटिकन सिटी ने भी उसे एक 'नीच स्त्री' घोषित किया और उसे जीवित जलाया गया। किन्तु पांच सौ वर्ष बाद उसी वेटिकन सिटी ने उसको 'सेंट' कहकर गौरवान्वित किया।

ऐसे कई उदाहरणों से ध्यान में आता है कि किसी की श्रेष्ठता का निर्णयात्मक मापदंड वर्तमानकालीन प्रसिद्धि या लोकप्रियता नहीं हुआ करती। उसकी श्रेष्ठता इस बात पर निर्भर होती है कि उसके कार्य की छाया कितनी दूर तक पड़ती है।

अतः जो-जो श्रेष्ठ और इसीलिए तूफानी व्यक्तित्व होता है, उसके बारे में समकालीन मूल्यांकन को प्रमाण नहीं माना जा सकता। इस संदर्भ में यह ध्यान में लाने योग्य है कि कम्युनिस्ट चीन ने च्यांग काई शेक को चार दशक बाद उत्कट देशभक्ति का प्रमाणपत्र दिया था।

सारांशतः, अनेक महापुरुषों के बारे में कहा जा सकता है कि उनका यथार्थ व्यक्तिदर्शन कराने के लिए बीच में कुछ काल का बीत जाना आवश्यक और कभी-कभी अपरिहार्य भी हो जाता है।

व्यक्ति के मूल्याकंन में जिस प्रकार कुछ समय लग जाना स्वाभाविक होता है, उसी प्रकार मौलिक, सर्वांगीण एवं उच्च विचारों के मूल्यांकन के लिए भी वह आवश्यक होता है। किन्तु विचारदर्शन के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। विचारदर्शन यथाशीघ्र एवं विस्तृत मात्रा में होते रहना चाहिए। यह कार्य जितनी द्रुत गति से होगा, उतने शीघ्र ऐसे विचारों का योग्य मूल्यांकन करना विचारकों के लिए संभव होगा।

किन्तु अनेक विचारकों के बारे में दिखाई देता है कि उनके विचार-दर्शन— अर्थात् रचना एवं प्रचार— पर शायद ग्रहदशा का भी परिणाम होता होगा। पंडित जी ने जिस 'दैशिकशास्त्र' के आधार पर कतिपय सिद्धांतों का प्रतिपादन किया, वह पुस्तक सन् १९२० में प्रकाशित हुई थी। किन्तु चार दशकों बाद पंडित जी का ध्यान उस ग्रंथ की ओर गया। कोपरनिकस की पुस्तक की पहली मुद्रित प्रति उसकी मृत्यु के कुछ ही घंटों पूर्व उसे मिली थी। उसके बाद उस पुस्तक की चर्चा कहीं भी नहीं हुई। ३०० वर्ष बाद एक शास्त्रज्ञ ने उसका केवल उल्लेख मात्र किया और उसके ५० वर्ष बाद उस पुस्तक को नकारात्मक मान्यता मिली। कारण, प्रकाशन के ८० वर्ष बाद पोप महाशय ने उस पुस्तक को प्रक्षिप्त घोषित किया।

महाराष्ट्र में 'ज्ञानेश्वरी' की मान्यता सर्वमान्य है। किन्तु उस ग्रंथराज को भी जनमान्यता मिलने के लिए पर्याप्त प्रतीक्षा करनी पड़ी। ज्ञानेश्वरी का लेखन पूरा होने के ढाई-पौने तीन सौ वर्ष बाद संत एकनाथ ने उसकी एक पुरानी प्रति खोज निकाली, उसे शुद्ध किया तथा ठीक से संवार कर फिर से जनता के सम्मुख रखा। तब जाकर उसे प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

विचार-दर्शन में इस प्रकार से विलम्ब होने के और भी कई उदाहरण हैं। किन्तु यह विलम्ब अक्षम्य ही माना गया है। कारण, विचारों के प्रसार को देर हो जाती है तो उसके उचित मूल्यांकन में उससे भी अधिक देर होगी और इसमें मानवजाति की बड़ी हानि होती है।

पंडित जी की मृत्यु के बाद अनेकों के मन में तीव्र इच्छा जागी थी कि उनकी विचारधारा के बारे में शोध का कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिए और साथ ही 'पंडित दीनदयाल उपाध्याय समग्र (व्यक्ति व विचार) दर्शन' तैयार करने का उपक्रम भी तुरंत हाथ में लिया जाना चाहिए। किन्तु प्रारम्भ में किसी

न किसी कारण इस काम में विलम्ब होता गया और आपात्काल के बाद की वेगवती घटनाओं के कारण अंत में यह काम धरा ही रह गया।

विलम्ब होने के और भी कुछ कारण थे। यह तो प्रश्न था ही कि इस विषय पर अधिकारी लेखनी के धनी कौन हैं, किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण कठिनाई थी ऐसा उद्यम सफल करने के लिए आवश्यक साधन-सामग्री की कमी।

देश की विचार-प्रक्रिया में पंडित जी का विपुल एवं गतिशील योगदान था। उसकी तुलना में उनके द्वारा तथा उनके बारे में लिखा गया बहुत कम साहित्य उपलब्ध है। यह वस्तुस्थिति है।

पंडित जी के राजनीतिक जीवन में प्रवेश करने से पूर्व राष्ट्रधर्म प्रकाशन ने उनके द्वारा लिखित, 'चन्द्रगुप्त मौर्य' तथा 'जगद्गुरु शंकराचार्य', ये दो चरित्रात्मक पुस्तकें प्रकाशित की थीं। उस समय पंडित जी साप्ताहिक *'पाञ्चजन्य'* एवं दैनिक *'स्वदेश'* (लखनऊ) के संपादक के नाते काम कर रहे थे। उसके बाद के काल में उनकी कुछ और पुस्तकें प्रकाशित हुई, 'The Two Plans' (1958), 'Devalution– A Great Fall' (1966), 'Integral-Humanism' (1967), 'जनसंघः सिद्धांत और नीति', 'अखण्ड भारत', 'इनको भी आजादी चाहिए', 'अमेरिकी अनाजः पी.एल.४८०', 'भारतीय अर्थनीति (विकास की एक दिशा)', बेकारी की समस्या और उसका हल', 'एकात्म मानववाद', 'विश्वासघात', 'टैक्स या लूट', 'राष्ट्रजीवन की समस्याएं', आदि रचनाएं उन्होंने स्वयं लिखी हैं। कुछ ग्रंथ उनके भाषणों तथा लेखों के संकलन हैं। १९६८ में ही पंडित जी के *'आर्गनाइजर'* में लिखे लेखों का एक संकलन 'जयको पब्लिशिंग हाउस' द्वारा 'Political Diary' नाम से प्रकाशित हुआ था। इसकी मार्मिक प्रस्तावना काशी विश्वविद्यालय के उस समय के कुलाधिपति डा. संपूर्णानंद ने लिखी थी। श्री भानुप्रताप शुक्ल तथा श्री रामशंकर अग्निहोत्री ने 'राष्ट्रजीवन की दिशा' नामक महत्त्वपूर्ण संकलन संपादित किया। 'एकात्म मानववाद', 'एकात्म मानववाद— समग्र दर्शन की रूपरेखा', 'राष्ट्र चिंतन' आदि संकलन भी प्रकाशित हुए हैं। दीनदयाल शोध संस्थान द्वारा निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं :—

१. पंडित दीनदयाल उपाध्यायः व्यक्ति-दर्शन, सं. कमलकिशोर गोयनका (हिन्दी) और सुधाकर राजे (अंग्रेजी), १९७२।

२. एकात्म मानव दर्शन (हिन्दी-अंग्रेजी) १९७९।

३. गांधी, लोहिया और दीनदयाल (हिन्दी), प्राक्कथन-लेखक प. मधु दण्डवते १९७८।

४. Gandhi, Lohia & Deendayal, Foreword by Prof. Madhu Dandavate

१९७८ (दोनों की पृथक्-पृथक् सामग्री)।

५. Destination (Ed. Sudhakar Raje), १९७८ ।

६. पंडित दीनदयाल उपाध्याय— व्यक्तित्व एवं जीवन-दर्शन, लेखक— डा. हरिश्चन्द्र बर्थ्वाल। इसके अतिरिक्त— 'Who Killed UPADHYAYA?', 'पंडित दीनदयाल उपाध्याय हत्याकांड मुकद्दमा', 'श्री तनसुखराम गुप्त द्वारा लिखित 'पंडित दीनदयाल उपाध्याय— महाप्रस्थान',श्री शंकर सुल्तानपुरी कृत 'अमर शहीद पं.दीनदयाल उपाध्याय',श्री दि.घ.दातार का 'एकात्म मानववाद',श्री ठेंगड़ी की दो पुस्तकें 'एकात्म मानववादः एक अध्ययन' और 'His Legacy: Our Mission', श्री एन.मधुकरराव लिखित 'दीनदयाल उपाध्याय' तथा उसका श्री प्रकाश देशपांडे द्वारा किया गया मराठी अनुवाद,श्री दाऊदयाल उपाध्याय' तथा उसका श्री प्रकाश देशपांडे द्वारा किया गया मराठी अनुवाद,श्री दाऊदयाल शास्त्री का प्रबंध-काव्य 'राष्ट्र पुरुष पंडित दीनदयाल उपाध्याय' (डा.मुकंदराव आगासकर की प्रस्तावना सहित) आदि पुस्तकें भी पंडित जी के जीवन तथा विचारों पर प्रकाश डालने वाली हैं। प्रकाशन के बारे में भारतीय जनसंघ के कार्यालय-प्रमुख श्री जगदीश माथुर,राष्ट्र धर्म प्रकाशन,लखनऊ,जयको पब्लिशिंग हाउस,दीनदयाल शोध संस्थान,नई दिल्ली,राष्ट्रोत्थान साहित्य,बंगलौर एवं अनिल प्रकाशन, बम्बई ने परिश्रम किया। दीनदयाल जी का लेखन यत्र-तत्र बिखरा पड़ा है। उसका संपूर्ण संकलन अभी भी नहीं हुआ है। उनकी आत्मविलोपी वृत्ति के कारण उनका कुछ मौलिक लेखन प्रकाशित नहीं हुआ। उसी प्रकार कुछ साहित्य कहीं प्रकाशित हुआ भी हो तो भी उसका लेखक कौन है, अनेक को इस बात का पता नहीं। उदाहरण के लिए,श्री नाना पालकर द्वारा मराठी में लिखित प.पू.डा.हेडगेवार के चरित्र का हिन्दी अनुवाद पंडित जी ने किया है,इसकी जानकारी कितने लोगों को है? सन् १९५५-५६ में चालू राष्ट्रीय घटनाओं के बारे में अत्यंत मार्मिक भाष्य *पाञ्चजन्य* में 'विचारवीथी' शीर्षक स्तंभ में 'पाराशर' के नाम से प्रकाशित होता था। ये पाराशर भी दीनदयाल जी ही थे ।

लिखित साहित्य की भांति उनकी मौखिक वाङ्मयी तपस्या की भी वही बात है।

लगातार तीन दशकों तक पंडित जी निरंतर प्रवास करते रहे। यह काल उन्होंने मुख्यतः वाहनों में बिताया। सब प्रकार के वाहन— जिनमें बैलगाड़ी भी सम्मिलित है— पैसेंजर ट्रेन से लेकर तेज गति वाले विमान तक उन्होंने इस प्रवास के लिए उपयोग में लिए। उनके साथ कोई छवि-निर्माता होता तो वह अमेरिकी शैली में आकर्षक आंकड़े प्रकाशित करता। कुल कितने किलोमीटर की यात्रा हुई,संपूर्ण प्रवास में कितने छोटे बड़े व्यक्तियों के साथ प्रत्यक्ष-परोक्ष संबंध आए,उनके द्वारा बोले गए सभी शब्द एक के बाद एक 'टेप किए जाते तो वह टेप कितने दिन तक चलता। अमरीका में राष्ट्रपति पद के चुनाव के समय प्रचार का ठेका लेने वाली संस्थाएं इसी शैली से कितनी ही सांख्यिकीय जानकारी प्रकाशित करती रहती है। सौभाग्य से पंडित जी को कोई छवि-निर्माता नहीं मिला। मूल प्रतिमा ही

उज्ज्वल होने के कारण उन्हें ऐसे निर्माता की आवश्यकता भी नहीं थी। 'स्वभावसुंदरं वस्तु न संस्कारमपेक्ष्येते' वाला सुभाषित उनके बारे में सार्थक था। फिर यह छवि-निर्माता का तंत्र पंडित जी के स्वभाव में ही नहीं बैठता था।

इतने प्रचण्ड भ्रमण में पंडित जी ने जो प्रबोधन किया होगा, क्या उसका सौंवा भाग भी आज उपलब्ध है ? कितने बौद्धिक वर्ग, कितने सार्वजनिक भाषण, कितनी बैठकें, कितने व्यक्तिगत संभाषण उन्होंने किए होंगे। इसके अतिरिक्त कितने ही लोगों के साथ निजी वार्तालाप भी किया होगा। इसमें उन संवादों को तो गिना ही नहीं, जो उन्होंने 'अपने आप' से किए होंगे। यह सारा साहित्य आज उपलब्ध होता तो नयी पीढ़ी एवं नए कार्यकर्ताओं को कितना सुदृढ़ आधार प्राप्त हुआ होता ! शायद हमारी परंपरा की प्रकृति कुछ ऐसी ही है। यथासंभव हम श्रुति के आधार पर ही काम निभाते हैं और बढ़ते हुए कार्य के कारण वैसा करना असंभव हो जाए, तभी विवश होकर स्मृतियों का सहारा लेते हैं। जो भी हो, एक बात तो निश्चित ही है कि अब भी समय हाथ से नहीं निकल गया है। उनके संपर्क में आए बहुत से लोग आज भी विद्यमान हैं। उनके भाषणों और संभाषणों की टिप्पणियां भी यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हुई मिलेंगी। उनमें असंकलित भाग अधिक है और संकलित बहुत कम। सबका संकलन करने का उद्योग राष्ट्रहित के लिए पोषक होगा। उनके जीवन के बारे में उपलब्ध सामग्री एवं जानकारी आज भी बहुत ही अपर्याप्त है।

एक तो पंडित जी की प्रकृति आत्मविलोपी थी। वे उस परंपरा में पले थे जिसमें लोग अपने मृत्युपत्र में ऐसा अनुरोध लिखकर जाते हैं कि 'मेरी मृत्यु के बाद मेरा कोई स्मारक न बनाया जाए'। वेदों के सूक्तों एवं उपनिषदों के द्रष्टा और रचयिता कितने ही ऋषि हो गए हैं। उनके नाम तो हम तक आ पहुंचे हैं, किंतु उनमें से कितने लोगों के चरित्र हमें ज्ञात हैं ? अतः ऐसी आशा करना वास्तविकता से दूर होगा कि इस पंरपरा में पला मनुष्य लाय जार्ज या चर्चिल की भांति अपने संस्मरण लिख रखेगा या पंडित नेहरू, मुसोलिनी अथवा हिटलर की भांति अपनी आंशिक आत्मकथा प्रकाशित करेगा। इसके अतिरिक्त रा.स्व.संघ का संस्कार भी था। हमारे मित्र श्री दि.वि.गोखले ने एक बार कहा था, "राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने महान लोगों का निर्माण किया, किंतु उन सबको बिना चेहरे (मुखाकृति) का रखा।"

पंडित जी का जीवनक्रम भी इस दृष्टि से अनुकूल नहीं था। लैंड्सबर्ग कारागृह में प्राप्त अनिवार्य अवकाश का उपयोग कर हिटलर ने अपना 'माइनकांफ' ग्रंथ लिखा था। ऐसा लेखन करने के लिए लेनिन को समय तब मिला जब उसे स्विट्जरलैंड में देश-निकाला दिया गया। माओ-त्से तुंग एक क्रांतिकारी सेनानी एवं शासक था। किंतु उसे भी येनान में वास करते हुए ही ऐसा समय मिल सका। किंतु पंडित जी को यह सुविधा उनके अधिकाधिक व्यस्त जीवनक्रम के कारण प्राप्त नहीं हुई।

एकाकी, अखण्ड 'चरैवेति' का व्रत पंडित जी ने लिया था। उनके कार्य के बहुआयामी स्वरूप एवं उनके निकटवर्ती लोगों की कुछ लिख रखने के बारे में अनास्था के परिणामस्वरूप पंडित जी के जीवन

में इस दृष्टि से उपयोगी व्यक्ति का आना असंभव ही था। भगवान रामकृष्ण परमहंस के जीवन में 'एम' (मास्टर महाशय महेंद्रनाथ गुप्त) ने एक विशेष भूमिका निभायी थी। महात्मा गांधी को महादेव भाई मिले थे। सरदार पटेल की पुत्री का भी योगदान इस विषय में और बड़ा था। मैडम सनन्यात सेन ने अपने पति के बारे में इसी स्वरूप का काम किया था। डा.जानसन के चरित्र बॉसवेल तो प्रसिद्ध ही हैं। इस प्रकार के कोई ग्रह पंडित जी की जन्म-पत्री में नहीं थे।

बैंजामिन फ्रैंकलिन की भांति प्रतिदिन विस्तृत दैनंदिनी लिखने की आदत पंडित जो को होती तो उनकी वह दैनंदिनी ही प्रारंभिक आत्मचरित्र के रूप में प्रकाशित की जा सकती थी। किंतु वह भी होना नहीं था।

पंडित जी का व्यक्तित्व, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, बहुआयामी था। विश्व इतिहास में थोड़े से महान व्यक्ति ऐसे हो गए हैं जिन्होंने अपनी लेखनी के द्वारा इतिहास को मोड़ दिया। रूसो, वाल्टेयर, मार्क्स आदि के नाम इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। कुछ महापुरुष ऐसे होते हैं जो उत्कृष्ट जन-नेता एवं उत्कृष्ट लेखक, दोनों भूमिकाओं को भलीभांति निभाते हैं। जूलियस सीजर, नेपोलियन, लेनिन, विन्स्टन चर्चिल एवं चार्ल्स दि गाल इस श्रेणी में आते हैं। कुछ श्रेष्ठ पुरुष ऐसे हो गए हैं जिन्होंने इतिहास पर अपनी छाप गहरी अंकित तो की है, किंतु कोई मौलिक लेखन नहीं किया। फिर भी उन्होंने अपने संगठन-कौशल, विभिन्न प्रवृत के लोगों को अपने साथ लेकर चलने की क्षमता, अपने विचारों या लेखन के आधार पर ही नहीं अपितु अपने व्यक्तिगत संपर्क से दूसरों को कार्य एवं त्याग की प्रेरणा दी। ऐसी विशेषता रखने वाले लोगों में चौदहवें लुई, मार्शल टीटो, लिंडन जानसन, हो ची मिन्ह आदि का समावेश होता है। पंडित जी का भाग्य कुछ ऐसा था कि उन्हें इन सभी भूमिकाओं के अतिरिक्त कई और भूमिकाएं भी एक साथ निभानी पड़ी थीं। ऐसे व्यक्तित्व का यथायोग्य मूल्यांकन करना आकाश को आलिंगन देने के समान है।

पंडित जी के अनुयायियों की संख्या बहुत बड़ी है। किंतु उनके प्रति मन में भक्ति रखना एक बात है, और उनकी श्रेष्ठता का उचित मूल्यांकन करने की क्षमता रखना दूसरी। कई बार 'कमलिनी और मेढक एक साथ' वाली बात ही रहती थी, जो स्वाभाविक भी है। नीत्से ने कहा है कि पर्वतारोहण करते समय हम जितनी अधिकाधिक ऊंचाई पर जाते हैं, उतनी मात्रा में ठंड बढ़ती और वायु विरल होती जाती है। इतनी ऊंचाई तक जाते-जाते जिनका श्वास नहीं उखड़ेगा, ऐसे लोग समाज में कितने होते हैं ? इसीलिए कहा गया है— 'स्तुतिगान करने तुम्हारा तुमसे कवि कब पैदा होंगे ?

इन्हीं सब कारणों से ऐसा उपक्रम प्रारम्भ करने में विलंब होना स्वाभाविक ही है। कालांतर से यह काम कुछ पिछड़ भी गया। घटनाचक्र कितना ही गतिमान क्यों न हो, उनके अनुयायियों के मन से इस काम के बारे में आतुरता नष्ट होना असंभव ही था, मनुष्य का यह सामान्य स्वभाव जो है।

अपने छात्र-जीवन में एक चर्चा सुनने या समाचार-पत्रों में पढ़ने का प्रसंग मेरे साथ बार-बार आता था। चर्चा का विषय होता— 'लोकमान्य तिलक आज जीवित होते तो ?' हम बालकों को तत्कालीन राजनीति के प्रवाह और उपप्रवाहों को जानकारी न होने के कारण इस बात पर आश्चर्य होता था कि क्यों यह प्रश्न सार्वजनिक रूप से बार-बार उठाया जाता है। इतनी समझ हम लोगों में उस समय नहीं थी कि नई परिस्थिति या प्रश्न उपस्थित होते ही इसकी प्रतिक्रियाओं की पृष्ठभूमि में ऐसी चर्चा हर बार सिर उठाती है। किंतु अब यह बात बराबर समझ में आती है कि प्रत्येक महापुरुष के निर्वाण के बाद देश के सम्मुख कोई समस्या खड़ी हो जाए तो ऐसा प्रश्न जनता के मन में स्वाभाविक रूप में उपस्थित होता ही है। पंडित जी की मृत्यु को १८ वर्ष से अधिक समय बीत चुका है। इस काल में देश के सम्मुख भी बहुत सी उलझनें सुलझाने के लिए आयीं। आपात्स्थिति जैसा अभूतपूर्व संकट भी आकर चला गया। ऐसे सभी अवसरों पर पंडित जी के अनुयायियों के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि 'पंडित जी आज जीवित होते तो ?'

अतः इस दृष्टि से पंडित जी के व्यक्तित्व एवं विचारों का समग्र दर्शन प्रकाशित होना अत्यंत आवश्यक है, यह विचार बल पकड़ता गया।

सच है कि यह प्रश्न मन में आना जितना स्वाभाविक है, उतना ही उसका उत्तर देने का प्रयास करना कठिन और कभी-कभी खतरनाक भी था। कारण, प्रश्नकर्ता कितना भी प्रामाणिक क्यों न हो, ऐसे प्रश्नों का पूर्ण वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से एवं अपनी मानसिकता से अलिप्त रहकर विचार करना उसके लिए असंभव है। अनजाने में ही अपनी स्वाभाविक प्रकृति एवं प्रतिक्रिया का प्रभाव इस प्रश्न का उत्तर खोजते समय प्रश्नकर्ता के मन पर रहा करता है। इसीलिए ऐसी खोज खतरनाक भी हो सकती है।

किंतु इसके कारण यह प्रश्न कि 'पंडित जी आज जीवित होते तो' उनके अनुयायियों के मन में उठना बंद नहीं होगा। यह प्रश्न अधिक उठेगा और न्यूनाधिक क्षमता से इसका उत्तर खोजने का प्रयास भी चलता ही रहेगा। इसमें संदेह नहीं कि अनुयायियों की जिज्ञासा का पूर्ण समाधान करने की दृष्टि से आज उपलब्ध सामग्री अपर्याप्त है। कामचलाऊ अनुमान करने के लिए उपयुक्त कुछ सामग्री पंडित जी अवश्य ही पीछे छोड़े गए हैं। उनके लिखित एवं मौखिक साहित्य, उनका जीवनपट और विशेषकर 'सिद्धांत एवं नीति' अभिलेख इस काम में पर्याप्त उपयोगी सिद्ध होगा। इस अभिलेख (दस्तावेज) के प्रकाश में अनेक प्रचलित एवं भावी प्रश्नों के उत्तर स्थूल रूप में खोजे जा सकते हैं। यह अभिलेख राष्ट्रजीवन के सभी प्रश्नों को स्पष्ट करने वाला एवं सर्वांगीण है। साथ ही उसकी उपयुक्तता की स्वभावसिद्ध एवं व्यावहारिक मर्यादाएं भी हैं। ग्रंथप्रामाण्य-बुद्धि से उसका उपयोग करना उचित नहीं होगा। उसमें दी गई सामग्री को संदर्भ-बिंदु मानना अधिक उपयुक्त होगा। सभी संबंधित समस्याओं एवं परिस्थिति पर यह अभिलेख प्रकाश तो डालता है, किंतु प्रत्येक प्रश्न या सिद्धांत का पूर्ण स्पष्टीकरण पहले ही हो चुका हो, यह संभव नहीं। सामयिक परिस्थिति के संदर्भ में

जिन विषयों को गंभीर महत्त्व प्राप्त हो जाता है उनके बारे में भाषणों एवं वक्तव्यों में विचारों को अधिक विस्तारपूर्वक एवं आग्रहपूर्वक रखना पड़ता है। जो प्रश्न गंभीर एवं विस्फोटक रूप धारण नहीं करते, उनके बारे में मूल सिद्धांत यद्यपि इस अभिलेख में दिया गया है, लीक से हटकर उनका पूर्ण विशदीकरण करने का प्रयास (केवल अभ्यास-वर्गों का अपवाद छोड़कर) अप्रासंगिक एवं हास्यास्पद सिद्ध होने की सम्भावना अधिक रहती है। इस सामान्य व्यावहारिक नियम के कारण यह भी संभव है कि आज सन् १९८६ में जो समस्या हमें विस्फोटक और इसीलिए प्राथमिक महत्त्व की लगती है, उसने पंडित जी के जीवनकाल में इतना गंभीर रूप धारण नहीं किया होगा और परिणामतः उस संबंध में ग्रंथित सिद्धांतों का विशदीकरण करने का प्रसंग पंडित जी के समक्ष नहीं आया होगा।

फरवरी, १९६८ तक जनसंघ के सम्मुख उपस्थित महत्त्वपूर्ण समस्याओं का उल्लेख इससे पूर्व अन्य संदर्भ में आ चुका है। यह स्पष्ट है कि इनमें से कुछ समस्याएं मूलभूत सिद्धांतों से, तो अन्य उन सिद्धांतों के प्रकाश में रणनीति निश्चित करने से संबंधित थीं। उपर्युक्त रणनीति के प्रकाश में समय-समय पर तात्कालिक कार्यक्रमों के आदेश दिए गए थे। कुछ समस्याएं अकस्मात उत्पन्न हुई थीं, तो कुछ सामयिक स्वरूप की थीं और विवेकबुद्धि के सहारे उनका विचार करना पड़ता था। कुछ समस्याएं उलझी हुई या बार-बार उत्पन्न होने वाली होती हैं। विविध प्राकृतिक प्रकोप और उनसे पीड़ित लोगों के पुनर्वास का प्रश्न साम्प्रदायिक एवं अन्य दंगे और उनके दुष्परिणाम, पुलिस के अत्याचारों और गोलाबारी के शिकार लोग, समाजविरोधी तत्त्वों एवं नक्सलवादियों के आंतक से पीड़ित लोग, झुग्गी-झोंपड़ी में रहने वालों की मांगें, हरिजनों पर होने वाले अत्याचार, मंत्रियों के भ्रष्टाचार के प्रकरण, मूल्यों में वृद्धि, रेलवे किराए-भाड़े में वृद्धि, कर वृद्धि, प्रतिवर्ष बजट में ग्राहक-विरोधी एवं गरीब-विरोधी प्रावधान, छोटे किसानों का ब्याजमुक्त ऋण देने की मांग, भूमिसुधार लागू करना, वनवासी लोगों द्वारा चलाए गए आंदोलन आदि विषय इस वर्ग में आते हैं। दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद पर आधारित सरकारी नीति का विरोध, अन्य परतंत्र राष्ट्रों द्वारा चलाए गए साम्राज्यवाद-विरोधी स्वतंत्रता-संग्रामों का समर्थन, संयुक्त राष्ट्र संघ की पुनर्रचना की मांग, आदि विषय भी इस वर्ग में आते हैं। निर्वाचन-प्रणाली में सुधार करने के बारे में भी यही कहा जा सकता है। विदेशी आक्रमण के समय 'वयं पंचाधिकं शतम्' की वृत्ति धारण करने एवं तदनुसार अपने राष्ट्र के युद्ध-प्रयासों को जनशक्ति का समर्थन करने की नीति सदा के लिए निरपवाद ही कही जाएगी। इन सब विषयों के बारे में पंडित जी के जीवनकाल में निर्धारित की हुई दिशा आगे भी मार्गदर्शक मानी जा सकने योग्य है। इसी प्रकार मताधिकार के लिए आयु कम करने की मांग, राज्यों में उत्पन्न सीमा-विवादों को सुलझाने के लिए सुझायी गयी पद्धति, सरकारी कर्मचारियों, अध्यापकों एवं श्रमिक-संघों के अधिकारों के प्रश्न, सिंध के विस्थापितों का पूर्ण पुनर्वास और उन्हें नागरिकता प्रदान करने की मांग, नगरीय एवं ग्रामीण सम्पत्ति और व्यय योग्य आय की अधिकतम सीमा निर्धारित करने की मांग तथा अखण्ड भारत के ध्येय का पुनः स्मरण, ये सारे विषय पूर्वनिर्धारित नीति के चौखट में बैठने वाले ही हैं। अर्थात् समय-समय पर बोलते हुए परिस्थिति के अनुसार इन सब प्रश्नों के बारे में प्रस्तावों, मांगों, तात्कालिक प्रकट नीतियों

तथा उनसे उत्पन्न होने वाले आंदोलनों के स्वरूप में उचित परिवर्तन करना पड़ेगा, किंतु पूर्वनिर्धारित दिशा बनी रहे, ऐसा ही इन सब प्रश्नों का स्वरूप है।

यह सच है कि इतिहास अपने-आपको फिर से ठीक पहले जैसा नहीं दोहराता। दो ऐतिहासिक परिस्थितियों में समानता दिखाई दे, तब भी वे पूर्णतः एक जैसी नहीं होतीं। एक ही घटना अपने-आपको वैसा का वैसा नहीं दोहराती, किंतु कई बार मौलिक प्रश्न एवं सिद्धांत मूल स्वरूप में ही बने रहते हैं।

पंडित जी की मृत्यु के बाद कुछ प्रसंग ऐसे आए जिनके हूबहू समानांतर प्रसंग उनके जीवन में नहीं पाए जाएंगे। आपात्स्थिति ऐसा ही एक प्रसंग था और उसके बाद का घटनाक्रम सर्वथा भिन्न स्वरूप का था। हूबहू समानांतर घटना यद्यपि नहीं पाई जाती, तो भी ऐसे प्रसंग में नीति का मार्गदर्शक सूत्र क्या हो, इसका अनुमान लगाने में सहायक होने वाली कुछ घटनाएं उनके जीवनकाल में अवश्य पाई जाती हैं। उदाहरण के लिए बीच के कुछ काल में लम्बे समय तक हिन्दू महासभा, जनसंघ और रामराज्य परिषद् के एकीकरण की चर्चा होती रही। उस संपूर्ण चर्चा को यहां उद्धृत करने की कोई आवश्यकता नहीं। किंतु इसके लिए चल रही बातचीत में किस बिन्दु पर कितना अड़ा जाए, किस प्रश्न को छोड़ दिया जाए और अपने दल का अन्य दलों में विलीनीकरण करने अथवा न करने के बारे में कौन सी नीति उचित होगी इसका सीधा न सही, सामान्य दिशाबोध कराने वाला मार्गदर्शन पंडित जी के उस समय के व्यवहार से प्राप्त हो सकता है। उसी प्रकार, विविध चुनावों के समय तात्कालिक रूप में अन्य दलों से निकटता बनाने के कुछ प्रयास हुए। कुछ वामपंथी लोगों को भी निकट लाने का प्रयास हुआ। स्पष्ट है कि ये सब ठीक वैसा ही आगे के काल में उत्पन्न परिस्थिति में उपयुक्त होने वाला नहीं था। तथापि उससे ऐसे प्रयत्नों की सूक्ष्म बातों एवं मर्यादाओं के बारे में बहुत कुछ बोध हो सकता है। सन् १९६७ के चुनाव के बाद कुछ प्रांतों में संविद सरकारें आईं। जनसंघ भी उनमें सहयोगी हुआ। सहभागी होने वालों में वामपंथी एवं दक्षिणपंथी दल भी थे। दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि उस समय मिली-जुली सरकारों के बारे में संबध कार्यक्रम को केंद्र-बिन्दु मानकरकर पंडित जी द्वारा किया मार्गदर्शन आज भी अनुपयुक्त या कालबाह्य नहीं हुआ है।

स्पष्ट है कि ऐसी समस्याएं जिनके बारे में उपरिनिर्दिष्ट अभिप्राय दृढ़तापूर्वक दिया जा सकता है, इनी-गिनी ही होंगी। जैसाकि इससे पूर्व कहा है, कालांतर में उत्पन्न होने वाली दो परिस्थितियां अथवा समस्याएं कभी एक-दूसरे के समान प्रतीत हुईं भी, तो उनके ऐतिहासिक संदर्भ, मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताएं तथा घटनाक्रम की उलझनें इतनी भिन्न स्वरूप की होती हैं कि पहली समस्या के अनुभव पर दूसरी के के बारे में सामान्यभाव से कोई निष्कर्ष निकालना गलत ही सिद्ध होगा। अतः सन् १९६८ के बाद की प्रत्येक राजनीतिक परिस्थिति के बारे में पंडित जी की प्रतिक्रियाएं क्या थीं, इसकी खोज करना अवास्तविक होगा। ऊपर दिए सर्वसाधारण अभिप्राय में इतना अवश्य जोड़ा जा सकता है कि किसी भी परिस्थिति में पंडित जी ने सिद्धांत के बारे में कोई समझौता स्वीकार नहीं किया होता। संघ में ग्रहण की गई व्यावहारिक रीति-नीति एवं प्रणालियों का वे त्याग न करते और न ही मनोविज्ञान के गहन

अध्ययन पर आधारित संगठनशास्त्र को कभी आंखों से ओझल होने देते । इसीलिए दीनदयाल शोध संस्थान में अपने भाषण में मा. भाऊराव देवरस दृढ़तापूर्वक कह सके कि दीनदयाल जी आज जीवित होते प्राप्त परिस्थिति में उनका आचरण कैसा होता । कुछ आधारभूत बातों के अतिरिक्त दैनिक राजनीति में उत्पन्न होने वाली प्रत्येक समस्या के बारे में पंडित जी की वृत्ति क्या रहती, इसका विचार विशेष फलदायी होने वाला नहीं है ।

सामान्यतः यही बात ग्राह्य हो, तब भी पंडित जी की मृत्यु के सवा पांच वर्ष के बाद एक छोटा सा कालखण्ड ऐसा आया जिसे इस नियम के लिए अपवाद ही मानना पड़ेगा । इस अल्पावधि में घटनाएं भी बहुत वेग से होती गईं । ये थीं— चेकोस्लोवाकिया पर रूस का आक्रमण, परमाणु-शस्त्ररहित राष्ट्रों को वे शस्त्र कभी भी उपलब्ध न होने देना सुनिश्चित करने वाली सन्धि 'नॉन प्रॉलिफरेशन ट्रीटी', केंद्र सरकार के कर्मचारियों की हड़ताल, कलकत्ता में हुआ रवीन्द्र सरोवर काण्ड, केरल में मुस्लिमबहुल मल्लपुरम् जिले का निर्माण, 'राबात' में हुआ अपमान, कांग्रेस-कम्युनिस्ट-मुस्लिम लीग का गठबंधन, भारत-रूस सन्धि, विदेशियों की हिंद महासागर में बढ़ रही गतिविधियां, कांग्रेस में पड़ी फूट, बैंकों का सरकारीकरण, तैलंगाना-आंदोलन, फरक्का विवाद, शिमला समझौता और बंगलादेश का युद्ध एवं स्वतंत्र बंगलादेश को मान्यता देने का प्रश्न । यह सुनिश्चित भाव से कहा जा सकता है कि इन सभी घटनाओं पर पंडित जी की प्रतिक्रिया क्या होती । कारण, उनके साथ संपूर्ण वैचारिक-मानसिक तादात्म्य रखने वाला एवं देश के हित-अहित का एक निकष ५ जून, १९७३ तक हमारे बीच था । अतः निस्संकोच कहा जा सकता है कि उपरिनिर्दिष्ट प्रत्येक प्रकरण में श्री गुरुजी ने जो विचार प्रकट किए, वे ही दीनदयाल जी ने भी प्रकट किए होते ।

यह अपवादस्वरूप छोटा-सा कालखण्ड छोड़ दिया जाए तो सामान्यतः कहा जा सकता है कि पंडित जी के जीवन एवं व्यक्तित्व का संपूर्ण एवं सुस्पष्ट दर्शन जब तक उपलब्ध नहीं होता, उनके विचारों के बारे में प्रत्येक प्रसंग पर अचूक अनुमान करना संभव नहीं होगा । इसका अर्थ यह हुआ कि एक तो उनका संपूर्ण साहित्य संकलित कर उसे प्रकाशित किया जाए और दूसरे इस ग्रंथ के आगामी ६ खण्डों के निमित्त इस प्रथितयश लेखकों ने अत्यंत परिश्रमपूर्वक जिस प्रकार पंडित जी के विचारों का परिचय कराया है, उसी प्रकार और वैसे ही सिद्धस्त लेखकों द्वारा उनके बहुआयामी व्यक्तित्व का दर्शन करवाने का उपक्रम तुंरत हाथ में लिया जाए ।

'पंडित दीनदयाल उपाध्यायः समग्र (व्यक्ति व विचार) दर्शन' का यह उपक्रम सफलतापूर्वक सम्पन्न होता है तो वर्तमान एवं भावी राष्ट्रीय नेतृत्व के मार्गदर्शन के लिए वह उपयोगी सिद्ध होगा, इसमें संदेह नहीं । तो आइए, हम आशा करें कि श्री राजवाड़े द्वारा लिखित 'मराठों के इतिहास के साधन' शीर्षक ग्रंथ की भांति यह ग्रंथ भी साधनभूत होगा और उसके प्रकाशन के कारण ऐसे उपक्रम की ओर बढ़ने की प्रेरणा इस विषय के अधिकारी लेखकों को मिलेगी ।

यह ग्रंथ ऐसी चिर-अपेक्षित एवं सर्वस्पर्शी साहित्यिक रचना का अग्रदूत ही है ।

४.

इस ग्रंथ- 'पं.दीनदयाल उपाध्यायः विचार-दर्शन'— में दीनदयाल जी के विचारों के विविध पक्षों पर अलग-अलग लेखकों ने प्रकाश डाला है। इन सभी लेखकों ने यह काम केवल प्रेमवश 'स्वान्तः सुखाय' भावना से किया है। प्रत्येक के मन में जान बैनियन की यही भावना थी कि "आई डिड इट फॉर माई ओन सेल्फ टू ग्रेटिफाई।" प्रत्येक के मन में विचार रहा है— 'आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।' किसी के भी मन में 'तान् प्रति नैष यत्नः' का भाव नहीं। आज अनेक कारणों से देश में एक वैचारिक रिक्तता उत्पन्न हो गई है। उसे पाटने के लिए इन लोगों का यह प्रयास आंशिक रूप में भी सहायक होता है तो सभी लेखकों को लगेगा कि उनका परिश्रम सार्थक हो गया है।

इन सब अधिकारी लेखकों ने अपने-अपने विषय के साथ पूर्ण न्याय किया है। उन्हीं पहलुओं को यहां स्पर्श करना अनावश्यक है, अतः उन विषयों की पुनरुक्ति ने करते हुए उनकी पृष्ठभूमि एवं पंडितजी की विचार-शैली की विशेषताएं ही कुछ विस्तार के साथ उपस्थित की जाएं तो पर्याप्त होगा।

५.

अमरीका में एक चुटकुला प्रसिद्ध है। एक राजनीतिक नेता कहता है, "मैंने अपना मन पहले ही बना लिया है। अब वस्तुस्थिति को अधिक स्पष्ट करते हुए मेरे मन में चंचलता उत्पन्न मत करो।" इसका कारण स्पष्ट है कि वस्तुस्थिति का और आगे वर्णन करने का अर्थ है पुनर्विचार को निमंत्रण देना; और उसके लिए समय किसके पास है? वह नेता कहता है, "सोचने के लिए मेरे पास समय नहीं, क्योंकि मुझे लगातार बोलना पड़ता है।"

इसमें विनोद के पुट को छोड़ भी दें, तब भी यह सच है कि निरंतर शीघ्रता में रहने वाले नेताओं के पास सोचने का समय नहीं होता। फलस्वरूप किसी भी प्रश्न के विविध पक्षों को शांति के साथ समझ लेने का अवकाश उनके पास नहीं होता। यह अनुभव अमरीकी लोगों का है। थोड़े अंतर से अन्य लोकतंत्रीय देशों में भी इसी प्रवृत्ति का न्यूनाधिक मात्रा में दर्शन अवश्य होता होगा।

यह प्रवृत्ति यद्यपि सुविधाजनक है, तो भी उचित निर्णय तक पहुंचने के लिए उपयोगी नहीं। कई बार ऐसा दिखाई देता है कि कुछ विचार सदैव एक ही वातावरण में और एक ही संगति में रहते हैं। फलस्वरूप उनके विचारों में दृढ़ता भले ही आती हो, एकांगिता ही अधिक होती है। साधक-बाधक विचार का उनमें अभाव ही पाया जाता है। जिनका संपर्क-क्षेत्र पर्याप्त फैला हुआ और विविधताओं से भरपूर होता है, उनके विचार में एकांगिता कम होती है, किंतु साथ ही दृढ़ता का अभाव भी होता

है। 'कहो तो है, कहो तो नहीं' वाली प्रवृत्ति भले ही उदारता की क्यों न हो, उसमें बेपैंदापन भी होता है। यह सच है कि 'बुद्धेः फलं अनाग्रहः, किंतु इसका अर्थ आग्रह, निर्णय अथवा निश्चय का अभाव नहीं होता। नई-नई जानकारी प्राप्त होती है और उसके आधार पर संपूर्ण प्रश्न का पुनर्विचार करने की मानसिक तैयारी अधिक रखनी पड़ती है। किंतु आगे चलकर शायद पुनर्विचार की नौबत आ सकती है, इसलिए आज की उपलब्ध जानकारी के आधार पर निश्चित निर्णय को टालना या असहायता से टालमटोल की नीति स्वीकारना भी बुद्धिमानी का लक्षण नहीं है। दुराग्रह न हो, पुनर्विचार के लिए तैयारी हो, किंतु प्रत्येक परिस्थिति में अनिर्णय अथवा अनिश्चय भी न हो। विचारों में दृढ़ता का होना आवश्यक है। विशालमनस्कता के नाम पर सभी विचार और मत ढुलमुल रहें तो कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न करना संभव नहीं होगा।

ध्येयवादी एवं विचारी पुरुष अपनी बुद्धि के किबाड़ कभी बंद नहीं करता। वह वस्तुस्थिति के सभी पक्षों को ध्यान में रखता है। इसीलिए उसमें एकांगिता नहीं होती। किंतु ऐसे व्यक्ति के विचार में ढुलमुलपन भी नहीं रहता। सभी अनिश्चित, भगवान भरोसे और ढुलमुल अवस्था उसकी नहीं होती। ध्येयवादी होने के साथ निश्चय ही वह ध्येयकेन्द्रित अर्थात् एककेन्द्रित होता है, किंतु समझदारी के कारण एकांगी नहीं होता। एककेन्द्रित किंतु सर्वांगीण विचार की क्षमता वह रख सकता है। पंडित दीनदयाल जी के बारे में भी यही नियम लागू होता है।

दृढ़ता उनके विचारों की एक विशेषता थी। (Nothing is so discouraging to subordinates as a chief who hesitates– Napoleon) एक ओर उनकी प्रवृत्ति 'बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्' की थी तो दूसरी ओर श्रेष्ठ व्यक्तियों के विचारों का भी वे 'नीरक्षीरविवेक' से मूल्यांकन करते थे। अंग्रेजी शब्द Pragmatism का मूल अर्थ क्या है, मुझे पता नहीं, किंतु हमारे देश में इन दिनों उसका अर्थ— "गंगा गए गंगादास, जमुना गए जमुनादास', ऐसा लिया जाता है। इस अर्थ से पंडित जी Pragmatic नहीं थे। किसी भी व्यक्ति के बड़प्पन की जगमगाहट से वे प्रभावित नहीं होते थे। उसके कारण वे चौंधिया नहीं जाते थे। मूलग्राही पद्धति से सभी बातों का मर्म समझ लेने का प्रयास वे करते थे। उनके व्यक्तिगत संपर्क का क्षेत्र बहुत विस्तृत था। नाना प्रकार के व्यक्तियों, संस्थाओं एवं दलों के साथ उनका भिन्न-भिन्न मात्रा में संपर्क रहता था। संत-शिरोमणि प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, मुनि सुशीलकुमार, भाई जी हनुमानप्रसाद पोद्दार, महामना मदनमोहन मालवीय से लेकर कुटिलतम राजनीतिक लोगों तक सबके साथ उनके संबंध थे। डा. मुखर्जी के नेतृत्व में 'नेशनल डेमोक्रेटिक पार्टी' में जनसंघ के अतिरिक्त श्री प्रफुल्लचंद्र भंजदेव एवं श्री राजेन्द्र नारायण सिंह देव की गणतंत्र परिषद्; बैरिस्टर निर्मलचंद्र चटर्जी, वि. घ. देशपांडे, डा. ना. भा. खरे और गोकुल चंद नारंग की हिंदू महासभा; वी. मुन्नुस्वामी, ए. जयरामन, वी. नूवगस्वामी पदयाची, एन. डी. गोविंदस्वामी आदि की तमिलनाडु टायलर्स पार्टी; ए. कृष्णस्वामी मुदालियर, एन. आर. एम. स्वामी एवं दोरायस्वामी तथा रामचंद्र पिल्लै की कामनवील पार्टी; एस. के. कंडस्वामी बेबी का द्रविड़ कड़घम; सरदार हुकुमसिंह, सरदार अजीत सिंह सरहदी का अकाली दल (मास्टर तारासिंह); श्री शिवमूर्ति स्वामी का लोकसेवक

संघ; एनी मैरकावेक, एडवर्ड पाल, मथुराम जैसे कुछ निर्दलीय सदस्यों आदि सबका समावेश था। इन सबके साथ पंडित जी के संबंध थे। श्री जमनादास मेहता के लोकतंत्रीय स्वराज्य दल, जम्मू की प्रजा परिषद, पंडित नीलकण्ठदास के स्वाधीन जनसंघ, आर. शंकर के हिन्दू महामण्डल, स्वामी करपात्री जी एवं श्री नंदलाल शास्त्री की रामराज्य परिषद्, चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, एन. जी. रंगा तथा मीनू मसानी की स्वतंत्र पार्टी, पंडित द्वारका प्रसाद मिश्र तथा पु. य. देशपांडे की भारतीय लोक कांग्रेस, बिहार के शोषित दल, भारतीय क्रांति दल, संयुक्त महाराष्ट्र समिति, महागुजरात जनता परिषद्, गोवा मुक्ति-संग्राम समिति, राजस्थान की जनता पार्टी, छोटा नागपुर जनता पार्टी, श्री महामाया प्रसाद सिन्हा के जनक्रांति दल, सबके साथ पंडित जी ने अपना संपर्क बनाए रखा था। सर छोटूराम की यूनियनिस्ट पार्टी के कुछ अनुयायियों के साथ भी उनके संबंध थे। वामपंथी लोगों के साथ भी उनके व्यक्तिगत संबंध थे। डा. राममनोहर लोहिया, श्री एच. वी. कामथ, श्री अशोक मेहता आदि की गणना इस श्रेणी में की जा सकती है। वही बात रिपब्लिकन पार्टी के दादासाहब गायकवाड़ के बारे में भी है। कांग्रेस में भी डा. संपूर्णानंद, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, सेठ गोविंददास, श्री के. एम. मुंशी, आचार्य कृपलानी, लालबहादुर शास्त्री, श्री घनश्यामदास गुप्त, ठाकुर रघुनाथ सिंह, राष्ट्रकवि सोहनलाल द्विवेदी आदि नेताओं तथा राष्ट्र सेविका समिति, आर्य समाज तथा सर्वदलीय गोरक्षा महाअभियान समिति के कार्यकर्ताओं के साथ भी उनका निकट संबंध-संपर्क था। श्री धंनजयराव गाडगिल एवं अन्य अर्थशास्त्रियों के साथ वे बराबर विचार-विनिमय किया करते थे। 'द टू प्लान्स' नामक उनकी पुस्तक को ऐसे विचार-विमर्श की सुदृढ़ पृष्ठभूमि प्राप्त थी। पूर्ण विचार के बाद सुनिश्चित अपनी जीवन-श्रद्धा को सुस्थापित रखते हुए इन सब छोटे-बड़े विचारों का मार्मिक रसग्रहण वे किया करते थे। उनके मन-बुद्धि के कपाट खुले रहते थे। किंतु केवल बाह्य आडम्बर के चक्कर में किसी भी विचार का विवेकशून्य एवं तारतम्यरहित स्वीकार उन्हें अनुचित प्रतीत होता था।

६.

जनसंघ की मुख्य स्पर्धा सत्ता के क्षेत्र में कांग्रेस एवं विचारधारा के क्षेत्र में कम्युनिज्म के साथ थी। हिन्दू राष्ट्र के समर्थकों के मन में संदेह, संभ्रम एवं हीनता की भावना निर्मित करने की दृष्टि से कम्युनिस्ट एक सस्ती जुगत लड़ाते हैं। वे ऐसे हाव-भाव से मानो जागतिक कम्युनिस्ट समाज रचना का 'ब्लू प्रिंट' जेब में लेकर ही घर से चले हों, पूछते हैं कि "तुम्हारे हिन्दू राष्ट्र का 'ब्लू प्रिंट' कहां है ?" यह सच है कि इस प्रकार का उथलापन ऊपर की श्रेणियों वाले एवं गंभीर प्रकृति के नेताओं में नहीं पाया जाता, किंतु ऐसे लोगों की संख्या कम होती जा रही है और सस्ती चालाकी का उपयोग करने वाले अति उत्साही कार्यकर्ताओं की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है।

दार्शनिक दृष्टि से हम कम्युनिज्म का विरोध करते हैं। इसी दृष्टि से कम्युनिज्म एवं सोशलिज्म के बारे में कुछ वर्णन आगे किया गया है। किंतु इन प्रश्नों के संदर्भ में इतना कहना तो पर्याप्त है कि

कम्यूनिज्म के प्रणेता एवं नेता भले ही उत्तम विचारक क्यों न हों, उनके अधिकांश अनुयायीगी प्रकृति से उथले होते हैं। कम्युनिज्म के आंदोलन को मानो यह एक अभिशाप ही है। उदाहणार्थ, इस आंदोलन के प्रारंभिक काल में एंजेल्स ने लिखा था—

"इतिहास की भौतिकतावादी उत्पत्ति को मानने वालों में बहुतेरे ऐसे हैं जिनके लिए यह इतिहास का अध्ययन न करने का एक सुविधाजनक बहाना मात्र होता है।"

"सामान्यतः जर्मनी के अनेक तरुण लेखकों को 'भौतिकवादी' एक ऐसा शब्द मिल गय्या है कि विशेष अध्ययन किए बिना हर बात पर उसे किसी 'लेबिल' की भांति चिपकाया जा सकता है। वे लोग ऐसा 'लेबिल' लगा देते हैं और यह मान लेते है कि प्रश्न समाप्त हो गया।"

"और अपने दल के बारे में कहना हो तो जर्मन कम्युनिस्ट दल में एक बड़ा गुट मुझसे रुष्ट है, क्योंकि मैं उनके स्वप्नरंजन एवं शब्दाडम्बरपूर्ण भाषणबाजी का विरोध करता हूं।"

"आप में से जिन लोगों ने प्रत्यक्ष में कुछ काम किया है, उनके ध्यान में आया ही होगा कि दल से चिपके युवा साहित्यिकों में केवल मुट्ठीभर लोग ही अर्थ-विज्ञान, अर्थविज्ञान का इतिहास और व्यापार, उद्योग, कृषि, समाज-रचना आदि के इतिहास का अध्ययन करने का कष्ट उठाते हैं। कई बार ऐसा दिखाई देता है कि शायद ये भलेमानस सोचते हैं कि श्रमिकों के सामने कुछ भी भाषण झाड़ देने से काम चल जाता है। काश, इन लोगों को यह ज्ञान होता कि स्वयं मार्क्स को कितनी उत्कटता से अनुभव हो रहा था कि हमारी उत्कृष्ट बातें भी श्रमिकों के लिए पर्याप्त संतोषजनक नहीं हैं और सर्वोत्कृष्ट से कम कुछ भी श्रमिकों को देना एक अपराध है।"

विचारों के उथलेपन के बारे में आज के भारतीय पिछली सदी के यूरोपीय कम्युनिस्टों को भी मात दे रहे हैं। अखिल भारतीय स्तर के एक कम्युनिस्ट नेता द्वारा दिए गए एक वक्तव्य पर सर्वोच्च न्यायालय के विद्यमान न्यायाधीश ने अपना मत प्रकट करते हुए कहा था—

"इस (नेता) ने यदि कम्युनिस्ट साहित्य पढ़ा हो तो हमें संदेह है कि उसका आशय ठीक से इसके ध्यान में नहीं आया है... एक तो उसे मार्क्स, एंजेल्स और लेनिन ने क्या कहा था, ज्ञात नहीं हैं, अथवा अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए उनके वक्तव्यों को इसने जानबूझकर तोड़ा-मरोड़ा है। हम यह समझ नहीं पा रहे हैं कि इनमें से कौन सी बात को मानना अधिक उदारता का काम होगा... पुनरावेदन (अपील) करने वाले ने मार्क्स, एंजेल्स और लेनिन की सच्ची सीख के बारे में अपने आपको दिग्भ्रान्त कर लिया है, इसमें संदेह नहीं।"

जो भी हो, इतना तो सच है कि कम्युनिस्टों और उनकी बातों में आकर कुछ स्वयंसेवकों ने भी पंडित जी से अनेक बार प्रश्न किया था कि 'हमारे हिन्दू राष्ट्र का 'ब्लू प्रिंट' क्या है ?'

भारत के वामपंथियों की गतिविधियों के बारे में यद्यपि हम आगे चर्चा करने वाले हैं, इस प्रश्न के

बारे में ही कुछ स्पष्टीकरण करना अधिक उपयोगी होगा।

इस सिलसिले में अपने छुटपन की एक घटना का मुझे स्मरण हो रहा है। स्थानबद्धता से मुक्त होने के बाद अपने पहले ही प्रवास में स्वातंत्र्यवीर सावरकर हमारे गांव आर्वी आए थे। संघचालक डा. आपटे के घर उनका निवास था। दोपहर साढ़े बारह बजे के लगभग स्थानीय हाई स्कूल के २०-२२ छात्र हाथ में काले झण्डे लिए वहां आए और 'सावरकर गो बैक' के नारे लगाने लगे। ऐसे अवसर पर मारपीट होना स्वाभाविक ही था। किंतु सावरकर जी ने मारपीट नहीं होने दी, प्रत्युत इन छात्रों को अपने समक्ष बैठाकर उन्होंने पूछा, "यह 'गो बैक' का नारा आपने क्यों दिया?" प्रश्न पूछना ही था कि नवीं कक्षा का एक छात्र खड़ा हुआ और उसने ढिठाई के साथ अंग्रेजी में प्रश्न किया, "सावरकर महाशय, अपने हिन्दू राष्ट्र का 'ब्लूप्रिंट' क्या आप हमें विस्तार से बता सकेंगे?"

उस लड़के की आयु और उसका प्रश्न ध्यान में लेते ही यह बात समझने में देर नहीं लगी कि हमारे हाईस्कूल के एक कम्युनिस्ट शिक्षक ने ही यह उपद्रव करवाया था। सावरकर ने सामने बैठे हुए छात्रों की ओर एक क्षण देखा और कहा, "बच्चो, आप जीत गए, मैं हार गया। मैं आपके इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता।"

बाद में पास ही बैठे हम लोगों की ओर देखकर उन्होंने बोलना प्रारंभ किया—

'इस बीच एक कालखण्ड ऐसा आया कि जब तीन देशों के तीन सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी लन्दन नगर में आश्रय ले रहे थे। आयरलैंड के इमोन डि वेलेरा, भारत के सावरकर तथा रूस के लेनिन।

"लेनिन के पीछे रूसी गुप्तचरों का साया सदा लगा रहता था। भूमिगत अवस्था में लेनिन ने तीन दिन सावरकर के 'इंडिया हाउस' में आश्रय लिया था। रात्रि के भोजन के समय केवल सावरकर और लेनिन ही इकट्ठे होते थे।

"एक रात सावरकर ने लेनिन से कहा—

"आपके 'इज्म' में मुझे कोई रुचि नहीं। किंतु मैं यह अवश्य जानना चाहता हूं कि आपके हाथ में सत्ता आती है, तो रूस का 'ब्लूप्रिंट' कैसा होगा।" लेनिन हंसे और कहा, "यह प्रश्न आप मुझसे इस समय क्यों पूछ रहे हैं? क्रियान्वयन की क्षमता आने तक ब्लूप्रिंट का विकास नहीं हो सकता। जब तक कार्य करते रहने के लिए मार्गदर्शक सिद्धांतों की आवश्यकता होती है। सत्ता प्राप्त होने के बाद उस समय की सारी परिस्थिति का स्वरूप ध्यान में लेकर ही 'ब्लूप्रिंट' का शनैः शनैः विकास करना होता है।"

उसके बाद फिर से उन बच्चों की ओर मुड़ कर सावरकर ने कहा, "यही प्रश्न यदि लेनिन ने मुझसे किया होता तो मैं भी उनसे प्रतिप्रश्न करता कि उस समय आपने रूस के ब्लूप्रिंट के बारे में जो उत्तर दिया था, क्या आपको स्मरण है ? लेनिन से तो मैं यह अवश्य पूछ सकता था, किंतु बच्चो, तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर मैं तुम्हें नहीं दे सकता।"

(इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि सत्ता प्राप्त होने के बाद एक प्रश्नकर्ता के प्रश्न का उत्तर देते हुए लेनिन ने कहा था कि आज की स्थिति में मेरा कम्युनिज्म है रूस का सोवियंतीकरण एवं विद्युतीकरण।)

ऐसा दिखाई देता है कि 'ब्लूप्रिंट' की इच्छा का यह छूत का रोग हमारे देश के समाजवादियों को भी लग गया था। १९३४ में पटना में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के अधिवेशन के समय कांग्रेस के अंतर्गत कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की बैठक चली थी। तब पार्टी का प्रस्तावित कार्यक्रम जयप्रकाश जी ने महात्मा जी को बताया। उसमें एक विषय यह भी था कि मार्क्सवादी नारे की भांति 'प्रत्येक से उसकी क्षमता के अनुसार लेने वाली प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार देने वाली' व्यवस्था समाज-रचना में होनी चाहिए। इस वक्तव्य पर अंगुली रखकर गांधी जी ने कहा, "जयप्रकाश जी आप यदि यह करते हैं तो मैं शतप्रतिशत आपके साथ हूं।" जयप्रकाशजी के ध्यान में आ गया कि गांधीजी शायद यही संकेत दे रहे हैं कि सिद्धांत कितना ही उत्तम क्यों न हो, निकट भविष्य में वह व्यवहार्य नहीं है। लेनिन ने लिख रखा है कि स्वयं कार्ल मार्क्स ने अर्थविज्ञान के बारे में एक भी शब्द नहीं लिखा था। इसका अर्थ यही हुआ कि उत्पादन एवं वितरण के अभिकरण (एजेंसियाँ) क्या होंगे, उनके परस्पर संबंध कैसे होंगे, विनिमय तथा उपभोग की व्यवस्था क्या होगी, विभिन्न आर्थिक हितों में परस्पर संबंधों का नियंत्रण करने वाला तन्त्र (मशीनरी) कैसा रहेगा, आदि बातों का विवरण मार्क्स ने नहीं दिया। मार्गदर्शक सिद्धांत ही सामने रखा और वही बात व्यावहारिकता एवं बुद्धिमानी की भी है।

'ब्लू प्रिंट' की मानसिकता के बारे में स्वयं कार्ल मार्क्स का क्या मत था ? इसका विवरण वुल्फ गैंड लिआन हार्ड ने अपने 'थ्री फेसेज ऑफ मार्क्सिज्म' नामक ग्रंथ में इस प्रकार दिया है—

"विभिन्न अवस्थाओं में परिवर्तन के विवरण और विभिन्न लोगों के व्यावहारिक प्रश्नों के उत्तरों का विचार करने के बारे में कोई चर्चा करने से मार्क्स तथा एंजेल्स ने स्पष्ट रूप से इनकार किया है। कारण उनका मानना था कि इस प्रकार की चर्चा निरी कपोल-कल्पना ही होगी। श्रमिक वर्ग के पास ऐसी कोई भी बनी-बनायी कपोल-कल्पना नहीं है, जो क्रांतिकारी लोगों के सम्मुख रखी जा सकती

है ।" मार्क्स ने स्पष्ट शब्दों में कहा है, "उनके सामने अन्य कोई उद्देश्य नहीं है । उनका हेतु केवल इतना ही है कि नव समाज को जन्म देने वाली जो शक्तियां ढहते जा रहे पुराणपंथी समाज के गर्भ में विद्यमान हैं, उन्हें मुक्त किया जाए ।"

"भावी समाज का संगठन करने के लिए आदर्शबद्धता का निर्माण करना कम्युनिस्टों का काम नहीं । विवरण की सूक्ष्मता में जाना तो उनका कतई कर्तव्य नहीं है । भावी समाज में अन्न या आवास के वितरण की व्यवस्था कैसी हो, इसके विचार सीधे कल्पनारंजन की ओर ले जाने वाले होते हैं ।"

"भावी कम्युनिस्ट समाज के लोग क्या करें, इसके बारे में आज हम लोगों को क्या लगता है, इसका कोई मूल्य उस समाज की दृष्टि से नहीं है ।"

हाल ही में प्रकाशित 'रीडिंग्स इन मार्क्सिस्ट सोसियोलॉजी' ग्रंथ में सम्पादक बूम टॉम बॉटमोर तथा पेट्रिक गुड लिखते हैं, "मार्क्स के समाजविज्ञान में इस बात का कोई विशेष विवेचन नहीं है कि समाजवादी समाज कैसा होगा । स्वयं मार्क्स को भावी समाज के बारे में अनुमान करने बैठने की अपेक्षा वर्तमान समाज तथा परिस्थिति का पृथक्करण करने में अधिक रुचि थी ।"

इसी विषय पर एक प्रश्न का उत्तर देते समय ठाणे की बैठक में श्री गुरुजी ने कहा था, "प्रत्येक परिस्थिति की आवश्यकता को ध्यान में लेकर उचित समाज-रचना करने का हिन्दुओं को पूर्ण अधिकार है । शर्त केवल इतनी ही है कि ऐसी कोई भी रचना सनातन धर्म के शाश्वत सिद्धांतों के प्रकाश में तथा उनके अनुकूल ही हो ।"

मद्रास की एक बैठक में एक कालेज-छात्र ने 'ब्लू प्रिंट' के बारे में ऐसा ही प्रश्न किया तो पंडित जी ने प्रतिप्रश्न किया था, "क्या आगामी पीढ़ियों के हाथ अभी से बांध रखने की आपकी इच्छा है ?"

सारांश, 'ब्लू प्रिंट' के बारे में प्रश्न बचकाना है । पंडित जी ने ऐसा कोई 'ब्लू प्रिंट' नहीं दिया और इसी से उनके विचारों की गहनता सिद्ध होती है ।

७.

हमारा कहना है कि धर्म का विचार दो भागों में हो— एक में सनातन, शाश्वत, कालजयी एवं अपरिवर्तनीय सिद्धांत का और दूसरा ऐसे सिद्धांतों के प्रकाश में बार-बार बदलने वाली परिस्थिति के लिए अनुकूल सिद्ध होने वाली अखण्ड परिवर्तनशील समाज-रचना का । (टाल्स्टाय ने धर्म के तीन विभाग किए हैं— १. एसेन्शियल्स ऑफ रिलिजन, २. फिलॉसफी ऑफ रिलिजन व ३. रिचुअल्स

ऑफ रिलिजन) सिद्धांत अपरिवर्तनीय हैं; उनके प्रकाश में की जाने वाली समाज-रचना परिस्थिति-सापेक्ष और इसीलिए परिवर्तनशील है। कुछ ऐसी ही बात महान विचारकों के प्रकट चिंतन के बारे में भी होती है। शाश्वत सिद्धांत परिस्थितिनिरपेक्ष होते हैं। किंतु उनका स्पष्टीकरण तथा उन पर किए गए भाष्य सदा परिस्थितिनिरपेक्ष नहीं रह सकते। सिद्धांत भले ही वे ही क्यों न हों, प्रत्येक परिस्थिति की सूक्ष्म बातें समाज का स्तर, एवं प्रवृत्तियां आदि अनेक बातों को ध्यान में लेकर ही उसका प्रतिपादन करना होता है। एक ही मध्यम मार्ग बताना हो तो उसका विशदीकरण क्रूर समाज के सामने करते समय जिस शब्द-रचना एवं जैसे विषय-प्रतिपादन की आवश्यकता पड़ती है, वे कायर लोगों के सम्मुख उपयोगी नहीं होते। आशय एक ही क्यों न हो। आग्रह में अंतर पड़ता ही है। इसीलिए अनेक बार एक ही तत्त्वप्रणाली के विभिन्न कालखण्डों अथवा विभिन्न भूभागों में हो चुके प्रवक्ताओं के प्रकट वक्तव्यों में विरोधाभास पाया जाता है। यहीं नहीं, कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही श्रेष्ठ पुरुष प्रसंगवश कहीं परस्पर विसंगत अथवा परस्पर-विरोधी विचार तो नहीं व्यक्त कर रहा है। भगवद्गीता का त्याग कर फुटबाल खेलने का विवेकानंद द्वारा दिया गया उपदेश इसी श्रेणी में आता है। जिस परिस्थिति में संभाषण, भाषण या लेखन किया गया हो, उसका संदर्भ एवं प्रसंग ध्यान में लिए बिना केवल शब्दों का वाच्यार्थ लेने से गड़बड़ हो सकती है। किसी भी महान व्यक्ति के विचारों का दर्शन करते समय इस विवेक को ध्यान में लेना आवश्यक होता है।

एक अन्य विचारबिन्दु का सरसरी दृष्टि से उल्लेख इससे पूर्व किया गया है। पंडित जी के साहित्य में अधिकांश रूप से सभी प्रचलित एवं संभाव्य समस्याओं के बारे में मार्गदर्शन मिलता है, किंतु उसका स्वरूप दो प्रकार का है। एक तो मार्गदर्शक सिद्धांतों का केवल सूत्र रूप में प्रस्तुतीकरण और दूसरा, ऐसे सूत्रों का विश्लेषणात्मक विशदीकरण। पंडित जी के साहित्य में इन दोनों स्वरूपों के मार्गदर्शक सूत्र सभी समस्याओं के बारे में दिए हुए हैं। किंतु प्रत्येक का विशदीकरण उसमें होगा ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता। किसी सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया हो, और उसका स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता प्रकट वाली परिस्थिति उत्पन्न न हुई हो, तो व्यर्थ में ऐसा स्पष्टीकरण देने में समय गंवाना किसी भी व्यावहारिक कार्यकर्ता को भाएगा नहीं। कारण, ऐसे प्रतिपादन का उद्देश्य डाक्टरेट प्राप्त करने के लिए शोध-प्रबंध लिखना नहीं होता, वरन्, समाज को व्यावहारिक दिशादर्शन देने का होता है। अतः जिस प्रश्न पर विवाद, तूफान, संभ्रम या विस्फोटक परिस्थिति पैदा हुई हो, उस प्रश्न में अनुस्यूत तत्त्व का विशदीकरण ऐसा विचारक बिना चूके करेगा, किन्तु परिस्थिति की आवश्यकता नहीं तो इतना विस्तृत स्पष्टीकरण देने के झंझट में वह नहीं पड़ेगा। जिस प्रश्न या सिद्धांत के बारे में स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है, उस प्रश्न या सिद्धांत के बारे में विचारक की भूमिका संदिग्ध थी अथवा विस्तार में मार्गदर्शन करने की क्षमता उसमें नहीं थी, ऐसा कहना गलत होगा। इसीलिए कुछ महत्त्वपूर्ण और आस्था के प्रश्न ऐसे हैं जिनके बारे में पंडित जी ने केवल सूत्र रखे, भाष्य नहीं किया। यह विषय स्पष्ट रूप से समझ में आए, इसीलिए इस प्रकार की एक संपूर्ण समस्या लेकर उस पर सभी अंगों से

विवरण देना उपयुक्त होगा।

ऐसी समस्या हमारे सम्मुख उपस्थित सामाजिक प्रश्न ही हैं। इनके बारे में यह नियम लागू होता है।

८.

'सिद्धांत एवं नीति' शीर्षक अभिलेख में मार्गदर्शक सिद्धांत के रूप में सामाजिक समस्याओं के बारे में कुछ तत्त्व ग्रथित किए गए हैं और तत्त्व की दृष्टि से वे अपने आप में परिपूर्ण हैं। किंतु उनका विस्तार के साथ विशदीकरण करने का प्रसंग पंडित जी के समय में नहीं आया। तत्त्व तो अंकित किए गए; किंतु विशदीकरण आवश्यक हो, ऐसा प्रसंग या परिस्थिति तब उत्पन्न नहीं हुई थी। जॉन नोक्स की भांति प्रखर आक्रमण करने वाले डा. बाबासाहेब अम्बेडकर का आंदोलन, मांगें एवं धर्मान्तरण, सब कुछ उस कालखण्ड में अवश्य हुआ। किंतु आंदोलन की बागडोर बाबासाहेब जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण एवं प्रशिक्षित देशभक्त के हाथों में होने के कारण सामाजिक समस्याओं पर सार्वजनिक चर्चा भी अवश्य हुई, पर उसका स्वरूप उग्र एवं चिन्ताजनक कभी नहीं रहा था।

आरक्षण के प्रश्न पर गत दिनों कभी पक्ष में, कभी विपक्ष में उग्र एवं हिंसक आंदोलन हुए हैं। कुल सामाजिक परिस्थिति में एकदम वांछनीय मोड़ आ रहा है। संवेदनशील एवं जनमानस को छूने वाले प्रश्न बंद सभागृहों से निकल बाहर सड़क पर आ रहे हैं। ऐसी स्थिति उस समय न होने के कारण तत्त्वचिंतन अवश्य हुआ, किंतु तत्त्वों का विशदीकरण करने की परिस्थिति नहीं आयी।[१७]

पंडित जी किसी भी क्षेत्र में यथास्थिति वादी नहीं थे। उनका मत था कि समाज रचना में मकड़ी के पुराने जालों को झाड़—पोंछकर समाज को युग के अनुकूल नया मोड़ देना चाहिए। सामाजिक विषयों में उन्होंने क्रांति का समर्थन नहीं किया, तो उसी प्रकार यथास्थितिवाद का भी नहीं किया। उनका मार्ग पुनर्जागरण का था और उनका मानना था कि उसके लिए समाज के सभी घटकों में परस्पर सामंजस्य रखकर धैर्यपूर्वक अभीष्ट मार्ग पर चलते रहना आवश्यक है। वे कहा करते थे कि किसी भी पक्ष में छोर की भूमिका लेने से सभी की हानि होगी। सामाजिक समस्याओं का समाधान करना रेशम के धागों की गुत्थी सुलझाना है। तलवार लेकर 'गार्जियन नॉट' को काट डालने का मार्ग उचित नहीं है। सदियों से शोषित, पीड़ित, दलित और फलस्वरूप पिछड़ी अवस्था में रहने वाले समाज को शेष समाज की बराबरी की सुविधाएं एवं संरक्षण देना उचित ही है और वैसा करते समय प्रगत वर्ग शिकायत करते हैं तो वह सामाजिक एकात्मता के अभाव का ही लक्षण माना जाएगा। किंतु डा. अम्बेडकर का भी मत था कि इसके साथ ही ऐसी सुविधाओं एवं संरक्षणों का लाभ लेकर शीघ्रातिशीघ्र अपने पांव पर खड़े होने का हठ (जिद) पिछड़े वर्गों में यदि निर्मित नहीं हुआ, 'उद्धरेद् आत्मनात्मानम्'

की वृत्ति उनमें न आयी और उसके स्थान पर जातिवाद पर आधारित सकीर्ण स्वार्थ उनमें जाग गए तो ये सभी सुविधाएं एवं आरक्षण-संरक्षण उन्हें सदा के लिए पंगु बना देंगे। इसलिए उन्होंने इन बातों के लिए स्वयं ही एक काल-मर्यादा निश्चित कर दी थी। उनकी इस विचारधारा का मर्म पिछड़े वर्गों ने ध्यान में नहीं लिया। इसके परिणामस्वरूप तथा राजनीतिक कारणों से भी उनके द्वारा दी गयी योजना पर आचरण करने में अनेक त्रुटियां एवं दोष निर्मित हो गए हैं, जिससे आज की अनवस्था का प्रसंग हम पर आया है।

केवल आरक्षण के प्रश्न के बारे में ही नहीं, अपितु अन्य सभी सामाजिक प्रश्नों के बारे में भी उनके विचार राजा राममोहन राय से लेकर डा. अम्बेडकर तक के सुधारकों के समान ही थे। न्यायमूर्ति रानडे द्वारा निम्न वक्तव्य में व्यक्त भावना पंडित जी के विचारों के साथ मेल खाने वाली थी :—

"इस प्रकार, हम सबको जो परिवर्तन लाना है, उसका स्वरूप बंधन से मुक्ति, भावुकता से श्रद्धा, प्रतिष्ठा की भावना से सामंजस्य, अधिकार जताने की वृत्ति से तर्कशुद्धता, असंगठित जीवन से संगठित जीवन, अतिरेकी आग्रह से सहिष्णुता और अंधे दैववाद से मानव-प्रतिष्ठा के विचार की ओर ले जाने वाला होगा। इस देश के विभिन्न सामाजिक गुटों तथा व्यक्तियों— दोनों की दृष्टि से सामाजिक क्रांति का यही अर्थ मैं लेता हूं।"

किंतु यह कार्य केवल विद्वेषमूलक संघर्ष से होने वाला नहीं है। अथवा विधान बनाने से भी बात बनने वाली नहीं। सामाजिक क्रांति के कार्य में विधान का स्थान क्या है, इस विषय में डा. अम्बेडकर ने जो बात कही थी, उसमें पंडित जी के विचार प्रतिबिंब होते हैं। बाबा साहेब ने कहा है :—

"अधिकार का संरक्षण विधान (कानून) से नहीं, समाज की सामाजिक एवं नैतिक सद्विवेकबुद्धि से होता है। विधान द्वारा दिए गए अधिकारों को स्वीकार करने के लिए समाज-मानस सिद्ध हो, तभी वे अधिकार अबाधित एवं सुरक्षित रहेंगे। किंतु मौलिक अधिकारों का समाज ही विरोध करता हो, तो कोई भी विधान अथवा न्यायसंस्था सच्चे अर्थ में उसकी गारंटी नहीं दे सकेगी।"

इस दृष्टि से पंडित जी कहा करते थे कि सामाजिक सद्विवेकबुद्धि को जाग्रत करने का काम सभी देशहितैषियों को करना चाहिए। उनकी श्रद्धा थी कि हिन्दुओं के सामाजिक एवं नैतिक नव-जागरण का सच्चा प्रभावशाली मार्ग राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की कार्यप्रणाली में है।

यहां केवल उदाहरण के लिए और आज की स्थिति का महत्त्व समझने के लिए इस संपूर्ण प्रश्न का विस्तृत वर्णन किया है। सामाजिक कुरीतियों का भी इसी वर्ग में समावेश होता है। किंतु इस प्रकार के अन्य प्रश्न तब तक विशेष रूप से नहीं उठे थे।

इस विषय में भी समाज-सुधार के बारे में बोलने का अधिकार किसको है, पंडित जी का मत

लोकमान्य तिलक के समान था। लोकमान्य कहा करते थे, "हिंदू धर्म में या रीति-रिवाजों में सुधार चाहने वाले को पहले तो यह पूरा अभिमान होना चाहिए कि 'मैं हिन्दू हूं और मुझे हिन्दू ही रहना है'। लूथर आदि सुधारक भी इसी मत के थे।" यह ध्यान देने योग्य है कि मार्टिन लूथर की बाइबल तथा जीसस में पूर्ण श्रद्धा थी। कालविन, ज्विंगली, डेकार्ट, बेकन आदि के बारे में भी यही कहा जा सकता है।

पंडित जी कहा करते थे कि अपने धर्म पर जिसकी दृढ़ श्रद्धा नहीं, 'मैं हिन्दू हूं', इसका जिसे अभिमान नहीं, ऐसे व्यक्ति को हिंदू धर्म या समाज में कोई सुधार करने की आवश्यकता बताने का नैतिक अधिकार नहीं है। ध्यान देने योग्य है कि वेदोक्तबंदी, व्यवसायबंदी, स्पर्शबंदी, सिंधुबंदी, शुद्धिबंदी, रोटीबंदी, व बेटीबंदी के विरोध में धुंआंधार जन-जागरण करने वाले स्वातन्त्र्यवीर सावरकर कट्टर हिंदुत्ववादी थे।

प्रतिपाद्य विषय स्पष्ट करने हेतु केवल एक उदाहरण के रूप में एक विशेष समस्या को लेकर अब तक उसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया। विगत १८ वर्षों में ऐसी कुछ और समस्याएं भी देश के सम्मुख उपस्थित हुई हैं। आने वाले समय में ऐसी समस्याओं की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ने वाली हैं। इन सबका विचार करते समय ध्यान में रखने योग्य तत्त्व पंडितजी ने अपने लेखों में सूत्र में रखा है। किंतु उनका विस्तारपूर्वक वर्णन उन्होंने नहीं किया है। इसका कारण यह नहीं था कि उन तत्त्वों का विशदीकरण करने के लिए आवश्यक बौद्धिक क्षमता का उनमें अभाव था, वरन् सच्चा कारण यह था कि विशदीकरण आवश्यक प्रतीत हो ऐसी परिस्थिति ही पंडित जी के जीवनकाल में पैदा नहीं हुई थी। तथापि भविष्य में ऐसी समस्याओं का सामना करते समय पंडित जी के अनुयायियों को उनके मार्गदर्शक सिद्धांतों को सम्मुख रखकर उनके आधार पर समाधान खोजने हैं।

९.

इस ग्रंथ का नाम 'विचार-दर्शन' है। हम लोग कहते हैं कि दीनदयाल जी एक श्रेष्ठ विचारक थे। वास्तविक 'विचारक' की संज्ञा से उनके बारे में उचित बोध होना चाहिए। पंडित जी को जानने वाले लोगों के मन में उनके बारे में सुयोग्य एवं यथार्थ प्रतिमा 'विचारक' संज्ञा से निर्मित होती है। किंतु फिर भी इस संज्ञा के बारे में थोड़ा स्पष्टीकरण देना इन दिनों आवश्यक हो गया है। कारण, विगत दो दशकों में 'विचारवान' अथवा विद्वान् शब्द देश में और विशेषतः राजधानी में कुछ निराले ही बुद्धिमानों के साथ जुड़ गया है। सरकार अथवा विरोधी दलों को उनकी नीतियों के बारे में परामर्श देने की योग्यता एवं तत्परता रखने वाले लोगों के अलग-अलग वर्ग हैं, किंतु सबकी श्रेणी एक ही है 'विचारवंतों' की।

'एजेंडा फॉर इण्डिया' शीर्षक प्रबंध तैयार करने वाले सर्वश्री रजनी कोठारी, रोमेश थापर, जार्ज बर्गीज, बशीरुद्दीन अहमद, कुलदीप नैयर तथा मृणालदत्त चौधरी, 'दि सेन्टर फॉर दि स्टडी ऑफ डेवलपिंग सोसाइटी' में काम करने वाले गिरि देशिंगकर तथा डी. एल. सेठ, 'द सेन्टर फॉर पॉलिसी रिसर्च' के भवानी सेनगुप्ता एवं प्राण चोपड़ा, पी. यू. सी. एल. तथा पी. यू डी. आर. के श्री वी. एम. तारकुंडे और अरुण शौरी तथा जे. डी. सेठी आदि लोग इस श्रेणी में आते हैं। इन लोगों की योग्यता और उनके योगदान का महत्त्व सर्वमान्य है। प्रसंग विशेष में उनके साथ मतभेद रखने वालों को भी 'विचारवंत' के नाते इन सबके बारे में उचित आदर रखकर यह स्पष्ट करना आवश्यक लगता है कि दीनदयाल जी की श्रेणी इन सबसे भिन्न किंतु 'बेजोड़' थी। उद्देश्य, जीवन-कार्य स्वरूप, विचारों का स्तर एवं उसकी पहुंच, सभी दृष्टियों से पंडित जी भिन्न श्रेणी वाले थे। पंडितजी और उनके समान अन्य भारतीय दार्शनिकों मानव के वैचारिक इतिहास में स्थान एवं श्रेणी क्या थी, इसका शास्त्रशुद्ध विचार और भी एक दृष्टि से किया जाना आवश्यक है।

हमारे विद्वानों के मन पर पश्चिमी प्रभुता का प्रभाव आज भी बना हुआ है। उनकी श्रद्धा है कि जो-जो अपना है वह त्याज्य और जो-जो पश्चिमात्यों का है वह उत्कृष्ट है। अतः पश्चिमी तत्त्वज्ञान और तत्त्वज्ञ सर्वश्रेष्ठ हैं, यह निष्कर्ष क्रम प्राप्त ही है। इन दिनों लगभग सभी प्रमुख भाषाओं में पाश्चात्य तत्त्वज्ञान का इतिहास न्यूनाधिक मात्रा में प्रकाशित हुआ है। ग्रीक दर्शन पर गॉम्पर्ज, बर्नेट, जैलर, कुशमन, विंडलबैंड, अर्लिक, रॉस, हिक्स, थिली, स्टेस, रोजर्स, टेलर, रसेल, कॉपलस्टन आदि लेखकों का साहित्य उपलब्ध है। पाश्चात्य जगत के सर्वप्रथम दार्शनिक थेलिस, एनैक्जीमेंडर और एनेक्जीमेनिस से लेकर प्राचीन दर्शन के संपूर्ण कालखंड पर प्रकाश डालने वाला साहित्य अब उपलब्ध है। इसमें ग्रीक दर्शन का कालखण्ड ईसापूर्व ६२५ से लेकर ईसापूर्व ३२२ तक, अर्थात् अरिस्टाटल की मृत्यु तक का है। साक्रेटिस, प्लैटो तथा अरिस्टाटल का यही कालखण्ड है। अरिस्टाटल की मृत्यु से नवप्लेटोवाद के अंत तक, अर्थात् ईसापूर्व ३२२ से सन् ४७६ तक, हेलेनिस्टिक अर्थात रोमन दर्शन का कालखण्ड भी लगभग इसी कालखण्ड के साथ आता है। इसे प्राचीन दर्शन का कालखण्ड कहा जाता है। ४७६ से १४५३ तक का कालखण्ड मध्ययुगीन दर्शन का माना जाता है। आगस्टीन, ओरिजेन, एरिजेना, रॉसेलिन, अन्सेल्म, एबेलॉर्ड, टॉमस एक्वायनस, डन्स स्काट्स ओखैम, एखार्ट, निकोलस, कुजनस, ये सब इसी काल के दार्शनिक थे। सन् १४५३ से आज तक कालखण्ड, अर्वाचीन दर्शन का है। उसमें १४५३ से १६९० तक का कालखण्ड नवजागरण (Renaissance) की संज्ञा से पहचाना जाता है। नवजागरण के अग्रदूत के रूप में विख्यात है— कुसा के निकोलस लिओनार्दो द विन्सी, कोपरनिकस, ब्राहे केप्लर, गैलीलिओ, हाइजेन्स न्यूटन आदि वैज्ञानिक और फ्रांसिस बेकन, थामस हाब्स, देकार्त, स्पिनोजा, लाइब्निज, परासेल्सस, ब्रूनो, कांपानेला, टेलेसिओ, मेकियावेली, बोदां, जैकब बोहम, थामस मूर, ग्रोशियस, ॲल्थूसिअस, हर्बर्ट ऑफ चेर्बरी आदि विचारक। १६९० से १७८१ तक (लॉक के प्रबंध से लेकर काण्ट की मीमांसा तक) का कालखण्ड प्रबोधन का माना जाता है। लॉक, बर्कले, ह्यूम, पिअरी, बॉइल, वाल्टेयर, रूसो इस कालखण्ड के प्रमुख दार्शनिक थे। (प्रविधिक दृष्टि से

प्रबोधन का कालखण्ड १७८१ में समाप्त माना जाता है)। फिर भी इसके प्रभाव की छाया १९ वीं सदी में जेरेमी बेन्थम, जॉन स्टुअर्ट मिल, ऑगस्ट काम्टे तथा २० वीं सदी में विलियम जेम्स, जॉन ड्यई, जार्ज सान्तयाना और बर्ट्रेण्ड रसेल के साहित्य पर पड़ा पाया जाता है। १७८१ से लेकर १८३१ तक अर्थात् काण्ट की मीमांसा से लेकर हेगल की मृत्यु तक का कालखण्ड जर्मन प्रत्ययवाद या आदर्शवाद के नाम से जाना जाता है। राइनहोल्ट, मैमान, शुल्ज, बेक, हर्डर, जैकोबी, गेटे, शिलर, हार्डेनबर्गनोवालिस, फिश्ते, शेलिंग, सेलायरमाकर तथा हेगल इस कालखण्ड के पाश्चात्य दार्शनिकों और पश्चिमी तत्त्वज्ञान के विविध प्रवाहों की संपूर्ण जानकारी शिक्षित लोगों को है, इसलिए उनके नामों की सूची न देने से भी काम चल सकता है। जैसा कि पहले कहा गया है, इस विषय पर सभी प्रमुख भाषाओं में साहित्य उपलब्ध है। कॉपटल्स्टन, बर्नाड, डेल्फगाऊ, एमिल ब्रेहिएल, आई, एम. बोचेन्स्की तथा बर्जिलियस फर्म के ग्रंथ इस दृष्टि से सहायक हैं। पाल एडवर्ड्स का ग्रंथ 'द एन्साइक्लोपीडिया ऑफ फिलासफी' इस विषय पर प्रमाणभूत माना जा सकता है। पाश्चात्य दर्शन के इतिहास और समकालीन दर्शन पर हिन्दी में भी अब अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं।

उपरिनिर्दिष्ट पाश्चात्य दार्शनिकों एवं विचारकों की सच्ची महानता को भारतीय मन भलीभांति समझ सकता है। पिछली कुछ सदियों में विश्व की घटनाओं का केंद्र पश्चिम में रहा, अतः उधर के प्रत्येक विचार को दर्शन की दृष्टि से उसकी वास्तविकता योग्यता से कहीं अधिक महत्त्व प्राप्त होता गया— जो कि स्वाभाविक भी है। हमारे यहां के 'विद्वानों' को तो इस बात का बोध तक नहीं कि पश्चिम के बाहर भी कोई तत्त्वज्ञान है और वह एक सुसंस्कृत तत्त्वज्ञान है। अतः इस विषय का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन होना आवश्यक है।

एक तो 'पाश्चात्य दर्शन' शब्द का प्रयोग करने वालों के मन में केवल यूरोप, ब्रिटेन तथा अमरीका की विचारधाराएं ही होती हैं। रूस के वैचारिक इतिहास का भी इस परंपरागत 'पाश्चात्य दर्शन के इतिहास' में स्थान नहीं होता। यह बात अलग है कि रूस एक महाशक्ति होने के कारण उसने इन त्रुटियों की भरपूर भरपाई स्वयं ही कर ली है। उसी प्रकार दक्षिण तथा लैटिन अमरीका का भी विचार इन इतिहासकारों के मन में नहीं होता। पाश्चात्य इतिहासकारों के मन में जो बात नहीं है, वह पढ़े-लिखे भारतीयों के मन में भला कैसे आ सकती है ? उदाहरण के लिए, ब्राजील के लुई पेरिरा, बारेतो, मैक्सिको के गाबिनो बारेदा, पेरू के मोरियानो कॉर्नेजो, चिली के लास्तारिया, बोलिविया के बेंजामिन फर्नाण्डिज, अर्जेण्टीना के जे. अल्फ्रेडो फेरिरा तथा क्यूबा के एनरिक जोसे वारोना, अथवा आधुनिक काल में पेरू के अलेयान्द्रो दुस्तुआ, उरुग्वे के जोस एनरिक रोडो, या मैक्सिको के जुस्तो सीरा का नाम भी क्या हमारे पढ़े-लिखे लोगों को ज्ञात है ? श्री फुल्लर ने अपने 'ए हिस्ट्री ऑफ फिलासफी' नामक ग्रंथ में लैटिन अमरीका पर दो अध्याय लिखे हैं। किंतु 'पाश्चात्य दर्शन' की कल्पना में जो एकांगिता आ गयी है, उसे दूर करने के लिए वे पर्याप्त नहीं हैं।

दूसरी बात, पाश्चात्य तत्त्वज्ञान का इतिहास केवल ढाई हजार वर्ष का है। स्थूल रूप में तो प्राचीन

तत्त्वज्ञान के कालखण्ड का इतिहास एक हजार वर्ष का, मध्ययुगीन का एक हजार वर्ष का और अर्वाचीन -साढ़े पांच सौ वर्ष का है। भारत में तत्त्वचिंतन वैदिक काल में नासदीय सूक्तों से प्रारंभ हुआ और तब से वह चिन्तन-गंगा अखण्ड समृद्ध होती रही है। यह कुल कालखण्ड कितने हजार वर्षों का होगा, निश्चित करना होगा।

पश्चिमी चिन्तन का बड़ा भाग प्राप्त परिस्थिति की प्रतिक्रिया के रूप में है। भारतीय चिंतन का अधिकांश भाग परिस्थितिनिरपेक्ष मूलभूत चिंतन का है। अतः उसमें शाश्वतता अधिक है।

विशेषतः इस विषय में अनुसंधान होने की आवश्यकता है कि पश्चिम में जिस प्रकार तत्त्वज्ञ की एक विशेष श्रेणी मानी गयी है और तत्त्वज्ञान के संबंध में विचारों को विज्ञान के साथ जोड़ा गया है, उसी प्रकार भारत में क्या कभी हुआ था ? पश्चिम का विचार सदैव खण्डकरण पद्धति का रहा है। वे खण्डशः ही विचार करते हैं। हमारे विचार सदैव समग्रता रही है। इसका परिणाम विचारकों की श्रेणियां निश्चित करने पर भी हुआ है।

इस बात को स्पष्ट करने के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त है। पश्चिम के देकार्त, स्पिनोजा, लाइब्निज, लॉक तथा हॉब्स आदि लोग स्थूल दृष्टि से समर्थ रामदास के समकालीन थे। समर्थ रामदास के साथ किसी ने भी समाजशास्त्रज्ञ विशेषण नहीं जोड़ा। उनका वर्णन करते समय तत्त्वज्ञ शब्द भी प्रयुक्त नहीं किया जाता। किंतु एक विद्वान समर्थ-भक्त श्री प्रभाकर पुजारी का कहना है कि उपर्युक्त पांचों पाश्चात्य विद्वानों ने समाजशास्त्र के बारे में जितना कुछ लिखा है, उससे कहीं अधिक एवं उच्चस्तरीय विचार उस शास्त्र के बारे में समर्थ रामदास के साहित्य में पाए जाते हैं। हिन्दू पद्धति के अनुसार उसे चिंतन का अलग भाग न मानते हुए कुल समर्थसाहित्य में उसको पिरोया गया है। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या समर्थसाहित्य में उसको पिरोया गया है। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या समर्थ रामदास स्वामी को तत्त्वज्ञ की श्रेणी में रखा जाए ? तत्त्वज्ञ की श्रेणी में क्या उन्हें बांध दिया जाए ? कुल जीवन का समग्र दर्शन लेने की हिन्दू परंपरा को ध्यान में लेते हुए समर्थ जी को इस प्रकार श्रेणीबद्ध करना अनुचित लगता है।

उदाहरण के लिए एक महापुरुष को लें तो अन्य महापुरुषों की स्थिति भी वैसी ही है।

हिन्दुओं का 'दार्शनिक' शब्द विशेषतः 'तत्त्वज्ञ' शब्द से कहीं अधिक गहरा, ऊंचा एवं व्यापक है। इस समय भारतीय भाषाओं में इन दोनों शब्दों को पर्यायवाची मानने की प्रथा बढ़ रही है जो शास्त्रशुद्ध नहीं है।

दार्शनिक और तत्त्वज्ञ दो भिन्न श्रेणियां हैं। हमारे कहने का अर्थ यह नहीं कि पहली श्रेणी के लोग भारत के बाहर विशेषतः पश्चिम में उत्पन्न ही नहीं हो सकते। किंतु उधर के विचारकों का इन दो श्रेणियों

में स्पष्ट विभाजन करने का काम अभी नहीं हुआ है। शायद यह दृष्टिकोण अभी उन्हें प्राप्त नहीं हुआ है। जो भी हो, जब तक इन दो श्रेणियों में विद्यमान अंतर को ध्यान में नहीं रखा जाता, पंडित जी और उनके जैसे अन्य दार्शनिकों का वैचारिक इतिहास में स्थान केवल पश्चिम की परिभाषा से निश्चित करना अन्यायकारी होगा। इससे यह प्रश्न नहीं है कि कौन श्रेष्ठ है और कौन कनिष्ठ। दोनों श्रेणियां अलग-अलग हैं, इतना ही संकेत यहां देना है।

१०.

यह समग्र ग्रंथ (इस प्रस्तावना-खण्ड के अतिरिक्त) ६ खण्डों में बंटा है। एक अर्थ में हर खंड अपने में स्वयंपूर्ण व स्वायत्त है। दूसरे अर्थ में सभी खण्डों को मिलाकर एक समग्र वैचारिक प्रतिपादन आकार लेता है और प्रत्येक खण्ड उस प्रतिपादन का एक अंग है। अलग-अलग फांकें और उनको अपनें अंदर बंद करने वाला छिलका, सब मिलकर एक नारंगी (संतरा) बनती है। वैसे देखा जाए तो नारंगी की हर फांक अपने में स्वयंपूर्ण एवं स्वायत्त है और साथ ही समग्र नारंगी का एक अंग भी। यह प्रकरण भी कुछ ऐसा ही है।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, सभी खण्डों के लेखक सिद्धहस्त हैं। अतः प्रत्येक विषय का प्रतिपादन जितना अधिकाधिक सुबोध करते बना, उन्होंने करने का प्रयास किया है। किंतु कुछ विषयों का स्वरूप ही ऐसा है कि उनका प्रस्तुत विवरण से अधिक सुबोध विवरण हो नहीं सकता।

उदाहरण के लिए, 'संस्मरण' विषय मूल में जितना उद्‌बोधक उतना ही सुबोध भी है। राजनीतिक विषयक खण्ड सहजगम्य होगा, क्योंकि इन दिनों राजनीतिक जागृति पर्याप्त बढ़ी है। 'राष्ट्र-विचार' तो गत कई दशकों से गरमागरम सार्वजनिक चर्चा का विषय बना है। उस विषय के विविध पक्ष जनता के सम्मुख आ चुके हैं। राजनीतिक उत्तराधिकार का विषय भी जहां तात्त्विक है वहां व्यावहारिक भी है। उसका यहां किया गया प्रतिपादन अपने में स्पष्ट है।

शेष दो भागों की बात कुछ निराली ही है। 'एकात्म अर्थनीति' भावी आर्थिक रचना की दिशा की ओर संकेत करने वाली है। राजनीतिक प्रश्नों के बारे में जैसी व्यापक चर्चा आज तक हुई है, आर्थिक प्रश्नों पर नहीं हुई। अतः उसकी सूक्ष्म बातें भी उतनी मात्रा में जनता के सम्मुख नहीं आयी हैं। 'एकात्म मानव दर्शन' तो जानबूझकर तात्त्विक ही है। तत्त्वज्ञान विषय को सुबोध बनाने की भी कुछ अन्तर्निहित मर्यादाएं हैं। अतः सामान्य पाठकों को ये दो खण्ड कुछ क्लिष्ट लगने की संभावना है।

प्रत्येक भाग का समालोचन या रसग्रहण करने का यह स्थान नहीं। वह काम और अधिकार पाठकों का है। तथापि प्रतिपादन के कहीं-कहीं शायद कुछ दुर्बोध प्रतीत होने वाले भाग समझ लेने में सहायता

हो, इसी हेतु यहां कुछ लिखना अनुचित नहीं होगा, प्रत्युत वह रसग्रहण के लिए पोषक ही होगा।

अन्य प्रत्येक विषय की भांति 'एकात्म अर्थनीति' का भी चित्रफलक (Canvas) विस्तृत है। किंतु थोड़े से लोकप्रिय नारों को छोड़ दिया जाए तो आर्थिक नीतियों के बारे में लोगों को प्रशिक्षित करने का प्रयास हमारे देश में सामान्यतः नहीं होता। दल का चुनाव घोषणापत्र एक कर्मकांड बनकर रह गया है। उनमें दिए गए आर्थिक कार्यक्रमों का विवेचन प्रत्यक्ष प्रचार-अभियान में बहुत ही अल्प मात्रा में या नाम मात्र के लिए ही होता है। दल की प्रशंसा अधिक, जन-शिक्षा कम, ऐसी ही इस विषय की अवस्था है। अतः इस विषय के विवेचन का आंकलन करना सामान्य मनुष्य के लिए कठिन हो जाता है।

इस ग्रंथ में आर्थिक विषय ठीक से समझ में आने की दृष्टि से उसकी पृष्ठभूमि एवं मौलिक सिद्धांतों को ध्यान में लेना उपयुक्त होगा। भारतीय संस्कृति के प्रकाश में की जाने वाली रचना के युगानुकूल मूलभूत आर्थिक तत्त्व श्री गुरुजी ने सन् १९७२ में ठाणे में हुए अखिल भारतीय शिविर में प्रस्तुत किए थे। उनको ध्यान में रखें तो इस ग्रंथ का आर्थिक विवरण समझना सरल हो जाएगा[१८]।

'एकात्म मानवदर्शन' सम्पूर्ण अस्तित्व के मूलगामी एवं सर्वव्यापी तत्त्व की खोज करने वाला 'दर्शन' है। पंडित जी राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करते थे। उस क्षेत्र में 'इज्म' शब्द ही प्रचलित था। सर्वसामान्य लोगों को यह सिद्धांत समझाकर बताना था। अतः पंडित जी को यद्यपि 'वाद' शब्द मूलतः अभिप्रेत नहीं था, जनसामान्य की समझदारी के स्तर के साथ व्यावहारिक समझौता करने के लिए उन्होंने अपने विचारों को 'वाद' की संज्ञा दी और वैसा करते समय यह भी दक्षता बरती कि ऐसा व्यक्ति जब इस विचार या 'वाद' को समझ लेने की स्थिति में आ जाएगा तो उसी समय उसके ध्यान में यह भी आ जाए कि अपनी समझ में आया यह विचार 'वाद' की परिसीमा में बंध सकने वाला सीमित एवं तात्कालिक नहीं है, यह एक सार्वदेशिक तथा कालजयी 'दर्शन' है। छोटे बच्चों को प्रारंभ में हम लोग कहा करते हैं कि चंदामामा सामने वाले पेड़ की डाल पर बैठा हुआ है। यह भी बात कुछ वैसी ही है। किंतु वस्तुतः यह वादातीत, एवं निर्विवाद 'दर्शन' है। (दर्शन शब्द का पाश्चात्य भाषाओं में सटीक पर्यायवाची नहीं है)।

एकमेवाद्वितीय तत्त्व के बारे में कहा गया है, "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसासह"। अर्थात् तत्त्व जितना गहन होगा उतना ही सूक्ष्म होगा। गहन तत्त्व की सूक्ष्मता की कोई सीमा नहीं। शब्द के द्वारा होने वाली अभिव्यक्ति के लिए सूक्ष्मता की सीमाएं हैं। शब्दों की अभिव्यक्ति की शक्ति सीमित है। इसके विपरीत 'दर्शन' की सूक्ष्मता असीम है। ऐसे सूक्ष्म तत्त्वों की अभिव्यक्ति के लिए शब्दों के प्रयास दयनीय एवं क्लिष्ट प्रतीत होते हैं।

इसका अर्थ यह नहीं कि दर्शन मूल में ही क्लिष्ट, कष्टदायक या उकताने वाला है। क्लिष्टता तो

प्रकटीकरण में है, दर्शन की अनुभूति या साक्षात्कार में नहीं। जिसने गुड़ कभी खाया न हो, उसे शब्दों के माध्यम से गुड़ का स्वाद समझाना बड़ा कठिन है और उसे समझाने और सुनने वाले, दोनों के लिए उकता देने वाला हो सकता है। किंतु प्रत्यक्ष में गुड़ का स्वाद लेना कष्टदायक तो है ही नहीं, उलटे एक आनंददायक अनुभव है। जिसने कभी कमल नहीं देखा उसे कमल की सुंगध एवं सौन्दर्य की सही कल्पना शब्दों के द्वारा देना सरल काम नहीं। ऐसा प्रयास कोई करे तो सुनने वाले को वह क्लिष्ट ही लगेगा। किंतु कमल के सौन्दर्य का प्रत्यक्ष अवलोकन आनंदकर ही होगा। एकात्म मानव दर्शन की बात भी ऐसी ही है। मानव चेतना के उत्तम विकास या स्वाभाविक अनुभूति का ही नाम है— एकात्म मानवदर्शन[१९]। उस अनुभूति में परम सुख समाया है। इस दर्शन का शब्दरूप विवरण उपर्युक्त कारणों से क्लिष्ट प्रतीत होने की संभावना है। क्लिष्टता प्रकटीकरण में है, मूल विषय में नहीं। मूल विषय की प्रकृति प्रत्येक व्यक्ति को चिरंतन सुख की अनुभूति देने वाली है और यह सुख ऐसे लोग भी अनुभव कर सकते हैं जिन्होंने इस दर्शन का नाम तक न सुना हो किंतु जिनकी चेतना का पर्याप्त विकास हो।

गैरी जुकोव कहते हैं :—

"जीवन में किसी अवस्था के वर्णन को ही वह स्थिति मान लेने की गलती सामान्यतः की जाती है। उदाहरण के लिए, सुख क्या होता है, इसका वर्णन करके देखिए। वह असंभव है. सुख और सुख का वर्णन दो भिन्न बातें हैं।"

"सुखी होना एक अवस्था है। इसका अर्थ है कि सुख प्रत्यक्ष अनुभूति के स्तर पर होता है। ऐसी भावना और संवेदना के स्तर पर, जिसका वर्णन किया ही नहीं जा सकता, सुख का अति निकट से अनुभव सुख की अवस्था में अंतर्भूत होता है। 'सुख' शब्द वर्णनातीत अवस्था पर चिपकाया हुआ एक 'लेबल' एवं प्रतीक है। 'सुख' अमूर्त या परिकल्पना की कक्षा में आने वाला तत्त्व है। विशिष्ट अवस्था एक अनुभव होता है। उस अवस्था का वर्णन एक प्रतीक मात्र रहता है। अनुभव और प्रतीक दोनों पर समान नियम लागू नहीं होते।"

सुख के बारे में यह जो कहा गया है वही 'एकात्म मानवदर्शन' पर भी लागू है।

इस दृष्टि से निम्न उदाहरण उद्‌बोधक है।

एकात्म मानव दर्शन पर इस ग्रंथ में विस्तृत विवेचन आया है। मनुष्य की चेतना का व्यक्ति से लेकर विश्व तक का विकास इस दर्शन का आधार है। अनेक लोगों के मन में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या ऐसे मानसिक विकास की प्रक्रिया स्वाभाविक तथा व्यवहार्य है ? इस प्रक्रिया का स्वरूप क्या है ? डा. जाकिर हुसैन ने पटियाला में गुरु गोविंदसिंह भवन का शिलान्यास करते समय २७

दिसम्बर,१९६७ को अपने भाषण में इस प्रक्रिया का स्वरूप स्पष्ट किया था। वे कहते हैं—

"मेरे विचार में मनुष्य को 'घर' शब्द का ठीक से अर्थबोध हो जाए,तभी उसे मातृभूमि के साथ संबंधों के सच्चे महत्त्व का आंकलन होता है। 'घर' कल्पना के अनेक अंगोपांग हैं। बालक की दृष्टि से मां की प्रेममयी और सब कुछ देने वाली कोख ही 'घर' होता है। जैसे-जैसे वह बड़ा होता है, माता-पिता की झोंपड़ी या प्रासाद जो भी हो,उसकी दृष्टि में घर का प्रतीक बन जाता है। धीरे-धीरे उसमें बोध का विकास होता है,जिसके साथ संपूर्ण गली या बस्ती या नगर को उसके मन में घर का आशय प्राप्त होता है। तब उस समूचे परिवेश के वृक्ष,वनस्पति,पक्षी,पहचान के मुखड़े,पालतू प्राणी आदि जो भी आस-पास हैं वे उसकी विलोभनीय गृह-कल्पना की शोभा बन जाते हैं। इस प्रकार उच्चबोध व ज्ञान के क्षेत्र में जब वह प्रवेश करता है तो कितनी ही बातों का समावेश उसकी घर संबंधी दृष्टि में हो जाता है। उसमें घर की विविध दीवारें और देहलियां होती हैं। नाना प्रकार के ध्येय और स्वप्न मानो मूर्त रूप धारण कर लेते हैं। धार्मिक कथाएं,रूपक कथाएं,कला एवं साहित्य,इतिहास एवं संस्मरणीय घटनाओं की मालिका आदि अन्य बहुतेरी बातों की आकर्षक साज-सज्जा उसमें अन्तर्भूत हो जाती है। संक्षेप में,अनेक अंगोपांगों से वह वास्तु विकास करता ही जाता है और समूचे राष्ट्र को अपनी बांहों में भर लेता है। उसे ऐसा लगने लगता है कि राष्ट्र के सारे निवासी अपने घर के ही आप्तजन हैं। सत्य और न्याय पर आधारित राष्ट्र के राजनीतिक ध्येय,उसका अनमोल सांस्कृतिक धन एवं परंपरा,इतिहास के आनंददायी एवं सुनहरे क्षण,सब 'घर' की दर्शनीय रचना के अविभाज्य भाग बन जाते हैं। प्रारंभ में केवल मां की कोख में सीमित 'घर' अंत में केवल घर के चारों ओर के भौगोलिक परिवेश को ही नहीं,अपितु राष्ट्रीय जीवन के विशाल पट को भी अपने अंदर समाने योग्य विशाल बन जाता है। मनुष्य के घर की परिधि कितनी विशाल बन जाती है।"

इसी में अंतरराष्ट्रीय या मानवीय तथा वैश्विक दो आयाम और जोड़ दें,तो पंडित जी के अभिप्रेत मानसिक विकास का स्वरूप ध्यान में आ जाएगा।

भारत के एक अन्य महान पुत्र के निम्न विचार देखिए। श्री विपिनचन्द्र पाल ने कहा है—

"राष्ट्रीयता विश्वमानवता से अलग नहीं की जा सकती।"

"स्वतंत्रता एवं स्वाधीनता के मूल्य और विशेषताएं 'स्व' शब्द के आशय की भव्यता में हैं। यह 'स्व' जहां व्यक्तिगत है,वहां वैश्विक भी है और वस्तुतः दोनों एक ही हैं.. और मनुष्य के सच्चे स्वातंत्र्य की कक्षा,जितना वह वैश्विक 'स्व' के साथ अपनी एकता को अनुभव करेगा,उतनी ही मात्रा में विशाल होती जाती है।"

"सभ्यता की अंतिम अवस्था मनुष्य की परिपूर्णता है। केवल वैचारिक या भौतिक अर्थ में नहीं,

अपितु नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से भी यह परिपूर्णता होनी चाहिए। मनुष्य को समाज के घटक एवं संपूर्ण समाज के एक अवयव के नाते प्राप्त होने वाली परिपूर्णता अधिक महत्त्व की है।"

"इस प्राचीन भूमि एवं यहां के जनसमाज का यूरोप,एशिया तथा अमरीकी महाद्वीपों के आधुनिक राष्ट्रों में यह जीवनकार्य है कि आज की अंतरराष्ट्रीय स्पर्धा के स्थान पर अंतरराष्ट्रीय सहयोग का प्रवर्तन करें,किसी निष्पक्ष एवं अधिकारसंपन्न सर्वोच्च न्यायालय द्वारा राष्ट्रों के बीच शांतिपूर्ण विचार-विनिमय एवं सुयोग्य समझौतों को प्रेरणा दें और अंतरराष्ट्रीय झगड़ों तथा मतभेदों को विध्वंसक हथियारों के बल पर सुलझाने के लिए स्थान न रहने दें। इस प्रकार सारा संसार एक राष्ट्र में बदल जाने का कवि द्वारा देखा गया स्वप्न साकार करने में वे सहायक बनें। सभी लोग एक-दूसरे के साथ शांतिपूर्वक रह रहे हैं, सबके समान हितों के लिए सहयोग से काम कर रहे हैं और मनुष्य के अंदर के देवत्व की अभिव्यक्ति करने के लिए उपकारक हो रहे हैं, ऐसा युग प्रत्यक्ष में लाने के लिए अपना योगदान दें। भारतीय राष्ट्र का निर्माण करने वालों को यह बात सदैव आंखों के सामने रखनी चाहिए।"

"...हिन्दुत्व केवल एक संघीय (फेडरल) परिकल्पना नहीं है। वह उससे भी आगे गया है, इतना आगे कि भारत विश्व एकता का अर्थात् जागतिक संघराज्य का ऐसा प्रतीक बन जाए जिसे कोई भी आकर देख सकता है।"

श्री पाल के विचारों की दिशा वही है। अन्तर इतना ही है कि पंडित जी का एकात्म मानव दर्शन इस दिशा में कुछ आगे बढ़ गया है और वह संपूर्ण अस्तित्व की एकात्मता का साक्षात्कार कराने का प्रयास करता है। अक्टूबर १९७४ में प्रकाशित अपने 'सोशियल एण्ड पोलिटिकल आइडियल्स ऑफ विपिनचन्द्र पाल' पुस्तक में श्री अमलेन्दु प्रसाद मुखर्जी कहते हैं कि "वास्तव में उनका धर्म और दर्शन 'इण्टीग्रल ह्यूमैनिज्म' (एकात्म मानववाद) था। श्री मुखर्जी उन्हें 'स्पिरिचुअल ह्यूमैनिस्ट' (आध्यात्मिक मानववादी) कहते हैं (यहां एक सूचना देना उचित होगा। एकात्म मानव के बारे में संपूर्ण विचार श्री राजाभाऊ नेने ने अपने खण्ड में प्रस्तुत किए ही हैं। उसमें 'मन' के प्रसंग में एक बात जोड़ देना आवश्यक है कि 'मन' के बारे में पाश्चात्यों की और हमारी कल्पना में अन्तर है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक ने अब तक मन की 'मूढ़' तथा 'क्षिप्त' अवस्थाओं का ही शास्त्रीय शोध किया है। उसके आगे तीन अवस्थाएं और होती हैं— 'विक्षिप्त', 'एकाग्र' तथा 'निरुद्ध'। इन अवस्थाओं तक वे लोग अभी तक नहीं पहुंचे हैं। इन पांचों अवस्थाओं का शास्त्रीय अध्ययन हिन्दू मनोविज्ञान को अभिप्रेत है। उसी प्रकार बुद्धि का स्वरूप, कार्य एवं सीमाओं के बारे में भी हमारी और पश्चिमी कल्पनाओं में पर्याप्त अंतर है। वही बात आत्मा या Soul पर लागू होती है।)

पंडित जी द्वारा प्रतिपादित एक और परिकल्पना का स्पष्टीकरण करना उपयोगी होगा। वास्तव में वह विषय इस ग्रंथ में श्री बालासाहेब जोग ने भलीभांति रखा है। उनके विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'एकात्म शासनप्रणाली शब्दों का अनुवाद वस्तुतः 'Integrated form of Government'

होना चाहिए था, किंतु तब तक यह अंग्रेजी शब्द प्रचलित नहीं था। अतः सामान्य नागरिकों की समझ में आने की दृष्टि से उसके लिए पहले से ही ज्ञात 'Unitary form of Government' शब्द प्रयुक्त किया गया है। उसके कुछ दुष्परिणाम भी दिखाई दिए। 'यूनिटरी फोर्म' शब्द की मानसिकता के साथ सदा जुड़ी परिकल्पना 'एकात्म शासन-प्रणाली' से भी चिपक गयी, जो स्वाभाविक ही था। इससे कुछ संभ्रम उत्पन्न हुआ। फिर भी अब यह सभी को ज्ञात हो चुका है कि पंडित जी को अभिप्रेत शब्द, 'Integrated' था रूढ़ार्थ में 'Unitary' नहीं। दीनदयाल जी नें कालीकत अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में एक तत्सामयिक समस्या के नाते पश्चिमी जर्मनी की संमिश्र प्रणाली के ढंग पर कुछ निर्वाचन-सुधारों का उल्लेख यद्यपि किया था, वह सुधार अस्थायी एवं प्रचलित पद्धतियों की चौखट में सहज बैठने वाला है— इसी भावना से प्रस्तावित किया गया था। उन्हें अभिप्रेत था संविधान में आमूल-चूल परिवर्तन।

भारत का संविधान विश्व में सबसे दीर्घ, सबसे बड़ा और सबसे विस्तृत लिखित संविधान है। अमरीका का संविधान उसमें किए गए संशोधनों सहित केवल २० पृष्ठों का है। सन् १९४६ के चौथे फ्रांसीसी गणराज्य का संविधान २५ पृष्ठों का है। सन् १९४७ का इतालवी गणराज्य का संविधान ३५ पृष्ठों का है। सन् १९४९ का संघीय गणराज्य जर्मनी का संविधान ४५ पृष्ठों का है। भारत के संविधान की मूल पृष्ठ-संख्या २५० से ऊपर है।

संविधान इतना लंबा-चौड़ा होने पर भी उसके स्वरूप के बारे में नक्सलवादी नागी रेड्डी से लेकर संविधान-विशेषज्ञ कोटेश्वर राव तक विभिन्न विचारवंतों ने विभिन्न कारणवश असंतोष व्यक्त किया है। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि इन लोगों में डा. सच्चिदानंद सिन्हा, डा. राजेन्द्र प्रसाद एवं स्वयं श्री बाबासाहेब अम्बेडकर का समावेश है। चिंतामणि और मसानी ने तो एक छोर पर जाकर ऐसे तर्क दिए हैं कि वह संविधान— "A scheme which is a combination of drawbacks of different systems" (विभिन्न प्रणालियों की त्रुटियों का संयोजन) है।

पंडित दीनदयाल जी का संविधान के बारे में मुख्य आक्षेप यह था कि उसका स्वरूप भारतीय नहीं है। भारत की संस्कृति, परंपरा, मानसिकता, आज की आवश्यकताओं एवं भावी आकांक्षाओं का इस संविधान में प्रतिबिंब नहीं है।

इसका अर्थ यह नहीं कि संविधान-निर्माताओं को भारतीय परंपरा एवं हिंदू विधि के बारे में कोई ज्ञान नहीं था। प्रत्युत, साहित्य में मान्यता पा चुके वेद, वेदांग, उपनिषद् आदि में ग्रथित विधिनिषेध, मूल विधि-साहित्य, धर्म-सूत्र, स्मृति, मीमांसा, रूढ़ि, लोकाचार, सदाचार, रामायण-महाभारत, निबंध, कौटिलीय अर्थशास्त्र शुक्रनीति,— सारांश यह कि श्रुति-स्मृति से लेकर मित्र मिश्र द्वारा प्रवर्तित 'वीर मित्रोदय' तक लगातार विकसित एवं परिवर्तित होते गए हिन्दू विधान को भलीभांति जानने वाले विद्वान संविधान सभा में थे। किंतु संविधान तैयार करते समय इस भारतीय विधि-साहित्य या विधिवेत्ताओं के ज्ञान का उपयोग नहीं किया गया। इस संपूर्ण परंपरागत साहित्य की ओर से हमारे संविधान-निर्माताओं ने मुंह फेर लिया था।

हमारा संविधान मुख्यतः १९३५ के 'भारत शासन अधिनियम' पर आधारित है । ब्रिटिश संसद द्वारा पारित यह शायद सबसे लम्बा विधान है । हमारे संविधान ने कुछ विषयों में यद्यपि इस विधान से भिन्न भूमिका ली है, फिर भी प्रमुखता से इसी विधान का आधार लेकर संविधान तैयार किया गया है । संविधान-विशेषज्ञ श्री बसु कहते हैं "Three-fourths are based on the Government of Indian Act of 1935." (तीन-चौथाई भाग १९३५ के 'भारत शासन अधिनियम' पर आधारित है ।)

संविधान बनाने वालों के मन में था कि ब्रिटिश पद्धति का संसदीय लोकतंत्र ही हमारे देश के लिए भी उपयुक्त है । "इसकी अनेक अवधारणाएं, जैसे— विधि का शासन, न्यायिक पुनरीक्षण और उत्तरदायी सरकार, ब्रिटिश अवधारणाएं हैं ।" यह स्पष्ट है कि १९३५ का विधान अंग्रेजी साम्राज्य-सत्ता के लिए सुविधापूर्ण था ।

संविधानकर्ताओं के सामने मुख्य आदर्श ब्रिटिश लोकतंत्र का था । फिर भी अन्य देशों के संविधानों से प्रत्यक्ष या परोक्ष कुछ बातें उधार ली गयी हैं । अधिक विस्तार में न जाते हुए स्थूल रूप से विचार करें तो निम्न बातें ध्यान में आती हैं । भारतीय संविधान में 'शासकीय नीति के निर्देशक सिद्धांत' शीर्षक एक अध्याय है जो आयरलैंड के संविधान तथा जनरल फ्रैंको से पूर्व के स्पेन के संविधान की ऐसी ही व्यवस्थाओं पर आधारित है । 'मूलभूत अधिकार' की संकल्पना अमरीका एवं आयरलैंड के संविधान में दी गयी तत्सम व्यवस्थाओं पर आधारित है । चौथे फ्रांसीसी गणराज्य के संविधान की प्रस्तावना में भी इस प्रकार की घोषणा है । इटालियन गणराज्य के संविधान के प्रथम भाग में नागरिकों के अधिकारों एवं कर्तव्यों के बारे में घोषणा की गयी है । सन् १९४९ के संघीय गणराज्य जर्मनी के संविधान में भी मूल अधिकारों की सूची दी गयी है । भारत के अंतरराष्ट्रीय संबंधों में नीतियों से संबंधित निर्देशक सिद्धांत का धारा ५१ में दिग्दर्शन किया गया है । चौथे फ्रांसीसी गणराज्य के संविधान की प्रस्तावना, इटालियन गणराज्य के संविधान की धारा ११ तथा संघीय गणराज्य जर्मनी के संविधान में लगभग ऐसा ही प्रावधान पाया जाता है ।

सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न भारत के संविधान के स्वरूप के बारे में है । यह स्वरूप संघीय (फैडरल) हो, ऐसा विचार-प्रवाह प्रारंभ में ही चल पड़ा था । संविधान का स्वरूप परंपरागत अर्थ में ऐकिक (यूनिटरी) रखा जाए तो निरंकुशतंत्रीय प्रवृत्ति का आरोप अपने पर आने का भय राष्ट्रीय नेताओं के मन में था । प. पू. श्री गुरुजी ने संघीय स्वरूप के कारण उत्पन्न होने वाला खतरों के बारें में पूर्वसूचना दी थी, यह बात अनेक लोगों के ध्यान में होगी । स्पष्ट है कि संविधान-निर्माताओं की मनः स्थिति द्विविधापूर्ण थी । असंदिग्ध रूप में ऐकिक स्वरूप स्वीकार करने की मन की तैयारी नहीं और संघीय स्वरूप से होने वाले दुष्परिणाम सम्मुख; ऐसी द्विविधा में लोग फंसे थे । अतः उन्होंने अमरीका का संघीय स्वरूप नहीं स्वीकारा, बल्कि उस प्रसंग में कनाडा के संविधान का अनुकरण किया । संविधान के शिल्पियों ने जानबूझकर 'UNION' संज्ञा को प्रयुक्त किया । उन्होंने 'फेडरल' संज्ञा का प्रयोग नहीं किया । इस बारे में कनाडा के संविधान का हमारे संविधानकारों के मन पर विशेष प्रभाव था । कनाडा संघ-राज्य

था, किंतु उसे सशक्त केंद्र की आवश्यकता थी। अमरीकी गृहयुद्ध ने उसे अच्छा पाठ सिखाया था। अतः संघात्मक रचना रखते हुए भी केंद्र को शक्तिशाली रखना उसके लिए अपरिहार्य हो गया था। भारत के इतिहास से निकलने वाला निष्कर्ष भी कुछ इसी स्वरूप का था। किंतु इस द्विविधा से निर्मित हुई रचना 'इदं च नास्ति— परं न लभ्यते' जैसी हो गयी। 'ऐकिक तथा संघीय' दोनों रचनाओं से होने वाली हानि हमारे पल्ले पड़ी और दोनों रचनाओं के लाभों से हम वंचित रह गए।

इस संदर्भ में प्राध्यापक बनर्जी कहते हैं, "भारत के संविधान का स्वरूप यद्यपि संघात्मक है, उसका स्पष्ट झुकाव एकात्मता की ओर हैं।"

प्रो. के. सी. व्हीयर ने कहा है, "इस (संविधान) ने वस्तुतः एक ऐसी शासनप्रणाली स्थापित की है जो अंशतः संघात्मक तथा अधिकतर (संसद द्वारा) नियत संस्थाओं को कार्य सौंप देने के स्वरूप की है। वह एकात्मक राज्य है जिसमें संघात्मक उपांग जोड़ दिया गया है। एकात्मता का उपांग जुड़ा हुआ संघात्मक राज्य इसे नहीं कहा जा सकता।"

संविधान-निर्माताओं की इस भ्रमित मनोदशा * से निर्मित संविधान का स्वरूप 'न इधर के रहे और न उधर के रहे' जैसा है। अतः आज बढ़ते जा रहे केंद्र-राज्य-विवादों को स्थान मिला। भारत की परंपरा, इतिहास, सांस्कृतिक एकात्मता आदि सबकी पृष्ठभूमि में संविधान का विचार किया जाता तो यह अप्राकृतिक विवाद उत्पन्न न हुआ होता, विभेदकारी प्रवृत्तियों को बल न मिला होता, राष्ट्रीय एकात्मता में विविध बाजुओं से दरारें न पड़ी होतीं, संविधान का स्वरूप विशुद्ध भारतीय रहने पर सामान्य भारतीय मानस को उसमें से अतीत का यथार्थ अभिमान एवं भविष्य के प्रति उज्ज्वल आकांक्षा का साक्षात्कार हुआ होता और जनता की शक्ति आपस के झगड़ों में नष्ट न होकर राष्ट्र के पुनर्निर्माण के कार्य के लिए उसका रचनात्मक उपयोग होता। यह उद्देश्य सामने रखकर दीनदयाल जी ने भारतीय प्रकृति के अनुसार 'एकात्म शासन प्रणाली' की कल्पना का सूत्रपात किया। आज केंद्र-राज्य विवाद उग्र रूप धारण कर रहे हैं, किंतु प्रचलित संविधान की परिधि में रहकर समय-समय पर सामयिक, तात्कालिक राजनीतिक समझौते करते हुए किसी प्रकार से बात को बना ले जाना उसका स्थायी उपाय है। दीनदयाल जी द्वारा प्रतिपादित 'एकात्म शासन प्रणाली' के विवरण को विकसित करते हुए उसे व्यवहार में लाना ही इस समस्या का स्थायी एवं प्रभावकारी उत्तर है। श्री बालासाहेब जोग ने अब तक विकसित इस कल्पना का स्वरूप अपने खण्ड में विस्तारपूर्वक दिया ही है।

---

* पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—

"आज संसार में खलबली मची है और हम लोग एक तीव्र परिवर्तन के युग से गुजर रहे हैं। आज हम जो— कुछ भी करेंगे, वह ज्यों का त्यों कल संपूर्ण रीति से लागू होगा ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता।"

११.

पंडित जी के विचार एक दृष्टि से दो भागों में बांटे जा सकते हैं। कुछ तत्कालीन तथा अन्य सर्वकालीन महत्त्व के। सर्वकालीन विचारों की सत्यता परिस्थितिनिरेपक्ष हुआ करती है। फिर भी उनके मर्म का पूरा-पूरा आंकलन तब तक नहीं किया जा सकता, जब तक यह न ज्ञात हो कि वे किस परिस्थिति में प्रस्तुत किए गए थे। पंडित जी केवल पोथी पढ़े विद्वान नहीं थे। वे सार्वजनिक जीवन में अत्यंत सक्रिय थे। क्रियाशील व्यक्तियों के विचार सर्वकालीन महत्त्व के होते हैं। फिर भी कई बार ऐसे विचारों की अभिव्यक्ति किसी न किसी घटना, समस्या अथवा परिस्थिति की प्रतिक्रिया के रूप में हुई होती है। विचारों की अभिव्यक्ति के लिए कोई न कोई तत्काल-निमित्त मिल जाता है। उस निमित्त, घटना, समस्या अथवा परिस्थिति की पूर्ण जानकारी न हो, तो उस विचार की सच्ची महानता एवं विचारक की सच्ची ऊंचाई ध्यान में नहीं आ पाती। विचार का महत्त्व सर्वकालीन हो अथवा तत्कालीन, उसकी परिस्थितिजन्य पृष्ठभूमि का ज्ञान अपने में ही महत्त्वपूर्ण होता है। कोपरनिकस का सिद्धांत अब सर्वमान्य हो गया है। किंतु जब कोपरनिकस ने वह सत्यदर्शन किया, उस समय समूचे यूरोप तथा ईसाई समाज में कौन सी धारणाएं दृढ़ मूल थीं, कौन सी मान्यताएं प्रचलित थीं तथा उस मत के पीछे खड़ी पोप की सत्ता कितनी प्रबल थी, इसकी जानकारी जिसे न हो, उसे कोपरनिकस की वैचारिक ऊंचाइयों का आंकलन हो ही नहीं सकेगा। आयरलैंड के टेरेन्स मैक्स्विनी के विचार किसी भी ध्येयवादी मानस को उत्कट प्रेरणा देने वाले हैं। किंतु साम्राज्यवाद के विरुद्ध छेड़े गए संघर्ष की किस अवस्था में वे विचार उत्स्फूर्ति से प्रकट हुए, इसे जान लें तो उनका स्वरूप अधिक ज्वालाग्राही प्रतीत होगा। तर्कशास्त्र के बारे में अरिस्टाटल, जनतंत्र के बारे में लिंकन, राष्ट्रीयता के बारे में मेजिनी अथवा मानव के मूलभूत अधिकारों के बारे में जेफरसन के विचार सर्वकालीन महत्त्व के हैं। किंतु इसका ज्ञान हो कि किन विशिष्ट परिस्थितियों में वे आग्रहपूर्वक रखे गए थे, तभी उन विचारों का सच्चा रहस्य तथा विचारकों की सच्ची श्रेष्ठता मन पर अंकित हो सकती है। पैथागोरस, यूक्लिड, देकार्त, पास्कल, रूसो, वाल्टेयर, मार्क्स आदि लोगों के विचारों के बारे में भी यही कहा जा सकता है। विचारों का तो महत्त्व है ही, किंतु परिस्थिति की पृष्ठभूमि के कारण उनका मूल्य अधिक बढ़ जाता है। हीरे का मूल्य तो होता ही है किन्तु उसे अनुरूप गर्त में बिठाया जाए तो उसका तेज एवं सौंदर्य और भी अधिक प्रतीत होता है। परिस्थिति के गर्त के बिना विचारों एवं विचारकों की सच्ची योग्यता प्रकट नहीं हो सकती।

इस ग्रंथ के आगामी छहों भाग पंडित जी के विचारों से ओत-प्रोत हैं और प्रसंगानुसार एक-एक परिस्थिति का विवरण भी उनमें दिया गया है। किंतु इसमें ग्रथित समग्र विचार को इस शताब्दी के पांचवें दशक के प्रारंभ में परिस्थिति का जो गर्त मिला था, वह साकल्य से पाठकों के मानस- चक्षुओं के सम्मुख न हो तो विषयप्रवेश करते समय विचारों एवं विचारक की वास्तविक योग्यता उनकी समझ में नहीं आ सकेगी। उस दृष्टि से विषयप्रवेश करने से पूर्व तत्कालीन परिस्थिति का सर्वंकष चित्र प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत होता है।

१२.

अधिकांश भूतपूर्व उपनिवेशी देशों को दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अंतरराष्ट्रीय परिस्थिति के दबाव के कारण स्वतंत्रता दी गयी। यह स्वतंत्रता क्रांति या अन्य किसी संघर्ष के तत्काल फलस्वरूप प्राप्त नहीं हुई थी। उससे पूर्व के काल में विभिन्न देशों में कई प्रकार के प्रयत्न या आंदोलन अवश्य हुए थे, फिर भी प्रत्यक्ष स्वतंत्रता देने के समय अंतरराष्ट्रीय परिस्थिति ही उसका प्रमुख कारण बन गयी थी। भारत स्वयं भी ऐसे देशों में एक था। यहां भी आंदोलन अवश्य हुए। किंतु जैसा कि जवाहर लाल नेहरू ने आगे चलकर माना, सन् १९४७ में कांग्रेस के नेता इतने थक चुके थे कि देश का विभाजन स्वीकार न करने पर आगे चलकर जो संघर्ष फिर उसे करना पड़ता, उसके लिए उनकी मानसिक तैयारी नहीं थी। प्रत्यक्ष सत्ता का हस्तातरण ब्रिटिश संसद द्वारा 'इंडियन इंडिपेण्डेन्स एक्ट' के अनुसार हुआ। ऐसी ही अवस्था न्यूनाधिक मात्रा में नव स्वतंत्र अन्य उपनिवेशों की भी थी। परिणाम यह हुआ कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भी पश्चिमी सभ्यता का प्रभुत्व इन देशों के मानस पर अंकित रह गया। उनके नेताओं के मन में एक प्रकार से हीनता की भावना थी। यह बात उनके मन में बैठ गयी थी कि प्रगति अथवा विकास का विश्व में एक ही नमूना है और पश्चिमी ढंग की प्रगति ही प्रगति का एकमेव प्रकार है। फ्रैंज फैनोन ने तृतीय विश्व के लोगों को 'पृथ्वी के नारकीय जीव' (The Damned of the Earth) संज्ञा दी थी। इस स्थिति के कारण क्रोध या चिढ़ उत्पन्न होने के स्थान पर विवशता की भावना बढ़ गयी। उन्हीं के कारण उनका शोषण कर साम्राज्यवादी देश आज तक अपने वैभव का अम्बार खड़ा करते थे, इस सत्य को इन नेताओं ने भुला दिया और उनके मन में असहायता की एक ऐसी भावना उत्पन्न हो गयी कि अपने पुराने स्वामियों अर्थात् गोरे राष्ट्रों की सहायता के बिना हम लोग एक पग भी आगे नहीं चल सकेंगे। वस्तुतः स्वतंत्रता देने के बाद भूतपूर्व साम्राज्यवादी उत्तरी राष्ट्रों की अवस्था बहुत ही विचित्र हो गयी। उनका आज तक का वैभव उनके अपने साधन-स्रोतों के बल पर खड़ा नहीं था। कच्चे माल की सस्ती आपूर्ति के लिए अपने बंधुआ उपनिवेशों का उपयोग करना, वहां से लाया कच्चा माल अपने देश में पक्का बनाना और अधिक दामों पर उसको बेचने के लिए मुख्य बाजार के नाते फिर से उन्हीं उपनिवशों का उपयोग करना, ऐसे शोषणचक्र से उनका वैभव निर्मित हुआ था। परिस्थिति के दबाव के कारण राजनीतिक स्वतंत्रता भले ही प्रदान करनी पड़ी हो, अपने आर्थिक साम्राज्य के प्रकोष्ठ ('पाकेट') नव स्वतंत्र दक्षिणी देशों में निर्मित न कर सके तो अपना आर्थिक ढांचा चरमराने से बचाना भी दुष्कर हो जाएगा, इसका स्पष्ट बोध साम्राज्यवादी उत्तरी राष्ट्रों में जगाने लगा था। तदनुसार दक्षिणी देशों में आर्थिक देशों में आर्थिक साम्राज्य के प्रकोष्ठ निर्मित करने के लिए भांति-भांति की जुगतें लड़ाना, आर्थिक संस्थाओं का निर्माण करना और विदेशों से सहायता-सन्धियां करवाना आदि कार्य उन्होंने प्रारंभ किए थे। दक्षिणी देशों में जनता को इस वस्तुस्थिति का स्पष्ट बोध होता तो उत्तरी देशों के इन दांवपेंचों का सफल होना कठिन था। अतः उन्हें यह प्रतीत होने लगा कि जिस प्रकार पहले अपनी साम्राज्य-सत्ता को बनाए रखने के लिए उपनिवेश के लोगों के मन में सांस्कृतिक भय की भावना निर्मित करना आवश्यक था, उसी प्रकार अब भी

विदेशियों का आर्थिक साम्राज्य उनके गले उतारने के लिए उसी प्रकार का कुछ सांस्कृतिक भय फिर से उत्पन्न करना आवश्यक है। उसी प्रयास में उन्हें सफलता भी मिली। कारण, एक तो जैसा कि पहले बताया जा चुका है, स्वतंत्रता-प्राप्ति तात्कालिक संघर्ष के कारण नहीं हुई थी। दूसरे, लगभग ऐसे प्रत्येक देश में सत्ता का दान ऐसे ही लोगों के हाथ पर छोड़ा गया था, जो पहले से पश्चिनी सभ्यता के भगत बन बैठे थे और स्वदेशी संस्कृति से टूट चुके थे[२१]। इसके अतिरिक्त स्वराज्य का अनुभव न होने के कारण उपस्थित प्रश्नों की गंभीरता उन्हें वास्तविकता से अधिक प्रतीत होने लगी थी। भय के कारण ये लोग भुला बैठे थे कि विकास के विविध पक्ष, विविध आयाम एवं मितियां होती हैं। समस्याएं तो अवश्य थीं। प्रचण्ड बेकारी, आवश्यक वस्तुओं का अभाव, अत्यधिक बढ़ती जा रही मुद्रास्फीति, दरिद्रता, अल्पायु, मृत्यु-संख्या तथा उससे भी बढ़कर जनसंख्या में वृद्धि, निरक्षरता, स्वास्थ्य एवं स्वच्छता के सामान्य नियमों का अज्ञान, संक्रामक रोग, महामारी, अतिवृष्टि, अकाल, घटिया एवं घुन लगी फसलें, पिछड़ी हुई तथा देश-स्थिति के साथ बेमेल प्रौद्योगिकी (तंत्रविद्या), सामंतवादी संबंध, वंश एवं सम्प्रदाय, भाषा, प्रदेश आदि पर आधारित विघटनकारी प्रवृत्तियां, पुरानी भोली रुढ़ियों का जन-मानस पर प्रभाव, बार-बार होने वाली स्थानीय लड़ाइयां, सैनिक क्रांतियां, राजनीतिक उथल-पुथल, ये सब उपनिवेशी देशों की महत्त्वपूर्ण समस्याएं थीं। ऐसी परिस्थिति का सामना करने की बारी स्वराज्यपूर्व काल में न आने के कारण नये सत्ताधारियों को उनका बहुत ही भय लगने लगा।

किंतु ऐसी अवस्था में भी निराशा एवं हीन भावना का कोई औचित्य नहीं है, ऐसा आत्मविश्वास-पूर्वक आह्वान करने वाले महात्मा गांधी, श्रीगुरुजी अथवा दीनदयाल जी जैसे नेता भारत में थे ही। (एशियाई नवजागरण का नेतृत्व करने वाले नेताओं का कालगणना के अनुसार क्रम इस प्रकार माना जाता है—राजा राममोहन राय, मेइजी मिकैडो, सुत्सुहिटो, सैयद जमालुद्दीन (ईरान), डा. सन यत सेन (चीन), व मुस्तफा कमाल पाशा (तुर्कस्थान)। अफ्रीका में यह सम्मान का स्थान मिस्र के जगलुल पाशा को दिया जाता था। ये सब महापुरुष पश्चिमी भौतिक परिस्थिति से प्रभावित थे। फिर भी उनके मन में अपनी राष्ट्रीय संस्कृति की जड़ें गहरी जमी हुई थीं।) समस्याएं जैसे निर्धनता से उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार धनाढ्यता अथवा धनवानों के प्रदर्शन से भी होती हैं। पश्चिमी पद्धति के तांत्रिक विकास से स्वचालित यंत्रों और संगणकों के कारण बेकारी बहुत बढ़ जाती है। लगभग ५० वर्ष पूर्व अर्थशास्त्री कीन्स ने जिसे 'परिपूर्णता का संकट' बताया था, उसका सामना करना पड़ता है। ऐसे संकट का पृथक्करण अलग-अलग प्रकार से होता है। आर्थिक अवरोध, गतिरोध एवं मूल्य-वृद्धि, मंदी, यातायात में बाधाएं तथा दुर्घटनाएं, शीघ्रता चिंता एवं मानसिक तनाव और उससे उत्पन्न होने वाले 'न्यूरेस्थेनिया', रक्तचाप, हृदय-रोग, 'शिजोफ्रेनिया', असुरक्षित एवं अकेलेपन की भावना, भय की भावना, बाल अपराध, उदास होना, विफलता का भाव, परात्मभाव, व्यक्तित्व का विघटन, आत्महत्या की ओर ले जाने वाली मानसिक विकृति, अपराधी एवं हिंसाचार की प्रवृत्ति, लैंगिक अविवेक एवं विकृति, मद्यवश्यता (नशे की लत), काम पर न जाने की प्रवृत्ति, ध्वस्त पारिवारिक जीवन तथा प्रायः सामाजिक तनाव, सब पश्चिमी संस्कृति के रोग हैं। पश्चिमी प्रणाली के अनुसार तंत्र-विद्या (टेक्नालॉजी) की प्रगति हो जाए तो

एक ऐसा नया प्रश्न उनके सामने पैदा होने वाला है जिसका सामना करने के लिए आवश्यक सांस्कृतिक स्तर पश्चिम को अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। यह प्रश्न है अवकाश का। आज की पश्चिम की वस्तुनिष्ठ भौतिकता प्रधान वृत्ति एवं विपुल अवकाश से मानव को पतन की ओर ले जाने वाला भस्मासुर न जन्मा तो वह एक आश्चर्य ही होगा। सांस्कृतिक स्तर ऊंचा हो तो अवकाश ईश्वरीय वरदान बन जाता है। पतंजलि ने कहा है, "निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः'। किंतु सांस्कृतिक स्तर ऊंचा न हो तो 'खाली मन भूत का डेरा' जैसी अवस्था हो जाएगी। तांत्रिक प्रगति के शिकार होकर प्रकृति के वैभव का दुरुपयोग करने एवं संतुलन बिगाड़ने का उपक्रम और उससे उत्पन्न होने वाले प्रदूषण की समस्या आज पश्चिम के सभी-स्वप्नों को भंग कर रहे हैं। नवस्वतंत्र भारत के पश्चिमी प्रभाव में आए नेताओं में इन सभी बातों का शांतिपूर्वक अनुमान लगाने की क्षमता नहीं थी, अतः पश्चिम की भौतिक प्रगति की चकाचौंध से उनकी आंखे चौंधिया गयीं। उस अवस्था में दीनदयाल जी आने वाली घटनाओं का सही अनुमान लगाकर तत्कालीन परिस्थिति से किंचित् भी विचलित न होते हुए देश और युग के अनुकूल रहने वाली नीतियों का विचार कर सके, यही उनकी क्रांतिदर्शिता है। आज तीन दशकों के बाद पश्चिमी की विविध समस्याओं के भीषण आयाम हम लोगों के भी ध्यान में आ रहे हैं। हिंसाचार तथा अपराधों में वृद्धि, हिप्पी, बीटनिक्स आदि नए पंथों का उदय, उपभोक्ता समाज अथवा समाज-रचना के विरुद्ध विश्वविद्यालय के छात्रों एवं श्रमिकों का विद्रोह, फालतू वस्तुओं के बढ़ते जाने वाले भण्डार, निरंतर बढ़ते जाने वाले उपनगर, धुंआं और कोहरा, पर्यावरण प्रदूषण, विभिन्न औद्योगिक रोग आदि नगरीकरण एवं उससे उत्पन्न होने वाले व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के प्रश्न, सब पांच दशक पूर्व प्रचाइड ने जिसे 'सभ्यता का रोग' कहा था, उसी के लक्षण हैं। अवकाश के प्रश्नों की भीषणता भी डेनियल बेल द्वारा लिखित 'पोस्ट इण्डस्ट्रियल सोसाइटी' से हमारे ध्यान में आ सकती है। किंतु स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद के काल में हो सकने वाली ऐसी सभी घटनाओं का अचूक अनुमान लगाकर स्थिर चित्त से अपनी भारतीय संस्कृति पर श्रद्धा रखने और उसी के मार्ग से भारत का पुरुत्थान होगा, ऐसा आश्वासन अपने देशवासियों को दृढ़तापूर्वक देना अलौकिक व्यक्तित्व का ही लक्षण है।

विचारों की दृढ़ता और उन्हें प्रकट करने का साहस प्रौद्योगिकी (टेक्नालॉजी) के क्षेत्र में भी पंडित जी की विशेषताएं थीं। १९५४ में मेरे महाराष्ट्र के प्रवास में एक स्थान पर विचारवंतों की बैठक में पंडित जी के प्रौद्योगिकी विषयक दृष्टिकोण के बारे में मुझसे प्रश्न किया गया था और मेरा उत्तर सुनकर प्रश्नकर्ता ने यह निष्कर्ष निकाला था कि इस विषय पर पंडित जी के विचार पुराणपंथी एवं कालबाह्य हैं। तब तक महात्मा गांधी के विचारों के बारे में प्रचलित भ्रान्तियां दूर नहीं हुई थीं। उसी प्रकार डा. शूमाकर के बुद्धिस्ट अर्थशास्त्र 'लघु सुन्दर है' ('Small is beautiful') तथा मध्यवर्ती अथवा उपयुक्त प्रौद्योगिकी पर विचार प्रकाशित नहीं हुए थे। उस पर हमारे प्रश्नकर्ता की क्या प्रतिक्रिया हुई थी, पता नहीं। अब तो क्लाड अल्वारिस के 'होमो फेबर' ने ऐसे विचारकों को धक्का दिया है। भारत, चीन और पश्चिम की सन् १५०० से लेकर आज तक की प्रौद्योगिकी और संस्कृति उनके ग्रंथ का विषय है। उसमें किए गए प्रतिपादन का मर्म श्री रजनी कोठारी ने अपनी प्रस्तावना में निम्न शब्दों में समझाया है:

"इस ग्रंथ ने पश्चिम के इस दावे को अस्वीकार करने की आवश्यकता को उजागार कर दिया है कि उसका ज्ञान सारे विश्व पर लागू होने योग्य है और इस बात की आवश्यकता को भी कि पश्चिम के अतिरिक्त जो अन्य देश हैं, वे अपनी समस्याओं के समाधान अपने में ही खोजने का प्रयत्न करें। इस प्रक्रिया में औद्योगिक-सांस्कृतिक प्रणालियों को बहुरंगी स्वरूप देने की ही नहीं, अपितु ऐसे बहुरंगी स्वरूप से नयी समस्याओं की उस फसल का समाधान खोजने के लिए सहायक होने की आवश्यकता भी प्रतिपादित की गयी है जिसका सामना पश्चिमी के लोगों को आज करना पड़ रहा है। एक विशिष्ट तंत्र-संस्कृति के विश्वव्यापी प्रसार एवं क्रमागत तंत्रिवज्ञान के एक ही नमूने से विविध सांस्कृतिक एवं तांत्रिक प्रणालियों की ओर ले जाने वाला यह संक्रमण करवाना राजनीतिक दृष्टि से सरल नहीं है। बौद्धिक एवं नैतिक दृष्टि से वह कितना भी उपयुक्त क्यों न लगता हो, वह संक्रमण होगा कठिन ही। ग्रंथ-लेखक इस बाते भली-भांति अवगत हैं।"

पंडित जी को भी इन कठिनाइयों का बोध था। फिर भी अपनी विचारधारा के साथ आगे चलकर क्या-क्या क्षुद्र विशेषण लगाए जाएंगे, इसकी चिंता न करते हुए उन्होंने अपने सुविचारित मत प्रस्तुत किए।

तीन दशक पूर्व प्रगतिशील लोगों में यह मानने की प्रवृत्ति थी कि पश्चिमी तंत्रविद्या की निरंकुश प्रगति ही मानव जाति की अनियंत्रित भौतिक प्रगति है। मानव-प्रगति का समग्रता से विचार करना पुराणपंथी माना जाता था। अब धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति बदल रही है। हाल ही में प्रकाशित अपने भाषण का समापन करते समय डा. वि. म. दांडेकर ने जो कहा था, इस दृष्टि से भी दिशा-सूचक है—

"थोड़ी देर के लिए परात्मभाव के निराकरण को हम आत्मविकास कह भी लें, फिर भी यह आत्मविकास और आध्यात्मिक विकास एक नहीं है। आधिभौतिक विकास के बिना आध्यात्मिक विकास तो संभव है, किंतु आत्मविकास संभव नहीं। ऐसी अवस्था में, जिसमें सारा परिश्रम केवल जीने के लिए करना पड़े, मानव का आत्मविकास संभव नहीं। उसके लिए प्रकृति पर विजय प्राप्त कर न्यूनतम आधिभौतिक विकास साध्य करने की आवश्यकता है। किंतु मार्क्स ने कहा है— जिस मात्रा में मानव प्रकृति पर विजय प्राप्त करता है, उतनी ही मात्रा में वह अपने अंदर छिपी मानवता का दास हो जाता है। कम से कम आज तक के विज्ञान और प्रौद्योगिकी (तंत्रविद्या) के कारण ऐसा ही हुआ दिखाई देता है। अतः आगे चलकर मानव की भौतिक उत्पादन शक्ति को निरंतर असीमित मात्रा में बढ़ाते जाना विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का उद्देश्य नहीं होना चाहिए। मानव के अंदर की मानवता को नष्ट न होने देते हुए मानव के आत्मविकास के लिए आवश्यक उतना आधिभौतिक विकास कैसे साध्य करें, यही अब विज्ञान और प्रौद्योगिकी के सम्मुख चुनौती है।"

पंडित दीनदयाल जी के राष्ट्रीय जीवन के प्रारंभिक काल में इस प्रकार की संतुलित दृष्टि का प्रगतिशील लोगों में अभाव ही था।

(संयोग की बात है कि विश्व के कुछ प्रमुख बुद्धिजीवी वैज्ञानिकों, शिक्षाशास्त्रियों तथा अर्थशास्त्रियों के 'क्लब ऑफ रोम' द्वारा सन् १९६८ में प्रकाशित निवेदन में प्रौद्योगिकी के विषय में पंडित जी के मतों के अनुकूल सिद्ध होने वाला अभिप्राय ही व्यक्त किया गया है।)

पश्चिमी तंत्रविद्या के बारे में पंडित जी द्वारा प्रकट अभिप्राय को पोथीनिष्ठ एवं पुराणपंथी कहने के लिए हमारे सस्ते प्रगतिशील मित्रों को अवसर मिलने का एक और कारण है। पर्यावरण-शास्त्र विषयक चर्चा हमारे देश में उन दिनों प्रारंभ भी नहीं हुई थी। सन् १९५६ में दिल्ली में पीलिया की महामारी आ गयी थी। उसके बाद इस शास्त्र की ओर हमारे विद्वानों एवं राज्यकर्ताओं का ध्यान गया। पिछली सदी के सातवें दशक में टेम्स के पानी के प्रदूषण के कारण इंग्लैंड में महामारी के रोग फैले थे। इंग्लैंड की सरकार ने तुरंत 'रायल कमीशन ऑफ स्यूएज डिस्पोजल' की नियुक्ति की थी। उसके बाद श्री विंडल टेलर, श्री थ्रैश, श्री बिल एवं श्री सर्किलग जैसे शास्त्रज्ञों ने विज्ञान की इस नयी शाखा का सूत्रपात किया। १९५६ में दिल्ली में फैली पीलिया की महामारी का भी परिणाम हुआ और बंबई महानगरपालिका के नगर अभियन्ता श्री एन. वी. मोडक ने पर्यावरण-प्रदूषण की समस्याओं के बारे में सरकार एवं जनता की उदासीनता को पहला धक्का दिया। नागपुर के 'नेशनल एन्वायरन्मेण्टल एंजिनियरिंग रिसर्च इन्स्टीट्यूट' ('नारी') के श्री मोडक संस्थापक निदेशक हो गए और अब श्री आर. एस. मेहता, प्रा. एस. जे. आरसीवाला, प्रा. एन. मजूमदार तथा डा. बी. बी. सुंदरेशन के मार्गदर्शन में इस विज्ञान ने भारत में भी प्रशंसनीय प्रगति की है। पंडित जी की खिल्ली उड़ाने वाले 'प्रगतिशील' (?) लोगों का उथलापना 'नारी' शोध के कारण स्पष्ट हो गया। किंतु यह सब प्रगति बाद के समय की है। पंडित जी ने प्रचलित जनमत की परवाह किए बिना जब पश्चिम की तंत्रविद्या के बारे में निर्भयतापूर्वक अपना मत प्रकट किया, उस समय परिस्थिति अब से बिल्कुल भिन्न थी। (इस शास्त्र की प्रगति की दृष्टि से आज जापान का क्रमांक पहला, अमरीका का दूसरा तथा यूरोप का तीसरा है। भारत ने पर्यावरण अभियान्त्रिकी (एन्वायरन्मेण्टल एंजिनियरिंग) के क्षेत्र में देरी से पदार्पण किया। फिर भी धीरे-धीरे, किंतु निश्चित रूप से, इस शास्त्र में भारत आगे बढ़ता जा रहा है और इस शास्त्र की दृष्टि से दक्षिण-पूर्व एशिया में सबसे प्रगत राष्ट्र का स्थान आज उसने प्राप्त कर लिया है।)

१३.

भारतीयों के मन में सांस्कृतिक हीनता की भावना निर्मित करने की दृष्टि से पश्चिमी देशों ने कुछ कपोल काल्पनिक सिद्धांत खोज निकाले और हमारे शिक्षित लोगों ने आंखें मूंदकर उनको स्वीकार कर लिया। हमारे स्वत्व से हमें विमुख करने का पश्चिमी लोगों का उद्देश्य लगभग सफल होता जा रहा था। सन् १९४७ के बाद भी यह बौद्धिक दासता नष्ट नहीं हुई थी। 'साहेब वाक्यं प्रमाणम्' का सिलसिला पढ़े-लिखे लोगों का रहा है। साहेब लोगों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत के विरुद्ध बोलना प्रतिगामिता का लक्षण माना जाने लगा है। ऐसी स्थिति में और प्रतिगामिता का दोष स्वीकार करते

हुए भी जिन्होंने स्थिर बुद्धि से पश्चिमी सिद्धांत के झूठेपन का भंडाफोड़ किया, ऐसे ही कुछ चुनींदा लोगों में दीनदयाल जी की गणना करनी होगी। आज इसकी कल्पना नहीं की जा सकती कि ऐसा साहस करना उन दिनों कितने साहस का काम था। किंतु बृहत् राष्ट्रहित को सम्मुख रखकर पंडितजी ने यह किया और पश्चिमी देशों के सिद्धांतो की कलई खोल दी। नमूने ने के लिए केवल एक सिद्धांत का उदाहरण लें :

अंग्रेजों ने एक सिद्धांत यहां प्रचलित किया था कि केवल हम अंग्रेज ही यहां पर आक्रामक बनकर आए हुए नहीं हैं, अपितु हिंदू भी यहां के मूल निवासी नहीं थे। वे हमारी भांति विदेशी आक्रामक ही हैं। अन्तर केवल इतना है कि हमारा आक्रमण आधुनिक काल का है और हिन्दुओं का ऐतिहासिक काल का। किंतु सैद्धांतिक दृष्टि से हम और हिंदू दोनों ही इस भूमि के लिए समान रूप से पराये हैं, और इस भूमि के सच्चे आदिवासी पुत्र बेचारे विभिन्न आक्रांताओं द्वारा कुचले गए हैं, पीसे गए हैं। इसी में से आगे चलकर द्राविडियन सिद्धांत अपने आप उदित हुआ। बिशप काल्डवेल ने सन् १८५६ में अपने 'Comparative Grammer of Dravidian Languages' ग्रंथ में भाषा के आधार पर द्राविडियन सिद्धांत का प्रतिपादन किया। डा.किटल,डा.एच.गुमडर्ट,श्री वी.ए.स्मिथ आदि लोगों ने शास्त्रीय विश्लेषण का कष्ट न लेते हुए काल्डवेल के इस कल्पनारंजन को एक शास्त्रीय सत्य के रूप में मान्यता दी। उसी प्रकार कल्पना एक महल श्री कनकस भाई पिले ने खड़ा किया। उसने कहा द्रविड एक अलग भाषासमूह, जन-समूह है तथा हिन्दू महासागर में निमज्जित लिम्यूरियन महाद्वीप द्राविडियों का आदि देश है। शोधकर्ता फ्रांसिस व्हिटे एलिस व मिशनरी बेश्ची, पोप राबर्ट काल्डवेल आदि ने द्रविड संस्कृति की रूपरेखा भी प्रकाशित की और आगे चलकर कारड्यू, मूर हैमिक, एच.एफ.डब्लू. गिलिमन तथा सर लीनेल डेविडसन जैसे आई. सी. एस. अधिकारियों के प्रोत्साहन से १९१२ में 'मद्रास द्राविडियन एसोशिएशन' की स्थापना हुई। काल्डवेल द्वारा प्रारंभ किए गए उपद्रवों का दुष्परिणाम केवल मद्रास प्रांत तक ही सीमित नहीं रहा, वरन् भारत भर में उसके दुष्परिणाम हुए और एकसंघ हिन्दू समाज में खड़ी और आड़ी दरारें पड़ीं। विशेषतः 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' के रूप में हिन्दू मानस में जन्मजात एकात्मता के संस्कार को उसके कारण धक्का लगा और राष्ट्रीयता की नींव ही उखड़ गयी। इतने घोर दुष्परिणाम सामने होकर भी हमारे विद्वानों को आर्य आक्रमण के सिद्धांत का आग्रहपूर्वक खण्डन करने की इच्छा नहीं हुई। राष्ट्रप्रेम तथा सत्यावादिता के कारण बहुत थोड़े लोगों ने अंग्रेजों की इस चाल को विफल करने का साहस किया। इस पर उन्हें प्रतिक्रियावादी होने का लांछन भी सहना पड़ा। डा.बाबासाहेब अम्बेडकर, पू.श्री गुरुजी व दीनदयाल जी जैसे लोगों की गणना ऐसे चुनींदा लोगों में होती थी। उस समय ऐसे वक्तव्य देना साहस का कार्य माना गया था। दीनदयाल जी की मृत्यु के बाद इस विषय के बारे में जो शास्त्रीय चर्चा विद्वानों ने की, उसके कारण अब ऐसी स्थिति निर्मित हो गयी है कि पंडित जी को उस समय दोष देने वालों को पुनः विचार की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। किंतु उनके जीवन-काल में इस विषय सम्बन्धी उनकी भूमिका धृष्टता की ही मानी गयी।

कारनेल विश्वविद्यालय के प्राध्यापक के.ए. आर.केनेडी ने अपने 'A Reassessment of the Theories of Racial Origins of the People of the Indus Valley Civilisation from the Recent Anthropological Data' निबंध में इस धारणा को सर्वथा गलत सिद्ध किया है कि सिंधु घाटी के लोग आर्य नहीं थे, द्रविडियन थे। वंश की दृष्टि से उत्तर तथा दक्षिण भारतीयों के कंकालों में भिन्नता नहीं है। श्री केनेडी आकृतिविज्ञानी (मॉफ्रोलोजिस्ट) हैं। प्रख्यात नृवंशशास्त्रज्ञ लैम्बर्ग कार्लोवस्की ने अभिमत व्यक्त किया है कि सिंधु घाटी के लोग आर्य थे, ऐसी ही संभावना है। अपने 'द्रविडियन थ्योरीज' निबंध में श्री एस. स्वामीनाथन अय्यर ने सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि पृथक द्राविड भाषा समूह के बारे में बिशप काल्डवेल का सिद्धांत पूर्णतः निराधार है। 'द आर्यन्स-ए रिअप्रेजल' शीर्षक अपने लेख में श्री वी. के. थापर, भूतपूर्व महानिदेशक 'आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया' ने असंदिग्ध रूप में यह घोषित किया है कि पुरातत्त्वशास्त्र की दृष्टि से आर्यों के भारत में बाहर से आने की पुष्टि करने वाला एक भी प्रमाण उपलब्ध नहीं। उल्टे, आर्य ही भारत के मूल निवासी हैं।

इसी विभाग के एक भूतपूर्व महानिदेशक प्रा.बी.बी.लाल ने अपने 'न्यू परस्पेक्टिव्स ऑफ इण्डस सिविलाइजेशन' ग्रंथ में अग्नि-पूजा की प्रथा से इसी बात को सिद्ध किया है। 'द राइज ऑफ सिविलाइजेशन इन इण्डिया एण्ड पाकिस्तान' ग्रंथ में आर्यों पर लिखे अध्याय में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के आल्चिन एफ.आर. तथा आल्चिन बी. नामक प्राध्यापकों ने इस संबंध में यही निष्कर्ष निकाला है।

श्री जी.एल.पोसेल द्वारा संपादित 'हड़प्पन सिविलाइजेशन' ग्रंथ में श्री राबर्ट डायसन द्वारा लिखित अंतिम अध्याय में भी यही मत व्यक्त किए गए हैं। श्री डायसन पेन्सिलवानिया विश्वविद्यालय के निदेशक हैं। इन सभी विद्वानों तथा विशेषतः पश्चिमी विद्वानों के उपर्युक्त मतों के कारण डा. अम्बेडकर, श्री गुरुजी, पंडित दीनदयाल जी आदि के प्रतिपादन का मखौल उड़ाने वालों को बहुत बड़ा धक्का पहुंचा है। अर्थात् चित हो जाने के बाद भी नाक ऊपर करने का सिलसिला और कुछ समय तक चला भी, तब भी वह अब अधिक नहीं चल सकेगा। इस बात को ध्यान में लें कि उपरिनिर्दिष्ट सभी अभिप्राय पंडित जी की मृत्यु के बाद प्रकट हुए हैं, तो उनकी तत्त्वनिष्ठा और साहस की यथार्थ कल्पना की जा सकती है।

ऊपर उल्लिखित विद्वानों के अतिरिक्त हमारी राष्ट्रीयता में दरारें डालने का जी-जान से प्रयास यदि किसी ने किया है, तो कम्युनिस्टों ने। पंडित जी के राष्ट्रीय विचार को सबसे बड़ी चुनौती कम्युनिस्टों ने दी थी। सत्ता के हस्तांतरण के पूर्व कम्युनिस्ट दल ने सुझाया था कि संपूर्ण भारत के लिए एक संविधान-सभा गठित करने के स्थान पर संविधान बनाने वाली १५ या १७ संस्थाएं बनायी जाएं। कारण, 'यह देश १५ या १७ विकसित राष्ट्रीय समूहों का मित्र-संघ है।' मार्क्सवादी सिद्धांत कहता है कि प्रत्येक राष्ट्रीय सामाजिक समूह को स्वयं निर्णय का अधिकार प्राप्त होना ही चाहिए। कम्युनिस्ट दल का सुझाव इसी सिद्धांत पर आधारित था। कम्युनिस्ट यह मानने को तैयार नहीं थे कि भारत एक

राष्ट्र है। भारत की राष्ट्रीयता को क्या नाम दिया जाए, 'भारतीय' अथवा 'हिन्दू' या दोनों, यह प्रश्न अलग है। कम्युनिस्टों का यह दावा था कि मूलतः यह एक राष्ट्र है ही नहीं तथा भारत की राष्ट्रीयता एक अवास्तविक स्वप्नरंजन मात्र है। उस कालखण्ड में कम्युनिज्म की प्रतिष्ठा सर्वत्र बढ़ रही थी, अतः उनके प्रतिपादन का प्रभाव हिन्दू राष्ट्र के ढुलमुल समर्थकों पर भी हो रहा था। उन दिनों यह विचार प्रबल हो रहा था कि मार्क्स जैसा श्रेष्ठ विचारक भला गलत सिद्धांत का प्रतिपादन कैसे करेगा? 'भारतीय' या 'हिन्दू' यह प्रश्न ही बेतुका है; भारत मूलतः एक राष्ट्र है ही नहीं, वह अनेक राष्ट्रों का संघ है। पंडित जी के राष्ट्र-विचार अशास्त्रीय एवं केवल भावना के आवेग पर आधारित हैं, ऐसा कहने का फैशन भी पढ़े-लिखे लोगों में चल पड़ा था।

आज का दृश्य इससे भिन्न है। कम्युनिस्ट लोग अब कहने लगे हैं कि राष्ट्रीयता से संबंधित मार्क्स के विचारों का अर्थ लगाने में उस समय गलती हो गयी। आज सी. पी. आई. और सी. पी. एम. दोनों ज्येष्ठ कम्युनिस्ट दलों ने खालिस्तान की मांग का और असम तथा पूर्वोत्तर भाग में पृथकतावादी तत्त्वों का प्रबल विरोध करने की भूमिका निःसंकोच ली है। अनेकों को उनकी इस नवीन भूमिका पर आश्चर्य हुआ है। किंतु उसमें आश्चर्य करने जैसा कुछ भी नहीं है। 'राष्ट्र' तथा 'राष्ट्रीयता' के स्वरूप के बारे में विचारमंथन कम्युनिस्ट क्षेत्रों में १९६२ से ही प्रारंभ हो गया है। उसकी झलक 'करियार' नामक मलयालम मासिक पत्रिका के अक्टूबर १९८४ में प्रकाशित अंक में अच्युत मेनन के लेख में देखने को मिलती है। श्री अच्युत मेनन कुछ समय तक केरल के मुख्यमंत्री थे तथा कम्युनिस्ट दल के उच्च विचारकों में गिने जाते हैं। केरल से बाहर के पाठकों की सुविधा के लिए त्रिवेंद्रम के डा. एम. आर. गोपालकृष्णन नायर ने इस लेख का अंग्रेजी में अनुवाद किया है। इस लेख में श्री अच्युत मेनन ने राष्ट्रीयता की त्रिविध मार्क्सवादी कसौटी दी है— भौगोलिक एकात्मता, संस्कृति की एक ही ऐतिहासिक परंपरा तथा एक ही बोली-भाषा।

उन्होंने ऐसा मत प्रकट किया है कि भौगोलिक एकात्मता के सिद्धांत को बालाए ताक रखकर विश्वामित्री सृष्टि की भांति पाकिस्तान का निर्माण किया गया। अखण्ड भारत में भौगोलिक एकात्मता थी। शेष एशियाई महाद्वीप से भारत का अस्तित्व स्वतंत्र एवं पृथक है।

यह सच है कि भारत में अनेक भाषाएं प्रचलित हैं और वह एक कठिनाई भी है। किंतु संस्कृति का भाषा के साथ यद्यपि घनिष्ठ संबंध है, उसका क्षेत्र केवल भाषा तक ही सीमित नहीं है। श्री मेनन असंदिग्धरूप से उस लेख में कहते हैं कि भारत में प्राचीन काल से आसेतु हिमाचल सांस्कृतिक एकात्मता अखण्ड रूप में चली आयी है।

वे आगे कहते हैं कि "यद्यपि यह सच है कि ब्रिटिश शासन होने और रानी विक्टोरिया को भारत की साम्राज्ञी घोषित करने के पूर्व भारत में शासकीय एवं राजनीतिक एकता नहीं थी। फिर भी राज्यों की विविधता भारत की सांस्कृतिक एकता को नष्ट नहीं कर सकी। विविध राज्य होते हुए भी प्राचीन

काल से सभी भारतीयों के मन में यह दृढ़ भावना जाग्रत थी कि हम सब एक ही परंपरा के उत्तराधिकारी हैं।"

"ऐसा दिखाई देता है कि सांस्कृतिक एकता निर्मित करने में हिंदू जीवन-श्रद्धा का बहुत बड़ा योगदान है। मैं हिंदू धर्म को प्रयुक्त नहीं करता, इसका कारण यह है कि सामान्य अर्थ में हिन्दू एक धर्म* नहीं है। दूसरा कारण यह है कि बौद्ध और जैन सम्प्रदायों का समावेश मैं हिन्दू जीवन-श्रद्धाओं के अनुयायियों में ही करता हूं... एकता के बंधन को दृढ़ करने में वैदिक तथा औपनिषदिक साहित्य तथा उसमें निहित तत्त्वज्ञान और उससे भी प्राचीन पुराण-कथाओं का—विशेषतः रामायण और महाभारत का योगदान विशेष रूप से बड़ा है।"

"सांस्कृतिक एकता की भावना का पोषण करने वाली एक और बात भी है— प्राचीन काल से हिंदुओं में तीर्थ-यात्रा लोकप्रिय रही।हिन्दुओं की धारणा थी कि श्रीक्षेत्र काशी से लेकर उत्तर-पश्चिम में कश्मीर में अमरनाथ की गुफा तक, उत्तर में ऋषिकेश और बद्रीनाथ तक तथा दक्षिण में रामेश्वरम और कन्याकुमारी तक सब अपने ही देश के भाग हैं। श्री शंकराचार्य ने चार प्रमुख मठों की स्थापना देश के चार कोनों में की। क्या यह महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं था ? ऐसे काल में जबकि घने जंगलों और डाकुओं के आक्रमणों के कारण भारत में प्रवास बहुत ही कठिन एवं खतरे से भरा हुआ था, केवल ३२ वर्ष की आयु प्राप्त इस संन्यासी ने देश की चारों सीमाओं तक प्रवास किया और अपने तत्त्वविचारों का दिग्विजयी ध्वज वहां फहराया। इसकी कल्पना मात्र से आज भी क्या हम चकित नहीं हो जाते ? क्या श्री शंकराचार्य की दिग्विजय भारत की एकता का ही प्रतीक नहीं है ?

"हिन्दू जीवन-श्रद्धा पर आधारित इस एकता को मुस्लिम आक्रमण के काल के बाद अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ा, किंतु ऐसा दिखाई देता है कि कालांतर से भारत में इस्लाम का भी कुछ मात्रा में भारतीयकरण हो गया है।"

श्री मेनन का यह लेख विचारोत्तेजक है। किंतु वह संपूर्ण लेख उद्धृत करना यहां संभव नहीं। संक्षेप में श्री मेनन ने ऐसा निष्कर्ष निकाला है कि "भारतीय राष्ट्रीयता की बात करना मिथ्या आभास को सत्य मानना नहीं है... भारतीय राष्ट्रीयता एक वास्तविकता है।"

अब तो वस्तुतः यह पुनर्विचार करने की आवश्यकता है कि हम जिसे 'राष्ट्रीयता' कहते हैं, वह धारणापुंज तथा पश्चिमी लोग जिसे 'नेशनलिज्म' कहते हैं उस भावना में महत्त्वपूर्ण गुणात्मक अंतर है या नहीं ? इसके अतिरिक्त एक अलग प्रश्न यह भी है कि 'नेशनलिज्म' भी एक प्रकार की ऐसी

---

* वर्णाश्रम धर्म के समर्थक श्री अप्रबुद्ध भी जैन, बौद्ध लिंगायत, महानुभाव सिख, एवं सनातनी को एक ही श्रेणी में गिनते हैं।

गुणात्मक भावना ही है या उसके भी, ऐतिहासिक विकासक्रम के अंतर के कारण, अलग-अलग प्रकार विकसित हो गए हैं ? इस पहलू पर श्री एल. एल. स्नाइटर ने अपने 'नेशनलिज्मः इट्स मीनिंग एण्ड हिस्टरी, वैराइटीज ऑफ नेशनलिज्म' ग्रंथ में किया हुआ विवरण अध्ययन करने योग्य है। यूरोप के 'नेशनलिज्म' और हमारी 'राष्ट्रीयता' के स्वरूप में गुणात्मक अंतर स्पष्ट करते हुए श्री विपिनचंद्र पाल कहते हैं—

"यह शुद्ध हिन्दू कल्पना होने के कारण मैं राष्ट्रीयता का वर्णन किसी समाज के लोगों के व्यक्तित्व के रूप में करूंगा, न कि उसे उनका व्यष्टिभाव (प्रत्येक पृथक अस्तित्व) कहकर— जैसा कि मैंजिनी का मत था।"

पंडित जी के जीवित रहते, जिन्होंने उनकी एक राष्ट्रीयता की कल्पना का मखौल उड़ाया था और भारत को बहुराष्ट्रीय राज्य घोषित किया था, उनकी आज तक की यह वैचारिक यात्रा पंडित जी के विचारों की शास्त्रशुद्धता का विश्वास दिलाने वाली है। अपनी इस वैचारिक विजय को देखने के लिए पंडित जी आज हममें नहीं हैं, यह बात सबको पीड़ा देने वाली है।

१४.

वस्तुतः पंडित जी अधिकारपद की दृष्टि से केवल एक राजनीतिक दल के महामंत्री थे। किंतु वह उनके विशाल व्यक्तित्व का केवल एक पक्ष मात्र था। उनकी मूल भूमिका तत्त्वद्रष्टा की थी। केवल राजनीतिक दृष्टिकोण से मानवतावाद तक पहुंचना न तो संभव है और न आवश्यक ही। आवश्यक इसलिए नहीं कि मानवतावाद का समर्थन करने से मतों की संख्या बढ़ने का कोई भरोसा नहीं, और संभव इसलिए नहीं कि राजनीतिक क्षेत्र में वह एक चलतू सिक्का नहीं।

मानवतावाद की कल्पना कहने को बड़ी सरल है। नितांत स्वार्थी व्यक्ति भी 'ब्रह्म सत्यम जगन्मिथ्या' की भाषा बोल सकता है। किंतु आज के संसार में मानवता की ओर प्रस्थान करना बहुत कठिन हो बैठा है। दी मैस्त्रे का निम्न निरीक्षण इस दृष्टि से उद्‌बोधक है—

"अपने जीवनकाल में मैंने फ्रांसीसी, इतालवी और रूसी लोग देखे हैं। मांटेस्क्यू की कृपा से मैं यह भी समझ पाया हूं कि कोई व्यक्ति प्रशियन भी हो सकता है। किन्तु जहां तक 'मानव' का संबंध है मैं प्रकट रूप से बताता हूं कि अपने जीवन में मेरी उससे भेंट कहीं नहीं हुई। यदि वह कहीं अस्तित्व में होगा भी, तो उसकी मुझे कोई जानकारी नहीं है।"

"आधुनिक संस्कृति का मार्ग मानवता से राष्ट्रीयता की ओर होता हुआ पशुता की ओर जाता है।" (ग्रिल पार्झर, १८४८)।

इस वातावरण में मानवतावाद का पक्षधर बनना साहसिक कार्य ही है। उसमें भी धर्माधिष्ठत मानवतावाद का समर्थन करना तो अतिसाहसिक कार्य था।

यूरोप में मानवतावाद का दार्शनिक एवं साहित्यिक आंदोलन १४ वीं सदी के उत्तरार्ध में इट्टली में प्रारम्भ हुआ और १५ वीं तथा १६ वीं सदी में अन्य यूरोपीय देशों में फैल गया। १८ वीं सद्दी तक इस मानवतावाद ने यूरोप के विभिन्न समाजों पर अपना पर्याप्त प्रभाव स्थापित किया और आधुनिक पश्चिमी संस्कृति का उसे एक प्रमुख अंग माना गया। तत्त्वज्ञान की दृष्टि से यूरोपीय मानवातावाद 'स्वभाववाद' से भिन्न था। कारण, एक ओर तो वह सारी जीवन सृष्टि से मानव की अपूर्वता को मानता था, तो दूसरी ओर वह अव्यक्त तत्त्व एवं कल्पना से प्रत्यक्ष दैनिक मानवीय जीवन के अनुभावों की श्रेष्ठता स्वीकार करता था। साहित्यिक आन्दोलन के नाते यह यूरोपीय मानवतावाद इत्तालवी पुनरुज्जीवन का भाव-विश्व ही था। बौद्धिक स्वाधीनता एवं स्वतंत्रता की भावना से ओतप्रोत प्राचीन ग्रीस एवं रोम के भाव-विश्व यूरोपीय मानवतावाद में प्रतिबिम्बित हुए थे। इस मानवतावाद ने मध्ययुगीन ईसाई मानस, उसके अंतर्गत आने वाली 'थिओक्रेसी', पोप की सत्ता एवं वेटिकन सिटी द्वारा प्रस्थापित ईश्वरीय सत्ता को चुनौती दी। इस मानवतावाद की जड़ें प्राचीन ग्रीक प्रणाली में थीं। प्रोटेगोरस का निम्नलिखित प्रसिद्ध वचन इस मानवतावाद के लिए आधारभूत था।

"मनुष्य सब वस्तुओं का— जो हैं उनके होने का और जो नहीं हैं उनके न होने का— मापदण्ड है।"

वैसे देखा जाए तो यूरोपीय मानवतावाद की विभिन्न अभिव्यक्तियां हैं और विभिन्न यूरोपीय विचार-प्रणालियां मानवतावाद के साथ अपना नाता बताती हैं। तथापि इन सब में निम्नलिखित धारणाएं समान हैं—

मनुष्य अपना भाग्यविधाता है। अपना भवितव्य बनाने की स्वतंत्रता उसे है। मनुष्य ही विश्व का केन्द्र है। अपनी स्वतंत्रता के साथ ही दूसरों की भी स्वतंत्रता एवं मत का आदर करना उचित है। पुनरुज्जीवन ने जिन प्रत्यक्ष भौतिक बातों पर बल दिया है, उनके आधार पर कला, विज्ञान तथा तंत्रविज्ञान का विकास करना चाहिए। थोथे अध्यात्म के चक्कर में न पड़ते हुए प्राचीन ग्रीक कालखण्ड के प्रकाश में ऐतिहासिक दृष्टि को विकसित करना चाहिए। नंगा भोगवाद कितना ही त्याज्य क्यों न हो, मध्ययुगीन ईसाई निवृत्ति-मार्ग भी उतना ही त्याज्य है। ग्रीक एवं रोमन साम्राज्य के संतुलित भोगवाद को स्वीकार करना चाहिए— जिनका मार्गदर्शक सूत्र होरेस का यह वचन था कि 'किसी भी बात का अतिरेक त्याज्य है।' भोग का नैतिक तत्त्वज्ञान के साथ जोड़ना चाहिए, मनुष्य का विचार सर्वांगीण समग्रता से करना चाहिए, ऐसी विचार-प्रणाली का विकास यूरोप के मानवतावाद ने किया जिसमें जीवन के सभी अंगों का संतुलित विचार हो सके। यूरोपीय मानवतावाद का उदय होने से पूर्व सम्पूर्ण यूरोप पर ईसाई मत का वैचारिक अधिराज्य था। आजकल एक नई संज्ञा प्रचार में आयी है—

ईसाई मानवतावाद (क्रिश्चियन ह्युमैनिज्म) किंवा ईश्वर केन्द्रित मानवतावाद। ईसामसीह का मूल उपदेश, सेंट पाल द्वारा निर्मित चर्चानिटी और उसके भी बाद यूरोपीय समाज में सशक्त शक्तियों के साथ चर्च द्वारा किया गया गठबंधन का सारा क्रम ध्यान में लें तो क्रिश्चियन ह्यूमैनिज्म या 'ईश्वर केन्द्रित मानवतावाद' संज्ञा का खोखलापन सहज में समझ में आ सकता है।

मध्ययुगीन ईसाई मत से (भले ही उसे आज ईश्वर केन्द्रित मानवतावाद का नाम क्यों न प्राप्त हुआ हो) यह मानवतावाद निश्चय ही अधिक प्रगतिशील था। किंतु मध्ययुगीन मतों की प्रतिक्रिया भी उसमें समाविष्ठ होने के कारण संभवतः इस वाद का लम्बक दूसरे छोर तक जा पहुंचा। पोप एवं चर्च की अधिसत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने के आवेश में इस मानवतावाद ने परमेश्वर को ही अमान्य किया।

जैसा कि एटीने बोर्न ने कहा है—

"नास्तिकवाद भी एक प्रकार का मानवतावाद ही होता है।" तत्त्वज्ञ फ्यूअरबैक के प्रतिपादन के अनुसार आधुनिक मानवतावाद ने यह बात स्वीकार की है कि ..... "मनुष्य को ही सब कुछ बनना हो तो ईश्वर को विसर्जित करना पड़ेगा।" इस आत्यंतिक भूमिका के कारण यह मानवतावाद मनुष्य जाति के अस्तित्व को केन्द्र मानने वाला बन गया है। ऐसे यूरोपीय मानवतावाद का उत्तम प्रकटीकरण मैक्सिम गोर्की ने 'द लोअर डेप्थ्स' शीर्षक से अपने नाटक में एक पात्र के निम्नलिखित वक्तव्य द्वारा प्रकट किया है। लेनिन ने भी इस नाटक की प्रशंसा की थी—

"सब बातें मनुष्य का ही भाग है। सभी बातें मनुष्य के लिए ही हैं। मनुष्य ही केवल सत्य है।"

पश्चिम में मानवतावाद के दो लक्षण— भौतिकवादी अधिष्ठान एवं मानव-केन्द्रितता उसके सभी प्रकारों में पाए जाते हैं। अभिजात मानवतावाद, मार्क्सवादी मानवतावाद, अस्तित्ववादी मानवतावाद एवं नवोदित पर्यावरणात्मक मानवतावाद भी इस नियम के अपवाद नहीं हैं।

पिछली सदी के मध्य में वामपंथी क्रान्तिकार्य करने वालों की मनोवृत्ति के बारे में डामर के ये उद्‌गार देखिए—

"अभागे पशुओं को अत्याचारी क्रूर मनुष्यों से जो भयानक यातनाएं सहन करनी पड़ती हैं, इन बर्बर लोगों की दृष्टि में बिल्कुल ही नगण्य बातें हैं और किसी को उसके बारे में कोई चिंता करने की आवश्यकता नहीं।"

मानवतावाद को प्राथमिकता अथवा कोई भी स्थान न देने वाली अन्य सभी संकीर्ण श्रद्धाओं तथा तत्त्वज्ञानों की अपेक्षा भौतिकता प्रधान यूरोप का मानवतावाद भले ही अधिक श्रेष्ठ क्यों न प्रतीत होता

हो, उसका यह मानव केन्द्रित विश्वदर्शन मनुष्य को अमानुष बना सकता है। एकात्म मानववाद का समर्थन करने वाले मैरिटेन अपने 'टू ह्यूमैनिज्म' में कहते हैं—

"किसी भी स्वरूप में मानव जाति को ही अस्तित्व का केंद्र मानने वाला मानवतावाद अंततः 'अमानुष मानवतावाद' ही है।"

पंडित जी का मानवतावाद इस दृष्टि से यूरोपीय मानवतावाद से भिन्न एवं श्रेष्ठ है।

मानवतावाद के साथ नाता बताने वाली आधुनिक 'पुरोगामी' यूरोपीय विचारधाराएं भी विशुद्ध भौतकितावादी नींव पर खड़ी होने के कारण सच्चे मानवतावाद तक नहीं पहुंच सकी हैं।

यूरोपीय मानवतावाद के विकास में परिस्थितिवश कुछ सीमाएं आ पड़ी थीं। राबर्ट ओवेन, सेंट साइमन ही नहीं, अपितु स्वयं कार्ल मार्क्स की भी वैचारिक प्रेरणा नीतिशास्त्र में ही थी। (परायेपन) और अमानवीयकरण पर मार्क्स ने आक्रमण किया। यूगोस्लाव विद्वान वेल्जको कोरैक कहते हैं:

"मजदूरी की यंत्रणाओं से मुक्त रहने वाला सच्चा मानव मार्क्स का लक्ष्य था। श्रम विभाजन से विच्छिन्न मानव मार्क्स को कतई अभिप्रेत नहीं था।"

इस विचार की प्रेरणा विशुद्ध भौतिकवाद से मिल ही नहीं सकती। यह नीतिशास्त्र का क्षेत्र है। श्री जयप्रकाश नारायण ने कहा था "नैतिक आचरण और भलाई के लिए प्रेरणा के नाते जड़वादी तात्विक दृष्टिकोण किसी प्रकार का आधार नहीं दे सका है।"

किंतु पिछली सदी में यूरोप के मन में एक समीकरण बैठा था * नीतिशास्त्र का अर्थ है रिलीजन; रिलीजन का अर्थ है चर्च; चर्च का अर्थ है एक शोषक शक्ति; जिसका अर्थ यह हुआ कि विद्रोह किए बिना अंधश्रद्धा में जकड़े मानव- मानस को मुक्ति प्राप्त नहीं होगी। अतः मार्क्स ने नीतिशास्त्र के पहलू को पृष्ठभूमि में छोड़ दिया और साधन के रूप में उपयोग में लायी गयी अर्थनीति को ही सब में प्रधानता दी। विशुद्ध भौतिकवाद ही इन विचारों का आधार बन गया। उसी समय विकसित यूरोपीय विज्ञान ने जड़ द्रव्य को मौलिक (आधारभूत) तत्त्व माना और प्रचण्ड प्रगति की संभावना मानव के सम्मुख प्रस्तुत की। इन दोनों बातों के संकलित परिणाम के रूप में यूरोपीय मानवतावाद को विशुद्ध भौतिक आधार प्राप्त हुआ। इसमें से सच्चे मानवतावाद तक पहुंचना असंभव ही था। एरिक फ्रोम द्वारा संपादित 'सोशलिस्ट ह्यूमैनिज्म' ग्रंथ में 'परायेपन' (एलिनेसन) शब्द को सबसे अधिक बार

* अर्बन कहते हैं, "नीतिशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जो मनुष्य के सही अथवा गलत, अच्छे या बुरे आचरण की मीमांसा करता है।"

दोहराया गया है। मार्क्स एवं अन्य समाजवादियों ने भी परायेपन (एलिनेसन) तथा अमानवीयकरण (डिह्यूमैनाइजेशन) के विरुद्ध 'जेहाद' छेड़ा है। किंतु किस समाजवादी अथवा कम्युनिस्ट देश ने ये दोनों बातें समाप्त की हैं? इस विफलता की कारण-मीमांसा पंडित जी की मौलिक विचार-प्रणाली की श्रेष्ठता को प्रस्थापित करेगी।

पश्चिम के तत्त्वज्ञान एवं विश्वदर्शन का पूर्ण विचार कर श्री एम.एन.राय के भारतीय मन ने भारतीय पद्धति से मानववाद की रचना करने का प्रयास किया। उन्होंने 'आर्थिक मानव' की संकल्पना को त्याज्य ठहराया। पूंजीवाद, समाजवाद, कल्याणकारी राज्य, राजनीतिक दल, कम्युनिज्म, औपचारिक लोकतंत्र, मानव की प्राकृतिक स्वार्थी वृत्ति, वर्ग-संघर्ष कल्पना, स्पर्धा आदि सभी पश्चिमी अवधारणाओं की त्रुटियों को उन्होंने उजागर किया और घोषणा की—

"जन्मजात प्रवृत्ति ही प्राथमिक बुद्धि है। अतः मनुष्य मूलतः बुद्धिवाणी प्राणी है... बुद्धिवाद मनुष्य की स्वार्थवृत्ति को उदात्त आत्महित की अधीनता में ला सकता है जो एक सामाजिक सद्गुण है... बुद्धिप्रामाण्य ही नैतिकता को मान्यता दिलाने वाली शक्ति होती है... ... सामाजिक तत्त्वज्ञान और राजनीतिक व्यवहार का नैतिकता के साथ अच्छा तालमेल बिठाना आज के युग की ज्वलंत आवश्यकता है... ... मनुष्य को एक नैतिक सत्ता मान लें, तभी उसके प्रभुत्व को कुछ अर्थ प्राप्त होना है... ...मनुष्य नैतिक है, क्योंकि उसे विचारशक्ति प्राप्त है। अपने ही अंतर्गत विधानों द्वारा संचालित विश्व एक नैतिक व्यवस्था है। उस पृष्ठभूमि में मनुष्य छोटे से बड़ा होता है... नीतिशास्त्र को नैतिक तत्त्वज्ञान की नींव होना चाहिए। हमारे समय की यह ज्वलन्त आवश्यकता है।"

सभी पश्चिमी तत्त्वज्ञानों का गहन अध्ययन किए इस भारतीय विचारक ने पश्चिम के सारे दृष्टकोण को ही सदोष एवं अपर्याप्त ठहराया। जड़ द्रव्य की द्वन्द्वात्मकता की कल्पना को गतिमयता के साथ जोड़ दिया और इस प्रकार अपने वैज्ञानिक, नये अथवा समग्र मानवतावाद को पश्चिम से दूर भारत के निकट लाकर बिठा दिया। पश्चिमी विचारधाराओं के बारे में उनका भ्रम अधिकाधिक टूटता गया। तथापि कई दशकों से मन पर पक्के जमे भौतिकतावाद के संस्कारों से मन को पूर्णतः मुक्त करने के लिए कुछ अधिक समय बीतने की आवश्यकता थी। इतना समय उन्हें मिलता तो वे पंडित जी के मानवतावाद तक अवश्य पहुंच जाते, इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए पर्याप्त स्थान है।

१५.

पंडितजी ने जिस समय राजनीति में प्रवेश किया तब किसी न किसी 'इज्म' (वाद) का समर्थक या अनुयायी बनने का फैशन हो गया था। और वह 'इज्म' भी पश्चिम से उधार लिया हुआ ही होता था। वास्तव में इन विभिन्न वादों की व्यर्थता विचारकों के ध्यान में आने योग्य परिस्थिति उस समय भी थी किंतु

अपने प्रति हीनता की भावना के कारण एवं पश्चिमी प्रगति की चकाचौंध के कारण अंग्रेजी पढे-लिखे लोगों के मन में यह भावना निर्मित हो गयी थी कि पश्चिमी लोगों का अन्धानुकरण करना ही प्रगतिशीलता है। यह वातावरण इतना प्रभावी हो गया था कि हिन्दुत्ववादी नेताओं को भी 'हिन्दू समाजवाद' शब्द प्रयुक्त करने का मोह हो गया था और कुछ वेदान्त के समर्थकों को यह कहने की इच्छा हो रही थी कि हमारा वेदांत 'आध्यात्मिक कम्युनिज्म' है। इससे दार्शनिक क्षेत्र में हमारे उन विचारकों की दीनता स्पष्ट हो जाती है। ऐसी अवस्था में पंडित जी ने साहसपूर्वक सभी पश्चिमी विचारधाराओं के मोह को टाला और भारतीय संस्कृति के आधार पर राष्ट्र की पुनर्रचना करने का निश्चय प्रकट किया।

पश्चिमी में औद्योगिक क्रान्ति के बाद यंत्र युग के साथ ही पूंजीवादी रचना प्रारंभ हुई। आर्थिक प्रगति के निर्देशांक के नाते पूंजीवाद की प्रगति की ओर लोग देखने लगे। कालांतर में इस रचना में निहित अन्तर्विरोध भी स्पष्ट होता गया ।

जोसेफ शुम्पीटर ने अपनी 'पूंजीवाद, समाजवाद तथा प्रजातंत्र' नामक अंग्रेजी पुस्तक में कहा है—

"पूंजीवादी अर्थव्यवस्था स्थिर नहीं है और न कभी वह स्थिर हो सकती है। वह धीमी गति से विस्तार भी नहीं कर पाती। नये-नये औद्योगिक उपक्रमों के द्वारा उसमें भीतर से निरन्तर एक परिवर्तन होता जाता है, क्योंकि उपभोग की नयी वस्तुएं बाजार में आती रहती हैं या विद्यमान औद्योगिक रचना में नये अवसर उपलब्ध होते हैं। किसी भी विद्यमान अवस्था में उद्योग के नियमों में लगातार परिवर्तन होता रहता है। एक अवस्था परिपूर्ण होने से पूर्व ही टूट जाती है। पूंजीवादी समाज में आर्थिक प्रगति का अर्थ गड़बड़झाला है।"

"प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हम जिस पतनाभिमुख अंतरराष्ट्रीय किंतु व्यक्तिवादी पूंजीवाद के अधीन हो गए, वह सफल नहीं रहा है। वह प्रतिभा से प्रखर, सुंदर, न्यायसंगत अथवा गुणसम्पन्न भी नहीं है और संतोषजनक परिणाम उससे प्राप्त नहीं हुए हैं। संक्षेप में वह हमें रुचिकर नहीं और हम लोग उसका तिरस्कार करने लगे हैं।"

पूंजीवाद एवं उससे उत्पन्न साम्राज्यवाद के दुष्परिणामों का सप्रमाण विवरण श्री दादाभाई नौरोजी तथा न्यायमूर्ति रानडे ने प्रारंभ में ही दे रखा है। श्री गोपालकृष्ण गोखले तथा श्री रमेशचन्द्र दत्त ने शोषण के इसी विवरण को अधिक तथ्यों के आधार पर सबके सम्मुख रखा। वह सब भारतीय शोषण संदर्भ में था।

पूंजीवाद के बारे में यही भावना सार्वत्रिक है और इस दबाव में इस रचना को अपने में अनेक परिवर्तन करने पड़े हैं।

भारत में पंडित जी के समय लोकप्रिय विचारधाराएं वामपंथी ही थीं। उनकी विभिन्न छटाएं फीके गुलाबी से लेकर गहरे लाल रंग तक अलग-अलग क्यों न हों, किंतु वामपंथीयता ही सबकी विशेषता थी*। बहुत से लोगों को यह भ्रान्ति है कि फैशनेबल वामपंथी विचार-प्रणाली के साथ भारत का संबंध अभी-अभी आया है। यह धारणा सही नहीं है। राजा राममोहन राय सती प्रथा के विरुद्ध इंग्लैंड के सांसदों को अपना पक्ष समझाने के लिए इंग्लैंड गए थे। उस समय रॉबर्ट ओवेन से उनकी भेंट करा दी गयी थी। श्री ओवेन संस्थापक समाजवादी नेताओं में से एक थे। डा. आर्नौट के घर हुई इस भेंट का हम तक पहुचा समाचार केवल इतना ही है कि चर्चा प्रारंभ होने के बाद ओवेन चिढ़ गए और आवेश में आकर अपने पक्ष का प्रतिपादन हाथ पटक-पटक कर करने लगे। श्री राय के चरित्रकार सोफिया कोलेट ने लिखा है कि इस अवसर पर राममोहन राय की शांति बिल्कुल भी विचलित नहीं हुई। यह उल्लेखनीय है कि इंग्लैंड से लौट आने के बाद समाजवाद का प्रचार करना अस्वीकार करते हुए उन्होंने अपनी शक्ति ब्रह्म समाज के काम में लगा दी। प्रोधों द्वारा समर्थित एवं बाकुनिन द्वारा प्रतिपादित अराजकतावाद के मनीषी के रूप में ख्याति प्राप्त प्रिंस क्रोपाटकिन के प्रमुख अनुयायियों में भगिनी निवेदिता को गिना जाता है। उन्होंने क्रोपाटकिन तथा स्वामी विवेकानंद की भेंट करा दी थी। इस भेंट में बातचीत सौहार्दपूर्ण वातावरण में हुई। कारण, हिन्दू आद्रश भी 'नैव राजाऽऽसीत्' ही रहा है। तथापि यह ध्यान में लेने योग्य है कि भगिनी निवेदिता ने अपना शेष जीवन भारत में हिन्दू आदर्श की सेवा एवं प्रचार करने में बिता दिया।

पूंजीवाद के विकास के बाद की प्रतिक्रिया के रूप में अनेक विचारधाराएं पश्चिम में उदित हुईं। फेबियन सोशलिज्म अथवा गिल्ड सोशलिज्म जैसी कुछ शाकाहारी विचार-प्रणालियों का अपवाद छोड़ दें तो अधिकांश विचारधाराएं हिंसाचारी ही थीं। मार्क्स ने रक्तरंजित क्रान्ति को अपरिहार्य बताया था। श्रमिकसंघवाद के प्रणेता एवं 'रिफ्लेक्शन्स ऑन वायलेन्स' लेखक जार्जेस सोरेल तथा समाजशास्त्री पैरिटो ने भी हिंसा की आवश्यकता का प्रतिपादन किया था। संकल्प तथा अतिमानव का आदर्श रखने वाले नीत्शे तथा बर्गसां और फिश्ते ने हिंसाचार का प्रकट समर्थन कियाथा। बिस्मार्क के 'रुधिर और लोहा' सिद्धान्त को प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी में विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। गोबिन्यू तथा हुस्टन स्टुअर्ट चैम्बरलेन और रोजेनबर्ग के लेखों के आधार पर ज्यू (यहूदी) विरोधी वंशवाद को जर्मनी में प्रखर किया गया और वंशवाद, राष्ट्रीय समाजवाद तथा हिंसावाद का एकत्रीकरण हिटलर के जर्मनी में हुआ।

हिटलर के गुरु स्थानीय और फासिज्सम के आद्य प्रणेत्ता बेनिटो मुसोलिनी ने तो सभी लोक-लज्जा

---

* प्रारंभ से ही जागतिक वामपंथी लोगों का वैचारिक अहंकार किस प्रकार पराकोटि पर पहुंच गया था, इसका उदाहरण ट्राट्स्की की निम्न टिप्पणी से मिलता है— "केवल समाजवादी समाज में ही सामान्य मनुष्य प्लेटो या मार्क्स स्तर तक पहुंच सकता है।"

छोड़कर घोषणा की थी, "केवल युद्ध के समय ही मनुष्य की सारी शक्तियां तनाव के सर्वोच्च बिन्दु पर पहुंचती हैं और जिन लोगों में युद्ध का सामना करने का साहस है, उन पर ही वह श्रेष्ठता की छाप अंकित करता है।"

कू क्लक्स क्लान जैसे वंशवादी हों अथवा इटली के फासिस्ट, जर्मनी के नाजी, स्पेन के फ्रैंकोप्रणीत फलेंगिस्ट, पूर्तगाल के सालाजार के यूनिटो नेशनल्स और अर्जेंटीना के पेरोनिस्ट दल की भांति दक्षिणपंथी* हों अथवा श्रमिकसंघवाद-अराजकतावाद जैसे वामपंथी, हिंसा के नंगे नाच पर आधारित विचाराधार को भारत जैसे प्राचीन, प्रौढ़ तथा परिपक्व देश में कोई स्थान मिलना संभव नहीं था। फिर भी रूस में बोल्शेविक राज्यक्रान्ति के सफल होने के बाद भारत में कम्युनिज्म का प्रवेश हुआ। १७ अक्टूबर, १९२० को ताशकंद में कम्युनिस्ट पार्टी की भारतीय शाखा की स्थापना की गयी और दिसम्बर १९२५ में कानपुर में उस दल का पहला अखिल भारतीय अधिवेशन हुआ। वास्तव में भारतीय मन को आकृष्ट करने वाली कोई बात कम्युनिज्म के तत्त्वज्ञान में नहीं थी। तत्त्वज्ञान के बारे में जानकारी एवं आस्था न रखने वाले बहुत से युवक कम्युनिस्ट दल की ओर आकर्षित हो गए तो इसका कारण था रूसी राज्यक्रान्ति की सफलता। महात्मा गांधी की आन्दोलन प्रणाली से उग्रप्रवृत्ति के युवक अप्रसन्न थे। दूसरा वैकल्पिक नेतृत्व अथवा आन्दोलन सामने नहीं था। इन लोगों का विश्वास था कि अहिंसात्मक मार्ग नहीं, अपितु हिंसा का मार्ग ही स्वराज्य प्राप्त करा सकता है। गांधीवादी आन्दोलन का विकल्प वे लोग खोज रहे थे। रूसी राज्यक्रान्ति की सफलता के कारण यह बात उनके मन में बैठ गयी कि कम्युनिस्ट दल ऐसा विकल्प है। अतः विभिन्न प्रान्तों में ऐसी उग्र प्रवृत्ति के लोगों ने कम्युनिस्ट दल का झण्डा फहराया[26]। ऐसे लोगों ने, जिन्हें कम्युनिज्म का तत्त्वज्ञान अनिवादी प्रतीत होता था और कांग्रेस के अंतर्गत रहकर नेतृत्व पर नीचे से दबाव डालते हुए कांग्रेस के आन्दोलन की दिशा को बदलने का विश्वास जिनमें था, उन्होंने १९३४ के मई मास में कांग्रेस के अंतर्गत 'कांग्रेस सोशलिस्ट ग्रुप' की स्थापना की। महात्मा जी का प्रभाव कितना भी बड़ा क्यों न हो, कांग्रेस सोशलिस्ट ग्रुप के पास ख्यातनाम लोगों की कमी नहीं थी। आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश नारायण, यूसुफ मेहर अली, अशोक मेहता, राममनोहर लोहिया, कमला देवी चट्टोपाध्याय, एस. एम. जोशी, ना. ग. गोरे, अच्युतराव पटवर्धन, मीनू मसानी, एम. एल. दांतवाला, अरुणा आसफअली, सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी, पुरुषोत्तम त्रिकमदास आदि जाने-माने लोग इस दल का नेतृत्व कर रहे थे। अतः स्वराज्य-प्राप्ति के बाद सोशलिस्ट लोगों द्वारा अपना स्वतंत्र दल स्थापित कर लिए जाने के कारण जन-मानस में उसके

---

* हमारे देश में 'न्यू लेफ्ट' आंदोलन की तो लोगों को जानकारी है, किन्तु 'न्यू राइट' आन्दोलन के बारे में विशेष जानकारी नहीं है। एलेन डे बेनोइस्ट की प्रेरणा से फ्रांस में प्रारंभ हुआ 'न्यू राइट मूवमेंट' मानवीय असमानता को सम्माननीय मानता है और ऐसी धारणा रखता है कि समतावादी क्रिश्चियन मतों के कारण यूरोपीय समाज भ्रष्ट होने से पूर्व 'इंडो यूरोपीय' या 'आर्य' संस्कृति सर्वश्रेष्ठ थी। 'आर्यन' संज्ञा में उस आंदोलन के समर्थक जर्मन, ग्रीक एवं रोमन का समावेश करते हैं।

लिए कांग्रेस के विकल्प के रूप में एक स्थान निर्मित हो गया था। अनेक क्षेत्रों में यह धारणा भी फैल गयी थी कि सर्वश्री जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया तथा अशोक मेहता की त्रिमूर्ति देश को नया वैकल्पिक नेतृत्व देगी। इस प्रकार दीनदयाल जी ने जब राजनीति में प्रवेश किया तब सत्ताधारी कांग्रेस के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण दल समाजवादियों का था और उसके बाद अधिक सुसंगठित कम्युनिस्ट दल हिन्दीभाषी कुछ प्रान्तों में अपने प्रकोष्ठ निर्मित कर तीसरे क्रमांक पर था। सोशलिज्म तथा कम्युनिज्म का उन दिनों सर्वत्र बोलबाला था, इनता कि निकट भविष्य में कांग्रेस को भी यह घोषणा करनी पड़ी कि उसका लक्ष्य भी 'समाजवादी समाज-रचना है'। वामपंथ को इतनी व्यापक लोकप्रियता मिलने के कारण अपने को वामपंथी कहलाने की इच्छा किसी भी राजनीतिक नेता के मन में उत्पन्न होना स्वाभाविक था। किंतु पंडितजी ऐसे सस्ते नेताओं में नहीं थे। तत्कालीन वातावरण में वामपंथी विचारधारा का जय-जयकार भले ही होता हो, पंडितजी को पक्का विश्वास था कि अंततः अपने अंतर्विरोधों के कारण ये सभी विचारधाराएं असफल होंगी। अतः तत्कालीन वातावरण से प्रभावित न होते हुए राष्ट्र के दूरगामी उज्जवल भविष्य का चित्र सामने रखकर उन्होंने इस भूमि में आविर्भूत हुए दर्शन की ही अभिव्यक्ति एवं समर्थन साहस के साथ किया। यह देखने के लिए कि भविष्य के बारे में उनका अनुमान आज सच हो रहा है। दुर्भाग्य से वे हमारे बीच नहीं हैं। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि उनके दर्शन की विजय की अपरिहार्यता धीरे-धीरे प्रकट होने लगी है।

श्री जयप्रकाश नारायण ने कहा था, "यूरोप में कम्युनिज्म असफल रहा हो तो यह दावा भी नहीं किया जा सकता कि समाजवाद बहुत सफल रहा है।"

संयोग की बात है कि जयप्रकाश जी की यह टिप्पणी भारत के समाजवादी दल पर भी लागू होती है। अतः जयप्रकाश जी ने आगे चलकर ऐसा असंदिग्ध शब्दों में घोषित किया, "कुछ वर्ष पूर्व मैंने स्पष्ट रूप से देखा है कि आज हम जिसे समाजवाद मानते हैं वह मानव मात्र को स्वतंत्रता, समता, बंधुता एवं शान्ति के उदात्त ध्येय की ओर ले जाने में असमर्थ है। इतना अवश्य निश्चित है कि अन्य किसी भी प्रचलित सामाजिक तत्त्वज्ञान की अपेक्षा इन लक्ष्यों के अधिक पास तक मानवजाति को ले जाने का आश्वासन समाजवाद से मिलता है। किंतु मैं इस निष्कर्ष पर आ पहुंचा हूं कि समाजवाद का रूपांतर जब तक सर्वोदय में नहीं होता, ये लक्ष्य उसकी पहुंच से बाहर ही रहेंगे और हम लोग स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद जैसी हताशा का कटु अनुभव कर रहे हैं, आने वाली पीढ़ी को समाजवाद के बारे में भी वही अनुभव आयेगा।"

पहले महानिर्वाचन के पूर्व सत्ताधारी दल के विकल्प के रूप में सामने आया समाजवादी दल आज कहीं अस्तित्व में भी नहीं है, यह बात अपने में पर्याप्त मुखर है।

इस भूमि में जड़ें न रखने वाली विचारधारा एवं उसके समर्थक व्यक्तिशः कितने ही श्रेष्ठ क्यों न

हों इस देश में बहुत समय तक टिक नहीं सकते ।समाजवादी दल की आज की अवस्था इसकी साक्षी[२७] है । किन्तु पंडित जी ने जब राजनीतिक कार्य आरंभ किया, उस समय समाजवाद की जन-मानस में बनती जा रही प्रतिमा को ध्यान में लेते हुए समाजवाद की सस्ती कल्पना को अनायास स्वीकार करने का मोह उन्होंने टाला । उनकी प्रकृति सिद्ध श्रेष्ठता इसी में स्पष्ट दिखाई देती है ।

भारत में कम्युनिज्म की कहानी भिन्न है । समाजवादी दल की भांति कम्युनिस्ट दल पूर्णतः बिखर तो नहीं गया है, किंतु उसकी अनेक धज्जियां अवश्य उड़ी हैं । सरकार के प्रतिवेदन को यदि सच माना जाए तो अकेली नक्सलवादी विचारधारा के अनुयायियों के २६ गुट देश में हैं । इसका अर्थ यह हुआ कि कम्युनिज्म के अनुयायियों के ३० से अधिक गुट देश में हैं । संपूर्ण विश्व को एक छत्र के नीचे लाने की आकांक्षा रखने वाले कम्युनिस्ट दल की भारत में ऐसी दुर्दशा हो, यह ऊपर से देखने में आश्चर्यजनक लगता है, किंतु वह है स्वभाविक ही । भारत में सभी तत्त्वज्ञानों को सदैव पूरा अवसर मिला है । किंतु इस बात को ध्यान में लेना होगा कि इस दल की स्थापना ही वास्तव में विश्व कम्युनिस्ट दल की भारतीय शाखा के रूप में हुई और प्रारम्भ से ही रूस की विदेश-नीति के अनुकूल नीतियों पर चलना ही इस दल के भाग्य में लिखा है । भारत में कम्युनिस्ट नेताओं को स्थानीय परिस्थिति के प्रकाश में दल की रीति-नीति निर्धारित करने की छूट होती तो उनकी यह दुर्दशा इतनी शीघ्र न हुई होती । कारण, दल के पास समर्थ नेतृत्व एवं समर्पित कार्यकर्ता तो थे, किंतु रूस के पिछलग्गूपन के कारण वे स्वतंत्रतापूर्वक अपनी रीति-नीतियों को निर्धारित नहीं कर सके ।

दीनदयाल जी ने सार्वजनिक जीवन जिस समय प्रारंभ किया, तब जागतिक स्तर पर कम्युनिज्म लगातार बढ़ता जा रहा था । दूसरे विश्व-युद्ध में विजयी राष्ट्रों में रूस भी एक था और उसकी बाद की रचना में पूर्व यूरोप के सभी देश 'रूसी संगीनों' के प्रभाव में आ गए थे । इन सभी देशों में रूसी टैंकों की सहायता से कम्युनिस्ट सरकारें स्थापित हो गयी थीं । उसके बाद लगभग तुरंत ही विश्व में सबसे अधिक जनसंख्या वाला चीन भी कम्युनिस्ट हो गया । विश्व युद्ध के बाद के काल में तृतीय विश्व के परतन्त्र देशों में चल रहे स्वतन्त्रता-संग्रामों को रूस का समर्थन प्राप्त हो रहा था और परिणामस्वरूप वहां राष्ट्रवादी लोगों की सहानुभूति रूस की ओर स्वाभाविक रूप से झुक रही थी । (आगे चलकर अमरीका के एकदम सन्निकट क्यूबा में अपनी सत्ता स्थापित करने में कम्युनिस्टों को सफलता मिली ।) विश्वस्तर पर रूस को मिले इस चौंधिया देने वाले यश के कारण भारत में भी कम्युनिस्ट दल की प्रतिष्ठा उन दिनों बढ़ गयी । किन्तु स्टालिन की मृत्यु के बाद धीरे-धीरे कम्युनिस्ट जगत में विभाजन प्रारंभ हो गया ।पूर्व यूरोप के कम्युनिस्ट शासित देशों में किसानों और श्रमिकों के विद्रोह रूसी टैंकों की सहायता से कुचल दिए गए, किंतु इन सभी देशों में रूसविरोधी असंतोष बना रहा और आगे चलकर पोलैण्ड की घटना के रूप में विश्व को भी वह स्पष्ट देखने को मिला । पश्चिमी यूरोप में कम्युनिस्ट दलों ने मार्क्सवाद के मूल सिद्धान्त से क्रमशः अपना नाता तोड़ना आरंभ किया और रूस की प्रभुता को उखाड़ फेंकने का निश्चय किया । एक केंद्रित कम्युनिस्ट जगत का सपना टूट गया ।चीन के माओ और यूगोस्लाविया के टीटो ने रूस के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला भूमिका ली । कम्युनिस्टशासित देशों के बाहर

सबसे बड़ा कम्युनिस्ट दल इटली में था। उसके नेता ग्रेम्स्की तथा तोग्लियात्ती ने इटालियन पार्टी की स्वायत्तता की घोषणा की और यही हवा पश्चिमी देशों के कम्युनिस्ट दलों में भी घुस गयी। इसी को 'यूरो कम्युनिज्म' कहा जाने लगा। किसी भी कम्युनिस्ट देश में मार्क्सवाद पर आचरण नहीं हो सका। अतः एक प्रकार से लोगों का भ्रम टूटने लगा। इतालवी कम्युनिस्ट दल के प्रमुख एन्रिक बर्लिञ्जर तथा स्पेनिश कम्युनिस्ट दल के कैरिल्लो के हाल के वक्तव्य इस भ्रमभंग के साक्षी हैं; और अब तो चीन के कम्युनिस्ट दल ने भी मार्क्सवाद को भारी धक्का दिया है। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति ने अपनी १२वीं बैठक में (दल के तीसरे खुले अधिवेशन में) दिनांक २०/१०/१९८४ को एकमत से एक आलेख स्वीकार किया। इस आलेख का नाम था—'A Decision of the Central Communist Party of China on Reforms of the Economic Structure'. इसमें जो निर्णय थे वे मार्क्सवाद की लीक से हटने के सुस्पष्ट आधार माने जाएंगे। मार्क्सवाद को धीरे-धीरे अन्तिम विदा कहने का विचार तो कहीं चीनीं कम्युनिस्ट नेताओं के मन में नहीं है, ऐसा संदेह इस आलेख के कारण सर्वत्र उत्पन्न हो गया था। तभी ७-१२-१९८४ को चीनी कम्युनिस्ट दल के मुखपत्र *'पीपुल्स डेली'* ने संसार को चकित कर दिया। उसके संपादकीय का कुछ अंश नमूने के रूप में देखने से पूरे संपादकीय का आशय क्या था, समझ में आ सकेगा—

'मार्क्स की मृत्यु १०१ वर्ष पूर्व हुई और अपने ग्रंथ उसने उससे भी पूर्व लिखे थे। इन ग्रंथों में कुछ उस समय केवल अनुमान पर आधारित थे और बाद में उनमें भारी परिवर्तन हो गया। मार्क्स के कुछ अनुमान निश्चय ही दोषपूर्ण थे। ऐसी अनेक बातें थीं जिन्हें मार्क्स, एंजेल्स अथवा लेनिन ने भी अनुभव नहीं किया तथा जिनके संपर्क में वे कभी आये ही नहीं। अतः उस समय उन्होंने जो कुछ लिखा, उसमें अपनी आधुनिक समस्याओं के उत्तर खोजना व्यर्थ है। अपने अध्ययन में इस बात को हमें सदा ध्यान में रखना होगा।"

"मार्क्स के वक्तव्यों का आधार लेकर आधुनिक संदर्भ के विचारों पर सीमाएं डालने का प्रयास करने से इतिहास का विकास अवरुद्ध हो जायेगा।"

इससे स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्सवाद से विच्छेद कर लेने की कम्युनिस्ट पार्टी तैयारी कर रही है। किंतु जब दीनदयाल जी ने अपने दल की रचना का प्रारंभ किया उस समय कम्युनिज्म की जगमगाहट इतनी प्रखर थी कि अनेक लोगों के मन में संदेह पैदा हो गया कि पंडित जी का नया दल वैचारिक स्पर्धा में कैसे टिक पायेगा? समय ने यह दिखा दिया है कि उस परिस्थिति में भी अविचल मन से अपने भारतीय दर्शन पर स्थिर दीनदयाल जी ने वामपंथी विचारधाराओं की पराजय की जो भविष्यवाणी की थी, वह अब प्रत्यक्ष में आ गयी है।

महाराष्ट्र के श्रेष्ठ समाजवादी विचारक एवं मार्क्सवाद के अधिकारी भाष्यकार श्री पां.वा. गाडगिल ने अपने सद्यः प्रकाशित 'वर्गकलह या संसदीय समाजवाद' ग्रंथ में कार्ल मार्क्स तथा जे. एम.

कीन्स—दोनों महान किन्तु परस्पर विरोधी विचारधाराओं के समर्थकों की सीख के आधार पर 'साम्यवादी' लोगों का आह्वान किया है कि अपने पिटे-पिटाए मार्ग की विचारधारा के बारे में वे फिर से विचार करें। यह आह्वान समयोचित ही है; मानसिक धैर्य दिखाने के लिए वे अभिनन्दन के पात्र हैं। किन्तु यह बात भी ध्यान में लेने योग्य है कि ऐसे श्रेष्ठ विचारक भी उस प्रारंभिक काल में वामपंथियों की राजनीतिक सफलता के कारण चौंधिया गए थे।

हिन्दुस्थान में कुछ समय तक लोकप्रिय रहे समाजवाद एवं कम्युनिज्म के अतिरिक्त विशेष प्रचलित न रही कुछ अन्य वामपंथी विचारधाराओं का भी पंडित जी ने सूक्ष्मता से अध्ययन किया था। 'मार्क्स एंड दीनदयाल' प्रबंध में ठीक ही कहा गया है कि "सार्त्र और हर्बर्ट मार्क्यूज द्वारा हाल ही में प्रतिपादित 'न्यू लेफ्ट' के विचारों सहित सभी पश्चिमी विचारधाराओं से दीनदयाल जी भली-भांति परिचित थे, यह बात विशेष रूप से ध्यान में लेना आवश्यक है।

मार्क्सवाद के अतिरिक्त (एडवर्ड बर्सटीन से लेकर टीटो तक के सभी पुनर्विचारवादियों सहित) रॉबर्ट ओवेन के प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सामाजिक प्रयोग, सीमोन के सिद्धांत, ग्रैक्कस बाक्फ का आक्रामक समाजवाद, ओ कोनेर का कृषि-समाजवाद, ओ क्रियेव का गरीबों का समाजवाद, ब्लांकी का 'अल्पसंख्यकों की विवेकबुद्धि' का सिद्धांत, लुई ब्लैंक का उत्क्रांतिपरक समाजवाद, शुल्ज-डेलिटजेक का 'स्वावलंबी सिद्धांत' और जर्मन त्रिमूर्ति— बुनी ब्रोअर, मोजेस हेस और कार्ल ग्रेन का 'सच्चा समाजवाद' आदि सभी विचारों की अच्छी जानकारी पंडित जी को थी... उन्होंने लासेले, सिसमोंडी, लैमेनाइज तथा प्रोधों के विचारों का भी अध्ययन किया था। मार्क्सपूर्व और बाद के सभी यूरोपीय विचारप्रवाहों का गुण-दोषात्मक विश्लेषण उन्होंने किया था। उसमें पूंजीवाद से लेकर अराजकतावाद तक सब का और सभी प्रकार के 'समाजवादों' का समावेश था।"

इसके अतिरिक्त डा. फ्राइड के 'मनोविश्लेषणवाद', डा. वाटसन के 'आचरणवाद' तथा इन दोनों की आगे चलकर निर्मित शाखाओं की उन्हें पूरी जानकारी थी।

पंडित जी के राजनीति में प्रवेश से पूर्व पश्चिम की विचारधाराओं से मुक्त एवं भिन्न विचारधारा हिंदू दर्शन के आधार पर महात्मा गांधी ने प्रस्तुत की थी। उन्होंने कहा था—

"हमसे मूलतः भिन्न धारणाओं के आधार पर पश्चिम के समाजवाद एवं साम्यवाद की रचना हुई है। मानव स्वभाव में अनिवार्यतः स्वार्थ वृत्ति की विद्यमानता उनमें से एक धारणा है। मुझे वह स्वीकार नहीं। कारण, मनुष्य तथा पशु में महत्त्वपूर्ण अन्तर यही है कि मनुष्य अपने अंदर के आत्मतत्त्व की पुकार को सुन सकता है। उसमें तथा पशु में जो समान विकार होते हैं उन पर वह विजयी हो सकता है। स्वार्थ एवं हिंसा पशु-स्वभाव के गुण होते हैं। मनुष्य के अमर आत्म-तत्व पर ये लागू नहीं होते। अतः मनुष्य इनसे ऊपर उठ सकता है। आत्मसंयमपूर्वक की गयी प्रदीर्घ तपस्या की पृष्ठभूमि में हिंदू

धर्म द्वारा अन्वेषित यह सत्य हिंदुत्व की मूल अवधारणा है।"

इन दोनों विचारधाराओं के बारे में गांधीजी के ये मत पश्चिम की सभी वामपंथी विचाराधारओं पर भी लागू होते हैं।

भारतीयों ने वाद ('इज्म') को कभी महत्त्व नहीं दिया था। प्रत्येक 'इज्म' विचारों की एक बंद पुस्तिका होती है। गांधी जी की परंपरा में पले आचार्य कृपलानी ने अपनी 'द गांधियन वे' पुस्तक में लिखा है :—

"कोई भी वाद जिनके नाम पर चल जाता है या प्रचारित किया जाता है, वह उन लोगों की पहल के कारण नहीं, अपितु उनके अनुयायियों द्वारा मूल विचार पर डाली गई सीमाओं का परिणाम ही होता है। नव-निर्माण-क्षमता की प्रज्ञा न होने के कारण अनुयायी एक प्रणाली निर्धारित कर लेते हैं और संगठित हो जाते हैं। ऐसा करते समय मूल तत्त्वों को वे सांचाबंद कर, लचीलेपन से रहित, कठोर एवं एकांगी स्वरूप दे देते हैं। यौवन की सूचक स्फूर्ति एवं तालमेल बिठाने की क्षमता के मूल सद्‌गुण को वे छीन लेते हैं।"

किंतु गांधीजी के शिष्यों ने उनकी विचार-प्रणाली को एक 'वाद' बना डाला। वास्तव में गांधीजी कहा करते थे, 'वाद यानी विवाद', विवाद का अर्थ बिखराव (विघटन)। अतः मैं चाहता हूँ कि 'गांधीवाद' की संज्ञा प्रचलित न हो। २० फरवरी, १९४० को ढाका में मलिकंदा बाग में गांधीसेवा संघ में अखिल भारतीय अधिवेशन को संबोधित करते हुए महात्माजी ने यही विचार आग्रहपूर्वक रखा था। किंतु उनके अनुयायियों ने इस शब्द का योजनापूर्वक उपयोग कर लिया।

प्रथम महानिर्वाचन के समय और बाद में आज तक भी गांधीवाद शब्द के जादू का कांग्रेस ने भरपूर उपयोग किया है। गांधीजी के बलिदान के कारण इस संज्ञा को और भी अधिक महत्त्व और आकर्षण प्राप्त हो गया था। गांधीजी की प्रेरणा से काम करने वाले लोगों के दो वर्ग थे— एक राजनीतिक लोगों का और दूसरा रचनात्मक कार्य करने वालों का। पहले वर्ग के लोग गांधीजी के जीते जी उनकी इच्छा के विरुद्ध देश के विभाजन का निर्णय कर बैठे और अपनी मृत्यु से एक दिन पूर्व गांधी जी द्वारा दिया गया यह सुझाव कि कांग्रेस को विसर्जित कर लोकसेवक संघ स्थापित किया जाए, इस वर्ग के लोगों ने ठुकरा दिया। तथापि उनके द्वारा की गई महात्मा जी की इस अवज्ञा पर जनता ने विशेष ध्यान नहीं दिया।

(मुस्लिम तुष्टिकरण के अतिरिक्त 'हिमालयी भूल', भगतसिंह-राजगुरु-सुखदेव को दी गई फांसी के बारे में अपनायी गई भूमिका, कांग्रेस के साथ बीच-बीच में गांधीजी के बढ़ते गए मतभेद, खरे-नरीमन-सुभाष आदि के प्रकरण और देशविभाजन के प्रश्न पर नेतृत्व द्वारा खाई गई कलाबाजी

जैसी सभी घटनाओं को भी भुलाने के लिए जनता तैयार हो गई ।)

वास्तव में स्वराज्य की प्राप्ति अनेक व्यक्तियों एवं व्यक्ति-समूहों के प्रयत्नों का संकलित फल है । प्रत्यक्ष में दृष्टिगोचर होने वाली कांग्रेस की स्थापना की पृष्ठभूमि जन-मानस में बनाने के लिए कितने ही व्यक्तियों एवं संस्थाओं ने परिश्रम किए हैं । 'द ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन इन बंगाल' (१८५१) के डा. राजेंद्र लाल मित्र तथा रामगोपाल घोष; 'बाम्बे एसोसिएशन' के दादा भाई नौरोजी, जगन्नाथ शंकर शेठ, मगंलदास नाथू भाई, एवं नवरोजी फरदूनजी;' ईस्ट इंडिया एसोसिएशन;' 'द हिंदू' के एम. वीरराघवाचारियर, रंगैया नायडू, जी. सुब्रह्मण्यम् अय्यर तथा एन. सुब्बाराव पंतलू; 'पूना सार्वजनिक सभा' के सार्वजनिक काका, के. एल. नूलकर तथा एस. एच. चिपलूणकर; 'सोशल कांफ्रेंस' के न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे; 'इंडियन एसोसिएशन' के सुरेंद्रनाथ बनर्जी एवं आनंद मोहन बोस; 'मद्रास महाजन सभा;' 'बाम्बे प्रेसीडेन्सी एसोसिएशन'के फीरोजसाह मेहता, का. त्रं तैलंग तथा बदरुद्दीन तैयबजी; उसी प्रकार मद्रास की डा. एनी बेसेण्ट के 'थिओसोफिकल कन्वेन्शन' के सत्रह कार्यकर्ता; सब वस्तुतः कांग्रेस के अग्रदूत थे । किंतु आज के नेतृत्व का प्रयास यही है कि इनकी स्मृतियों को भुला दिया जाए। उसी प्रकार आज की पीढ़ी को ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज, थिओसोफिकल सोसाइटी, रामकृष्ण मिशन आदि संस्थाओं द्वारा इस क्षेत्र में किया गया कार्य बिल्कुल भी ज्ञात नहीं है ।

उदारवादी (लिबरल) नेता, देश के क्रान्तिकारी लोग, प्रथम महायुद्ध के समय विदेशों में प्रयत्नशील रहे क्रान्तिकारी, आजाद हिंद सेना, विद्रोही नौ सैनिक, अन्य राजनीतिक दलों के कार्यकर्ता, सप्रू-जयकर जैसे मध्यस्थ, प्रवासी भारतीयों की अनमोल सेवा करने वाले सी. एफ. एण्ड्रयूज जैसे लोग तथा स्वयं इंग्लैण्ड में सर्वत्र प्रचार करने वाले, सभी वस्तुतः इस श्रेय के भागीदार हैं । किंतु सभी गैरकांग्रेसी सक्रिय कार्यकर्ताओं को विस्मृति के गर्त में धकेल देने का प्रयास हुआ । कुछ क्रान्तिकारियों का योगदान इतना तेजस्वी था कि उनके बारे में ये सभी प्रयास विफल रहे, किंतु अन्य लोगों के बारे में यह स्थिति नहीं थी । उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड में भारत की स्वतंत्रता के लिए प्रचार एवं प्रयास करने वाले अपने मित्रों के नाम किन लोगों को आज स्मरण हैं ? गाय आल्फ्रेड, जॉर्ज डेविड यूल, आल्फ्रेड वेब्सर विलियम वेडरबर्न, सर हेनरी, जे. एस. कॉटन, चार्ल्स ब्रैडले, विलियम डिग्बी, डा. एच. वी. रदरफोर्ड, डा. जी. बी. क्लार्क, जे. के. हार्डी, लार्ड सोरेन्सन, लार्ड फैनर, ब्रॉकवे आदि लोग इसी श्रेणी में आते हैं । सत्ताधारियों की ऐसी प्रवृत्ति के कारण स्वंतत्रता संग्राम का अधिकृत इतिहास अधूरा, विकृत एवं असंतुलित हो गया है ।

इस प्रचार के कारण जन-मानस में कांग्रेस की यह प्रतिमा बनती गई कि अकेली कांग्रेस ने ही अपने पराक्रम से स्वराज्य दिलाया है । तभी महात्मा गांधी की हत्या हो गई और परिणास्वरूप गांधीवाद की संज्ञा का प्रभाव बढ़ गया । कालांतर में यद्यपि यह सिद्ध हुआ कि ये राजनीतिक लोग व्यवहार में गांधी जी के आदर्शों से अधिकाधिक दूर जा रहे हैं, दीनदयाल जी द्वारा जनसंघ की बागडोर सम्भाली जाते

समय जनता का यह मोहभंग प्रारंभ नहीं हुआ था। उल्टे जनता के विश्वास-प्राप्त पटेल,नेहरू,राजेन्द्र बाबू,राजा जी एवं प्रत्येक प्रांत के कांग्रेस के कर्ताधर्ताओं के कारण कांग्रेस सभी प्रांतों में अजेय दिखाई दे रही थी। लोकप्रिय नेताओं का इतना बड़ा एवं व्यापक मंच अन्य किसी भी दल के पास नहीं था। इसके अतिरिक्त कुशल प्रशासक के नाते सर विश्वश्वरैया, सी. पी. रामस्वामी अय्यर, टी. माधवराव अथवा मिर्जा इस्माइल की सानी रखने वाले भले ही न सही, किंतु उनका स्मरण दिलाने वाले कुछ मंत्री भी उस समय कांग्रेस में थे। प्रत्यक्ष राजनीति में उलझे नेताओं के साथ ही जन-मानस पर विशेष प्रभाव रखने वाले रचनात्मक कार्यकर्ताओं[२९] एवं राजनीतिक लोगों में तब तक द्वैत प्रारंभ नहीं हुआ था। आचार्य विनोबा भावे के नेतृत्व में ये सब लोग एकत्रित थे और उनकी तपस्या का लाभ भी कांग्रेस को ही मिल रहा था। यह सच है कि सरकारी धन एवं प्रश्रय के कारण इन कार्यकर्ताओं की गुणवत्ता कम हो गई है और उनकी छवि भी पहले जैसी उज्ज्वल नहीं रही[३०]। श्री गुलजारीलाल नंदा के 'भारत सेवक समाज' की भांति गांधीपंथी रचनात्मक कार्यकर्ताओं का जन-मानस में अवमूल्यन हो गया है[३१]। किंतु स्वराज्य-प्राप्ति के बाद के समय में लोगों के मनों में इन कार्यकर्ताओं के प्रति भूदान एवं तत्सम अन्य आंदोलनों से जुड़ा भाव था। तब इसकी कल्पना करना भी संभव नहीं था कि आपात्काल में इनमें से कुछ लोगों द्वारा विवशता की भूमिका अपना ली जाएगी। गांधीजी द्वारा निर्मित एक-एक रचनात्मक कार्यकर्ता जनता को दीपस्तंभ प्रतीत हो रहा था और ऐसे कार्यकर्ताओं की संख्या भी पर्याप्त थी। दादा धर्माधिकारी, काका कालेलकर, अप्पासाहेब पटवर्धन, जाकिर हुसैन, वियोगी हरि, जे. सी. भारत कुमारप्पा, स.ज. भागवत, आचार्य भिसे, रविशंकर महाराज, साने गुरुजी, आचार्य जावेडकर,टी.एस.अविनाशलिंगम्,अण्णासाहेब सहस्रबुद्धे,गोपबंधु चौधरी,नवकृष्ण चौधरी, आर्यनायकम् दंपति, ठक्कर बाप्पा, बावा राघवदास, मीराबेन, सरला बेन, प्रेमा कंटक, सुशीला पै, बीबी अमतुस्सलाम, अमलप्रभा दास,बालू भाई मेहता,बबलभाई मेहता,जी.रामचन्द्रन,केलप्पन आदि लोगों के निस्स्वार्थ कार्य का जनता पर कितना प्रभाव था,नई पीढ़ी कल्पना भी नहीं कर सकती। इन सब की तपस्या का लाभ उस समय कांग्रेस के खाते में संचित हो रहा था।

ऐसे व्यक्तित्वशाली कार्यकर्ताओं का नए दल के पास होना असंभव ही था। ऐसे कार्यकर्ताओं की मालिका निर्मित करने के कठिन कार्य को प्रारंभ करना था। जनसंघ के प्रारंभिक काल में यह कमी कांग्रेस की तुलना में सभी विरोधी दलों को अनुभव हो रही थी। किंतु उनमें से कुछ चतुर दलों ने गांधीजी एवं गांधीवाद शब्दों पर अपना भी उत्तराधिकार जताते हुए इस कमी को पूरा करने का प्रयास किया। इनमें से अधिकतर कांग्रेस से टूट कर निकले हुए थे, अतः उनके प्रयासों को कुछ मात्रा में सफलता भी मिली। जनसंघ के बारे में वह भी संभव नहीं था। और गांधीवाद, यद्यपि एक चलता सिक्का था, उसे स्वीकार न करने का ही निर्णय पंडित जी ने किया। एक तो स्वयं गांधीजी के कथनानुसार 'गांधीवाद' शब्द उन्हें गलत प्रतीत हो रहा था। वैसे देखा जाए तो महात्मा जी की विचार-प्रणाली के साथ उनका कोई मतभेद नहीं था, किंतु पंडितजी को लगता था कि 'वाद' संज्ञा के कारण गांधी-प्रणीत विचारों की प्रवाहिता कुंठित होती है और ऐसा करना उचित नहीं होगा। महात्मा

जी ने अपने आपको हिंदू तथा सनातनधर्मी कहलाने में धन्यता अनुभव की थी । सनातन धर्म के शाश्वत सिद्धान्तों के प्रकाश में आधुनिक समस्याओं का समाधान करने का गांधीजी का प्रयास ही तथाकथित गांधीवाद है । अतः गांधीजी के साथ मूलभूत मतभेद होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता था । किंतु पंडितजी सोचते थे कि उनकी विचार-पद्धति को 'वाद' की सीमा में बिठाये जाने के कारण भविष्य में उसकी उपादेयता समाप्त हो जाएगी । उनका विचार था कि 'वाद' की सीमा में न बंधे सनातन धर्म पर आधारित गांधीजी के विचार-प्रवाह को बीच ही में कुंठित न करते हुए नव-जीवन परिस्थिति में, नव-नवीन समस्याओं के नव-नवीन उत्तर खोजने में समर्थ गतिशील विचार-प्रणाली का विकास किया जाए । समाज-रचना धर्मानुकूल हो और धर्म युगानुकूल हो[३२] ,इसके लिए यह सब आवश्यक भी था । अतः उन्होंने गांधीवाद को स्वीकार करने का सरल मार्ग त्यागकर गांधीजी की ही भांति सनातन सिद्धान्तों के प्रकाश में नवीन युगधर्म विकसित करने का महान उद्योग प्रारंभ किया ।

१६.

यह सच है कि 'धर्म'[३३] की अवधारणा को समझना पश्चिमी लोगों के लिए कठिन है । श्री सी. ई. एम. जोड कहते हैं कि "धर्म की विशिष्ट हिंदू अवधारणा का वर्णन एक झटके में नहीं किया जा सकता ।"

न्यायमूर्ति श्री राम जोइस कहते हैं, "धर्म अत्यंत व्यावहारिक आशय प्राप्त संस्कृत शब्द है । इस शब्द का समानार्थी शब्द अन्य किसी भी भाषा में नहीं है । इस शब्द की कोई परिभाषा करने का प्रयास भी व्यर्थ है । उसका केवल स्पष्टीकरण किया जा सकता है ।"

भगिनी निवेदिता ने कहा है, "धर्म नामक एक अत्यंत विशाल सामाजिक-औद्योगिक-आर्थिक योजना का हिन्दुत्व एक भाग है । अपने आप को हिंदू न कहलाते हुए भी मनुष्य सार्थकता से अपने को धर्म का सेवक बना सकता है ।"

इस पार्श्वभूमि में कम से कम हिन्दुओं के लिए सनातन धर्म की अवधारणा समझ लेना कठिन नहीं होना चाहिए । तथापि पश्चिमी भौतिक प्रगति की चकाचौंध के कारण चौंधिया गए आंग्लविद्याविभूषित लोगों में हमारे सनातन धर्म के साक्षात्कार पर आधारित हर सिद्धान्त को पुराणपंथी एवं प्रतिगामी कहकर उसे दूषण देने का 'फैशन' चल पड़ा है[३४] । इस प्रकार के 'फैशनेबल' एवं सस्ते प्रगतिशील नेता लोगों को आश्चर्य का धक्का देने वाला निम्नलिखित साहित्य दीनदयाल जी के जीवनकाल में भारत में लोकप्रिय नहीं हुआ था ।

Fritj of Capra के 'The Tao of Physics' तथा 'The Turning Point', Gary Zukav का 'The Dancing Wu Li Masters', Bob Taben का 'Time, Space and Beyond', Paul Davis का 'God and the New Physics', Fred Wolf का 'Taking the

Quantum Leep', David Bohm के 'Wholeness and the Implicate Order' तथा 'Quantum Mechanics', Dr. Larry Dossey का 'Space, Time and Medicine', Arthur Young का 'The Reflexive Universe', Izak Bentov का 'The Stalking the Wild Pendulum', Pamela Portugal का 'A Place for Human Beings', Allen Won का 'Incredible Coincidences', Kostler का 'The Roots of Coincidences', Richard Bouk का 'Nothing by Chance', यह सारा साहित्य हाल ही में प्रकाशित हुआ है। अतः पंडित जी के समय में अध्ययन-शून्य प्रगतिशीलता का ही बोलावाल था।

महामहोपाध्याय दत्तो वामन पोतदार ने एक स्थान पर कहा है, "यों तो हजारों वर्षों के अनुभव की छलनी से छनकर निकला हमारा ऋषिप्रणीत सिद्धांत हाल ही में उदित और इन दिनों सफल भी रहे भौतिक विज्ञान से चौंधियाकर एकाएक छोड़ देना हमारे लिए उचित नहीं था। कुछ घटनाएं ऐसी होती हैं कि उनके भले-बुरे परिणाम पर्याप्त समय बीतने के बाद प्रतीत होते हैं। इसलिए तात्कालिक परिणामों पर ही सब कुछ आधारित रखना हानिकर होता है। मानव जीवन उलझा हुआ होता है तथा छोड़ी-बड़ी, स्थूल एवं सूक्ष्म, अनेक कारण परंपराएं उसके कार्य के साथ संलग्न होती हैं। स्थूल दृष्टि या विचार रखकर किए गए अनुमान कई बार भ्रम में डालने वाले होते हैं। अधिक समय, अनुभव एवं चिंतन का साथ मिलने पर पहले के ये सभी कच्चे अनुमान छोड़ देने पड़ते हैं और अधिक पक्के प्रतीत होने वाले अनुमानों को स्वीकार करना पड़ता है। यह नहीं कहा जा सकता कि हमने अपनी प्राचीन वैचारिक सम्पदा का सूक्ष्म एवं टिकाऊ परीक्षण किया है। कारण, हमारी संस्कृति के बारे में अधिक परिचय और ज्ञान प्राप्त होने पर स्वयं पश्चिमी लोगों ने ही प्रशंसा की बातें कहकर हमें हमारा वैभव पुनः दिखा दिया है।"

इसके विपरीत हमारी परानुगामी दैन्य की प्रवृत्ति को कतई न छोड़ने का हमारे अंग्रेजियत के शिकार विद्वानों का निश्चय उनकी दुराग्रही वृत्ति का ही परिपाक माना जाना चाहिए। दुर्भाग्य से इन पश्चिम के मानस-पुत्रों को 'प्रगतिशील' तथा आमूल परिवर्तनवादी आदि मानने की प्रथा उन दिनों थी और आज भी है।

किंतु ऐसा बहुत देर तक चलना संभव नहीं था। उदाहरण के लिए, शरद (Autumn) १९८४ के 'अमेरिकन रिव्यू' अंक में टी. एस. अनन्तु द्वारा दी गई जानकारी इन लोगों को हक्का-बक्का कर देने वाली ही है। अपने आपको प्रगतिशील कहने वाले इन लोगों को महात्मा गांधी के अमरीकी शिष्य रिचर्ड ग्रेग के सन् १९३६ के 'वाल्युण्टरी सिम्पलीसिटी मूवमेण्ट' की क्या जानकारी भी है? सन् १९७६ तक इस आंदोलन की प्रगति कितनी हुई है, इसके बारे में 'स्टैनफोर्ड रिसर्च इन्स्टीट्यूट' द्वारा किए गए सर्वेक्षण का प्रतिवेदन पठनीय है। मैरिलिन फर्ग्यूसन ने अपनी 'द एक्वेरियन कान्स्पिरेसी' पुस्तक के प्रारंभ में लिखा है, "एक नेतृत्वहीन किंतु प्रचण्ड संगठन अमरीका में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के लिए प्रयत्नशील है। उसके सदस्यों ने पश्चिम के विचारों में से कुछ मूलभूत बातों का त्याग

किया है और इतिहास का सूत्र भी शायद छोड़ दिया है... सुधार की अपेक्षा विशाल, क्रांति की अपेक्षा अधिक गहरे और मानव-समाज के सामने नए कार्यक्रम रखने के लिए सहायक होने वाले इस षड्यंत्र ने इतिहास के सबसे तीव्र सांस्कृतिक पुनर्गठन के लिए धमाकेदार प्रारंभ किया है। यह जो हड़कंप मचा देने वाला अमोघ परिवर्तन हमें अपनी तीव्र गति के साथ अपने अंदर समेटता जा रहा है, उसका स्वरूप किसी नई राजनीतिक, धार्मिक या तात्त्विक व्यवस्था का नहीं है। वह एक नया मानस है— स्तम्भित कर देने वाली एक वैश्विक दृष्टि का यह उदय है। विज्ञान की नई क्रांतिकारी उड़ान और प्राचीनतम तत्त्वद्रष्टाओं द्वारा लिखे गए विचार दोनों का समावेश अपने अंदर कर सके, इतनी विशाल उसकी बाहें फैली हैं।"

यह अद्‌भुत विश्वदर्शन एकात्मदर्शन की दिशा में बढ़ने वाला है। यह दर्शाने वाली तुलनात्मक तालिका ड्वेन एलगिन ने प्रस्तुत की है।

'वाल्युण्टरी सिम्पलीसिटी मूवमेंट' की इस वैचारिक सफलता का कारण बनी सबसे महत्त्वपूर्ण बात है विज्ञान के क्षेत्र में हुई आधुनिक प्रगति।

पश्चिम में विकसित विज्ञान (साइंस) की उद्धत वृत्ति की पराकाष्ठा पिछली सदी के अंत में एवं इस सदी के प्रारंभ में दिखाई देने लगी। वास्तव में 'साइंस' का अर्थ है ज्ञान। उसके कारण विनम्रता ही प्रकट होनी चाहिए। इस आधुनिक विज्ञान का विचार है कि मनुष्य केवल कुछ परमाणुओं का समूह मात्र है... उन परमाणुओं के स्तर पर उसका सुख, कर्तव्य स्वास्थ्य सब कुछ निर्भर रहता है। अतः इमर्सन, थोरो, गांधी जी सब विज्ञान-विरोधी घोषित किए गए। भारत के साधु-संतों के विश्वदर्शन से सर्वथा भिन्न विश्वदर्शन आधुनिक विज्ञान ने प्रस्तुत किया है। अतः सभी साधु-महात्मा कालबाह्य घोषित किए गए। किंतु आगे चलकर 'विज्ञान' ने कुछ नवीन सिद्धांत विकसित किए। इस सदी के पहले २५ वर्षों में सैद्धान्तिक भौतिकी ने दो नए सिद्धांत दिए— सापेक्षवाद का सिद्धांत (रिलेटिविटी थ्योरी) तथा क्वाण्टम यान्त्रिकी। इन दोनों सिद्धांतों से प्रकट होने वाला विश्वदर्शन भारतीय विश्वदर्शन के अधिकाधिक निकट आ रहा है। २० वीं सदी की भौतिकी (फिजिक्स) के दो प्रमुख प्रवक्ताओं के निम्न निवेदन इस दृष्टि से चिंतनीय हैं।

श्री ओपेन हाइमर कहते हैं, "परमाणु-भौतिकी में हुए अनुसंधान द्वारा सोदाहरण स्पष्ट की गई मानवी आंकलन विषयक परिकल्पनाएं ऐसी नहीं हैं जिन्हें सर्वथा अपरिचित, नवीन एवं इससे पूर्व कभी भी न सुनी गयी कहा जा सके। हमारी पश्चिमी संस्कृति में भी उनकी कुछ पूर्वपीठिका है और बौद्धों एवं हिन्दुओं के विचार में तो उन्हें बहुत बड़ा एवं केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। नए अनुसंधान में हम पाते हैं पुराने ज्ञान का ही प्रत्यक्ष विशदीकरण, उसे प्रोत्साहन और अधिक ग्राह्य रूप में उसकी रचना।"

प्रो. नील्स बोर ने कहा है, "आणविक सिद्धांत के समानांतर बोध खोजने के लिए हमें ज्ञान-क्षेत्र की

उस स्वरूप की समस्याओं की ओर मुड़ना होगा जिनका सामना अस्तित्व के इस महान नाटक में दर्शक एवं अभिनेता की अपनी भूमिकाओं में तालेमेल बिठाते हुए बुद्ध और लाओ त्सू जैसे विचारकों को इससे पूर्व ही करना पड़ा है।"

मानव-स्वास्थ्य के बारे में प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण के साथ ज्यों के त्यों मेल खाने वाले नये शास्त्रीय दृष्टिकोण कुछ वैज्ञानिकों ने प्रस्तुत किए हैं। इनमें डा. डोसे, डा. एजिलाबेथ कुबलर-रॉस, डा. माइकेल साबोम, डा. रेमण्ड मूडी, तथा डा. केनेथ रिंग प्रमुख हैं। इनके द्वारा किए गए शास्त्रीय प्रयोगों में नूतन भौतिक विज्ञान तथा प्राचीन भारतीय कल्पनाओं के साथ सुसंगत कुछ आधुनिक संकल्पनाएं हैं। इनमें संरचना-विकास-क्षेत्र की संकल्पना डा. रूपर्ट शेल्ड्रेक के 'बायोलॉजी' (जीव-विज्ञान) में दी गई है। कार्ल प्रिब्रेम तथा डा. राबर्ट ओर्नस्टीन के 'ब्रेन रिसर्च' में दी गई संकल्पना भी इसी दिशा की ओर बढ़ने वाली है। आर्थर यंग के उत्क्रांति के बारे में नए क्रांतिकारी सिद्धांत भी कुछ ऐसे ही हैं। इन सबका परामर्श लेकर इस लेख में आगे कहा गया है—

"निम्नलिखित दो उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा कि इस नई दृष्टि में आधुनिक अमरीकी विचार तथा प्राचीन भारतीय अंतर्दृष्टि का कैसा संगम हुआ है :

"अतः विभिन्न पद्धतियों से प्रश्नों का विचार करने वाले सापेक्षता एवं क्वांटम सिद्धांतों का निष्कर्ष एक जैसा दिखाई देता है। दोनों सहमत हैं कि विश्व की ओर एक अविभाज्य संपूर्ण के नाते देखना चाहिए। इस दृष्टि के अनुसार निरीक्षक अथवा उनके उपकरणों सहित विश्व के सभी घटक एक समग्रता में विलीन हो जाते हैं। इस समग्रता में अन्तर्दृष्टि का आणविक स्वरूप एक सरलीकरण है और कुछ मर्यादाओं के संदर्भ में ही वह सत्य होगा....।"

"सभ्यता की बिल्कुल प्रारंभिक अवस्था में मनुष्य मूलतः टुकड़ों-टुकड़ों में सृष्टि का विचार नहीं करता था, बल्कि समग्रता से ही सोचता था। पूर्व की ओर, विशेषतः भारत में समग्रता का यह विचार आज भी जीवित है। वह इस अर्थ में कि वहां तत्त्वज्ञान और धर्म का बल समग्रता पर है और विश्व के स्वरूप का टुकड़ों-टुकड़ों में विश्लेषण करने की निरर्थकता उसमें व्यक्त होती है।"— डैविड बोम, 'होलनेस एंड द इम्पिलकेट आर्डर' (रौटलेज एंड केगन पाल १९८०)।

बाद में स्क्रोडिंजर ने 'जीवन क्या है ?' विषय पर लेखन किया। क्वांटम भौतिकी और जीवविज्ञान का अपने दो प्रदीर्घ निबंधों में मेल बिठाने का प्रयास उन्होंने किया। 'विश्व के बारे में मेरी धारणा' शीर्षक के अन्तर्गत लिखे इन लेखों में उनका पौर्वात्य विचारों से प्रभावित गूढ़वादी स्वरूप व्यक्त होता है। तत्त्वज्ञ विचारक एवं वैज्ञानिक के नाते प्रतिष्ठा का स्थान दिलाने वाले अपने प्रसिद्ध समीकरण की रचना से पूर्व ही १९२५ में उन्होंने लिखा था :

"आप जो जीवन जी रहे हैं वह इस संपूर्ण अस्तित्व का केवल एक भाग मात्र है, इतना कहना पर्याप्त नहीं। एक विशिष्ट अर्थ में वह अंश भी 'संपूर्ण' ही है। यह संपूर्णता ऐसी नहीं है जो एक ही दृष्टिक्षेप

में देखी जा सके। यही सत्य ब्राह्मण लोग 'तत्त्वमसि' के पवित्र एवं रहस्यमय सूत्र द्वारा व्यक्त करते हैं। वास्तव में यह सूत्र कितना सरल एवं सुस्पष्ट है, इसी सत्य की अभिव्यक्ति इन शब्दों में भी हुई है कि 'मैं पूर्व में हूं और पश्चिम में भी; मैं ऊपर भी हूं और नीचे भी; मैं ही सारा विश्व हूं।"

स्क्रोडिंजर सचमुच एक सत्यद्रष्टा था, यद्यपि उसका यह द्रष्टापन शायद उसके अपने ही उद्‌गारों की पूर्ति करने वाला हो। कारण, उसने गणित का साधन इसीलिए निर्मित किया कि क्वांटम-पदार्थ-विज्ञान के शास्त्रज्ञ विश्व को इस दृष्टि से देख सकें। मेरे विचार में यह प्रतिपादन कि 'मैं ही सम्पूर्ण विश्व हूं' क्वांटम विचारप्रणाली का प्राथमिक आधारभूत प्रमेय है। एक ही मन अपना निरीक्षण करता है और अपनी विभिन्न अवस्थाओं में विरोधाभासों को स्वीकार करता है, यही आशय मैं उसमें देखता हूं। जो भी अस्तित्व है, उसका क्वांटम की उड़ान के साथ समन्वय किया जाता है।

स्क्रोडिंजर द्वारा स्वीकृत संपूर्णता की भूमिका को क्वाण्टम सोलिप्सिज्म कह सकते हैं। सोलिप्सिज्म (अहंमात्रवाद) के अनुसार हम स्वयं ही एकमात्र वस्तु हैं, जिसका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और परखकर जिसके अस्तित्व का विश्वास किया जा सकता है। अन्य कोई भी बात सुनिश्चित नहीं मानी जा सकती। इस प्रकार क्वांटम अहंमात्रवाद के अनुसार सब कुछ आप पर ही निर्भर है। सारा विश्व का आप ही निर्माण करते हैं और आप ही विश्व हैं।"—फ्रेड एलन वुल्फ, 'टेकिंग द क्वांटम लीप' (हार्पर एंड रो १९८१)

आधुनिक विज्ञान द्वारा वर्जित किंतु प्राचीन दर्शन द्वारा स्वीकृत सिद्धांत— "हम प्रकृति के साथ एकरूप हैं", 'स्वयं संगठित होने वाली व्यवस्थाओं के सिद्धांत' को विकसित करने वाले नोबेल पुरस्कार-विजेता बेल्जियन शास्त्रज्ञ इल्या प्रिगोजिन ने निष्कर्ष रूप में फिर से रखा है।

आइन्स्टीन का निम्न उद्धरण चिंतनीय है :

"हम जिसे 'विश्व' कहते हैं, उस संपूर्णता का मनुष्य आकाश एवं काल द्वारा सीमित एक अंश होता है। अन्य लोगों से भिन्न विचार एवं भावनाएं रखने वाले 'मैं' के नाते वह अपने बारे में जो भी अनुभव करता है, वह वास्तव में उसके बोध को हुआ एक प्रकार का विभ्रम होता है। यह विभ्रम हमारे लिए एक प्रकार से कारागार ही होता है। अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं और निकट के प्रतीत होने वाले थोड़े से लोगों के प्रति ममता के साथ वह हमें बांधे रखता है। सभी जीव-प्राणियों और सुन्दरता से संजी-संवरी प्रकृति तक अपनी सहानुभूति की कक्षाओं का विस्तार करते हुए इस कारागृह से अपने आपको मुक्त करवाना ही हमारा कर्तव्य होना चाहिए। यह पूर्णतः साध्य होने वाली बात नहीं, किंतु इस उद्देश्य के लिए प्रयत्नशील रहना ही मुक्ति का एक भाग एवं आंतरिक अमरता के आश्वासन का आधार होता है।"

अतः यह अलग से कहने की आवश्यकता नहीं कि एकात्म मानव दर्शन का संदेश भी इसी स्वरूप का है। इस विषय पर मनोविज्ञान का अत्याधुनिक अभिप्राय भी विचारणीय है।

मांट्रियल मैकगिल विश्वविद्यालय के डा. बर्नार्ड माड के तथा 'अमरीका होलीस्टिक हेल्थ एसोसिएशन' के निष्कर्षों और कुछ अतीन्द्रिय चिकित्सकों (साइकिल हीलर्स) द्वारा किए गए प्रत्यक्षीकरणों के कारण पश्चिम में पुनर्विचार आरम्भ हो गया है। अमरीका के इन्गो स्वान, एम. एच. टेस्टर, रोलिंग थंडर, हेनरी मॉडेल, रूस के विक्टर क्रिवोरोटोव, इंग्लैंड के हैरी एडवर्ड्स ब्राजील के एरिगो, फिलीपाइन्स के फेलीसा मकानास तथा जोसेफीना सीमन आदि 'साइकिल हीलर्स' ने पश्चिमी जगत में तहलका मचा दिया है।

अमरीकी वैज्ञानिक डा. राबर्ट बेकर का निरीक्षण है— ...."पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र में सूर्य, चन्द्र एवं ग्रहगोलों के कारण परिवर्तन होते रहते हैं। इन सबका परिणाम हमारी स्नायुप्रणाली और 'तैजस देह' की आत्मिक प्रभा एवं उसके प्रकाश वलय पर होता है।"

डा. लिओनार्ड रेविट्ज भी लगभग इसी मत के हैं।

सन् १९५६ में राबर्ट ओपेनहाइमर ने चेतावनी दी थी कि "जो पदार्थ-विज्ञान (भौतिकी) अब अस्तित्व में ही नहीं है तथा कालबाह्य हो गया है, उसके आधार पर अपनी रचना करना मनोवैज्ञानिकों का सबसे बड़ा प्रमाद होगा।"

प्रसिद्ध अमरीकी वैज्ञानिक कार्ट रोजर्स युवा मनोवैज्ञानिकों का आह्वान करते हैं, "...यह संभव है कि हमारी पंचज्ञानेन्द्रियों की कक्षा के बाहर एक नियमबद्ध सत्ता है जिसमें वर्तमान, भूत और भविष्य आपस में हिलमिल गए हों। वहां देश-बाधा न हो और काल लुप्त हो गया हो। उसे जान लेने का हेतुतः हठ करने की अपेक्षा केवल तटस्थता से प्रेक्षक की भूमिका रखकर ही उसे देखा तथा जाना जा सकता है। ऐसी सत्ता की संभावनाओं की खोज करने का साहस दिखाने वाले शायद बहुत थोड़े लोग होंगे। मनोविज्ञान द्वारा उपस्थित यह एक अत्यंत उत्तेजक चुनौती है।"

यह तो असंदिग्ध शब्दों में कहा जा सकता है कि आधुनिक काल में अनेक शास्त्रज्ञों के साक्षात्कार मानवता को एकात्म मानवदर्शन की दिशा में ले जाने वाले हैं। आज के विज्ञान के निष्कर्ष हमारे तथाकथित प्रगतिशील (फैशनेबल प्रोग्रेसिव) नेताओं की घोषणाओं से दूर तथा एकात्म मानवदर्शन निकट के हैं।

ये साक्षात्कार केवल गैरकम्युनिस्ट देशों के शास्त्रज्ञों के ही नहीं हैं कम्युनिस्ट शास्त्रज्ञ भी धीरे-धीरे इसी दिशा में बढ़ रहे हैं।

भारतीय साहित्य एवं तत्त्वदर्शन के बारे में रूस में हो रही उत्क्रान्ति सबके ध्यान में है। वेद, उपनिषद्, रामायण-महाभारत आदि ग्रंथों का रूस में अध्ययन भी प्रारम्भ हो गया है। एकदम आधुनिक विचार में मास्को विश्वविद्यालय के सह-प्राध्यापक (एसो. प्रोफे.) वी. एस. कोस्त्युशेन्कोव द्वारा प्रकाशित तीन ग्रंथों ने भारतीय विद्वानों का ध्यान विशेषतः आकर्षित किया है। उन्होंने सन् १९७० में श्री अरविंद तथा सन् १९७७ में स्वामी विवेकानन्द पर ग्रंथ प्रकाशित किए। तब से स्वामी विवेकानंद को रूस में

अधिकाधिक प्रतिष्ठा मिलने लगी और उसके फलस्वरूप भारतीय कम्युनिस्ट भी विवेकानंद को मानने लगे हैं। लेखक ने हाल ही में प्रकाशित अपने 'द क्लासिक वेदांत एण्ड निओ-वेदांतिज्म' ग्रंथ में उपनिषदों से लेकर डा. राधाकृष्णन तक के भारतीय तत्त्वज्ञान का विश्लेषण किया है। अतः इसमें संदेह नहीं कि भारत के कम्युनिस्टों को भी इस विषय में अपने आज तक के पूर्वाग्रहों को बदलना पड़ेगा।

ऊपर दिए गए सभी तथ्य तो सर्वविदित हैं, किंतु इस बात की जानकारी भारत में अभी नहीं है कि भारत के अभौतिक निष्कर्षों के बारे में अनुसंधान करने के लिए रूस में सरकारी प्रेरणा से प्रयोगशालाएं प्रारंभ की गई हैं। अनुसंधान के प्रमुख विषय हैं— दूरस्थ व्यक्तियों के मन के विचारों का अतींद्रिय शक्ति द्वारा आदान-प्रदान, अतींद्रिय शक्तियों के सहारे जड़ वस्तुओं में गति-निर्माण करना, किर्लियन प्रभाव, किर्लियन छायाचित्रण का औषध-विज्ञान में प्रयोग, मानसिक उपचार, आकाशीय ग्रह-गोलों में संस्कृति, सम्मोहन की सहायता से रोगों का उपचार आदि।

हेनरी ग्रिस तथा विलियम डिक ने अपने 'द न्यू सोवियत साइकिक डिस्कवरीज' ग्रंथ में इस विषय का पूर्ण विवरण दिया है। शीला आस्ट्रेंडर तथा लिन श्रोडर की पुस्तक 'साइकिक डिस्कवरीज बिहाइण्ड द आइरन कर्टेन' भी इसी विषय पर है। वास्तव में रूस में, जहां सरकार यह आग्रह रखने लगी है कि विज्ञान को भी कम्युनिज्म एवं उसके अंतर्गत द्वन्द्ववाद (डायलेक्टिसिज्म) की ही सेवा में रहना चाहिए[३५], सरकारी प्रश्रय से ही ये सारी प्रयोगशालाएं चल रही हैं। इनके द्वारा किए गए प्रयोगों में सबसे महत्त्वपूर्ण हैं सन् १९६५ में जोसेफ किर्लियन द्वारा किर्लियन फोटोग्राफी की सहायता से लिए गए मानव-जीवात्मा अथवा सूक्ष्म शरीर के छायाचित्र। इसके अतिरिक्त मास्को विश्वविद्यालय के डा. कॉन्स्टेण्टाइन कोबिजेव का प्रतिपादन है कि "विशिष्ट काल में बड़ी मात्रा में सूर्य से पृथ्वी तक होने वाला ऊर्जा का प्रक्षेपण विज्ञान द्वारा सिद्ध की गई एक वास्तविकता है। सूर्य के कारण होने वाली इस गतिविधि के कारण पृथ्वी पर लोगों में बड़े पैमाने पर हलचल होती है, यह बात उसी दिन निकाले गए लेखाचित्रों (ग्राफ्स) से स्पष्ट हो जाती है।"

रूसी वैज्ञानिक ज्योतिष शास्त्र को एस्ट्रॉलोजी कहना अच्छा नहीं मानते। उन्होंने उसे संज्ञा दी है—'कास्मिक बायोलॉजी'। एडवर्ड नामोव ने सूर्य पर पाए जाने वाले धब्बों के मानव-जीवन एवं मन पर होने वाले परिणामों के बारे में अनुसंधान प्रारंभ किया है, तो डा. लूनाकुर्स्ले तथा डा. सेमैश्को ने यह निष्कर्ष निकाला है कि "ग्रहों पर होने वाली गतिविधियों के कारण मानव-व्यवहार में परिवर्तन होते हैं और पृथ्वी के मानवजीवन पर उनका प्रभाव होता है। डा. बी.वी. रमण द्वारा संपादित 'एस्ट्रालोजिकल मैगजीन' के इस वर्ष के विशेषांक में डा. ई. वेदव्यास का लेख प्रकाशित हुआ है जिसने प्रगतिशील (?) नेताओं को आश्चर्य का धक्का दिया है। 'कम्युनिस्ट देशों में खगोल शास्त्र का अनुसंधान' शीर्षक इस अंग्रेजी लेख में श्री वेदव्यास ने जी. कोशित्स्की एवं कोगन द्वारा लिखित 'मानव-विचारों का अंतरिक्ष पर होने वाला प्रभाव' शीर्षक निबंध, इसी विषय पर पावलिटा द्वारा किए गए प्रयोग, मेडिकल एस्ट्रॉलोजी पर रूसी एवं चेक अनुसंधान, चेक विद्वान लेमहेनी जोल्तास लिखित

'खगोल शास्त्र एवं हठयोग का पारस्परिक संबंध', हंगेरियन लेखक कुर्ल केचनिट्ज का गर्भनिरोध पर निबंध, चेकोस्लोवाकिया के डा. यूनोस एवं उनके एस्ट्रा-रिसर्च सेंटर द्वारा किया गया अनुसंधान एवं प्रकाशित साहित्य, बार्ना बलोग नामक हंगेरियन लेखक की 'एस्ट्रोनॉमी तथा प्राचीन ज्योतिष शास्त्र के आपसी संबंध' शीर्षक पुस्तक आदि अनुसंधान-साहित्य का उल्लेख कर कहा है, "ऐसा दिखाई देता है कि कम्युनिस्ट देशों में ज्योतिषियों को भारत के आस्तिकों की अपेक्षा ज्योतिषशास्त्र एवं योगशास्त्र के प्रति अधिक सहानुभूति है।"

प्लेफेयर एवं स्कॉट हिल अपनी पुस्तक 'द साइकिल ऑफ हेवन' में लिखते हैं, "इस शास्त्र को उन्होंने (बायोफील्ड, टु-फील्ड, एनर्जी बॉडी अथवा ऑनिसोट्रॉफिक बाडी) जो भी नाम दिया हो, रूसी वैज्ञानिकों ने एक ऐसी कल्पना का समर्थन किया है, जिसके कारण मनुष्य की अनेक पारंपरिक गूढ़वादी धारणाओं को वैज्ञानिक आधार प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए १९७६ में हिल ने स्वीकार किया कि किसी रोगी के रोग का उपचार हस्त-स्पर्श से करने की प्रक्रिया में उपचार करने वाले द्वारा रोगी के शरीर में संक्रमित ऊर्जा में बायोप्लाज्मा (जैव तरल) का समावेश रहता है। इस संभावना की छानबीन करने के लिए प्रयोगशालाओं में बहुत अनुसंधान किया गया है। इन्युस्तिन के मार्गदर्शन में किए गए प्रयोगों में यह पाया गया कि एक जीवमान घटक से दूसरे घटक में बायोप्लाज्मा के मार्ग से ऊर्जा को संक्रमित किया जा सकता है। उसी प्रकार फिर एक बार यह भी अनुभव किया गया है कि पूर्व के गूढ़वादियों को मानव-मानव के बीच विद्युत-चम्बकीय विज्ञान का पश्चिमी वैज्ञानिकों की अपेक्षा अधिक ज्ञान है।"

अपनी 'कुण्डलिनी योग' पुस्तक में श्री वालिंबे कहते हैं, "भारतीय योगियों ने सदियों से जो कहा है उसकी पड़ताल EEG, EKG और EMG जैसे आधुनिक उपकरणों की सहायता से करना संभव हो गया है। इसीलिए प्लेफेयर तथा स्कॉट हिल ने आग्रहपूर्वक प्रतिपादन किया है कि आधुनिक वैज्ञानिकों तथा सिद्धयोगियों का संबंध आना चाहिए एवं उनमें सहयोग भी होना चाहिए।

"अंतरिक्ष युग के तंत्रविज्ञान की यह कृपा है कि अधिक समय तक शिक्षा न देते हुए भी कुछ मात्रा में ऐसा सहयोग प्रस्थापित किया जा सकता है। 'बायोफीडबैक' आंदोलन का एक लाभ यह हुआ है कि प्रयोगशालाओं में योगी एवं वैज्ञानिक एकत्रित हुए हैं।"

वेदांत, कम्युनिज्म तथा क्रेमलिनॉलाजी के विद्वान श्री वा. नी. देशपांडे का मत है कि "योगशास्त्र तत्त्वज्ञान की उच्चतम परिणति है और भारत के प्राचीन ऋषियों द्वारा सिद्ध द्वन्द्ववाद के नियमों को आधुनिक सोवियत विज्ञान ने भी मान्यता दी है। उसके द्वारा स्थापित शास्त्रीय अध्ययन की शाखा साइकोट्रॉनिक्स (या 'योगट्रॉनिक्स') में यही मान्यता दिखाई देती है। प्राचीन ऋषियों द्वारा सिद्ध नियमों का क्षेत्र अन्तर्ज्ञान का था जो उच्च ज्ञान के साधन के रूप में हेतुपूर्वक विकसित की जाने वाली मन तथा शरीर की अद्‌भुत शक्ति है।"

सारांश, जैसा कि प्रो. हक्सर ने कहा है, "उच्चतम स्तर पर वैज्ञानिक प्रवृत्ति और आध्यात्मिक वृत्ति एकरूप ही होती है[३६] ।"

बम्बई विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के निमंत्रण पर १९८२ में डॉ. फ्रित्जॉफ कापरा द्वारा दी गई एक भाषणमाला में भी यह तथ्य स्पष्ट किया गया है। कार्टेशियन एवं न्यूटनियन विज्ञान अब कालबाह्य हो गया है। यह कहते हुए कि सृष्टि की मौलिक एकात्मकता ही अत्याधुनिक विज्ञान तथा भारतीय दर्शन से प्रकट होती है, प्रो. कापरा ने क्वांटम सिद्धांत के प्रणेताओं में से एक श्री वर्नर हाइजेनबर्ग तथा श्री अरविन्द के और परमाणु भौतिकीविद हेनरी स्टैप तथा नागार्जुन के एक से उद्धरण प्रस्तुत किए तथा डा. राधाकृष्णन द्वारा वर्णित गतिमान विश्वदर्शन हमारे सम्मुख रखा। चौ-आयामी 'दिक्-काल सांतत्यक' (स्पेस-टाइम-कंटीन्युअस) की कल्पना के सदृश अरविन्द साक्षात्कार एवं जापानी विद्वान डी. टी. सुजुकी के महायान बौद्धमत के दिक्-काल सांतत्यक के पहलू पर किए गए भाष्य उन्होंने प्रतिपादित किए हैं। क्वांटम सिद्धांत तथा सापेक्षता सिद्धांतों से प्रकट होने वाले वैश्विक नृत्य का काव्यमय सुंदर प्रकटीकरण नटराज शिव के नृत्य में होता है। कापरा कहते हैं— "आधुनिक भौतिकीविदों की दृष्टि में शिव का यह नृत्य बोध की कक्षा में न आने वाले आणविक पदार्थ मात्र का नृत्य है। हिन्दू पुराणकथाओं में वर्णित विश्वव्यापी उत्पत्ति एवं संहार का वह अखण्ड चलने वाला नृत्य है। सम्पूर्ण अस्तित्व और सभी प्राकृतिक उथल-पुथल का वही आधार है। वैश्विक नृत्य के इस रूपक में प्राचीन पुराणकथाएं, धार्मिक कला-विकास तथा आधुनिक पदार्थ विज्ञान एक साथ जोड़े गए हैं। जैसा कि कुमार स्वामी ने कहा, "सचमुच यह काव्य है और उतना ही विज्ञान भी।"

अपने दूसरे भाषण में, जिसका विषय 'द सिस्टम्स व्यू ऑफ लाइफ' था, श्री कापरा कहते हैं, "आधुनिक भौतिक विज्ञान की विश्व की ओर देखने की दृष्टि उच्च नैतिकता एवं पर्यावरण की प्राकृतिक शुद्धता पर बल देने वाली है। सभी घटकों में परस्पर संबंध एवं परस्परावलंबित्व और वस्तुमात्र की अन्तरंग गतिमानता पर उसने बल दिया है।"

'सिस्टम्स व्यू' के दृष्टिकोण से वे आगे कहते हैं, "सभी जीवमान रचनाओं की महत्त्वपूर्ण विशेषता अनेक स्तरों पर एक रचना में से दूसरी उपरचना का निर्माण करने की उनकी प्रवृत्ति है। उदाहरण के लिए मानव-शरीर में अनेक अवयव अपनी-अपनी व्यवस्थाओं में चलते रहते हैं। प्रत्येक अवयव ऊतकों (टिस्यू) का बना होता है और प्रत्येक ऊतक कोशिकाओं से बना होता है। ये सब घटक जीवमान होते हैं। सुनियंत्रित जीवमान रचना के रूप में उनका अस्तित्व होता है। अधिक छोटे घटकों ने उनका निर्माण किया होता है। उसी समय ये सब घटक एक बड़ी व्यवस्था के अंश के नाते भी काम करते हैं। अतः जीवमान व्यवस्था का स्वरूप बहुस्तरीय है और प्रत्येक स्तर पर उनमें परस्पर संबंध एवं परस्परावलंबन पाया जाता है। प्रत्येक स्तर की रचना अपने सम्पूर्ण पर्यावरण को प्रभावित करती रहती है। पर्यावरण का उस पर प्रभाव पड़ता रहता है और इस प्रकार एक सुसंवाद साधने की प्रक्रिया होती रहती है।"

"जीवनमान विश्व बहुस्तरीय रचनाओं द्वारा संगठित हुआ है, जिसका अर्थ यही है कि मन के भी ऐसे ही स्तर अवश्य होंगे। उदाहरण के लिए मानव-शरीर में अनेक स्तरों पर नव-नवीन मनोव्यापार होते रहते हैं। उनमें कोशिकाओं, ऊतकों तथा अंगों- अवयवों का संबंध आता है। इसके अतिरिक्त मस्तिष्क की स्नायु-तंत्रियों द्वारा प्रेरित कुछ व्यापार होते हैं। इन सभी मानसिक व्यापारों के समुच्चय को मैं मानव-मन की संज्ञा दूंगा। प्रकृति की बहुस्तरीय व्यवस्था में व्यक्तियों के मन समाज एवं पर्यावरण की विशाल मानसिक रचनाओं में जड़े होते हैं। इन सबका ग्रहमण्डल की मनोव्यवस्था में समावेश रहता है और मनोव्यवस्था भी किसी न किसी प्रकार के वैश्विक मन में अवश्य समाहित रहती होगी।"

इस भाषण का समारोपन करते हुए उन्होंने कहा, "सृष्टि का यह जो व्यवस्थात्मक दृष्टिकोण मैंने आपके सम्मुख रखा है, उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि विश्व की ओर देखने की नयी दृष्टि पर्यावरणात्मक है। एक अर्थ में पर्यावरण का संरक्षण करने की तात्कालिक चिंता से परे जाकर बहुत दूर तक पहुचने वाली यह दृष्टि है। इसे आधुनिक विज्ञान का आधार प्राप्त है, किंतु इसका मूल एक ऐसी सत्ता के साक्षात्कार में है, जो विज्ञान की परिधि से बाहर उड़ान भरकर सभी जीवन के एकत्व, जीवन की विविध अभिव्यक्तियों में परस्परावलम्बन तथा उसके परिवर्तन एवं रूपान्तरण के चक्रों का अन्तर्ज्ञान रखती हैं। जिस योग के कारण मनुष्य को वैश्विक पूर्णता के साथ अपना नाता होने का बोध होता है, उस बोध के एक प्रकार के रूप में मानवचेतना को देखा जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि पर्यावरणविषयक बोध सचमुच आध्यात्मिक स्वरूप का है। वस्तुतः मनुष्य के विश्व के साथ जुड़ा होने की कल्पना 'रिलिजन' शब्द के मूल लेटिन धातु द्वारा व्यक्त हुई है। वह धातु है 'रेलिगारे' (दृढ़ता से बांधे रखना)। उसी प्रकार संस्कृत भाषा में 'योग' शब्द है। उसका अर्थ परस्पर मिलन होता है। पर्याप्त विश्वास के साथ आज हम कह सकते हैं कि पूर्व का प्राचीन ज्ञान हमारे आज के वैज्ञानिक सिद्धान्तों की सबसे सुसंगत एवं तत्त्वज्ञानात्मक पृष्ठभूमि उपलब्ध करा देता है।"

इस प्रकार प्रगमनशील विज्ञान धीरे-धीरे एकात्मदर्शन की दिशा में आगे बढ़ रहा है। किंतु पंडित जी के जीते जी उसका यह मार्गक्रमण उतना सुस्पष्ट नहीं हुआ था। फिर भी तथाकथित प्रगतिशील लोगों द्वारा की जाने वाली तीखी आलोचना की परवाह न करते हुए पंडित जी ने भारतीय संस्कृति पर आधारित अपना दर्शन विश्व के सम्मुख रखा, इसमें उनका आत्मविश्वास एवं सनातन धर्म में दृढ़ श्रद्धा ही दिखाई देती है। इस दर्शन के द्वारा पंडित जी ने कुंठित, हताश एवं संकटग्रस्त मानवता को योग्य दिशा दिखाई है। आज मानव समाज कहां आकर खड़ा है इसके बारे में कापरा ने अन्यत्र बहुत ही मार्मिक स्पष्टीकरण किया है—

"अन्तः स्फूर्त ज्ञान की अपेक्षा बुद्धि से होने वाले ज्ञान की महत्ता पश्चिमी लोगों ने आज तक अधिक मानी है। धर्म की अपेक्षा विज्ञान, सहयोग की अपेक्षा स्पर्धा, प्राकृतिक स्रोतों के रक्षण की अपेक्षा उसके शोषण में उन्होंने अधिक रुचि ली है। अन्य अनेक बातों के साथ इन बातों से एक सांस्कृतिक असंतुलन निर्मित हुआ है। वही आज के संकटों की जड़ है। हमारे विचारों एवं भावनाओं, जीवन-मूल्यों

एवं प्रवृत्तियों तथा सामाजिक एवं राजनीतिक रचना को अपने अंदर समेटने वाला यह असंतुलन है ।"

"आज का संकटकाल भोगवादी संस्कृति की ही एक परिणति है ।व्यक्ति, समाज, सभ्यता अथवा एक ग्रह की पर्यावरणात्मक व्यवस्था के नाते हम परिवर्तन का एक चरण पूरा कर रहे हैं ! आज हमें किसी बात की आवश्यकता है तो जीवन के लिए आशयपूर्ण नमूने अर्थात् सृष्टि की ओर देखने की नई दृष्टि की, और हमारे विचारों, दृष्टियों तथा मूल्यों में मूलभूत परिवर्तन की ।"

यह नवीन प्रतिमान (Paradigm) देने के लिए पंडित जी मानव जाति के आज के मोड़ पर खड़े हैं ।

१७.

विचार एवं आचार की मूल प्रेरणा 'हिन्दुत्व' ही होने के कारण संघ के प्रणेताओं की दृष्टि स्वभावतः राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय-मानवीय ही रही है । व्यावहारिक भूमिका से धरती पर घोंसला बनाने की दक्षता बरतते समय भी अंतिम लक्ष्य की साधना के लिए उनकी दृष्टि अंतरिक्ष का भेद लेने वाली रही है ।

यह एक सुविदित बात है कि सन् १९२० में नागपुर कांग्रेस के अधिवेशन में स्वयंसेवी दल के प्रमुख के नाते पू. डा. हेडगेवार ने काम किया था । किन्तु अधिकांश लोगों को ज्ञात नहीं है कि विषय समिति के विचारार्थ स्वागत समिति द्वारा प्रेषित एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव मुख्यतः पू. डाक्टर जी की प्रेरणा से ही तैयार किया गया था । उस प्रस्ताव में कहा गया था, "हिन्दुस्थान के गणतंत्र का निर्माण कर पूंजीवादी राष्ट्रों के चंगुल से विश्व के देशों को मुक्त करना कांग्रेस का ध्येय है ।"

इस प्रस्ताव में 'विश्व के देशों को मुक्त'करने की कल्पना का मखौल उड़ाते हुए विषय-समिति ने उस प्रस्ताव को विचारार्थ नहीं लिया ।

आगे चलकर हिन्दू संगठन के जागतिक कार्य की दिशा स्पष्ट करते हुए पू.श्री गुरुजी ने कहा, "हिन्दू समाज को उसकी वैशिष्ट्यपूर्ण राष्ट्रीय अस्मिता के आधार पर फिर से संगठित करने का कार्य राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने हाथ में लिया है । वह भारत के वास्तविक राष्ट्रीय पुनरुत्थान की प्रक्रिया का एक भाग तो है ही, साथ ही विश्व की एकता और समस्त मानवजाति के कल्याण का स्वप्न साकार करने की प्रक्रिया में भी वह एक अनिवार्य पूर्व-अवस्था है । जागतिक एकता के संबंध में हिन्दुओं का चिन्तन ही विश्व बंधुत्व का स्थायी आधार बन सकता है । यह बोध कि एक ही अन्तरात्मा सबमें व्याप्त है, मनुष्य मात्र के सुख के लिए प्रयत्नशील रहने की दिव्य प्रेरणा मनुष्य के अन्तःकरण में निर्मित कर सकेगा । इस धरती की समस्त जीवसृष्टि को अपना परिपूर्ण विकास करने का पूरा एवं मुक्त अवसर

भी इस हिन्दू-विचार के द्वारा ही उपलब्ध हो सकेगा... यह श्रेष्ठ जागतिक कार्य केवल हिन्दू समाज ही पूर्ण कर सकेगा।"

पंडित जी भी इस परंपरा में पले थे। अतः उनकी श्रद्धा थी कि इसी प्रेरणा तथा दृष्टि से राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय-मानवीय स्तरों पर सभी आधिव्याधियों की टोह लेकर उनके निराकरण का मार्ग खोजना अपना जीवन कार्य है।

कहते हैं कि रोग का अचूक निदान उसे आधा ठीक करने के समान होता है। पंडित जी की पहली बरसी (वार्षिक श्राद्ध) के दिन उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करने वाला एक लेख *'आर्गेनाइजर'* में प्रकाशित हुआ था। उसमें अनेक स्तरों पर मानवता को लगे रोगों का पंडित जी के द्वारा किया गया निदान था। अनुवाद करने के प्रयास में मूल विवरण के प्रति थोड़ा अन्याय हो सकता है, क्योंकि श्री म.न. जोशी ने ठीक ही कहा है कि "कोई अनुवाद यदि सुन्दर हो, तो यह आवश्यक नहीं कि वह मूल पाठ के अनुसार ही होगा और यदि वह मूल पाठ के अनुसार हो तो उसमें सुन्दरता का अभाव भी संभव है।" फिर भी यह ध्यान में लेना होगा कि पंडित जी एक दृष्टा थे और मानवता को लगे रोगों पर उन्होंने बराबर अंगुली रखी थी। उन रोगों का उपचार करना उनका जीवन-कार्य था।

पंडित जी ने उस लेख में कहा था—

"आज मानव जाति के सम्मुख अनेक मूलभूत और संभ्रम में डालने वाली समस्याएं खड़ी हैं। उदाहरणार्थ, निम्न बातों का तालमेल कैसे बिठाया जाएगा ?

— व्यक्ति-स्वातंत्र्य और सामाजिक अनुशासन;

— व्यक्तिगत संघर्ष के लिए प्रेरणा और समता की ललक;

— आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय;

— जीवन में अनुस्यूत मूलभूत एकता और बाह्यतः दिखाई देने वाली विविधता;

— राज्यों की अधिसत्ता और औद्योगिक एवं नागरी स्वशासन;

— व्यवस्था और उत्स्फूर्तता;

— सामाजिक सुव्यवस्था और राज्यविहीनता;

— बुद्धिवाद एवं बुद्धि का कार्य और उसकी मर्यादाओं का बोध;

— विशिष्ट विषयों में विशेषज्ञता और समग्र दृष्टि;

— भौतिक प्रगति और आध्यात्मिक उन्नति;

— राष्ट्रीय स्वावलंबन और अंतरराष्ट्रीय सहकार्य ।

इसके अतिरिक्त निम्न वांछनीय बातों को सुनिश्चित और स्थायी कैसे किया जा सकता है, यह भी प्रश्न ही है—

— स्वतंत्रता चाहिए, स्वैराचार नहीं;

— अनुशासन चाहिए, सांचा-बंद अवस्था नहीं;

— प्रतिष्ठा चाहिए, किंतु साथ ही सुविधाओं की गठरी नहीं;

— एकता चाहिए, एकरूपता नहीं;

— स्थिरता चाहिए, निष्क्रियता या अवरुद्धता नहीं;

— गतिमानता चाहिए, साहसवाद नहीं;

— शासनसत्ता हो, किंतु शासन ही सर्वसमर्थ न हो;

— प्रौद्योगिक प्रगति चाहिए, मानवीय गुणों का लोप नहीं;

— भौतिक समृद्धि चाहिए, ऊबड़-खाबड़ 'जड़वाद' नहीं;

— समाज में तली से शीर्षबिन्दु तक श्रेणियों की खड़ी (ऊर्ध्वाधर) रचना चाहिए, क्षैतिज तल के वर्गभेद नहीं;

— मानवतावाद स्पृहणीय, किंतु मानवकेंद्रितता नहीं चाहिए ।

राष्ट्रीय स्तर पर भी चुनौतियां देने वाली अनेक समस्याएं हैं जिनका समाधान तुरंत करना होगा । उदाहरण के लिए—

— सेवायोजना (रोजगार) के बढ़ते अवसर और अद्ययावत् तंत्रविज्ञान;

— उत्पादन की विकेंद्रित प्रणाली और अधिक उत्पादकता;

— राष्ट्रीयकरण और सार्वजनिक उत्तरदायित्व

— नगरीकरण का वेग और सांस्कृतिक वातावरण;

— निचले स्तर पर छोटी-छोटी योजनाएं और राष्ट्रीय स्तर पर सुसंवादी बृहत् योजना;

— नानाविध स्वाभाविक जन-समूहों का एकात्मीकरण और उन जन-समूहों की विशेषताओं का परिपालन;

— भारतीय जीवन-मूल्य और आधुनिक वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक प्रगति;

— आधुनिक काल की आवश्यकताएं और सनातन धर्म के आदर्श ।

निम्नलिखित उद्देश्यों को हम कैसे प्राप्त करें ?

— विभिन्न राष्ट्रीय संस्कृतियों द्वारा समृद्ध बना विश्वराज्य;

— जड़वाद सहित सभी सम्प्रदायों की परिपूर्णता से समृद्ध मानवधर्म की उत्क्रांति ।

कहना न होगा कि यह सूची केवल उदाहरण के लिए ही है, अपने में परिपूर्ण नहीं ।

१८.

पंडित जी भारत की प्राचीन ऋषि संस्था के प्रतिनिधि थे । आचार्य जावडेकर ने इसे 'यतिवर्ग' की संज्ञा दी है । आचार्य विनोबा जी ने उसे 'आचार्य कुल' कहा है और पू. श्री गुरुजी ने 'ऋषि संस्था' कहकर उसका गौरव किया है । वर्ग-कल्पना-रहित सज्जन-समूह हिंदू समाज-रचना की विशेषता है । श्री गुरुजी कहते हैं, "समाज के सभी अवयवों की आवश्यकता जिसकी समझ में ठीक से आ जाती है, उनके पारस्परिक संबंधों को जो ठीक से रख सकता है और स्वयं निरपेक्ष एवं निःस्वार्थ होने के कारण सबको एक सूत्र में बांधे रखने की क्षमता जिसके अन्दर है, ऐसा समूह समाज-धारणा के लिए अपरिहार्य होता है ।"

एक अन्य प्रसंग में श्री गुरुजी ने कहा है, "सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्राचीन हिन्दू रचना में राज्यसत्ता एवं धनसत्ता दोनों शक्तियों की देखरेख ऐसे व्यक्ति किया करते थे जिनका अपना कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं होता था । सत्ता और धन के प्रलोभन से ऊपर उठकर आध्यात्मिक अधिकार का धर्मदंड धारण करते हुए सदा सतर्क रहने वाले और इन दोनों शक्तियों में से किसी भी एक द्वारा किए

गए अन्याय का निराकरण करने की क्षमता रखने वाले लोग और उनकी अखण्डता परम्परा ही हमारे प्राचीन राष्ट्र के वैभव एवं अमरता का प्राण रही है[३८] ।" यह ऋषि परंपरा भारत में अखण्ड चलती आयी है । पंडित दीनदयाल जी इसी वर्ग के थे और इसीलिए अत्यंत परिश्रमपूर्वक गहन मनन एवं चिन्तन करते हुए उन्होंने मानवता के रोगों का अचूक निदान उपरिनिर्दिष्ट रूप में किया था ।

उनकी श्रद्धा थी कि ऊपर दिए हुए सभी प्रश्नों के उत्तर खोजना अपना जीवनकार्य हैं । कारण वे मानते थे कि उपरिनिर्दिष्ट एवं तत्सम अन्य समस्याओं का निराकरण करना हिन्दू राष्ट्र का जीवनकार्य है । हिन्दू राष्ट्र का अपना एक जागतिक जीवन-लक्ष्य (मिशन) है । विनाश के कगार पर खड़े मानव-समाज को सुरक्षा एवं सुख-समृद्धि का मार्ग दिखाने का ऐतिहासिक दायित्व नियति ने हिन्दू राष्ट्र पर सौंपा है और उस दृष्टि से हिन्दू राष्ट्र के इस जागतिक लक्ष्य का स्वरूप स्वामी विवेकानंद, योगी अरविंद एवं श्री गुरुजी ने असंदिग्ध शब्दों में घोषित किया है । यही नहीं, भविष्य का वेध लेने वाले कुछ पश्चिमी विचारकों ने भी इस राष्ट्र के जीवनकार्य के बारे में अपनी कल्पनाएं एवं अपेक्षाएं लगभग इन्हीं शब्दों में प्रकट की हैं । इन सबके प्रतिनिधिस्वरूप सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता अर्नाल्ड टायनबी के विचार संक्षेप में उद्धृत करना उद्बोधक होगा—

"यहां (भारत में) हमें ऐसी मानसिकता और चेतना दिखाई देती है कि जिसके आधार पर मानव जाति के लिए एक परिवार के नाते अपना विकास करना संभव होगा । आज के अणु-युग में अपना सर्वनाश न करना हो, तो दूसरा कोई उपाय नहीं हैं ।"

"आज हम अभी भी मानव इतिहास के एक संक्रमण-युग में हैं किंतु इससे पहले ही यह स्पष्ट दिखाई देने लगा है कि मानव जाति को आत्मविनाशकारी अन्त से बचाना हो तो इस युग का अध्याय प्रारंभ भले ही पश्चिम से हुआ हो, उसकी समाप्ति भारत से ही होनी होगी । आज के युग में पश्चिमी तंत्र-विज्ञान ने विश्व को भौतिक स्तर पर एकत्र किया है । इस पश्चिमी तंत्र ने न केवल 'दूरी' नाम की वस्तु को समाप्त किया है, अपितु विश्व के देशों को एक-दूसरे के अत्यन्त निकट खड़ा करके विध्वंसक शस्त्रों से उनको सुसज्जित भी किया है । एक-दूसरे को जानने और एक-दूसरे से प्रेम करने का तंत्र उन्होंने आज भी नहीं सीखा है ।मानव इतिहास के इस अत्यंत संकट के क्षण में मानवता को बचाना हो तो केवल भारतीय मार्ग से ही वैसा किया जा सकता है ।"

"मुझे तीन बातों की ओर ध्यान दिलाना है_ पहली बात यह कि भारत का स्थान विश्व में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और वह सदैव वैसा ही रहता आया है । बिल्कुल प्रारंभ में, जब संस्कृति का प्रचार अपने मूल स्थान से, जहां आज का इराक है, पूर्व और पश्चिम की ओर होना प्रारंभ हुआ, तभी से भारत का स्थान महत्त्वपूर्ण रहता आया है । मेरा दूसरा कथन यह है कि भारत आज के विश्व का सार-भूत स्वरूप ही है । संपूर्ण विश्व को त्रस्त करने वाले अनेक प्रमुख प्रश्न आज भारत में विशेष रूप से सामने आए हैं और उनका समाधान भारतीयों के राष्ट्रीय प्रश्न के नाते करने के प्रयास हो रहे हैं । भारत की जनता

और सरकार यह प्रयास कर रही है । तीसरी बात, भारत में जीवन की ओर देखने की एक दृष्टि है और मानव के व्यवहारों को निभाने की एक ऐसी भूमिका भी है जो केवल भारत में ही नहीं, संपूर्ण विश्व में आज की परिस्थिति में अत्यंत उपकारक सिद्ध होगी ।"

"इस अति सुन्दर और इसीलिए अत्यंत कष्ट-साध्य आदर्श के अनुसार, जो आपकी भारतीय परंपरा का रिक्थ (विरासत) है, अपना जीवन बनाने में भारत यदि कहीं असफल हो जाता है तो संपूर्ण मानव जाति के भावी कल्याण में बाधा उपस्थित होगी । भारत पर इतना महान आध्यात्मिक दायित्व है ।"

नियति द्वारा सौंपा गया यह ऐतिहासिक एवं जागतिक दायित्व निभाने की क्षमता अपने हिन्दू राष्ट्र में निर्मित हो, इसके लिए पंडित जी ने निरतंर प्रयास किया था । उनके बहुआयामी कार्य का वही लक्ष्य था । इसी उद्देश्य से राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय जीवन के विविध क्षेत्रों में मौलिक विचारों का विकास करते रहने का प्रयास उन्होंने किया । इस कार्य का सूत्र पंडित जी ने जहां नीचे रखा, वहीं से उसे उठाकर आगे बढ़ाना, उन्हें सच्ची श्रद्धांजलि होगी । इस दृष्टि से प्रयत्नशील होने की प्रेरणा इस 'विचारदर्शन' के द्वारा कुछ विचारकों को मिली तो इसके लेखकों के परिश्रम सार्थक माने जाएंगे ।

परिशिष्ट

१. जनसंघ की स्थापना से पूर्व के इस कालखण्ड में पंडित जी द्वारा लिखे गए लेखों से उनकी विश्लेषक दूरदर्शिता कैसे स्पष्ट होती है, इसके लिए निम्न उदाहरण देखिए :

"कांग्रेस का यह संघर्ष भावी समाजवादी, साम्यवादी और राष्ट्रवादी संघर्ष को जन्म देगा । इनमें से कौन सा वर्ग कांग्रेस पर अधिकार करेगा, आज कहना कठिन है । यद्यपि दिखता यही है कि राष्ट्रवादी दल ही प्रभुत्व में रहेगा ।"

"यह कार्य कांग्रेस को भंग करके विचारधाराओं के आधार पर नवीन राजनीतिक दल का निर्माण करके किया जा सकता है अथवा एक विचारधारा का कांग्रेस पर प्रभुत्व स्थापित करके तथा दूसरी को बाहर निकाल कर कांग्रेस एवं कांग्रेस से इतर राजनीतिक दलों की स्थापना से हो सकता है । पहला मार्ग गांधी जी ने सुझाया था, किंतु कांग्रेसी नेताओं ने उसे स्वीकार नहीं किया । फलतः दूसरा मार्ग काम में लाया जा रहा है । प्रत्येक दल कांग्रेस की साख और उसके शासनरूढ़ होने का लाभ उठाने की दृष्टि से कांग्रेस पर अधिकार करने को व्यग्र है । इनमें से कोई भी दल कांग्रेस पर अधिकार करे, नीतियां स्पष्ट होने तक तो जनता को दो पाटों के बीच अवश्य पिसना पड़ेगा, जब तक कि वह दोनों को तिलांजलि देकर अपना अलग संगठन न कर ले ।"

—*राष्ट्रधर्म*, वर्ष-२, अंक-८, भाद्रपद पूर्णिमा २००७ (अगस्त, सन् १९५०)।

२. यहां यह उल्लेखनीय है कि संघ प्रारंभिक दो-सवा दो दशकों तक 'श्रुति अवस्था में' में था। कार्य-विस्तार के कारण आने वाली संगठित समाज-जीवन की 'स्मृति-अवस्था' की अपरिहार्यता तब तक उत्पन्न नहीं हुई थी। सम्भाव्य आवश्यकताओं का विचार कर मा. बाबासाहेब आपटे आदि वरिष्ठ लोगों ने संघ-क्षेत्र में ऐसी गुणवत्ता की खोज प्रारंभ कर दी थी और श्री भास्करराव निनावे, भिशीकर बंधु आदि लोगों को प्रोत्साहन देना भी प्रारंभ किया था। किंतु लेखकों एवं साहित्यकों का एक बड़ा गुट एकत्र कर उनके द्वारा संघ का प्रचार करने की कल्पना उस समय अनुचित लगती थी। ऐसी कोई योजना होती तो यह नहीं था कि उस पर आचरण करना कठिन होता। कारण, श्री केशवराव वकील जैसे लोगों द्वारा चलायी गयी 'आकांक्षा' नाम की हस्तलिखित पत्रिका के स्तंभों में लिखने वाले उदीयमान तथा (संघ-क्षेत्र के लेखकों की बात छोड़ भी दें, तब भी) प्रखर हिन्दुत्वनिष्ठ साहित्यकों का एक अच्छा बड़ा वर्ग उन दिनों विदर्भ में उपलब्ध था। 'वागीश्वरी' व 'सावधान' गुट के सर्वश्री वासुदेवराव फडणवीस, रा. बा. मावकर, शं. बा. शास्त्री, रा. वि. काली, तात्याजी कालीकर, (बालाजी हुद्दार) ज. के. (बुवा) उपाध्ये, श्री रा. बोबड़े आदि लोगों का इस वर्ग में समावेश था। (कुछ काल श्री पु. भा. भावे भी इस गुट में थे।) पू. डाक्टर जी के इन सबके साथ निकट संबंध भी थे। किंतु संगठन की दृष्टि से उन दिनों वैसी अवस्था नहीं आयी थी। यह एक संयोग ही कहा जाएगा कि पंडित जी के प्रचारक जीवन प्रारंभ करने के बाद कुछ ही दिनों में संघ ने इस 'स्मृति-अवस्था' में प्रवेश किया।

३. श्री सी. के. एन. राजा ने अपने 'एक्विटेड बाइ हिस्टरी' शीर्षक लेख में लिखा है—

"प्राचीन भारतीय न्यायशास्त्र के 'धर्म' शब्द को अंग्रेजी के 'लॉ' (विधि) शब्द का समानार्थी नहीं माना जा सकता। कारण, 'धर्म' शब्द को अधिक व्यापक आशय एवं व्यावहारिक अर्थ प्राप्त है। किंतु अंग्रेजी भाषा में दूसरा अचूक शब्द न होने के कारण 'धर्म' शब्द के अधिकतम निकट आने वाले शब्द के रूप में 'Law' (विधि या कानून) शब्द को स्वीकार किया जा सकता है।"

४. भारतीय पारंपरिक शब्दों के प्रयोग के बारे में पंडित जी विशेष आग्रह रखते थे। पंडित जी द्वारा प्रयुक्त कुछ परिभाषाओं एवं कल्पनाओं का अधिकृत स्पष्टीकरण 'दैनिक शास्त्र' ग्रंथ में पाया जाता है। 'चिति', 'विराट' आदि संज्ञाओं का विवरण उसमें मिलता है। 'अधिलवण अवधारणा' भी ऐसी ही एक परिवार-नियोजन विषयक (दैशिक शास्त्र की), पारिभाषिक संज्ञा है। 'अर्थायाम' भी दैशिक शास्त्र का ऐसा ही एक शब्द है। जिसमें संपत्ति का अभाव एवं प्रभाव दोनों न रहे, ऐसी अर्थव्यवस्था को उसमें 'अर्थायाम' कहा गया है। 'मातृदायिका' शब्द भी ऐसा ही है। गांव में ऐसी प्रथा थी कि घर-गृहस्थी वालों में उनके निर्वाह के योग्य अच्छी उपजाऊ भूमि बांट दी जाए; इस भूमि को पुरस्कार के रूप में किसी को देने, बन्धक रखने, उसके नीलाम करने या बेचने का अधिकार किसी को नहीं होता था; गृहस्थ की मृत्यु के बाद यह भूमि उसकी पत्नी को मिलती और पत्नी की मृत्यु के बाद फिर से सरकार को वापस कर दी जाती थी। इसमें उद्देश्य यह था कि फिर से गांव के किसी दूसरे परिवार को उसके निर्वाह के साधन के रूप में वह भूमि जोतने का अधिकार दिया जा सके। इस प्रथा को

'मातृदाय' प्रथा कहा जाता था। श्री बद्रीशाह ठुलधरिया इस ग्रंथ के लेखक हैं। इस ग्रंथ के बारे में लोकमान्य तिलक ने ग्रंथकर्ता को लिखा था कि "मैं आपके विचार से पूर्णतः सहमत हूं और मुझे हर्ष है कि आपने इतनी सशक्तता से उसे हिंदी में सबके सम्मुख रखा है।"

इस ग्रंथ का आगे चलकर उतना प्रचार नहीं हुआ जितना कि होना चाहिए था। उसका गुणग्रहण कई दशकों बाद पंडित जी द्वारा होना था।

'दैशिक शास्त्र' के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों से भी कुछ पारिभाषिक शब्द पंडित जी ने लिए थे और उनका प्रयोग वे अभ्यास-शिविरों में करते थे। उदाहरणार्थ, 'अदेयमातृका कृषि' तथा 'अपरमातृक उद्योग'। पहले शब्द का पारिभाषिक अर्थ है—ऐसी खेती, जो 'नहरों आदि सिंचाई व्यवस्था के कारण) वर्षा पर निर्भर नहीं। ऐसे उद्योगों को, जो उत्पादन-प्रक्रिया के लिए अन्य देशों पर निर्भर नहीं रहते, उपर्युक्त दूसरी संज्ञा प्राप्त थी। आधुनिक काल में भी उपर्युक्त होने वाले पुराने पारंपरिक शब्दों एवं संज्ञाओं को फिर से प्रचलित करने की ओर दीनदयाल जी का रुझान था।

५. इस संदर्भ में एक छोटी सी घटना उद्‌बोधक है। जनसंघ के कानपुर अधिवेशन के समय ३१ दिसम्बर, १९५२ को संघ-स्वयंसेवकों का एकत्रीकरण हुआ था और डा. मुखर्जी स्वयंसेवकों को सम्बोधित कर रहे थे। तभी वर्षा प्रारंभ हो गयी। एक स्वयंसेवक डा. मुखर्जी के ऊपर छतरी तानने के लिए आगे आया। छतरी लेना अस्वीकार करते हुए डा. मुखर्जी ने कहा, "मेरे सामने ये सैकड़ों स्वयंसेवक पानी में भीगते बैठे हैं। फिर मैं ही अकेला क्या इस वर्षा को सहन नहीं कर सकता? क्या आप लोग मुझे स्वयंसेवक नहीं मानते?"

६. श्री कुली ने इस विषय में अपना मत इन शब्दों में प्रकट किया है— "राज्य एक राजनीतिक निकाय या अपनी संयुक्त शक्ति के सहारे एक-दूसरे की सुरक्षा एवं सुख-सुविधाएं अर्जित करने के लिए एकत्रित मानवसमाज होता है। सर्वसामान्य बातचीत अथवा राष्ट्रों के विधानों में राष्ट्र और राज्य दोनों शब्द समान अर्थवाचक रूप में प्रयुक्त किए जाते हैं; किंतु राष्ट्र शब्द लोगों के साथ अधिक सटीक जुड़ा है। एक ही राज्य में अनेक राष्ट्र हो सकते हैं, अथवा एक ही राष्ट्र के लोगों का कभी-कभी अनेक राज्यों में विभाजन भी हो सकता है।"

ऐसे विश्लेषणात्मक विचारों के अभाव में भारत की स्थिति के बारे में न्यायमूर्ति राम जोइस के वक्तव्य को समझ पाना कठिन है। वे कहते हैं :

"राजधर्म के साथ समान विधानों की सत्ता चलती रहती है। इसलिए इस देश की सारी जनता ने अपना एक राष्ट्र बनाया। विभिन्न राज्यों अथवा शासकों की सत्ता में भिन्न-भिन्न स्वतंत्र राज्यों तथा प्रदेशों के रूप में देश का असंख्य राजनीतिक घटकों में विभाजन भी हो गया, तब भी एक राष्ट्रीयत्व में उससे बाधा नहीं आयी। अनेक सदियों के बीतते कई राज्यों का उदय और अस्त हुआ। अनेक भीषण विनाशकारी युद्ध हुए। फिर भी सारी जनता पीढ़ी-अनु-पीढ़ी एक ही विधि-प्रणाली के नीचे

एक राष्ट्र के नाते रखी गयी, यही भारतीय समाज और उसके नेतृत्व का अत्यंत लक्षणीय कर्तव्य था।

सारांश, राष्ट्र (Nation) तथा राज्य (State) दोनों संकल्पनाएं एक नहीं हैं। राज्य-संकल्पना के स्वरूप और उसकी परिभाषा के बारे में विचारकों में भी स्पष्टता एवं एकवाक्यता नहीं है, इसका बोध अनेक लोगों को नहीं रहता। उदाहरण के लिए कुछ व्याख्याएं देखें :

"राज्य कई व्यक्तियों का ऐसा समूह होता है जो एक सुनिश्चित भूभाग पर सदैव रहता है, बाह्य नियन्त्रणों से मुक्त रहता है, जिसकी एक सुसंगठित सरकार होती है और इस सरकार की आज्ञाओं का अधिसंख्य निवासी नित्य के जीवन में पालन करते हैं।"

(गार्नर)

" राज्य मनुष्य समाज का एक विशिष्ट भाग है जिसकी ओर एक सुसंगठित इकाई के नाते देखा जाता है।"

(बर्गेस)

"शासन एवं प्रजा के रूप में विभाजन करके एक ही प्रदेश में रहने वाला समाज। इस विशिष्ट भूभाग में अन्य संस्थाओं की अपेक्षा इस समाज का अधिक प्रभुत्व रहता है।"

(लास्की)

"जहां भी किसी मानव-समुदाय में एक ऐसी सर्वोच्च सत्ता पायी जाए जो व्यक्ति एवं व्यक्ति-समूहों की सामाजिक गतिविधियों का नियंत्रण करती है, किंतु स्वयं उस नियंत्रण में बद्ध नहीं होती, वहां एक राज्य है, कहा जाएगा।"

(विलोबी)

"इन दिनों सामान्यतः जिस अर्थ में 'राज्य' शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसमें से निम्न आशय व्यक्त होते हैं— १. इस प्रकार निर्दिष्ट मानव-समूह संगठित होता है। अन्य प्रकार से न सही, कम से कम एक समान शासन की आज्ञाओं का नित्य पालन करने की मान्यता और शासक एवं शासितों में स्थापित संबंधों के स्थायित्व के कारण उनका नियमबद्ध समूहजीवन होता है। इस समूहजीवन में उसके सदस्यों के जीवन से भिन्नता पायी जा सकती है। २. वहां की सरकार का अधिकार विशिष्ट भूभाग पर चलता है। ३. उस समूह की सदस्य-संख्या उपेक्षणीय नहीं होती। वह कितनी हो, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

(सिजविक)

"राज्य विशिष्ट भूभाग पर रहने वाले बहुत से लोगों का एक समूह होता है; ऐसा समूह, जिसमें बहुमत की इच्छा या उसमें स्पष्टता से दर्शाये जा सकने वाले विशिष्ट वर्ग के लोगों की इच्छा उस बहुमत या वर्ग के बल पर विरोधी मत के लोगों पर भी लागू की जाती है।"

(हालैंड)

"राज्य का अर्थ है मनुष्यों का एक सुनिश्चित भूप्रदेश पर शासक एवं शासित के रूप में मिलकर

रहना या साहचर्य रखना जिसमें उनका यह संयुक्त जीवन एक नैतिक, सुसंगठित, पुरुष-समान व्यक्तित्व में बंध जाता है या संक्षेप में कहा जाए तो राज्य का अर्थ है विशिष्ट देश का राजनीतिक दृष्टि से संगठित राष्ट्रीय व्यक्तित्व।"

(ब्लंटश्ली)

७. हमारे यहां के सर्वश्री पुरुषोत्तमदास टंडन, डा. मुखर्जी, डा. अम्बेडकर, लालबहादुर शास्त्री, रफी अहमद किदवई, डा. संपूर्णानंद, डा. सी. डी. देशमुख की भांति पश्चिम में भी अपवाद के रूप में ऐसे कुछ राजर्षि हो गए हैं। उदाहरण के लिए आस्ट्रिया के जोसेफ द्वितीय तथा प्रशिया के फ्रेडरिक द्वितीय। उसी प्रकार निम्न उल्लेख देखें—

सन् १७८९ में जार्ज वाशिंगटन ने अमरीका का राष्ट्रपति चुने जाने के बाद अपने एक मित्र से कहा, "सत्ता की कुर्सी की ओर मैं तो उसी भावना से जा रहा हूं जैसे कि कोई अपराधी मृत्युदंड के स्थान की ओर जाता है।"

इतिहासाचार्य राजवाड़े कहते हैं, "भारत में सैकड़ों रामदास निर्मित हुए होते तो अखिल भारतीय राष्ट्रनिष्ठा यहां उदित होकर पुष्ट हो जाती।"

८. श्री पु. ग. सहस्त्रबुद्ध अपने 'इहवादी शासन' ग्रंथ में कहते हैं, "किंतु यूरोप में मार्सिग्लिओ, वायक्लिफ, इरॅस्मस, लूथर आदि ने इहवाद का जो तत्त्वज्ञान सिद्ध किया, वैसा भारत में किसी ने किया नहीं... उस नये आचार के समर्थन में किसी ने कोई ग्रंथ-लेखन किया नहीं।"

यूरोप में इहवाद के उदय का इतिहास बिलियन एडवर्ड लेकी नामक आयरिश ग्रंथकार ने अपने 'द राइज एंड इन्फ्लुएन्स ऑफ रेशनलिज्म इन यूरोप' ग्रंथ में दिया है।

९. सामान्यतः यह धारणा पायी जाती है कि तथाकथित समृद्ध पश्चिमी देशों में सेक्यूलरिज्म पूर्णरूपेण चल रहा है। किंतु यह सच नहीं है। एक विद्वान सोवियत लेखक ए. बारमिनकोव अपने 'फ्रीडम कॉन्शिएन्स इन द यूएसएसआर' नामक ग्रंथ के पांचवें अध्याय में लिखते हैं, "अन्तरात्मा की स्वतंत्रता तथा राज्य से चर्च को और चर्च से शिक्षा-प्रणाली को सिद्धांततः पृथक करने की घोषणा करके भी बुर्जुआ प्रत्यक्ष में कभी वैसा करता नहीं। सत्ता हस्तगत करने के बाद उन्होंने नास्तिक लोगों के विरुद्ध लड़ाई में चर्च का समर्थन किया। आज भी कई पूंजीवादी देशों में नास्तिकता से धर्म-संप्रदाय का बचाव करने के लिए चर्च को शासन से पृथक कर एक कवच के रूप में उसका उपयोग किया जाता है। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों नास्तिकता बढ़ रही है और विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय अपना-अपना बेसुरा राग अलापते जा रहे हैं, त्यों-त्यों शोषक वर्ग को समझौतों के रूप में सुविधाएं प्राप्त करा देने के लिए चर्च का उपयोग किया जा रहा है। कई पूंजीवादी देशों में चर्च राज्यतंत्र का सच्चा और कितने ही प्रसंगों में संवैधानिक अंग बन गया है। राज्य चर्च को आर्थिक सहायता देते हैं और चर्च का प्रयोग वर्गहित के लिए कर लेते हैं।

"अधिकांश पूंजीवादी देशों के संविधानों में अन्य उपासना-पद्धतियों पर प्रतिबंध लगाकर एक विशिष्ट-उपासना-पद्धति का ही लाभ करा देने की व्यवस्था की गयी है। उदाहरण के लिए एवेंजेलिकल ल्यूथरन चर्च डेनमार्क, नार्वे तथा स्वीडन में सरकारी-उपासना-पद्धति है। ग्रीस की सरकार ईस्टर्न ऑर्थोडॉक्स चर्च का समर्थन करती है, तो ब्रिटेन में चर्च ऑफ इंग्लैंड का प्रभुत्व है। स्पेन में रोमन कैथोलिक प्रस्थापित चर्च है। किसी भी एक पंथ को सरकारी स्तर देने से अन्य पंथ एवं धर्म-सम्प्रदाय स्वाभाविक रीति से द्वितीय श्रेणी के हो जाते हैं। मध्य-पूर्व और दक्षिण-पूर्व एशिया और अफ्रीका के सत्रह देशों में इस्लाम को 'कानून' द्वारा विशेष श्रेणी प्रदान की गयी है। चौदह यूरोपीय तथा लैटिन अमरीकी देशों में चर्च को लाभ पहुंचाने के लिए पूरा प्रबंध किया गया है। विशिष्ट मान्यता प्राप्त चर्च का सदस्य बाईस राज्यों में राज्यप्रमुख बन सकता है। अर्जेण्टीना, लाइबेरिया तथा ईरान में भी सरकारी कर्मचारियों के लिए ऐसी ही पात्रता आवश्यक कर दी गई है। फिर अन्तरात्मा की स्वतंत्रता का क्या अर्थ रह जाता है? उत्तर आयरलैंड के कैथोलिक लोगों पर राजनीतिक उद्देश्य के लिए ब्रिटेन में सत्तारूढ़ दल के समर्थन से प्रोटेस्टेंट उग्रवादी आक्रमण करते रहते हैं। उसी प्रकार कैथोलिक स्पेन में प्रोटेस्टेंट लोगों को बर्बरता से यंत्रणाएं दी जाती थीं। उन्हें किसी भी सरकारी विभाग में नौकरी नहीं मिलती थी और पाठशालाओं में पढ़ने की अनुमति नहीं होती थी। उसी प्रकार सेवाओं में भी उन्हें अधिकार के पद पर पदोन्नति नहीं दी जाती थी।"

"यद्यपि अमरीका में आत्मा की स्वतंत्रता और चर्च को राज्य से अलग करने की औपचारिक घोषणा की गयी है, फिर भी अधिकांश सरकारी संस्थाओं में आज भी धार्मिक परिपाटियों के अनुसार समारोह संपन्न होते हैं। अमरीकी प्रतिनिधि-सभा (कांग्रेस) का सत्र ईसाई प्रार्थना कहने के बाद प्रारंभ होता है। केवल शासन के अधिकारी ही नहीं, अपितु राष्ट्रपति भी अपने पद की शपथ ग्रहण करता है तो उसे भी धार्मिक शपथ लेनी पड़ती है। बयालीस देशों के संविधान की प्रस्तावनाओं में ईश्वर से प्रार्थना की गयी है। कई देशों में न्यायाधीश नास्तिक साक्षी (गवाह) के साक्ष्य को स्वीकार नहीं करते। नास्तिकों को सरकारी सेवाओं में भर्ती नहीं किया जाता। डेलावारे राज्य के संविधान के अनुसार सभी नागरिकों के लिए सार्वजनिक प्रार्थना में उपस्थित रहना अनिवार्य है। आत्मा की स्वतंत्रता पूंजीवादी देशों में आज भी केवल पूजा या उपासना-पद्धति को स्वीकार करने की स्वतंत्रता मानी जाती है। किंतु कई अन्य देशों में वह भी नहीं है।"

"नार्वे के संविधान में किए गए प्रावधान के अनुसार सभी नागरिकों को चाहिए कि वे अपने बच्चों को प्रस्थापित एवेंजेलिकल ल्यूथरन चर्च की भावना के अनुसार ही शिक्षित करें। पश्चिम जर्मनी में चर्च कई शिक्षण-संस्थाओं एवं पाठशालाओं का चालक भी है। ग्रीस के विधान के अनुसार माध्यमिक एवं प्राथमिक शालाओं में शिक्षा 'ग्रीक-क्रिश्चियन संस्कृति के वैचारिक आदर्शों' सहित राष्ट्रीय अस्मिता के अनुरूप ही होनी चाहिए। धार्मिक शिक्षा के लिए इस्त्राइल में एक राज्य-परिषद् है और यहूदी मत को शासकीय उपासना-पद्धति की मान्यता दी गयी है।"

यहां अलग से कहने की आवश्यकता नहीं कि कम्युनिज्म में 'रिलीजन' (मजहब) के सभी लक्षण उपस्थित हैं। मार्क्स उनका मुहम्मद, दास कैपिटल उनका कुरान, कम्युनिज्म का उच्चतम चरण उनका सातवां स्वर्ग तथा द्वन्द्ववाद (डायलेक्टिसिज्म) उनका अल्लाह है। इसीलिए विविध दर्शनों के विद्वान अध्येता डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने यह निष्कर्ष निकाला है कि कम्युनिज्म एक 'रिलीजन' है।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि १९९४ में स्टालिन ने मास्को चर्च का पुनरुज्जीवन किया था और एलास्की नामक धर्माचार्य की मास्को पीठ पर नियुक्ति की थी।

१०. अपने सुप्रसिद्ध उत्तरपाड़ा भाषण में श्री अरविंद कहते हैं, "आज मैं यह नहीं कहूंगा कि राष्ट्रीयता एक विश्वास है, एक धर्म है अथवा निष्ठा है। किंबहुना, मैं यह कह रहा हूं कि यह सनातन धर्म ही हमारे लिए राष्ट्रीयता है। हिन्दू राष्ट्र सनातन धर्म को लेकर ही निर्मित हुआ है, उसे लेकर ही आगे चला है और उसके साथ ही बढ़ रहा है। जब सनातन धर्म की हानि होती है, तब इस राष्ट्र की भी अवनति होती है; और सनातन धर्म का विनाश यदि संभव होता, तो सनातन धर्म के साथ ही इस राष्ट्र का भी विनाश हो गया होता। सनातन धर्म ही हमारी राष्ट्रीयता है।"

११. इस विषय में डा. मुखर्जी की अन्तरात्मा की तड़पन कैसी थी और उसके कारण वे हार्दिकता से कैसे बोलते थे, इसका यह नमूना देखें—

"यह प्रदेश (पाक-अधिकृत कश्मीर) हमें वापस मिलेगा, इसकी क्या संभावना है? संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयासों से वह हमें नहीं मिलेगा। शांतिपूर्ण मार्ग से अर्थात् पाकिस्तान के साथ बातचीत चलाकर वह हमें प्राप्त नहीं होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि हम सामर्थ्य का उपयोग नहीं करते हैं, तो यह प्रदेश हमें सदा के लिए खो देना होगा। और प्रधानमंत्री तो शक्तिप्रयोग करना नहीं चाहते। तो आइए, हम वस्तुस्थिति का सीधा सामना करें— क्या हम इस प्रदेश को खोने के लिए तैयार हैं?"

१२. केवल नमूने के आधार पर एक छोटे राज्य का उदाहरण लें। राज्य-पुनर्गठन से पूर्व उसे मध्यभारत कहा जाता था। तब से उसमें प्रमुख रूप से काम करने वाले कुछ कार्यकर्ता आज भी सक्रिय राजनीति में प्रसिद्धि के प्रकाश में हैं। उनका अलग से नाम-निर्देश न करें तो भी चल सकता है। इनमें से कुछ लोग इससे पहले ही दिवंगत हो गए हैं। श्री मोरेश्वर गद्रे (इंदौर), श्री राजाभाऊ महाकाल (उज्जैन), श्री हरिसिंह पवार (बदनावर), श्री शास्त्री (ग्वालियर), श्री ठाकुरदास जेठवाणी (उज्जैन), श्री गजा महाराजा (मंदसौर), श्री भैयासाहेब बड़े (सेन्धवा), श्री प्रेमचंद श्री जैन (खण्डवा), श्री हजारीलाल जी (शाजापुर) आदि कार्यकर्ता कालवश हो गए हैं। इनके अतिरिक्त मा.दादासाहेब दवे, मा. मनोहरराव मोघे, श्री माणिकचंद वाजपेयी (भिंड), श्रीमती राधाबाई नीमा (इंदौर), श्री नत्थूलाल जी मंत्री (गुना), श्री मदनलाल पांडे (शाजापुर) तथा श्री गोविंदराव दलवी 'मास्टर' (ग्वालियर) आदि अन्य क्षेत्र में सक्रिय कार्यकर्ता भी उन दिनों मध्यभारत जनसंघ के प्रवीण (मास्टर-माइंड) समूह में थे। पंडित जी के मार्गदर्शन में श्री कुशाभाऊ ठाकरे ने निरंतर अथक परिश्रम कर यह समूह तैयार किया था। इस छोटे

से राज्य के कार्यदल का विवरण केवल उदाहरण के लिए दिया है। यही प्रक्रिया सभी राज्यों में अन्य सभी स्तरों पर चलती रहे, इस दृष्टि से पंडित जी अखण्ड प्रयास करते थे।

१३. प्रजा परिषद् की स्थापना से पूर्व कश्मीर में 'कान्फ्रेंस' थी। किंतु जम्मू में विभिन्न जाति-समुदायों की संभाएं काम करती थीं। कहने को तो 'हिन्दूराज्य सभा' कुछ काल चली, किंतु आगे चलकर उसके सभी पदाधिकारी 'नेशनल कान्फ्रेंस' में सम्मिलत हो गए। परिस्थिति जैसे-जैसे विकट होती गयी, जम्मू के नागरिकों में नव-चेतना का निर्माण होने लगा। मा. माधवराव मुले, बलराज मधोक, डा. ओमप्रकाश मैगी, जगदीश अब्रोल, डा. सूरजप्रकाश, श्यामलाल शर्मा, दुर्गादास वर्मा, राधाकृष्म शर्मा आदि लोग पंडित प्रेमनाथ डोगरा के निवास पर बार-बार एकत्रित हो, नयी संस्था की स्थापना के बारे में चर्चा करने लगे थे। आगे चलकर जम्मू के गणमान्य नागरिकों की एक सभा ब्राह्मण सभा में बुलायी गयी और उसमें 'प्रजा परिषद्' की स्थापना की घोषणा की गयी। इस सभा में भाग लेने वाले प्रमुख लोग थे : सर्वश्री परशुराम नागर, रायजादा अमरचंद, गोपाल दत्त मैगी, देवेन्द्र शास्त्री, प्रा. रामकृष्ण, कविराज विष्णुगुप्त, चतरराम डोगरा, श्रीनिवास मंगोत्रा, हंसराज पंडोत्रा, वजीर हरिलाल, शिवनाथ नंदा आदि। प्रजा परिषद् के प्रथम अध्यक्ष वजीर हरिलाल एवं मंत्री हंसराज पंडोत्रा चुने गए।

१९४६ के बाद कालेज के पहले राष्ट्रीय उत्सव में नेशनल कान्फ्रेंस ने तिरंगे के स्थान पर अपना हल वाला झण्डा फहराया। इसके विरुद्ध छात्रों ने प्रदर्शन किए। उनकी धरपकड़ हुई। छात्रों ने आमरण अनशन किए। ३५ दिवस के अन्न-सत्याग्रह के बाद उन्हें मुक्त किया गया। यह दीर्घ उपोषण करने वाले छात्र थे : सर्वश्री चमनलाल गुप्त, तिलकराज शर्मा, वेदप्रकाश चौहान, वेदमित्र, हरदेव, विश्वपाल, रामस्वरूप चौधरी, कैप्टेन रामस्वरूप, सत्यपाल गुलाटी, पवनसिंह, ओमप्रकाश गुप्त, यशपाल पुरी, द्वारिकानाथ गुप्त तथा घनश्याम।

छात्रों के इस आंदोलन के बाद पं. प्रेमनाथ डोगरा, धनंतर सिंह संलाथिया, कविराज विष्णुगुप्त, श्यामलाल शर्मा, शिवराम गुप्त और शिवनाथ नंदा-इन प्रजा परिषद् के नेताओं को बन्दी बना लिया गया। इसके प्रत्युत्तर में सत्याग्रह आंदोलन प्रारम्भ किया गया। सत्याग्रह का संचालन श्री रूपचन्द नंदा और श्री दुर्गादास वर्मा ने किया। यह सत्याग्रह १० महीने चला। सत्याग्रह के दौरान जम्मू की महिलाओं का एक शिष्टमंडल दिल्ली आया। उनमें प्राध्यापिका शक्ति शर्मा एवं श्रीमती सुशीला मैगी प्रमुख थीं। शिष्टमंडल ने सत्ताधारी एवं विरोधी दलों के नेताओं से भेंट की। उसके बाद पंडित नेहरू ने बख्शी गुलाम मुहम्मद को एक पत्र भेजा। परिणामस्वरूप प्रजा परिषद् का सत्याग्रह समाप्त हो गया और प्रजा परिषद् के सभी बन्दी लोगों को मुक्त कर दिया गया।

इसके बाद डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में हुए रोमांचकारी संघर्ष की बात सर्वविदित है। इस सत्याग्रह में सुन्दरवनी के तीन तथा ज्योड़िया के सात सत्याग्राही बलिदान हुए। उन्होंने अपने आत्म-बलिदान से अपने जन्म-स्थान को भी मान प्रतिष्ठा प्राप्त करा दी। इनके अतिरिक्त छंब के

मेलाराम,हीरानगर के भीखमसिंह और बिहारी लाल,रामवन के शिवाराम,देवीशरण तथा भगवानदास भी हुतात्म हो गए। ये सभी सोलह वीर सरकार की गोलियों के शिकार हुए। प्रजा परिषद् के इन सोलह आत्म-बलिदानियों के नाम भारत के अखण्डता-संग्राम के इतिहास में सुनहरे अक्षरों में लिखे जाएंगे।

स्वतंत्रता के बाद भारत की अखण्डता को बनाए रखने के लिए प्रजा परिषद् द्वारा किए गए इस संग्राम का संपूर्ण इतिहास अभी प्रकाश में नहीं आया है। प्रो. बलराज मधोक के लेखों में इसके बारे में कुछ उल्लेख हैं,किन्तु संपूर्ण इतिहास का लिखा जाना आवश्यक है।

१४. इस भाषण का प्रतिवेदन दीनदयाल शोध संस्थान की त्रैमासिक पत्रिका *'मंथन'* के मार्च, १९८० के अंक में छपा है। उदाहरण के लिए उसका कुछ भाग यहां उद्धृत कर रहे हैं : "...महामंत्री के पद पर चुने जाने के लिए उनके द्वारा स्वयंसेवक और प्रचारक की भूमिका में प्रकट किए गए गुण एवं संस्कार कारण बने थे... संघ का उत्तम कार्यकर्ता बनने के लिए लोग-संग्रह के गुणों की सबसे अधिक आवश्यकता है... लोक-संग्रह का यह गुण अपने में लाने के लिए एक विशेष जीवनशैली की आवश्यकता है। 'जैसी कथनी वैसी करनी',ऐसा आचरण होना चाहिए। कथनी और करनी में जो तालमेल नहीं रख सकता,वह लोक-संग्रह नहीं कर सकता। लोगों को एकत्र करने के बाद उनके जीवन को एक विशिष्ट दिशा देनी होती है। राष्ट्र एवं समाज के लिए संपूर्ण समर्पण-भाव का गुण उन्हें अंतःकरण में उतारना होता है। यह सब प्रचारक के व्यक्तिगत जीवन एवं व्यवहार द्वारा ही हो सकता है। केवल भाषणबाजी एवं चालाकी करने से लोक-संग्रह नहीं हो सकता। उसके आधार पर मनुष्य-निर्माण नहीं किया जा सकता। ... यहां किसी को भी यह पूछने का मोह हो सकता है कि आज दीनदयाल जी जीवित होते तो उन्होंने क्या किया होता ? इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। शायद आज की राजनीतिक परिस्थिति में वे राजनीति से संन्यास ले लेते। सच देखा जाए तो उन्हें राजनीति से कभी हार्दिक प्रेम नहीं था। जनता पार्टी के निर्माण के बाद कुल रागरंग देखकर वे सत्ता के सभी स्थानों से दूर रहते। इतना ही नहीं,शायद वे जनता पार्टी से अलग हो जाते और फिर से अपने संघ कार्य में रम जाते। इतने पर भी उनके लिए राजनीतिक क्षेत्र में रहना यदि अपरिहार्य होता,तो उन्होंने 'दोहरी निष्ठा' का प्रश्न उपस्थित होते ही राजनीति को राम-राम किया होता और स्पष्ट घोषणा की होती,'मैं पहले संघ का स्वयंसेवक हूं और आज मैं जो कुछ भी हूं,संघ के कारण ही हूं।' किन्तु मान लीजिए,परिस्थिति के दबाव के कारण ऐसी स्थिति में भी राजनीति में काम करना उनके लिए अपरिहार्य हो जाता तो वे अपना समय दिल्ली में व्यर्थ नष्ट न करते। निरंतर भ्रमण करते रहते। देश के अपने असंख्य सहयोगियों से उन्होंने निरंतर संपर्क रखा होता और प्राप्त परिस्थिति एवं जनता की मनःस्थिति के बारे में अपने विचार एवं परिकल्पनाएं उन्हें सतत समझाकर बतायी होतीं। कार्यकर्ताओं एवं जनता के साथ उन्होंने प्रयत्नपूर्वक अखण्ड संपर्क रखा होता। आज चल रही राजनीति में वे भाग न लेते। प्रत्युत,धीरे-धीरे एक उत्तम दल की रचना करते। कारण,राजनीतिक दल को उन्होंने कभी सत्ता-प्राप्ति का साधन नहीं माना। अपने सिद्धांतों को तिलांजलि देकर सत्ता प्राप्त करना उन्हें स्वीकार नहीं था।

सत्ता से दूर रहकर तत्त्वाधिष्ठित एवं सुसंगठित दल वे खड़ा करते, चाहे वह दल प्रारम्भ में कितना भी छोटा क्यों न होता।"

"राष्ट्र का उत्थान करना हो तो ऐसे ही नए नेताओं की आवश्यकता है जो अपने नाम व ख्याति अथवा प्रसिद्धि की अथवा प्रधानमंत्रीपद की भी कोई परवाह नहीं करते।"

१५. उदाहरण के लिए पंडितजी की निम्न प्रतिक्रिया देखें :—

"अभी हाल ही में स्वतंत्र दल के महामंत्री ने हैदराबाद में यह घोषणा की है कि उनका दल जनसंघ से तब तक समझौता नहीं कर सकेगा जब तक जनसंघ पाकिस्तान और कश्मीर के संबंध में अपनी नीति में परिवर्तन न करे। मैं मसानी को धन्यवाद देता हूं कि उन्होंने अपना मन्तव्य इतने स्पष्ट रूप से प्रकट किया। उनकी इस घोषणा ने हमें चुनाव संबंधी उस समझौते के बंधन से मुक्त कर दिया जो स्वतंत्र दल के नेताओं की पाक और कश्मीर संबंधी वर्तमान नीति के कारण, हमारे लिए पर्याप्त परेशानी का कारण बन गया था।"

... यह स्वाभाविक है कि जनसंघ किसी भी दल से, जो देश के किसी भू-भाग को आक्रमणकारी के हाथ सौंपने का विचार रखता है, कोई समझौता न करे। ... अच्छाई-बुराई के संबंध में हमें श्री मसानी के उपदेशों की आवश्यकता नहीं है। देश की एकता और अखण्डता का प्रश्न श्रद्धा का विषय है और उसकी प्राप्ति के लिए हम कोई भी कसर उठा नहीं रखेंगे।" (*पाञ्चजन्य* २७ जुलाई, १९६४, पृष्ठ-१०)।

१६. डा. अम्बेडकर की भूमिका यह थी:—

"अब ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि यह देश जाति और सम्प्रदायों के कारण विघटित हो गया है और अल्पसंख्यकों के संरक्षण के लिए संविधान में उचित प्रावधान किए बिना वह संगठित एवं स्वशासित समाज नहीं बन सकेगा। किन्तु अल्पसंख्यकों को भी यह बात ध्यान में रखनी होगी कि आज हम अनेक पंथों में क्यों न बंटे हों और जाति के कारण हमारे छोटे-छोटे टुकड़े क्यों न हुए हों, हमारा उद्देश्य भारत की एकता ही है। अल्पसंख्यकों को ऐसी कोई मांग स्वेच्छा या अनिच्छा से नहीं करनी चाहिए जिससे इस उद्देश्य को हानि पहुंचे।"

१७. ६ दिसम्बर, १९५६ को बाबासाहेब के महानिर्वाण के बाद 'अ. भा. शेड्यूल्ड कास्ट्स फेडरेशन' की राष्ट्रीय कार्यसमिति की बैठक ३१ दिसम्बर, १९५६ तथा १ जनवरी, १९५७ को नगर में हुई। उसमें बैरिस्टर राजाभाऊ खोब्रागड़े को अध्यक्ष चुना गया और सर्वोच्च केन्द्रीय मंडल की स्थापना की गई। इस अध्यक्ष-मंडल में सर्वश्री बैरिस्टर राजाभाऊ खोब्रारगड़े, दादासाहेब गायकवाड़, जी. टी. परमार, एम. रत्नम, आर. डी. भण्डारे, के. बी. तलटवटकर तथा बी. सी. कांबले आदि थे। उसके बाद ३ तथा ४ अक्तूबर १९५७ को नागपुर में आमंत्रित विशेष अधिवेशन में अस्थायी कार्यसमिति

की घोषणा की गयी और उसकी अवधि ३ अक्तूबर,१९५८ तक घोषित की गयी। बैरिस्टर खोब्रागड़े ने यह अवधि ३ मार्च १९५९ तक बढ़ाने की घोषणा की। यह बात उस दल के कुछ वरिष्ठ नेताओं को भायी नहीं। बाबू हरिदास आवले, एन. एम. कांबले, श्री दादासाहेब रूपवते तथा बी. सी. कांबले ने यह भूमिका ली कि ३ अक्तूबर,१९५८ के बाद अब दल का कोई पदाधिकारी नहीं है और बैरिस्टर खोब्रागड़े द्वारा २७ अक्तूबर,१९५८ को आमंत्रित महापरिषद् की बैठक अवैधानिक है। यह तांत्रिक विवाद दल के विघटन का कारण बना। किंतु वस्तुतः व्यक्तिवाद एवं जाति-उपजातिवाद के आधार पर दल में विभिन्न गुट तैयार होना कभी का प्रारंभ हो चुका था। यह गुटबाजी बढ़ते-बढ़ते 'रिपब्लिकन पार्टी' लगभग १३ गुटों में विभक्त हो गयी। हर गुट अपनी अलग-अलग नीति निश्चित करता रहा और सबकी मिलकर दलित लोगों की मांगों के लिए संघर्ष करने की प्रवृत्ति कम होने लगी। इस सब का परिणाम यह हुआ कि 'शे.का.फेडरेशन', 'रिपब्लिकन पार्टी' तथा नीले झण्डे के प्रति सबके मन में प्रेम होते हुए भी नेतृत्व के बारे में पहले जैसी श्रद्धा नहीं रही। वह टूट गयी और उसी में से 'दलित पैंथर' जैसे उग्रवादी आंदोलन की भूमिका तैयार हुई। इस सबके होते हुए भी नामदेव ढसाल, राजा ढाले आदि लोगों के नेतृत्व में 'दलित पैंथर' का प्रत्यक्ष उदय पंडित जी के जीवित रहते तक नहीं हुआ था। अतः 'दलित पैंथर' के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई संवेदनशील परिस्थिति में हिन्दुत्वनिष्ठ लोगों को कौन सी पद्धति से काम करना चाहिए यह बताने की आवश्यकता पंडित जी के सामने नहीं आयी।

दलित पैंथर की स्थापना की घोषणा ९ जुलाई,१९७२ को सिद्धार्थ नगर, बापटी रोड, बम्बई में एक बैठक में सर्वश्री नामदेव ढसाल, राजा ढाले, लतीफ खटिक, न. वि. पवार, अविनाश महातेकर, भाई श्रंगारे आदि लोगों की उपस्थिति में हुई।

सन् १९७२-७३ के लगभग कर्नाटक में सर्वश्री वसवलिंगप्पा, वी. टी. राजशेखर, शेट्टी, कृष्णस्वामी, सिद्धलिंगप्पा, डा. डी. आर. नागराज आदि ने इस प्रकार का आंदोलन प्रारम्भ किया और उसके अन्तर्गत 'सर्वण'-विरोधी उत्तेजक तथा भड़काने वाला प्रचार भी प्रारम्भ हुआ।

राजा ढाले से लेकर राजशेखर शेट्टी और 'दलित-मुस्लिम सुरक्षा महासंघ' के नेता हाजी मस्तान तक इस आंदोलन का प्रभाव बहुत द्रुत गति से हुआ।

किन्तु यह सारा घटनाक्रम सन् १९६८ के बाद का है। सन् १९५६ से १९६८ तक दलित-नेतृत्व के प्रभावशाली व्यक्तियों में सर्वश्री दादासाहेब गायकवाड़, दा.ता.रूपवते, रा.सु.गवई, वासुदेव गाणार, राजाभाऊ खोब्रागड़े, हरिदास आवले, ना.हु.कुंभारे, डी.ए.कट्टी, बी.सी.कांबले, घनश्याम तलवटकर, रा. धों. भण्डारे, एन. शिवराज, सखाराम मेश्राम, श्रीमती शांताबाई दाणी, ईश्वरीबाई आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। १९६८ के बाद के काल में इन लोगों का प्रभाव क्रमशः कम होने लगा और दलित-नेतृत्व के क्षितिज पर नए व्यक्ति उदय होने लगे।

१८.ठाणे में १९७३ में हुए श्री गुरुजी के भाषण में उनके विचारों की सर्वोच्च अभिव्यक्ति हुई है। इस भाषण में उन्होंने आर्थिक प्रश्नों की ओर देखने की मूलभूत हिन्दू दृष्टि विशद की है। उनके प्रतिपादन से स्वाभाविक रूप से जो निष्कर्ष निकलते हैं, निम्न प्रकार हैं :—

१. प्रत्येक नागरिक की जीवनविषयक प्राथमिक आवश्यकताओं को पूर्ण करना ही होगा।

२. समष्टि रूप में परमात्मा की उत्तम-से-उत्तम सेवा करते बने,इसके लिए भौतिक समृद्धि प्राप्त करनी होती है। सम्पत्ति का कम से कम अंश अपने लिए उपयोग में लाना होता है। यह अंश इतना ही हो कि जिसे लेने से इनकार करने पर सेवा करने की अपनी क्षमता ही खंडित हो जाएगी। उससे अधिक पर अधिकार बताना या व्यक्तिगत उपयोग के लिए उसको प्रयुक्त करना समाज के विरुद्ध चोरी करने जैसा अपराध है।

यावत् भ्रियते जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दंडमर्हति॥

३. इस प्रकार हम समाज के केवल न्यासी हैं। हम सच्चे न्यासी बनें, तभी समाज की उत्कृष्ट सेवा कर सकेंगे।

४. अतएव, व्यावहारिक सम्पत्ति जोड़ने की भी कुछ अधिकतम सीमा होनी चाहिए। व्यक्तिगत लाभ के लिए दूसरों के श्रम का गलत उपयोग करने का अधिकार किसी को नहीं।

५. लाखों लोग भूख से पीड़ित हों, तब अभद्र तड़क-भड़क और व्यर्थ करना पाप है। सभी भोगों पर न्यायोचित निर्बंध होने चाहिएं। 'उपभोक्तावाद' हिन्दू संस्कृति के आदर्श के अनुरूप नहीं है।

६. 'अधिक से अधिक उत्पादन और न्यायोचित वितरण' हमारा उद्देश्य होना चाहिए। राष्ट्रीय स्वावलंबन हमारा त्वरित लक्ष्य हो।

७. बेकारी एवं अर्ध-बेकारी की समस्याओं के विरुद्ध उपाय युद्धस्तर पर किए जाएं।

८. औद्योगीकरण अपरिहार्य हो, तब भी वह पश्चिमी लोगों का अंधानुकरण करते हुए करने की कोई आवश्यकता नहीं। प्रकृति का दोहन करना होता है,उस पर बलात्कार करना नहीं होता। पर्यावरण विषयक बातों, प्रकृति के संतुलन तथा भावी पीढ़ियों की आवश्यकताओं का आंकलन करना चाहिए। पर्यावरणशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र का समग्र विचार आवश्यक है, टुकड़ों में नहीं।

९. पूंजीप्रधान उद्योगों की अपेक्षा श्रमप्रधान उद्योगों पर अधिक बल दिया जाए।

१०. हमारे तंत्र-विशारदों को व्यावसायिक लोगों के लाभ के लिए परंपरागत प्रविधियों (टेक्नीक्स) में सहज संभव परिवर्तन करने चाहिएं। दृष्टि यह हो कि कामगारों में बेकारी बढ़ने का खतरा न रहे; उपलब्ध व्यवस्थापकीय एवं प्राविधिक (तांत्रिक) कौशल बेकार न जाए; आज के उत्पादन के साधन विपूंजीकृत होकर पूर्णतः निरुपयोगी न बनें; तंत्र-विशारद अपना स्वदेशी तंत्र ज्ञान विकसित करें; उसमें उत्पादन-प्रक्रिया के विकेंद्रीकरण पर बल दिया जाए; इसके लिए विद्युत की शक्ति की सहायता लेते हुए कारखानों के स्थान पर घर को ही उत्पादन का केन्द्र बनाने का प्रयत्न हो।

११. सेवायोजन (रोजगार) की वृद्धि के साथ ही कार्यक्षमता को भी बढ़ाना चाहिए।

१२. प्रत्येक उद्योग में श्रम भी पूंजी का एक प्रकार होता है। प्रत्येक कामगार के श्रम का मूल्य पूंजी के अंश (शेयर) के रूप में आंका जाना चाहिए और श्रम रूपी पूंजी लगाने वाले अंशधारकों की श्रेणी में कामगारों को रखा जाना चाहिए।

१३. उपभोक्ताओं का हित राष्ट्रीय हित का निकटतम आर्थिक समतुल्य है। सभी औद्योगिक संबंधों में समाज तीसरा और अधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष होता है। 'सामूहिक सौदेबाजी' की प्रचलित पश्चिमी कल्पना इस भूमिका के साथ सुसंगत नहीं है। उसके स्थान पर दूसरी कोई शब्द-योजना प्रयोग में लानी चाहिए। उदाहरण के लिए इसे 'राष्ट्रीय प्रतिबद्धता' कहा जा सकता है। कर्मचारी और नियोक्ता दोनों की राष्ट्र के प्रति कुछ वचनबद्धता इसमें से व्यक्त होगी।

१४. श्रम के अतिरिक्त मूल्य का स्वामी राष्ट्र है।

१५. औद्योगिक स्वामित्व के किसी सांचाबंद प्रकार से बंध जाना आवश्यक नहीं है। निजी उद्योग, राष्ट्रीयकरण, नगरीकरण, नगरपालिकाकरण, लोकतंत्रीकरण स्वयं-नियोजन (सेल्फ एम्प्लायमेंट), संयुक्त उद्योग आदि अनेक प्रकार हैं। प्रत्येक व्यावसायिक को अपने उद्योग की प्रकृति और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं को ध्यान में लेकर उसके स्वामित्व का प्रकार निर्धारित करना होगा।

१६. धर्म के मूलभूत सिद्धांतों से सुसंगत कोई भी आर्थिक-सामाजिक रचना का निर्माण करने की छूट हमें है।

१७. किन्तु प्रत्येक नागरिक की मनोरचना सुयोग्य ढंग से न की गई हो तो समाज की बाह्य रचना में ऊपरी परिवर्तन करने से कुछ होने वाला नहीं। किसी पद्धति पर चलने वाले लोग जैसे भले या बुरे होंगे वैसी ही वह पद्धति भली या बुरी बन जाएगी।

१८. हमारी धारणा सदैव यही रहती आयी है कि व्यक्ति और समाज के संबंध संघर्ष के न होकर सुसंवादी एवं सहयोग के हैं। एक ही सत् तत्त्व सभी व्यक्तियों में व्याप्त है। यह बोध इस धारणा का आधार है। प्रत्येक व्यक्ति समग्र सामाजिक व्यक्तित्व का एक सजीव अवयव होता है।

१९. संपूर्ण प्रकृति के साथ तादात्म्य के संस्कारों से किसी भी सामाजिक-आर्थिक रचना की सच्ची सामाजिक पूर्व-सिद्धता होती है।

ठाणे शिविर में श्री गुरुजी ने सामाजिक-आर्थिक पुनर्रचना के जिन आधारभूत सिद्धांतों की जानकारी दी, उनका एक बड़ी मात्रा में स्मरण कराने वाली रचना यूगोस्लाविया में पायी जाती है, यद्यपि दोनों में समानता आंशिक ही है। उस रचना का अधिकतम प्रमुख सूत्र यह है :—

"Self-Management is basically a unified process of the integration of workers, their labour and resources and the broadest possible basis for integrating all forms of human labour, all segments of soceity, for integrating the Yugoslav community on the basis of self-management and national and social equality." (यूगोस्लाव समुदाय को स्वप्रबन्धन और राष्ट्रीय एवं सामाजिक समानता के आधार पर समवेत करने के लिए सभी कर्मकारों, उनके श्रम और संसाधनों तथा मानव-श्रम के सभी रूपों को समवेत करने का व्यापकतम आधार और समाज के सभी खण्डों को समवेत करने की मूलतः एकीकृत प्रक्रिया स्वप्रबन्धन है।)

दीनदयाल जी के अनुयायी जब उनकी इस विषय की परिकल्पनाओं को प्रत्यक्ष में लाने का प्रयत्न करेंगे, तब एक आधारभूत प्रयोग के नाते यूगोस्लाविया का 'द एसोशिएटेड लेबर एक्ट' उनके लिए बहुत उपयोगी होगा।

१९. ऐसे मूलभूत दर्शन की प्राकृतिक अभिव्यक्ति क्रमशः कैसे होती है, इस विषय में श्री अरविंद ने जो विचार व्यक्त किए थे, एकात्म मानव दर्शन पर भी पूर्णतः लागू होते हैं :—

"इन व्यक्तिविशिष्ट कल्पनाओं की दिशा पहले तत्त्वज्ञान, मनोविज्ञान, चिंतन, कलाक्षेत्र, काव्य चित्र, शिल्प, संगीत, नीति विषयक प्रमुख कल्पना और व्यक्तिगत तत्त्वों को सामाजिक प्रश्नों पर लागू करने के हमारे विचारकों द्वारा किए गए प्रयत्नों में प्रकट होती है। और संभवतः — यह प्रयास कितना ही कठिन क्यों न हो — राजनीति एवं अर्थनीति में भी इसके प्रयोग किए जाते हैं। प्रयास इसलिए कठिन

होते हैं कि राजनीति एवं अर्थनीति शुद्ध उपयोगितावादी उपचारों के अतिरिक्त अन्य सभी बातों को ठुकराने वाले कठिन जड़ पदार्थों की भांति होती हैं ।"

२० . संविधान में इस अधिनियम से केवल निम्न विषयों के बारे में भिन्न भूमिका स्वीकार की गयी है—

प्रजातंत्रीय प्रणाली की सरकार ।

बाह्य नियंत्रणों से मुक्त संसद ।

सरकारी कार्यकारी अंग का विधानमंडल के प्रति पूर्णतः उत्तरदायी होना ।

राजा-महाराजाओं की रियासतों एवं राज्यों का एक ही संवैधानिक चौखट में समावेश और दोनों के लिए एक ही प्रकार के लोकतंत्रीय शासन को मान्यता ।

नागरिकता की व्याख्या ।

नागरिकों के मूलभूत अधिकारों का समावेश ।

सरकारी नीति के मार्गदर्शक तत्त्वों की घोषणा ।

पृथक निर्वाचन-क्षेत्रों का विसर्जन और सार्वजनिक वयस्क मतदान प्रणाली का अंगीकरण ।

शेष अधिकार संघीय शासन को सौंप देना ।

केन्द्रीय संसद को संविधान-संशोधन का अधिकार । कुछ विशिष्ट प्रावधानों के संदर्भ में संसद की सम्मति के अतिरिक्त देश की विधानसभाओं में से कम से कम आधी विधान सभाओं की स्वीकृति आवश्यक ।

२१ . इस संदर्भ में यह बात सर्वविदित है कि अपने देश में मैकाले की अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली का ध्येय "रक्त और वर्ण से भारतीय किन्तु अभिरुचि, विचार, भाषा एवं बुद्धि से अंग्रेज बने लोगों का एक वर्ग" तैयार करना था । उसने घमंड से कहा था कि "हमारी अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण करने वाला कोई भी हिन्दू कभी भी अपने धर्म के बारे में ममत्व की भावना नहीं रखेगा ।" ..... "भारत पर हमने विजय प्लासी की लड़ाई में प्राप्त नहीं की, अपितु जिस दिन मेरा भारतीय शिक्षा विधेयक पारित हो गया, उस दिन हमने भारत को जीत लिया ।"

स्वराज्य प्राप्ति के बाद इस प्रकार के प्रयासों का सिलसिला निर्बाध चलता रहा । उदाहरण के लिए

इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक पूरक कार्य विलेक्ष ऑडाल्फ, विसर्ट, हुफ्ट नामक डच ने सन् १९४८ में स्थापित 'वर्ल्ड कौंसिल ऑफ चर्चेज' में भी सर्वज्ञ चालू किया था।

२२. ज्ञातिराष्ट्रदिसंघानां साकल्यं चरितस्य यत्।
व्यक्तं संस्कृतिशब्देन भाषाशास्त्रात्कमकं ननु ॥

— ज्ञानकोषकार डॉ. श्री. व्यं. केतकर

"धर्म के नियमों के अनुसार जब प्रकृति का परिष्कार होता है, तो उसे संस्कृति कहा जाता है। यह संस्कृति निश्चय ही मानव जीवन की धारणा और उसके उदात्तीकरण में समर्थ होगी।"

—दीनदयाल उपाध्याय

"संस्कृति शब्द द्वारा समाज-मानस पर हुए परिणामों की मूल दिशा व्यक्त होती है। यह दिशा उसकी अपनी होती है और इतिहास के प्रवाह में राग, लोभ, भावना, विचार, उच्चार एवं कृति के संकलित परिणामों से वह निष्पन्न हुई होती है।"

—'भारतीय मजदूर संघ क्यों ?'

"लोग कभी-कभी पूछते हैं, 'हिन्दू संस्कृति की आपकी परिभाषा क्या है ?' उत्तर इतना ही है कि यद्यपि कोई परिभाषा नहीं की जा सकती, हम लोग उसे अनुभव करते हैं। संस्कृति की परिभाषा नहीं की जा सकती इसलिए उसे अस्वीकार करने वाले अनेक लोग हैं। वे कहते हैं, 'ऐसी बात का क्या उपयोग जिसकी परिभाषा करना ही संभव न हो।' किन्तु क्या यह युक्तिवाद तर्कसंगत है ? उदाहरणार्थ, प्राण बचाने के लिए सभी चिकित्सा-विज्ञानों का विकास हुआ है। किन्तु बिल्कुल आधुनिक शास्त्रों से भी 'प्राण' की परिभाषा करते नहीं बनी है। किन्तु चिकित्सा शास्त्र की उपादेयता में इसके कारण कोई बाधा नहीं आयी है। 'जीवन' का बाह्य आविष्कार एवं उसके मन पर होने वाले परिणाम उसके प्रत्यक्ष अस्तित्व का विश्वास दिलाने के लिए पर्याप्त हैं।" —श्री गुरुजी

"व्यक्तिगत वंशशास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर संस्कृति अथवा सभ्यता का अर्थ ज्ञान, श्रद्धा-विषय, कला, नैतिक कल्पना, परिपाटी (रीति-रिवाज), समाज के घटक के नाते प्राप्त की हुई पात्रता एवं आदतों का मिला-जुला समुच्चय होता है।"

— ई. बी. टेलर (एक ब्रिटिश वंशशास्त्रज्ञ)

संस्कृति इतिहास से निष्पन्न जीवन का एक प्रारूप है। विशिष्ट-जन-समूहों के सदस्य उसमें सहभागी होते हैं।" —क्लाइट क्लकहोहन (अमरीकन वंशशास्त्रज्ञ)

२३. उदाहरण के लिए, फ्रेंच राज्य-क्रांति से पूर्व चर्च के पदाधिकारियों की बड़ी-बड़ी रियासतें थीं। फ्रांस में डेढ़ लाख धर्माधिकारियों की व्यक्तिगत आय प्रतिवर्ष चार-से-पांच लाख तक हुआ करती थी। इसके अतिरिक्त भक्तजनों से लगभग इतनी ही राशि उन्हें मिलती थी। उनके मठ राजप्रासादों

की भांति सुखोपभोग के सभी साधनों से सज्जित होते थे। लोगों की आय का छठा भाग कर के रूप में चर्च वसूलता था। चर्च की वार्षिक आय लगभग १५ करोड़ की थी।

इस पृष्ठभूमि से मार्क्स की मनोवृत्ति समझी जा सकती है। किन्तु भारत की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न थी। यहां संगठित चर्च कभी नहीं था। व्यक्तिगत पुरोहित तो थे, किन्तु यूरोप की भांति यहां पुरोहितशाही कभी नहीं थी। इस तथ्य को ध्यान में न रखने के कारण पं. नेहरू जैसे नेता भी इसी समीकरण के प्रभाव में आ गए थे। फिर भी संतोष की बात यह है कि अपने जीवन की संध्या में पंडित नेहरू ने धर्म के बारे में पुनर्विचार करना प्रारंभ कर दिया था। उन्होंने प्रांजलता से कहा था कि,

"देश में भौतिक समृद्धि लाने के प्रयास में मानव-प्रकृति के आध्यात्मिक अंश की ओर हमने कतई ध्यान नहीं दिया। इसीलिए व्यक्ति और राष्ट्र के सामने जीवन का ऐसा लक्ष्य रखने के लिए, जिसके लिए जीना होता है और प्रसंग आने पर प्राण भी देने होते हैं, हमें जीवन के कुछ तत्त्वज्ञानों को फिर से स्वीकार करना होगा, अपने चिंतन को आध्यात्मिक अधिष्ठान देना होगा। हम कल्याणकारी राज्य, लोकतांत्रिक समाजवाद आदि के बारे में काफी बोलते हैं, किन्तु उसका स्पष्ट और असंदिग्ध बोध हमें नहीं होता। लोकतंत्र और समाजवाद एक विशेष लक्ष्य को प्राप्त करने के साधन हैं, वे जीवन के अंतिम लक्ष्य नहीं हैं।"

"अपनी समस्याओं के इस आर्थिक अंग का विचार करते समय हमें वेदों में वर्णित चेतनाशक्ति का आदर्श सम्मुख रखना होगा। सारे अस्तित्व का वही आंतरिक आधार होता है।"

नारमन कजिन्स के 'टाक्स विद नेहरू' में पंडित नेहरू ने कहा है, "हिन्दू तत्त्वज्ञान, धर्म और लोकतंत्र में विसंगत कुछ भी नहीं है। हिन्दू धर्म के उदर में एक तेजस्वी विश्ववाद है। हिन्दू धर्म किसी भी बदली हुई स्थिति के साथ तालमेल बिठा सकता है। विभिन्न एवं परस्पर विरोधी विचारों का समावेश कर सके, हिन्दू धर्म इतना विशाल है। भारत का धर्म ऐसे नए परिवर्तन करने में चूकेगा नहीं जिनसे सर्वसाधारण लोगों का कल्याण होता दिखाई देता हो। इससे पूर्व हिन्दू धर्म ने बड़े-बड़े स्थित्यंतरों को पचा लिया है।"

पंडित नेहरू के इस सांयकालीन में परिवर्तन की बात से किसी को माओ के चीन की विशुद्ध भौतिक संस्कृति से डेंग के चीन की आध्यात्मिक संस्कृति की ओर हो रहे सद्यःकालीन संक्रमण का स्मरण हो सकता है।

उदाहरणार्थ, श्री राय के ये विचार देखें—

१. "आज सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि नीति का सामाजिक तत्त्वज्ञान एवं राजनीतिक व्यवहार के साथ तालमेल बिठाया जाए। मनुष्य की सार्वभौमिकता उसके नैतिक अस्तित्व से ही निष्पन्न होती है।"

२. "...जब तक देश में बौद्धिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक वातावरण में परिवर्तन नहीं होता, तब तक देश की राजनीतिक एवं आर्थिक पुनर्रचना करना असंभव है।"

३. "... आध्यात्मिक दृष्टि से स्वतंत्र हुए नैतिक मानवों के सहकारितायुक्त प्रयत्नों ने एक राष्ट्रकुल एवं मुक्त मानव के बंधुत्वपूर्ण जीवन के रूप में विश्व की सामाजिक पुनर्रचना" करने का ध्येयस्वप्न श्री राय ने व्यक्त किया था।

२५. संघ को बदनाम करने के लिए उस पर 'फासिज्म' का निराधार आरोप लगाने वालों को श्री टी. वी. आर. शास्त्री द्वारा दिया गया उत्तर यहां देना अप्रासंगिक नहीं होगा।

"किसी सरकार या राज्य को 'फासिस्ट' कहा जा सकता है। किन्तु जिस संस्था में सम्मिलित होने के लिए किसी को विवश नहीं किया जा सकता, ऐसी अशासकीय संस्था को फासिस्ट कहा ही नहीं जा सकता।"

२६. यह सच है कि रूसी राज्य-क्रांति की सफलता की चकाचौंध के कारण सामान्य युवा मानस प्रभावित हो गया था। तथापि उस स्थिति में भी अपना मस्तिष्क शांत रखकर भविष्य का वेध लेने वाले श्रेष्ठ विचारक भारत में थे ही। उदाहरण के लिए, निम्न उद्‌गार देखें—

"जिस स्वरूप में बोल्शेविज्म आज पश्चिमी देशों में प्रसृत किया जा रहा है, उस स्वरूप में वह भारत में कदापि सफल नहीं होगा। हम अपने वेदांत से ही दृढ़तापूर्वक जुड़े रहें तो हमारी सारी इच्छाएं अवश्य पूर्ण होंगी।"

—लोकमान्य तिलक

"कम्युनिस्ट प्रकार के श्रमिक आंदोलनों का प्रारंभ भारत में भी हो गया तो भारत की राष्ट्रीय प्रतिभा एवं संस्कृति को अभिप्रेत सभी नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन-मूल्य विकृत हो जाएंगे।"

—विपिनचन्द्र पाल

"रूस की आत्मा को कार्ल मार्क्स के समाजवाद से मुक्त होने के लिए संघर्ष करना चाहिए।"

—चितरंजन दास

२७. "समाजवादियों की अनेक विफलताओं में केवल एक उदाहरण के नाते उद्‌धृत करना हो तो श्री लुई फिशर द्वारा लोकनायक जयप्रकाश जी के समक्ष व्यक्त निम्न अपेक्षा का उल्लेख किया जा सकता है—

"आपको यह बताने की आवश्यकता नहीं कि इन दिनों भारतीय समाज में जाति और धर्म के अनुसार खड़े संस्तर बन गए हैं। समाजवादियों को चाहिए कि इन संस्तरों को क्षैतिज (धरातल के समानान्तर) बनवाएं, उन्हें वर्ग एवं आर्थिक हित-संबंधों का स्वरूप दें। तभी धार्मिक भेदों पर दिया

जाने वाला बल समाप्त किया जा सकेगा और भारत की सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त होगा।'

इस पर कोई भी भाष्य करने की आवश्यकता नहीं।

२८. तथाकथित गांधीवादी भी गांधीजी को कितनी मात्रा में समझ सके हैं, यह प्रश्न ही है। इस दृष्टि से पंडित नेहरू द्वारा दिए गए उनके उदाहरण उद्‌बोधक हैं। वे कहते हैं,

"प्रमुख कांग्रेसजनों में बाद में सेवा दल के प्रति कितना विरोध था, देखकर हमें आश्चर्य हुआ। कुछ लोगों ने कहा, यह तो कांग्रेस का अपने ध्येय से दूर जाना है। कारण, इसका अर्थ यह है कि कांग्रेस में सैनिक वृत्ति लायी जा रही है। कई अन्य लोगों को लगा कि ऊपर से आए आदेशों का पालन करना ही स्वयंसेवकों के लिए आवश्यक अनुशासन है। इससे अधिक स्वयंसेवक पग से पग मिलाकर चलें, यह भी वांछित नहीं है। कुछ लोगों ने मन ही मन यह धारणा बना ली थी कि प्रशिक्षित एवं संचलन में कुशल स्वयंसेवक बनना किसी न किसी रूप में कांग्रेस के अहिंसा के सिद्धांत के विरुद्ध हैं।"

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद सभी परिवर्तन अहिंसात्मक, शांतिमय तथा संवैधानिक मार्गों से ही हों, यह सिद्धांत निरपवाद ही था। स्वयं स्वातंत्र्यवीर सावरकर ने अभिनव भारत के समापन-समारोह में कहा था, "स्वदेश स्वतंत्र होकर स्वराज्य की स्थापना होते ही हमारा प्रथम राष्ट्रीय कर्तव्य यह होना चाहिए कि क्रांतिकार्य में हम ही लोगों द्वारा राष्ट्र भर में फैलायी गयी राज्यविध्वंसक वृत्तियों एवं साधनों को तत्काल विसर्जित कर अब हम राष्ट्र में रचनात्मक एवं निर्बंधशील वृत्ति का प्रभुत्व स्थापित करें।"

२९. वास्तव में किसी भी राजनीतिक दल की छत्र-छाया में न रहते हुए समाजसेवा करने वाले लोग पश्चिम और भारत में भी पैदा हुए हैं। क्रिश्चियन विश्व में प्राचीन काल में ईसा-मसीह, नाइट्स ऑफ सेंट लैजरस, सेंट फ्रांसिस ऑफ ऑसिस आदि लोगों की बात छोड़ दें, तब भी आधुनिक काल के उदाहरण के नाते केवल कुष्ठ-सेवा का क्षेत्र भी लें तो फादर डेमियन, फादर डट्टन, डॉ. हैन्सेन, डॉ. आर. एच. कोक्रेन, डॉ. पाल ब्रैंड, डॉ. एन. एच. एंटिया, डॉ.ए. एफ. कोएलचो आदि क्रिश्चियन समाजसेवियों की भांति अपने देश में भी (महात्मा गांधी के अतिरिक्त) सर्वश्री बाबा आम्टे, डॉ. मनोहर दीवान, डॉ. शिवाजीराव पटवर्धन, डॉ. वाड़देकर, डॉ. धर्मेन्द्र, डॉ. एच. श्रीनिवास, डॉ. एस. एम. मुखर्जी, श्री कात्रे और श्री बापट आदि लोग इस क्षेत्र में उत्कृष्ट सेवा कर रहे हैं और ये सब कार्य केवल सेवा की भावना से चल रहे हैं। राजनीतिक नेताओं की भांति अपने स्वार्थ में निमग्न न होते हुए केवल सेवा-वृत्ति से सम्पूर्ण जीवन जीने वाले महापुरुष हमारे यहां और पश्चिम में भी हैं। महाराष्ट्र मेंसंत गाडगे महाराज, पश्चिम में अल्बर्ट श्वाइत्जर, लिविंगस्टन आदि लोग इसी श्रेणी में आते हैं। श्री बाबा आमटे के बारे में श्री हार्ट ने कहा है, "उनका कार्य किसी भी राजनीतिक नेता के कार्य से अधिक आशयपूर्ण है।"

तथापि राजनीतिक नेताओं में ऐसी प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक ही है कि किसी भी तथा किसी के

भी द्वारा किए गए सत्कार्य का श्रेय अपने दल को मिले । स्वतंत्रता के बाद के प्रारंभिक काल में यह प्रवृत्ति विशेष उभार पर थी ।

३०. श्री समर्थ ने कहा है— "कार्यकर्ता न हों-राजद्वारे ।" श्री मैकाइवर एवं पेज दो समाजशास्त्रज्ञ हैं, जिन्होंने कहा है, —"राजनीतिक-आर्थिक क्षेत्रों के संगठनों पर निर्भर न रहने वाली स्वतंत्र संस्था स्थापित करने के लिए सांस्कृतिक कार्य को जब पूरी छूट होती है, तब अपना लक्ष्य अधिक परिपूर्णता से प्राप्त करना उसके लिए संभव होता है । अतः सांस्कृतिक संस्थाओं को राजनीतिक-आर्थिक संगठनों के चंगुल से मुक्त करना सामाजिक उत्क्रांति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है ।"

३१. श्री एस. के. डे. अपनी 'पावर टु द पीपुल' पुस्तक में सर्वोदय-कार्यकर्ता और सामुदायिक विकास कर्मचारियों में सामंजस्य के अभाव का विश्लेषण इस प्रकार करते हैं—

१. सर्वोदय-कार्यकर्ता अपनी नैतिक श्रेष्ठता की कल्पना से मुक्त नहीं हो सके हैं, और २. सरकारी सामुदायिक विकास कर्मचारी विशिष्ट काम के लिए प्रशिक्षित किए गए थे, वे लोग कुछ अनुशासन में रहने वाले कार्यकर्ताओं की श्रेणी में आते थे । गांधीवादियों में व्यवहार-बुद्धि के अभाव अथवा सार्वजनिक धन के प्रति दायित्व की भावना को वे समझ नहीं सके ।"

३२. पंडित जी ने इस विचार के मर्म को समझा था कि— भविष्य का वेध लेने के ज्ञान के बिना इतिहास निरर्थक होगा । इतिहास के बिना भविष्य का वेध लेने का ज्ञान निर्मूल होगा ।

३३. **तादृशोऽयमृजुप्रश्नो यत्र धर्मः सुदुर्लभः ।**
दुष्कर : प्रतिसंख्यातुं तत्केनात्र व्यवस्यति ॥
प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यः स्यात्प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ।
धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः ।
यः स्याद् धारण संयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥ —(शांतिपर्व)
धर्मे विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा ।
धर्मे सर्व प्रतिष्ठितम् ।
तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति । (तैत्तिरीय संहिता)
यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥ (वैशेषिक)

अभ्युदय-निःश्रेयसे साधनत्वेन धारयति इत धर्मः । —(माधवाचार्य)

३४. हमारे अंग्रेजी पढ़े-लिखे विद्वानों ने स्वाभिमानशून्य विवशता की अपनी मनोवृत्ति हर परिस्थिति में बनाए रखने के बारे में जो दृढ़ता दिखायी, वह वास्तव में आश्चर्यजनक थी । वस्तुतः पश्चिम

का भारत के साथ जब प्रथम संबंध आया, तभी से उधर के कुछ प्रमुख विद्वानों के मन में इस देश के बारे में जिज्ञासाएं जाग्रत होनी प्रारंभ हो गयी थीं। शॉपेनहोवर, फ्रेडरिक श्लेगेल, मैक्समूलर, विलियम जोन्स, पाल ड्यूसेन आदि विद्वानों ने भारतीय संस्कृति के बारे में प्रशंसात्मक उद्‌गार व्यक्त करना प्रारंभ किया था। 'द सीक्रेट बुक्स ऑफ द ईस्ट' का प्रकाशन ५० खण्डों में हुआ। रॉथ ने वैदिक भाषाशास्त्र (फिलोलॉजी), फ्रैंग बॉप ने तुलनात्मक भाषाशास्त्र में शोध प्रारंभ किया था। भारतीय व्युत्पत्ति-भाषाशास्त्र, वंश-शास्त्र, कला, इतिहास एवं इतिहासशास्त्र, पुरातत्त्व शास्त्र आदि विविध शास्त्रों के प्रारंभिक पाश्चात्य प्रवर्तक ए. जे. ए. डिबोइंज, प्रिंसेप, फरग्युसन, कनिंगहम, ग्रिअर्सन, जेम्स बर्गेस, एम. एल्फिन्स्टन, विन्सेण्ट ए. स्मिथ, फ्लीट, हल्श आदि के अनुकूल अभिप्राय भी प्रकाशित हुए थे। एडविन आर्नोल्ड, वाल्ट व्हिटमैन, थोरो, एमर्सन, एडवर्ड कारपेंटर, पाल ब्रंटन आदि पर वेदांत का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा था। स्पिनोजा के पैंथिइज्म, लाईब्नित्ज के प्लूरलिस्टिक मोनेडिक आइडियलिज्म तथा स्विस विचारक स्वेडनबोर्ग के पाएटिज्म आदि की हिन्दू तत्त्वज्ञान के तत्सम विचारों के साथ समानांतरता सबके ध्यान में आने लगी थी। स्वयं रामतीर्थ ने स्पष्ट कहा था : "क्रिश्चयन विज्ञान, थिओसोफी (ईश्वरविद्या) और अमरीकी अध्यात्मवाद भारतीय चिन्तन के प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रिक्थ (पैतृक दाय) का प्रतिनिधित्व करते हैं।"

सर्वश्री कोरोसी, जी. टर्नवर, फौसबाल, आर. सी. चाइल्डर्स, टी डब्ल्यू. रीस डेविड्स सी. ए. एफ. रीस डेविड्स, ओल्डेनबर्ग, श्चेरवात्स्की, पाऊसिन, पॉल ढालके आदि विद्वानों ने बौद्ध मत पर गंभीरतापूर्वक अनुसंधान किया था और टाल्स्टॉय जैसा श्रेष्ठ विचारक बौद्ध मत एवं वेदांत से प्रभावित हुआ है यह बात भी सबके ध्यान में आ चुकी थी। पश्चिमी धर्ममतों एवं चिंतन पर भारत का ऋण कार्ल मार्क्स ने भी मान्य किया था।

हिन्दू दर्शन से प्रेरणा प्राप्त करने वाले काण्ट, शॉपेनहॉवर एवं फिश्ते का कार्लाइल एवं रस्किन की प्रणालियों पर पड़ा प्रभाव सहज ध्यान में आ रहा था।

३५. सोवियत सरकार के अधिकृत प्रकाशन में स्टालिन ने घोषणा की थी कि "चिकित्सा शास्त्रज्ञों को वनस्पतिशास्त्र, भौतिकी आदि शास्त्रों का ज्ञान न हो, तब भी काम चलेगा, किन्तु द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का ज्ञान उन्हें अवश्य रहना चाहिए।"

रूस की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के महामंत्री एल. आई. ब्रेजनेव ने सम्मेलनों के क्रेमलिन प्रासाद में ७ अक्तूबर, १९७५ को दिए भाषण में दल की विज्ञान विषयक भूमिका स्पष्ट की थी। अवसर था यू. एस. एस. आर. एकेडेमी ऑफ साइन्सेस की २५० वीं वर्षगांठ का दिन। उन्होंने कहा, "आज मुझे दल की विज्ञान विषयक नीति के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कहनी हैं। रूसी शास्त्रज्ञ किसी भी ज्ञानशाखा में काम क्यों न करते हों, उनमें कुछ विशेषताएं सदैव पायी जाती हैं। श्रेष्ठ कोटि का कम्युनिस्ट बोध एवं सोवियत देशभक्ति वे विशेषताएं हैं। सोवियत शास्त्रज्ञ अपने विज्ञान-क्षेत्र में

सारी गतिविधियां मार्क्सवाद तथा लेनिनवाद की विचारधारा के अनुसार ही करता है। वह कम्युनिज्म का सक्रिय समर्थक होता है। प्रतिगामी एवं अधपरंपरावादी शक्तियों के साथ वह संघर्ष करता है। उदात्त कम्युनिस्ट ध्येयों की प्राप्ति के लिए ही हमारे शास्त्रज्ञ अपने-अपने क्षेत्र में सक्रिय होते हैं।"

३६. यह सब ध्यान में लेने के बाद इस वर्ष मराठी विज्ञान साहित्य सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण में प्रा. भालबा केलकर के निम्न विचारों का मर्म अपने आप समझ में आ जाएगा :

"प्राचीन काल से अर्वाचीनकाल तक सिंहावलोकन करने पर और पौर्वात्यों से पाश्चात्यों तक की प्रगति देखने पर ध्यान में आएगा कि महान वैज्ञानिक मूलतः दार्शनिक ही होते हैं।

प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक धन्वंतरि, अश्विनीकुमार, कपिल, भोज,सोमदेव, सुश्रुत, चरक, कणाद, आर्यभट्ट, भास्कर, पतंजलि, भाग्भट आदि और आधुनिक डॉ. भामा, डॉ. न.ना. गोडबोले, डॉ. विक्रम साराभाई, डॉ भटनागर, डॉ. जगदीशचन्द्र बोस, डॉ. करमरकर, डॉ. गोखले, डॉ. शिरोडकर, डॉ. खानोलकर, डॉ. के. के. दाते आदि भारतीय वैज्ञानिक अपने आप में दार्शनिक ही हैं।

प्राचीन पाश्चात्यों में अरिस्टॉटल, डेमोक्रेटस, आर्किमिडीज, गॅलेन, हिपोक्रेटस आदि एवं अर्वाचीन डॉ. आइंस्टाइन, डॉ. ओपनहायमर, न्यूटन, ऑटोहान, फ्रेड हाईल, जोसेफ लीस्टर आदि सारे वैज्ञानिक दार्शनिक ही रहे हैं। पदार्थविज्ञान, विज्ञान और अध्यात्म की सीढ़ियों से मानव-जीवन विकसित होता जाता है।"

कुछ ऐसे ही विचार प्रकट करते हुए गेरी जुकाव कहते हैं—

"भौतिकी (Physics) का अध्यात्मज्ञान के साथ क्या साम्य है ? आपाततः ऐसा दिखाई देता है कि भौतिकी और अध्यात्मज्ञान दो भिन्न क्षेत्र रहे हैं। उनमें से एक दृश्य विश्व की घटनाओं से संबंधित है और दूसरा अन्तर्मुख दृष्टि से प्रत्यक्ष होने वाली बातों के साथ। किन्तु ध्यानपूर्वक देखें तो हम पाएंगे कि भौतिकी और अध्यात्मज्ञान जितने आपाततः दिखाई देते हैं,वस्तुतः उतने एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं।..."

"...अब हमारे ध्यान में आएगा कि क्वाण्टम घटनाओं का दोनों पक्षों के साथ पर्याप्त घनिष्ट संबंध रह सकता है और जो बातें कभी 'अतींद्रिय' मानकर विचारबाह्य घोषित कर दी गयी थीं, वे भौतिकीविदों द्वारा गंभीरतापूर्वक विचार करने योग्य हो सकती हैं।....संक्षेप में, सामान्य विचारप्रक्रिया को अलग रखने की आवश्यकता (और अन्ततः सर्वथा 'विचारों के परे' जाने) तथा सृष्टि की एकता देखने में अध्यात्मज्ञान के दर्शन और भौतिकी के विज्ञान में पर्याप्त समानता है...।

"...सृष्टि के अलग-अलग भाग (जैसे आप, मैं और नौकाएं) एक-दूसरे के साथ ऐसे संलग्न रह सकते हैं कि उनका संबंध, हमारे सामान्य अनुभव और भौतिकी के नियमों के निकष पर असत्य सिद्ध

"...अब हमारे ध्यान में आएगा कि क्वाण्टम घटनाओं का दोनों पक्षों के साथ पर्याप्त घनिष्ट संबंध रह सकता है और जो बातें कभी 'अतींद्रिय' मानकर विचारबाह्य घोषित कर दी गयी थीं, वे भौतिकीविदों द्वारा गंभीरतापूर्वक विचार करने योग्य हो सकती हैं।....संक्षेप में, सामान्य विचारप्रक्रिया को अलग रखने की आवश्यकता (और अन्ततः सर्वथा 'विचारों के परे' जाने) तथा सृष्टि की एकता देखने में अध्यात्मज्ञान के दर्शन और भौतिकी के विज्ञान में पर्याप्त समानता है...।

"...सृष्टि के अलग-अलग भाग (जैसे आप, मैं और नौकाएं) एक-दूसरे के साथ ऐसे संलग्न रह सकते हैं कि उनका संबंध, हमारे सामान्य अनुभव और भौतिकी के नियमों के निकष पर असत्य सिद्ध

होगा, किन्तु इस संबंध को 'बेल का प्रमेय' के नाम से भौतिकी में विशेष स्थान प्राप्त हुआ है यह प्रमेय हमें बताता है कि 'अलग भाग' नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। विश्व के सारे भाग एक आंतरिक एवं निकट सूत्र से जुड़े हैं। पहले केवल गूढ़वादी और शास्त्रीय दृष्टि से आक्षेपार्ह घोषित अन्य लोग भी ऐसे संबंधों का दावा करते थे।

....अधिकांश भौतिकीविदों को प्रायः व्यावसायिक दृष्टि से अलंकारिक भाषा से अरुचि होती है, किन्तु अब भौतिकी ही अपने में एक प्रभावी भाषा-अलंकार बन गयी है। २० वीं सदी की भौतिकी बौद्धिक सांचाबंद अवस्था से बौद्धिक उन्मुक्तता की ओर हुए प्रवास की कहानी है। यथास्थिति भौतिकीविद व्यक्तिशः भले ही क्यों न कहते हों कि 'मुझको प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर इस बात को सिद्ध करके दिखाओ।' यह प्रवास अवश्य हुआ है... वू ली मत के ज्ञाता जानते हैं कि भौतिकी के विशेषज्ञ केवल प्रकृति की अनंत विविधता खोजने से कहीं परे जाकर बड़ा काम कर रहे हैं। वे हिन्दू पुराण में वर्णित दिव्य कालीमाता के साथ नृत्य कर रहे हैं।"

३७. चीनी तत्त्वज्ञ लाओ झे का यह विवरण देखिए—

"साधु पुरुष सर्वसामान्य जन की अपेक्षा उच्च स्थान का इच्छुक हो तो अपने शब्दों से उसे लोगों को बड़प्पन देना चाहिए और स्वयं छोटापन लेना चाहिए। आगे रहकर लोगों का मार्गदर्शन करने की इच्छा हो तो उसे लोगों के पीछे रहना चाहिए। ऐसे व्यवहार के कारण उसका स्थान यद्यपि वस्तुतः उच्च है, लोग उसका भार नहीं अनुभव करेंगे। वह सबसे आगे रहा तब भी किसी के मन को उसके कारण ठेस नहीं पहुंचेगी। सभी मानव जाति उसका जय-जयकार करने में आनंद मानेगी और कोई उससे ऊब नहीं जाएगा। हम जो कर रहे हैं उसके लिए लोग साधुवाद दें, ऐसी साधु पुरुष की अपेक्षा नहीं होती। वह महान कार्य कर जाता है, किन्तु उसका श्रेय कभी अपनी ओर नहीं लेता। अपनी योग्यता का प्रदर्शन करने की इच्छा उसे नहीं होती।"

३८. आज की इस विषम परिस्थिति में भी आर्थिक विषयों में सरकार अथवा पूंजीपतियों की दासता स्वीकार न करने की दृढ़ नीति पर चलने वाले थोड़े कार्यकर्ता शिक्षा एवं रचनात्मक कार्य के क्षेत्र में हैं। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश तथा आपात्काल में जिनकों स्थानांतरण सहना पड़ा ऐसे १६ उच्च-न्यायालयों के न्यायाधीशों की भांति, रामशास्त्री प्रभुणे की परंपरा का स्मरण दिलाने वाले कुछ न्यायाधीश विभिन्न स्तर पर थे और आज भी हैं। यह सब संतोष की बात है। सर अल्लादी कृष्ण स्वामी अय्यर का निम्न निवेदन पुस्तकीय सिद्धांत के नाते सच है उन्होंने कहा था। "भारतीय संघ में उच्चतम न्यायालय को विश्व के किसी भी भाग के अन्य किसी भी उच्चतम न्यायालय से अधिक अधिकार प्राप्त हैं।

किन्तु २ मई, १९७३ को श्री मोहन कुमारमंगलम् द्वारा संसद में दिए गए भाषण के कारण प्रतिबद्ध न्यायपालिका के विषय में जो परिस्थिति निर्मित हुई उसमें अपनी स्वतंत्र प्रज्ञा को बनाए रखना

न्यायाधीशों के लिए कठिन हो गया और आज भी हो रहा है, इसे सब जानते हैं। ऐसे कुछ उदाहरणों के कारण यह आशा करने के लिए स्थान है कि आज के वातावरण में भी सांस्कृतिक जीवन-मूल्य स्थापित करने के योजनापूर्वक प्रयास किए गए तो ऊपर उल्लिखित ऋषि संस्था का पुनरुज्जीवन निकट भविष्य में किया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त ऋषि संस्था के बारे में दृढ़ आशा का प्रमुख कारण यह भी है कि वह भारतीय संस्कृति का एक अंग है। पंडित नेहरू ने दिसम्बर १९५९ में राष्ट्रपति आइजनहोवर के सम्मान में आयोजित स्वागत समारोह में कहा था—

"सम्पूर्ण इतिहास-काल में हम भारतीयों की मानसिकता का निर्माण विशिष्ट ढंग से हुआ है। आधुनिक काल में हमारा सबसे महान नेता धनवान नहीं था। उसके पास सैनिक सामर्थ्य नहीं था, और वह किसी भी सत्ता के पद पर भी नहीं था। फिर भी भारत के करोड़ों लोग उसके सम्मुख नत-मस्तक होते थे और उसका नेतृत्व स्वीकार करते थे। ऐसे ही लोगों का हम सम्मान करते हैं और मुझे लगता है, ऐसे लोगों का हम बिल्कुल आधुनिक विश्व में भी सदा आदर करते रहेंगे।'

इस प्रकार के व्यक्ति को ही 'ऋषि' की संज्ञा दी गयी है।

(पंडित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन की प्रस्तावना)

* * * * *

प्राक्कथन

एक संभ्रान्त महिला ने लियोनार्डो दा विंची से पूछा, "आपको इस कृति को पूरा करने में कितना समय लगा ?"

'इकसठ वर्ष' कलाकार ने कहा ।

दयाकृष्ण ने अपने शोध ग्रन्थ को पूरा करने में चौंसठ वर्ष लगा दिए ।

उनके शोध कार्य का मुख्य प्रतिपाद्य है 'निर्धनता का कारण योजना है । योजना ने निर्धनता घटायी नहीं है बढ़ायी है ।'

उनके शोध कार्य का विषय निर्धनता की समस्या है ।

किन्तु भारत की परिस्थितियों में क्या 'निर्धनता' और 'निर्धनता रेखा' की एक स्पष्ट परिभाषा उपलब्ध है ?

दांडेकर, राथ, बी. एस. मिन्हास, पी. के. बर्धन, पी. डी. झा., ई. पी. डब्ल्यू. डाकोस्टा, सातवां वित्त आयोग और योजना आयोग के सदस्य और कुछ अन्य विद्वानों के स्तुत्य प्रयत्नों के होते हुए भी निर्धनता और निर्धनता रेखा की कोई स्पष्ट और विश्वसनीय परिभाषा बन नहीं पायी है । पोषक आहार और विनिर्दिष्ट न्यूनतम कैलोरी युक्त भोजन पर व्यय की जो कसौटी इन दिनों बतायी गई है वह बहुत सी न्यूनतम आवश्यकताओं जैसे आवास, शिक्षा, लोक-स्वास्थ्य, पीने का पानी, मल निकास प्रणाली, परिवहन सुविधा आदि की गिनती ही नहीं करती । हम सभी जानते हैं कि भारत में विश्व की जनसंख्या

का १५.४ प्रतिशत भाग निवास करता है किन्तु उसका सकल राष्ट्रीय उत्पाद विश्व के कुल राष्ट्रीय उत्पाद का १ प्रतिशत ही है ।

अनैच्छिक और छद्म बेरोजगारी या अधूरे रोजगार और अनेक तरह की बेरोजगारी की मात्रा का पता लगाने की कोई उपयुक्त कार्य प्रणाली नहीं है । बेरोजगारी कई प्रकार की हो सकती है जैसे मौसमी, कार्यात्मक, चक्रीय, तकनीकि आदि । इस विषय पर मात्रा संबंधी सरकारी अनुमान विश्वसनीय नहीं है । बेरोजगारी के अनुमान पर विशेषज्ञों की समिति का कहना था कि "योजनाकाल के प्रारंभ और अंत के कालखंड के दौरान एक ही आधार पर प्रस्तुत किए गए श्रमिक बल, अतिरिक्त रोजगार उपलब्ध कराने तथा बेरोजगारी संबंधी आंकड़ों के अनुमान न तो अर्थपूर्ण हैं और न ही वे आर्थिक स्थिति के सही सूचक हैं । इस कारण योजना आयोग द्वारा अभी तक अपनाए गए तरीकों को त्याग देना ही ठीक होगा ।" तब से परिस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है ।

स्वतंत्रता के चालीस वर्षों बाद भी 'काम का अधिकार' संविधान द्वारा दिए गए मूल अधिकारों में सम्मिलित नहीं किया गया है । वर्तमान परिस्थिति में बेरोजगारी सहायता की बात करना भी कुछ विचित्र और काल्पनिक लगता है ।

योजना आयोग ने यह स्वीकार किया है कि निर्धनता हटाने के लिए अरबों रुपए खर्च किए जा चुके हैं फिर भी तीस करोड़ लोग घोर दरिद्रता का जीवन व्यतीत कर रहे हैं । १९७९-८० की कीमतों के आधार पर नगरों के लिए प्रति व्यक्ति ८१ रुपए और ग्रामों के लिए ७६ रुपए मासिक आय की जो गरीबी रेखा तय की गई है वह बहुत ही अवास्तविक है ।

अभी एक अन्य संदर्भ में अमरीका ने भारत की तुलना ब्राजील से की है । लेकिन यह जानकारी बड़ी रोचक और शिक्षाप्रद है कि ब्राजील की प्रतिव्यक्ति आय भारत से छह गुना अधिक है और उसके साधन-स्रोतों पर जनसंख्या का दबाव भारत जैसा नहीं है ।

इससे यह प्रकट होता है कि भारत में निर्धनता और योजना की प्रक्रिया दोनों एक साथ आगे बढ़ रही हैं । अतः कहीं न कहीं कुछ न कुछ गोलमाल अवश्य है ।

योजना बनाने की हमारी नीति के बारे में जो आशंकाएं प्रकट की जाती हैं वे आज ही प्रकट की गई हों, ऐसा नहीं है । पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं के बारे में लिखते हुए इसी प्रकार की आशंकाओं का उल्लेख किया था । बाद के वर्षों या कालखंड में जो बातें सामने आई हैं, उनसे यह साबित हो गया है कि पंडितजी का दृष्टिकोण यथार्थवादी और वैज्ञानिक था ।

१५ अगस्त, १९४७ को ब्रिटेन की संसद ने भारत स्वाधीनता अधिनियम बनाकर भारत को स्वतंत्रता प्रदान की। जो लोग इस बात में विश्वास रखते थे कि स्वराज के आते ही उसके जादू से हमारा राष्ट्र स्वाभिमानी, आत्मविश्वास युक्त, आनन्दप्रद, सजीव, गतिशील, कल्पनाशील और सृजनकारी हो जाएगा, उनका भ्रमजाल धीरे-धीरे घटता गया। अब उन्हें राजाजी के वे कथन याद आ रहे हैं जो उस समय बहुत अलोकप्रिय थे। उन्होंने कहा था: "हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि स्वराज से तुरंत या बहुत बाद तक भी न तो बेहतर शासन कायम हो सकेगा और न ही लोगों को अधिक सुख प्राप्त कराया जा सकेगा। स्वतंत्रता मिलते ही निर्वाचन और उससे जुड़ा हुआ भ्रष्टाचार; अन्याय, धन की शक्ति और तानाशाही हमारे जीवन को नरक तुल्य बना देंगे। हम तो बस यही आशा करते हैं कि सभी लोगों को शिक्षा मिलेगी जिससे बचपन से ही नागरिकों में सदाचार, ईश्वर के प्रति निष्ठा और परस्पर प्रेम भावना का उदय होगा।"

यह बात सत्तर वर्ष पूर्व (जेल जीवन में) लिखी गई थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के चालीस वर्ष पश्चात् भी देश में पूर्णतया निरक्षर व्यक्तियों की संख्या ४४ करोड़ और अर्धसाक्षर व्यक्तियों की संख्या १२ करोड़ है।

इस पतन के कारणों को ढूंढ़ना कठिन नहीं है। हमारे नेताओं ने राष्ट्रीय पुनर्रचना के कार्य में निष्ठा के साथ अपने-आपको लगाने के बजाय स्वतंत्रता के फल का उपभोग करना प्रारंभ कर दिया। स्वतंत्रता के पूर्व के काल में राष्ट्र में आदर्शवाद को जो प्रमुख स्थान दिया जाता था वह धीरे-धीरे व्यावहारिक जीवन से ओझल हो गया। फिर भी आदर्शवाद की बात होती रही। किन्तु आदर्शवाद की शाब्दिक-चर्चा ने समस्याओं का समाधान ढूंढ़ने के स्थान पर उन्हें और बढ़ा दिया।

हमारा सामूहिक मानस नेहरूवादी समाजवाद और गांधीवादी सर्वोदय के बीच विभाजित रहा। हम बौद्ध अर्थदर्शन की 'लघुता में सुंदरता है' को भी मानते रहे और रूस की आर्थिक नीति के 'विराट ही लाभप्रद है' के सिद्धांत को भी स्वीकार करते रहे। एक ओर आधुनिकीकरण की चाह में पाश्चात्तीय के पीछे हम भागते रहे और दूसरी ओर भारतीयता का जप करते हुए उसे महिमामंडित करते रहे। माइकल एंजिलो और राजा रवि वर्मा भी ऐसे चित्र नहीं बना सकते थे जो नेहरू और विनोबा दोनों का प्रतिरूप हों। हम यह भी भूल गए कि सामान्य जन को भुलावे में डालने की भी कोई सीमा होती है।

राष्ट्रीय आकांक्षा

किसी भी योजना का सफलतापूर्वक क्रियान्वयन समुचित मनोवैज्ञानिक वातावरण की उपलब्धता पर अधिक निर्भर करता है, भौतिक तत्त्वों पर नहीं। राष्ट्रीय आकांक्षा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। राष्ट्रीय चेतना और एकात्मता उसकी पूर्वगामी शर्तें हैं। इसी से समन्वय और समरसता का सामाजिक वातावरण उत्पन्न होता है। यदि हम ग्रामीण अर्थव्यवस्था के दुर्बल वर्गों का उदाहरण लें तो हम यह

पायेंगे कि इन वर्गों के लिए सामाजिक न्याय की गारंटी ग्राम में किसान, दस्तकार और खेतिहर मजदूरी के अन्दर भाईचारे की भावना पुनर्जीवित करने से ही मिल सकती है। इनमें से प्रत्येक पक्ष को यह विश्वास होना चाहिए कि उनके अपने वर्ग की समृद्धि तभी हो पाएगी जब कि अन्य दो बाकी वर्ग भी समृद्ध होंगे। इस स्वैच्छिक परस्परता की अनिवार्यता जब तक केवल ग्राम के प्रत्येक व्यक्ति के मन में नहीं जगा दी जाती तब तक केवल कानून के बल पर न्याय या साम्यतापूर्ण व्यवहार हो पाना असंभव है।

भौतिक कारणों की तुलना में मनोवैज्ञानिक पर्यावरण का महत्त्व बहुत अधिक है। यह ब्राजील और संयुक्त राज्य अमरीका की तुलना करने से ही स्पष्ट हो जाता है। दोनों के पास विशाल भू-खंड हैं और बड़ी मात्रा में प्राकृतिक संपदा है। दोनों में यूरोप से आए हुए लोग बस गए हैं। फिर भी दोनों की स्थितियां बिल्कुल भिन्न हैं।

औद्योगिक क्षेत्र में कर्मचारी और मालिक दोनों ही 'सामूहिक सौदेबाजी' के मनोविज्ञान के अभ्यस्त हैं। वे यह भूल जाते हैं कि औद्योगिक संबंधों में समाज एक तीसरा और अधिक महत्त्व वाला पक्ष है और किसी भी औद्योगिक करार में 'राष्ट्रीय प्रतिबद्धता' आवश्यक एवं अनिवार्य होती है अर्थात् केवल राष्ट्र के कर्मचारी और मालिकों का समझौता ही पर्याप्त नहीं है। एक विख्यात अर्थशास्त्री का कहना है कि यदि मालिक और कर्मचारी चाहें तो वे षड्यंत्र करके समस्त समाज को हानि पहुंचा सकते हैं।

हमारे नेताओं ने यह भ्रांति पाल ली कि वर्तमान संवैधानिक व्यवस्था में नए अधिनियम या नियम बनाकर या प्रशासनिक तंत्र के माध्यम से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है और राष्ट्रीय चेतना की जागृति उसकी पूर्व शर्त नहीं है। उन्होंने तो यह मान लिया कि राष्ट्रीय चेतना का स्थान प्रशासनिक इच्छा ले सकती है। किन्तु जनता को लालफीताशाही से होने वाले नुकसान की जानकारी है। इसलिए उन्होंने यह मांग की कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली जिसमें अनाज या अन्य आवश्यक वस्तुएं जैसे कपड़ा, खाद्य तेल, चीनी, मिट्टी का तेल आदि वितरित की जाती हैं, जनता की समितियों की देख-रेख में रखी जाएं जिससे जनता यह सुनिश्चित कर सके कि उचित किस्म की वस्तुएं सस्ती दर पर दी जा रही हैं। जनता ने अनुभव किया कि विभिन्न प्रकार के नियंत्रण की योजना का न तो कोई औचित्य है और न ही चुस्ती से उनको लागू किया जाता है।

योजना आयोग ने इस संदर्भ में प्रासंगिक मनोवैज्ञानिक आधारों की पूरी तरह उपेक्षा की किन्तु इससे इनका महत्त्व घट नहीं जाता। उदाहरणार्थ एक ही तरह के कार्य में यदि कर्मकार का उसके प्रति दृष्टिकोण परिवर्तित हो जाता है तो उसके कार्य की मात्रा और किस्म में बहुत अंतर आ जाता है। सभी आर्थिक प्रक्रियाओं में सहभागी होने वालों पर यह बात लागू होती है। पत्थर तराशने वाले तीन शिल्पियों के बारे में एक बहुत प्रसिद्ध कथा है। तीनों एक ही काम कर रहे थे। किन्तु उनमें से एक

केवल जीवन यापन के लिए यह कार्य कर रहा है। दूसरा पत्थर को इसलिए काट रहा है कि एक संग्रहालय के लिए एक भव्य भवन का निर्माण हो। तीसरा गर्व से यह कहता है कि उसका काम चाहे जितना छोटा है वह राष्ट्रीय पुनर्रचना का अविभाज्य अंग है। यहां मंतव्य भिन्न है। आज सादगी, स्वदेशी उपभोक्तावाद आदि की बातें बहुत की जाती हैं किन्तु उपदेश देने वाले नेतागण स्वयं बहुत अधिक दिखावटी फिजूलखर्ची करते हैं। जो निर्यात करने वाले हैं वे अपने व्यवहार से विदेशों में अपनी साख जमा सकते हैं या अपनी मातृभूमि को कलंकित कर सकते हैं। यह इस बात पर निर्भर करता है कि उनके कार्य के पीछे भावना केवल लाभ कमाने की है या वे उदात्त राष्ट्रभक्ति से प्रेरित हैं। आजकल समानता या समता का नारा बहुत लगाया जाता है। किन्तु भौतिकवादी दर्शन को मानने वाले लोग क्या अभी तक विश्व में कहीं भी समतापूर्ण सामाजिक व्यवस्था केवल कानून बनाकर प्रशासनिक तरीकों से कायम कर सके हैं? शुद्ध भौतिकवाद की परिणति स्वार्थ केन्द्रित सुखवाद में ही हो सकती है। विधायी और कार्यपालिका के कार्य समतापूर्ण व्यवस्था का निर्माण नहीं कर सकते जब तक कि इसके लिए पहले से ही समाज का कायाकल्प करने वाला समुचित मनोवैज्ञानिक वातावरण न उत्पन्न कर दिया जाए। भारत के अन्दर एक समय में आय तथा प्रतिष्ठा के आधारित भेद पर एक समन्वित प्रणाली विकसित की गई थी जिसमें समानता और प्रोत्साहन के बीच समन्वय कायम किया गया था। हमने एक ऐसे मनोवैज्ञानिक वातावरण की सृष्टि की थी जिसमें सामाजिक प्रतिष्ठा और व्यक्तिगत धन-संपदा के बीच प्रतिलोमी अनुपात था। जिसकी सामाजिक प्रतिष्ठा जितनी ऊंची होती थी उसके भौतिक सुख का वृत्त उतना ही छोटा होता था। जिसके सुख का वृत्त विशाल होता था उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा उतनी ही कम थी। यदि जीवन मूल्य शुद्ध रूप से आर्थिक या भौतिकवादी हैं तो धन का समान वितरण मनुष्य के उच्चतम विकास की भावना से मेल नहीं खाएगा। यद्यपि उत्पादन, वितरण, विनिमय या उपभोग की समस्याएं आर्थिक स्वरूप की होती हैं किन्तु इन समस्याओं के समाधान का आधार आर्थिक क्षेत्र के बाहर ही होता है।

डेविड मैकार्ड राइट ने ' ओपन सीक्रेट ऑफ इकॉनोमिक ग्रोथ' में यह कहा है कि "आर्थिक वृद्धि के मूल कारक गैर-आर्थिक और अभौतिक हैं। शरीर का निर्माण भावना से होता है।" वायटिंस्की का मत भी विचारणीय है। वह कहते हैं कि "यदि हम एक रात में मिशीगन, ओहियो और पेंसिलवानिया के समस्त कारखाने उठाकर भारत में लगा दें तो भी उसके निवासियों का दृष्टिकोण न बदलने की स्थिति में भारत बीस वर्ष बाद भी उतना ही निर्धन रहेगा जितना आज है।"

समग्रता या एकात्मवादी विचार

पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा से युक्त हमारे योजनाकार टुकड़ों-टुकड़ों में विचार करने के अभ्यस्त हैं। शिक्षा, अर्थशास्त्र, नीति शास्त्र, पर्यावरण आदि प्रासंगिक तत्त्वों के बारे में समग्र या एकात्म रूप से विचार करना उनकी क्षमता से परे है। वे भौतिक और अभौतिक कारकों, आर्थिक और गैर-आर्थिक

परिस्थितियों तथा बाजार और बाजारेत्तर पर्यावरण के बीच होने वाली अंतरक्रिया पर विचार नहीं करते। ये तथ्य और परिस्थितियां या वातावरण एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। आर्थिकेतर कल्याण समग्र कल्याण का वह भाग है जिसे धन के द्वारा नापा नहीं जा सकता। आर्थिकेतर भौतिकवादी तथ्य, देश की भौगोलिक परिस्थिति उसकी जलवायु, नदियों, पर्वतों, प्राकृतिक बंदरगाहों, शांति और सुरक्षा, शीत-युद्ध, विश्व युद्ध या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने वाली घटनाओं से सम्बद्ध हैं। आर्थिकेतर और अभौतिक तत्त्वों में माल्थस के शब्दों में मुख्य रूप से देशवासियों के चरित्र की प्रामाणिकता, सामाजिक-सांस्कृतिक और धार्मिक संस्थाएं, प्रधान विचारधारा, आध्यात्मिक मूल्य और नैतिकता संबंधी सद्‌गुण शामिल हैं। किसी भी देश के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक-विधिक, ऐतिहासिक और भौतिक पर्यावरण की उस देश के आर्थिक पर्यावरण, आधार सामग्री पर्यावरण और प्रणाली पर्यावरण के बीच सतत अंतः क्रिया चलती रहती है। एकात्म विचार करने की पद्धति का जो महत्त्व पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने समझाया है उसकी पुष्टि वारसा के ग्रोयोवस्की अस्पताल में हृदय रोग के सामाजिक स्वास्थ्य और सामाजिक-आर्थिक दशाओं के विशेषज्ञ, प्रधान चिकित्सक डा० लेसजेक चेरेम्यूजिन्सकी के उस कथन से हो जाती है जिसमें उन्होंने सामाजिक स्वास्थ्य और सामाजिक-आर्थिक दशाओं के अंतर-संबंधों को स्पष्ट किया है। इस विद्वान का यह कहना है कि "विश्व में पोलैंड के निवासियों का सबसे अधिक हृदय-रोगी होना सामाजिक और आर्थिक परिस्थिति और उससे उत्पन्न तनाव का परिणाम है।"

हम अपने समाज के कुछ वर्गों या भागों के लिए ऐसी योजना बना रहे हैं जो समाज बोध से शून्य हैं। सभ्य पाश्चात्य जनों के ही समान, मध्य प्रदेश में कुछ जनजातियां ऐसी हैं जो शौच के पश्चात् जल का उपयोग नहीं करती। कुछ ऐसी जनजातियां भी हैं जो नग्नता में पश्चिम से आगे हैं। सफाई रखना, साफ-सुथरी आदतें डालना, लोक-स्वच्छता का ध्यान रखना ये सब बातें सार्वजनिक विचार के केन्द्र में नहीं हैं। जो कि होनी चाहिएं। मच्छरों के अंडे और अन्य अनेक प्रकार के कीटाणु उत्पन्न करने वाली कीचड़ से युक्त भूमि अपरिवर्तित पड़ी रहती है। बहुत से नागरिक किसी भी सार्वजनिक स्थान में थूक देते हैं या बेकार की वस्तुएं फेंक देते हैं। वे यातायात के नियमों का पालन स्वेच्छा से नहीं करते। लोक-संपत्ति को नुकसान पहुंचाने में या गलियों में कचड़ा फेंकने में उन्हें कोई कष्ट नहीं होता। सार्वजनिक स्थान या रेलों आदि से उतरते समय कोई भी न तो बत्ती बुझाता है और न पंखा बंद करता है। राष्ट्रीय पुनर्रचना के महान कार्य का शुभारंभ करने से पहले हमें यह जानना होगा कि कहां से प्रारंभ करें।

आर्थिक की अपेक्षा सामाजिक अधिक

हम यह सच्चाई अच्छी तरह समझ लें कि अपने समाज की कुछ समस्याएं आर्थिक नहीं सामाजिक स्वरूप की हैं। उदाहरण के लिए विकृत मस्तिष्क, किशोर अपराधिता, आवारागर्दी, सुखवादिता,

विकृताचार, मनस्ताप, तंत्रिकाताप आदि से पीड़ित व्यक्ति। किशोर अपराधिता और किशोर आवारागर्दी आदि के कारण मुख्यतया सामाजिक होते हैं, आर्थिक नहीं।

हमने अभी तक तंत्रिका और मानसिक रोग की समस्या और मानसिक विकृति तथा व्यक्तिगत विसंगठन या व्यक्तित्व के विघटन और मानसिक असंतुलन की व्यापकता का कोई निर्धारण नहीं किया है। मानसिक असंतुलन का चरम बिंदु है आत्महत्या। जनसंख्या में वृद्धि की जो दर है उससे लगभग दुगुनी दर से आत्महत्या में वृद्धि हो रही है। इस संबंध में हमारी जो आवश्यकताएं हैं उनके लिए मनोचिकित्सक और मनोरोग अस्पतालों की संख्या बहुत अपर्याप्त है। इस मनोवैज्ञानिक कारण से अपराध बहुत बढ़ जाते हैं। जनसंख्या की वृद्धि की अपेक्षा अपराध की वृद्धि की दर तेज है।

राष्ट्रीय सामाजिक नीति

हमने अभी तक कोई राष्ट्रीय सामाजिक नीति नहीं अपनायी है। इसके लिए आवश्यक आंकड़े और सांख्यिकी उपलब्ध नहीं हैं। कोढ़ या गुप्त रोगों से संबंधित जानकारी भी हमारे पास पूर्ण नहीं है। राष्ट्रीय सामाजिक, आर्थिक सर्वेक्षण में अभी तक नेत्रहीन, बधिर, गूंगे, विकलांग, अपराधी, भिखारी आदि के बारे में ही संख्या ज्ञात की गई है। हमने अभी तक विवाह के पश्चात् अभित्याग और विवाहविच्छेद तथा तलाकशुदा व्यक्तियों के बच्चों के बारे में कोई वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं अपनाया है। नशे और नशीली दवाओं की लत और सफेद कालर अपराध के बारे में कोई वैज्ञानिक विचार नहीं हुआ है। बंधुआ मजदूर और उन जनजातियों के लोगों, जिन्हें आपराधिक जनजातियां कहा जाता था और अन्य घुमंतू या अर्द्ध घुमंतू जनजातियां, वेश्याओं, हिजड़े, भिक्षुक, बाल-श्रमिक, अपहृत बालक और ऐसे बालक, जिन्हें गुंडे लोग विकलांग बनाकर भीख मांगने के उपयोग में लाते हैं, अभी तक हमारे ध्यान में नहीं आए हैं। कुछ आर्थिक वर्गों की भी उपेक्षा हो रही है जैसे सेवानिवृत्त व्यक्ति, पूर्व सैनिक, स्त्री कर्मकार, काम करने वाली गृहिणियां, अंशकालिक कर्मकार, विधितः असुरक्षित श्रमिक, विस्थापित व्यक्ति, बंदी अपराधी आदि। पड़ोस के देश से जो शरणार्थी आए हैं वे अपने आप में एक वर्ग हैं और उनकी सामाजिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं के अध्ययन के लिए कोई कार्य नहीं किया गया है। इन सभी प्रवर्गों की अपनी विशेष समस्याएं हैं और किसी साधारण उपचार से उनका हल नहीं हो सकता।

विकास— एक समग्र या एकात्मवादी— प्रक्रिया

श्री एस० के० डे ने कहा था :

"भारत में और भारत के बाहर विश्व में जो मेरा अनुभव है उससे इस बात की पुष्टि होती है कि विकास एक समग्रता या एकात्मवादी प्रक्रिया है और ग्रामीण विकास नगर-ग्राम विकास का ही एक

अंग है। राष्ट्र का निर्माण करने वाले जितने अभिकरण हैं उन सबमें पूरा समन्वय स्थापित किए बिना विकास नहीं हो सकता। साथ ही इन अभिकरणों और विभिन्न संगठनों और संस्थाओं के लोगों के बीच भी समन्वय या तालमेल होना आवश्यक है।"

शासकीय अभिकरणों के बीच समन्वय भी उस समय तक एक मिथ्याभ्रम है जब तक कि लोकतांत्रिक तरीके से निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा उनका नियंत्रण न किया जाता हो। इस प्रक्रिया को उसकी अंतिम परिणति तक सावधानी से ले जाना आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं किया गया तो विकास के कार्यक्रम कुछ लोगों को ही लाभ पहुंचाएंगे और ये लोग प्रशासन और राजनीतिक प्रणाली में अपने सहयोगियों के साथ मिलकर शेष लोगों की पीठ पर चढ़कर उन्हें दबाते रहेंगे।"

प्रो० गैलब्रेथ ने अपने निबंध 'फ्रॉम पुअर टु द रिच' में यह टिप्पणी की है कि "सभी तरह के राष्ट्रीय विकास में एक क्रम होता है जिसमें परस्पर-व्याप्ति होते हुए भी राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक तत्त्वों का इसी क्रम से महत्त्व होता है।" गैलब्रेथ आगे कहते हैं "ऐसा कोई देश नहीं है जहां जनसंख्या शिक्षित हो और उसका जीवन-स्तर भी अपेक्षाकृत ऊंचा और उत्तरोत्तर उन्नति की ओर जाने वाला न हो। साथ ही अशिक्षित जनसंख्या वालों का कोई भी देश विकसित नहीं हो सकता। आर्थिक विकास पूरी तरह शैक्षणिक विकास से जुड़ा हुआ है।' "पुनः राजनीतिक स्थिरता, ईमानदारी, लोकप्रिय राजनीतिक सहभागिता जनसाधारण के शिक्षित हो जाने के बाद ही कायम होती है और पूंजी निवेश भी तभी संभव होता है। इनके अभाव में पूंजी का विकास नहीं होता।"

शिक्षा व्यवस्था में इस प्रकार समग्र परिवर्तन किया जाना आवश्यक है जिससे देश के विकास और नियोजन संबंधी आवश्यकता की पूर्ति हो सके और साथ ही व्यक्ति के गुण, वृत्ति और स्वभाव का पूरी तरह प्रस्फुटन होकर उसकी शक्ति प्रकट हो सके।

श्री एम. एन. श्रीनिवासन ने राष्ट्रीय एकता पर विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि "एकात्मकता से अर्थ यह होता है कि राजनीतिक व्यवस्था की संरचना करने वाले विभिन्न तत्त्वों का सुनियोजित रूप से सम्मिलन हो। यह सम्मिलन कई प्रकार का— राजनीतिक, आर्थिक, प्रशासनिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और भावनात्मक हो सकता है।" आर्थिक विकास एकात्मकता को बल प्रदान करने में सहायक हो सकता है और एकात्मकता से आर्थिक विकास को बल मिलता है।

इस प्रकार समग्रता या एकात्मवादी उपागम के अभाव में हमारी योजनाएं असफल हो गई हैं। भारत की वर्तमान आर्थिक अर्थव्यवस्था की आर्थिक परिस्थितियों के संदर्भ में संस्थागत संरचना पर विचार करने की आवश्यकता बहुत दिन से बनी हुई है। उदाहरणार्थ, उद्योगों के लिए वित्तीय साधन जुटाने वाले अनेक निकाय हैं। विपणन या पूंजी निवेश के बारे में अनुसंधान और सर्वेक्षण करने या उनका मूल्यांकन करने के लिए भी ऐसा ही है। उद्योगों के विकास से संबंधित तकनीकी-आर्थिक

अध्ययन के लिए; किसी भी उद्योग या व्यक्ति को प्राविधिक और प्रशासनिक सहायता देने के लिए; उद्योगों के प्रोत्साहन के प्रोन्नयन, प्रबंध और विस्तार के लिए; औद्योगिक संभावनाओं का सर्वेक्षण करने और भावी सफल उद्यमियों की खोज के लिए; विभिन्न स्थानों पर तकनीकी परामर्श सेवा-केन्द्र स्थापित करने के लिए; 'रुग्ण' और बन्द इकाइयों को फिर से चालू कराने के लिए; निर्यात व्यापार के प्रोन्नयन तथा उसको प्रोत्साहन और सुविधा देने के लिए; लघु-उद्योगों को किराए द्वारा खरीद के आधार पर आयातित मशीनें उपलब्ध कराने के लिए; कंपनियों की शेयर पूंजी में अभिदान राशि का प्रबंध करने के लिए, सम्पत्ति गिरवी रखकर ऋण उपलब्ध कराने और नए निर्गमों की हामीदारी के लिए; पूंजी निवेशकर्ताओं की बचतों को औद्योगिक क्षेत्र में शेयर तथा ऋण-पत्रों के रूप में लगाने के लिए हमारे यहां अनेक वित्तीय संस्थाएं हैं। किंतु इन सभी निकायों का पिछला रिकार्ड अत्यन्त निराशाजनक है। ये अपना अधिकतर समय, शक्ति तथा धन अपने आंतरिक प्रशासन में ही लगा देते हैं और उन्हें जो कार्य सौंपे गए हैं उनकी ओर उनका ध्यान कम ही जाता है। उनके कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए कोई प्रभावी कार्ययोजना अभी तक नहीं की गई है। जो नवीन निकाय बनाए गए हैं वे भी अफसरशाही, लालफीताशाही और भारी-भरकम प्रबंध संबंधी दोषों से ग्रस्त हैं और उनके कार्यकलाप परिणाम कारक न होकर खर्च बढ़ाने वाले सिद्ध हुए हैं।

संस्थागत संरचना:

योजना को सफलता से लागू करना ही नहीं उसको व्यावहारिक आधार पर बनाना एक बड़ी सीमा तक उपयुक्त संस्थागत संरचना पर निर्भर करता है। भारतीय परिस्थिति में यह और भी अधिक आवश्यक है। हमारे देश में अनेक तरह के सेक्टर हैं यथा: निजी, लोक, संयुक्त, सहकारी, कर्मचारियों पर आधारित और अति लघु सेक्टर। दूसरे संदर्भ में सेक्टरों का एक और सेट है जिन्हें विशाल सेक्टर, लघु सेक्टर, भारी सेक्टर, हल्के सेक्टर, लाइसेंसधारी सेक्टर, गैर-लाइसेंसधारी सेक्टर, आरक्षित सेक्टर, राष्ट्रीय सेक्टर आदि कहा जाता है। कई प्रकार के तंत्र एक साथ काम करते हैं। परिप्रेक्ष्य योजना, पंचवर्षीय योजना, योजना अवकाश के दौरान वार्षिक योजना, आर्थिक सुधार और पुनर्रचना के कार्यक्रम जैसे बीस सूत्री कार्यक्रम, निरंतर योजना की संकल्पना आदि। नियंत्रण और विनिमयन की भी व्यापक योजनाएं हैं जैसे दोहरी कीमतों की प्रणाली अधिकतम कीमत प्रणाली, न्यूनतम कीमत प्रणाली, सहायिकी या इमदादी कीमत प्रणाली, सांविधिक कीमत प्रणाली, प्रतिधारण कीमत प्रणाली, वसूली कीमत प्रणाली, उगाही कीमत प्रणाली, मुक्त बाजार कीमत प्रणाली आदि। हमारी आर्थिक या वित्तीय नीतियां परस्पर विरोधी हैं। विस्तारकारी राजकोषीय नीतियां हैं। अनेक प्रकार के सामाजिक उद्देश्य हैं जो कई बार एक-दूसरे से विपरीत स्वरूप के हैं। विभिन्न लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न उपकरण हैं। न्याय के साथ जुड़ी हुई विकासशील राजकोषीय नीतियां हैं, कीमत स्थिर रखने के लिए विकास के साथ संबद्ध मूल्य स्थिरता वाली आर्थिक और वित्तीय नीतियां हैं। न्याय युक्त मूल्य स्थिरता

के लिए कीमत और उत्पादन पर नियंत्रण की व्यवस्था है, आर्थिक नीतियां हैं, राजकोषीय और बजट संबंधी नीतियां हैं, धन और क्रेडिट संबंधी नीतियां हैं, विनिमय दर की नीतियां हैं, नियंत्रण और विनिमयन की भौतिक नीतियां हैं, विनिमय नियंत्रण है, कीमत नियंत्रण है, व्यापार नियंत्रण है, विभिन्न अधिनियम और कारण हैं, लघु अवधि के उतार-चढ़ाव दीर्घकालिक प्रवृत्तियों आय— धन-आपूर्ति, कीमत, उत्पादन, रोजगार, नियोजन, व्यापार-संतुलन और अदायगी तथा विदेशी मुद्रा अर्जन आदि लघुवर्ती आर्थिक कारक हैं। इन अनेकों नीतियों, नियंत्रणों और विनिमयों के मायाजाल से साधारण आदमी को कुछ भी समझ में नहीं आता। इसलिए वह यह नहीं समझ पाता कि वर्तमान संस्थागत संरचना में कहां पर क्या कमी है। राजनीतिज्ञों को इन छोटी बातों के बारे में विचार करने का समय नहीं है क्योंकि उन्हें दिन-रात राजनीति ही करनी है। रेंडोल्फ हमर्स्ट का कहना है कि "राजनीतिज्ञ अपनी गद्दी बचाए रखने के लिए कुछ भी कर सकता है ।" अंततोगत्वा केवल नौकरशाही ही योजना की प्रक्रिया के लिए कुछ समय ध्यान और शक्ति दे सकती है। वैसे सरकारी अधिकारियों की अपनी व्यक्तिगत योजनाएं होती हैं।

योजना का ढंग

सबसे महत्त्व की बात यह है कि योजना का ढंग बदला जाना चाहिए। जब योजना बनायी जाती है तब विभिन्न सामाजिक, आर्थिक संगठनों को उसमें जोड़ना चाहिए और साथ ही विभिन्न हित समूहों को भी इस प्रक्रिया में सम्मिलित करना चाहिए। किसी भी योजना का सफलतापूर्वक अनुपालन बड़ी सीमा तक जनता के स्वैच्छिक सहयोग पर निर्भर करता है। उनका स्वयं का अनुशासन और आर्थिक क्षेत्र में उनकी अपनी अभिरुचि और व्यवहार उस स्वैच्छिक परिवर्तन की सफलता में सहयोग देता है। जब लोग किसी योजना के निर्माण की प्रक्रिया में सहभागी होते हैं, जब वे उस योजना को अपना अंग समझते हैं तब उन्हें यह विश्वास दिलाने की आवश्यकता नहीं होती कि आत्मानुशासन वांछनीय है। हित समूहों की सहभागिता जितनी अधिक होगी, सामाजिक-आर्थिक संघर्ष उतना ही कम होगा और लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सर्वानुमति की संभावना बढ़ती जाएगी। आरम्भिक स्तर की इस सहभागिता से भागीदारों का स्तर ऊंचा होगा और विकास के प्रति उनके दृष्टिकोण में एक सकारात्मक परिवर्तन आएगा जिससे वे व्यक्तिगत वित्तीय लाभ से हटकर सोचने लगेंगे।

संगठित हित-समूह

इसके लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक स्तर पर विभिन्न प्रकार की सामाजिक-आर्थिक इकाइयां समुचित रूप से संगठित हों। जो हित-समूह पहले से संगठित हैं उन्हें इस योजना में समुचित स्थान देना चाहिए और जो असंगठित हैं उन्हें संगठित करने के लिए त्वरित प्रयास करने चाहिएं। औद्योगिक

श्रमिकों, नियोजकों, वाणिज्यिक समुदायों, वृत्तिक अभिरुचि वाले लोग आदि प्रथम वर्ग में आते हैं। दूसरे वर्ग में कृषक, खेतिहर मजदूर, पारंपरिक कलाकार आदि शामिल हैं। इन सभी निकायों में देशभक्ति की भावना बढ़ानी होगी और उनका इस प्रकार बौद्धिक विकास करना होगा कि वे योजना बनाने और अनुपालन में भाग ले सकें। इस प्रक्रिया की दक्षता सुनिश्चित करने के लिए प्रत्येक राज्य को जनपदों में बांटा जाए। प्रत्येक जनपद में ऐसे क्षेत्र हों जिनकी एक सामान्य स्थानीय पहचान हो। यह सभी क्षेत्र जनपद समिति के अधीक्षण में हों जिसमें साधारण जनता के प्रतिनिधि, उद्योग के प्रतिनिधि, विभिन्न वृत्तियों, व्यापार और अन्य कर्मियों के प्रतिनिधि शामिल हों। प्राथमिक या सबसे निचले स्तर के जो समूह हों उन्हें लघु योजना तैयार करने का काम सौंपा जाए। वे समूह अपनी योजना एक ओर तो जनपद समिति को और दूसरी ओर राष्ट्रीय स्तर पर अपने कृत्यकारी निकाय को दें।

जनपद समितियां क्षेत्रीय योजनाएं बनाते समय इन सभी लघु योजनाओं पर समुचित ध्यान देंगी। राष्ट्रीय स्तर पर कृत्यकारी निकाय भी राष्ट्रीय योजना बनाते समय इस प्रक्रिया का अनुसरण करेंगे। योजना आयोग का यह कर्तव्य होगा कि वह क्षेत्रीय आधार पर तथा कार्यों के आधार पर बनी इन सभी योजनाओं को राष्ट्रीय विराट योजना में समाविष्ट करे। योजना नीचे से चलकर ऊपर आए, ऊपर से लादी न जाए। इस संबंध में टीटो के समय में यूगोस्लाविया का अनुभव बहुत सहायक होगा।

जन-शिक्षा

इस प्रक्रिया के सफलतापूर्वक क्रियान्वयन के लिए यह आवश्यक है कि ये सभी संगठन और व्यक्ति अपने देश के सामाजिक-आर्थिक परिदृश्य की पूरी जानकारी रखते हों। इससे उनका चिंतन स्थैतिक, आत्मकेन्द्रित असंतुलित और एकपक्षीय नहीं होगा। इससे प्रादेशिक असंतुलन की बुराई भी कम हो जाएगी। किंतु इसके लिए आवश्यक शर्त यह है कि जन शिक्षा के लिए ईमानदारी के साथ-साथ निरन्तर और गंभीर प्रयास किए जाएं। इसके अभाव में विभिन्न हित समूह परस्पर-विरोधी दिशाओं और राष्ट्रीय विकास योजना की मांग के विपरीत दिशाओं में चले जाएंगे। राष्ट्रीय योजना का स्वस्थ लोकतांत्रिक विकास तब तक संभव नहीं है जब तक हम अपनी सांस्कृतिक विरासत का प्रभाव उस समस्या पर डालकर राष्ट्रीय एकता की प्राप्ति नहीं करते। इसके साथ ही अभी तक पिछड़े रहे प्रदेशों और पिछड़े वर्गों को देश के शेष भाग के समकक्ष स्थिति में लाने के लिए हमें विशेष प्रयत्न करना होगा। ऐसा करने पर ही वे राष्ट्रीय योजनाओं को सूत्र बद्ध करने और उन्हें क्रियान्वित करने की प्रक्रिया में समान रूप से भागीदार हो सकेंगे।

जनशिक्षा के इस कार्यक्रम में शासन करने वाले वरिष्ठ नेताओं से यह अपेक्षा होगी कि वे विभिन्न हित समूहों के संगठनों से संपर्क बनाए रखें और उनके माध्यम से जनता को सामाजिक-आर्थिक

विकास, प्रस्तावित कार्रवाई और आने वाली समस्याओं आदि की जानकारी जनता को देकर उसका सक्रिय सहयोग और समर्थन प्राप्त करते रहें। दोनों ओर से प्रभावशाली और दोषरहित संचार व्यवस्था के लिए राष्ट्र के समग्र हितों का ध्यान रखकर समाज के सबसे निचले स्तर से स्वस्थ, स्वतंत्र और सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित करना होगा। हमारा यह भी अनुभव रहा है कि यदि उचित शिक्षा दी जाए तो औद्योगिक श्रमिक वर्ग भी, जिन्हें लोग बहुत भला-बुरा कहते हैं, वर्तमान में उच्चतर मजदूरी की मांग करने और भविष्य में अधिकाधिक पूंजी निवेश की संभावना के बीच समुचित संतुलन स्थापित कर सकते हैं। हमारा यह भी अनुभव रहा है कि देशभक्त औद्योगिक श्रमिक उस समय अपने वित्तीय दावे छोड़ देते हैं जब उन्हें यह विश्वास करा दिया जाता है कि इस तरह बचत की गई धनराशि का प्रयोग बेरोजगार लोगों को रोजगार दिलाने के लिए किया जाएगा। और उसका लाभ सम्पन्न पूंजीपति, हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहने वाले राजनेता और भ्रष्ट उच्चाधिकारी नहीं उठा सकेंगे। पी० आर० ब्रह्मानंद, जो पूंजीपति और सत्ताधीशों के समर्थक माने जाते हैं, का कहना है कि "भारत का जो अनुभव हमें प्राप्त होता है उससे हमें यह महत्त्वपूर्ण शिक्षा मिलती है कि यदि नीतियां लोगों के हित में हैं और जो कदम उठाए जाने वाले हैं उनके और लोक कल्याण के बीच कोई स्पष्ट संबंध सरलता से दिखाया जा सकता है और यदि जनता का अपने नेताओं पर विश्वास है तो जनता प्रसन्नतापूर्वक बलिदान के लिए तैयार हो जाती है।"

इस प्रकार सामाजिक-आर्थिक संगठन की सभी प्राथमिक इकाइयां योजना को तैयार करने की प्रक्रिया में प्रभावी रूप से अपना योगदान करेंगी।

गोलमेज सम्मेलन : राष्ट्रीय चेतना के उत्पन्न होने पर और योजना की प्रक्रिया में परिवर्तन होने पर समस्त जन समाज ही एक स्थायी योजना आयोग बन जाएगा। इस दिशा में सरकार को पहले कदम के रूप में सभी आर्थिक हितों का एक गोलमेज सम्मेलन बुलाना चाहिए जिससे पूंजी निवेश, रोजगार उत्पादकता, नियोजन, उत्पादक कीमत और आय/ मजदूरी के बारे में एक समग्रता या एकात्मकतावादी (Integrated) राष्ट्रीय आर्थिक नीति बनाई जा सके।

व्यवहार की भूमि से अलग, शुद्ध रूप से सैद्धांतिक और अव्यावहारिक दृष्टिकोण ने बहुत सी कठिनाइयां उत्पन्न की हैं।

प्रभाव डालने वाले तथ्य :

जब भारत में योजना की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई तब पश्चिम समाजवादी विचारों के प्रभाव में था। यह प्रभाव पश्चिमी मानस पर आने वाले बीस वर्षों तक बना रहा। उस दौरान सोवियत संघ एक महाशक्ति

के रूप में उभर कर आ चुका था और शीतयुद्ध की लहर में उसने संपूर्ण विश्व के विचारों को प्रभावित किया था। चीन के कम्युनिस्ट बन जाने पर विश्व के एक तिहाई भाग पर लाल झंडे का साम्राज्य कायम हो चुका था। एकजुट हुए इस कम्युनिस्ट संसार का एकमात्र विचारक स्टालिन तब जीवित था और स्टालिन विरोध या माओ विरोध की तब कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। उन दिनों यह सोचा भी नहीं जा सकता था कि कम्युनिस्ट शासित देशों में राष्ट्रवाद के हाथों अंतर्राष्ट्रीयता की पराजय होगी और कम्युनिज्म के कालबाह्य सिद्धांत से लोगों की आस्था समाप्त होकर उसकी सफलता पर प्रश्न चिन्ह लग जाएगा। उस समय तक 'यूरोपीय कम्युनिज्म' शब्द का आविष्कार नहीं हुआ था। अपने देश की परम्परा में गहरी मनोवैज्ञानिक जड़ें न रखने वाले पंडित नेहरू पूरी तरह सोवियत संघ के प्रभाव में थे। गांधी जी और सरदार पटेल जैसे वरिष्ठ नेता, जो नेहरू के कल्पनाप्रधान आमूल परिवर्तनवाद या रेडकल्जिम पर लगाम लगा सकते थे, राजनीतिक परिदृश्य से ओझल हो चुके थे। जय प्रकाश नारायण का कहना था कि "पंडित नेहरू की द्वितीय पंचवर्षीय योजना के सात रचयिता लौहावरण के पर्दे के पीछे के व्यक्ति हैं।" किन्तु हमारे सत्ताधीश वर्ग को सत्य का पता बहुत दिनों तक नहीं चला, जिसका रहस्योद्घाटन १६ अप्रैल, १९७४ को संयुक्त राष्ट्र की महासभा के छठवें अधिवेशन को संबोधित करते हुए अल्बानिया के प्रतिनिधि ने स्पष्टतम शब्दों में कहा था:

"सोवियत सामाजिक-साम्राज्यवादी भी विकासशील देशों के प्रति ऐसी नीति अपनाते हैं जो पूरी तरह साम्राज्यवादी है। इन देशों को वे जो ऋण देते हैं उसका उद्देश्य भी वही होता है जो अमरीकी साम्राज्यवादियों का है। विकासशील देश सोवियत ऋणों की वास्तविक प्रकृति को जानते हैं। अब प्रत्येक व्यक्ति इस सच्चाई को जानता है कि सोवियत संघ द्वारा एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीकी देशों को जो आर्थिक और तकनीकी सहायता, ऋण और विशेषज्ञ दिए जाते हैं उनमें ऐसी शर्तें जुड़ी होती हैं जिससे कि सोवियत संघ ऐसी सहायता प्राप्त करने वाले देशों की अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप कर सके, कुछ राजनीतिक सुविधाएं प्राप्त कर सके और अपने सैनिक अड्डे बना सके।"

इसमें संदेह नहीं कि गोर्बाचोव की पुनर्रचना या पेरेस्त्रोइका इस सामाजिक साम्राज्यवाद के बिल्कुल विपरीत है। (श्री ठेंगड़ी जी द्वारा यह लेख सोवियत संघ में कम्युनिस्ट व्यवस्था के पतन और उसके विघटन से पूर्व लिखा गया था— सं.) इसके पहले भी अर्थात् सन् १९५३ के पश्चात् राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बहुत से कम्युनिस्ट नेता और उनके वर्ग-समूहों को यह अनुभव होने लगा था कि समाजवादी साम्राज्यवाद भी कम निन्दनीय और गर्हित नहीं है। किंतु पचास के दशक के प्रारम्भिक भाग में सोवियत रूस के प्रत्येक कार्य की प्रशंसा होती थी। इसी कारण हमारे शासक दल ने महालनोविस द्वारा बताए गए आर्थिक विकास के नमूने को तुरन्त स्वीकार कर लिया। पूंजी पर अधिक जोर देने वाली, आयात पर आधारित और आधारभूत तथा बड़े उद्योगों को प्राथमिकता देने वाली द्वितीय पंचवर्षीय योजना भारत की दशाओं के अनुरूप नहीं थी। भारत की परिस्थितियां तो रोजगार के अवसरों में वृद्धि और विदेशी मुद्रा के अर्जन को प्राथमिकता देने की मांग कर रही थीं। अपने

अन्तिम दिनों में पंडित नेहरू को भी इस दृष्टिकोण की वांछनीयता के प्रति संदेह पैदा हो गया था। ११ दिसम्बर, १९६३ को उन्होंने संसद में कहा था: "मैं आजकल गांधी जी के दृष्टिकोण के बारे में अधिकाधिक विचार करने लगा हूं। मैं आधुनिक मशीन का प्रशंसक हूं और सर्वोत्तम मशीन और नई तकनीक का समर्थन करता हूं। किंतु भारत की जो परिस्थितियां हैं उनको देखते हुए हम आधुनिक युग में चाहे जितनी जल्दी प्रवेश करें, यह तथ्य अपनी जगह सत्य है कि अभी लम्बे समय तक हमारे देश की बड़ी जनसंख्या उससे अछूती रहेगी। हमें कोई और तरीका ढूंढना होगा जिससे कि लोग उत्पादन में भागीदार बनें, चाहे उत्पादन के उपकरण आधुनिक तकनीक की तुलना में उतने दक्ष न हों।" पंडित नेहरू को इस विचार को आगे बढ़ाने का समय नहीं मिला और उनके उत्तराधिकारी दूसरी ऐसी समस्याओं में ही उलझे रहे जिनके कारण उसकी ओर सोचने का समय ही उनके पास नहीं था।

हठवादिता पर आधारित दृष्टिकोण

इस कोरे हठवादी दृष्टिकोण के कारण बड़ी कठिनाइयां झेलनी पड़ी हैं।

उद्योग स्वामित्व के प्रतिरूपों के हठवादी दृष्टिकोण ने प्रारम्भिक चरणों में ऐसी समस्याएं उत्पन्न कीं जिनसे बचा जा सकता था। तब यह माना जाता था कि सभी प्रकार की औद्योगिक बुराइयों को दूर करने की एकमात्र रामबाण औषधि राष्ट्रीयकरण है। यह मान कर चला जाता था कि पूंजीपतियों के हाथों में चलने वाले उद्यमों का एकमात्र विकल्प राष्ट्रीयकरण है। (अब पेंडुलम दूसरे छोर पर चला गया है और उसे 'उदारीकरण' का नाम दिया गया है)। वस्तुतः स्वामित्व के कई विकल्प या प्रतिरूप हो सकते हैं जैसे नगरपालिका का स्वामित्व, सहकारिता, प्रजातंत्रीकरण, संयुक्त स्वामित्व, स्वनियोजन आदि। यह अच्छा होता कि औद्योगिक स्वामित्व के प्रतिरूप के आधार पर एक राष्ट्रीय आयोग नियुक्त किया जाता जो प्रत्येक उद्योग की विशेषताओं और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की समस्त आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर विभिन्न उद्योगों के लिए उचित प्रतिरूपों की सिफारिश करता। सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों की स्वायत्तता का उनकी जवाबदेही के साथ संतुलन बैठाने के उपाय किए जाते, अफसरशाही के मनमानेपन पर रोक लगायी जाती और पूंजी तथा उत्पादन के अनुपात में परिवर्तन किया जाता। इस विषय में हमारा दृष्टिकोण व्यावहारिक, परिणाम देने वाला तथा नए मार्ग खोजने वाला होना चाहिए था क्योंकि गोर्बाचोव के सत्ता में आने से पहले ही रूस की पुनर्रचना में 'श्रमीकरण' को स्थान मिलने लगा था और सोवियत संघ ने स्वायत्त उद्यमियों के अनेक प्रकार खोज लिए थे। इनमें 'व्यक्तिगत उद्यम' भी शामिल था जिसमें एक कुटुम्ब के उद्यम को भी कानूनी रूप से काम करने की छूट दी गई थी। हमारे योजना आयोग ने वित्तीय परिव्यय में सहकारिता को एक पृथक सेक्टर के रूप में मान्यता नहीं दी, यद्यपि भारत में सहकारिता आंदोलन की सदस्यता और उसका कारोबार बहुत बढ़ चुका था और उसमें विविधता की प्रक्रिया या विविधीकरण भी सन्तोषजनक था। इसीलिए जब स्वनियोजित व्यक्तियों की ओर से एक 'विश्वकर्मा सेक्टर' बनाने की मांग योजनाबद्ध विकास में की गई तो उस पर कोई ध्यान न देकर उसे रद्दी की टोकरी में फेंक देना आश्चर्यजनक नहीं था। लगभग

दस वर्ष पूर्व 'श्रमिक सेक्टर' के नाम का प्रचार बड़े जोर-शोर से किया गया था पर अब वह कहीं दिखायी नहीं देता।

यह भी सत्य है कि नेहरू के बाद के काल में वैचारिक तत्त्व अपनी अपील बहुत बड़ी सीमा तक खो चुके हैं, किंतु उनके स्थान पर जो लाया जा रहा है वह उससे भी खराब है।

आपराधिक चूक

योजना आयोग एक आपराधिक चूक के लिए दोषी है। उसने विश्व रोजगार कार्यक्रम के प्रतिवेदन के दबाव में आकर अपने द्वारा सुनिश्चित की गई अपनी ही प्राथमिकताओं की पूरी उपेक्षा कर दी। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने इस बात पर बल दिया था कि आर्थिक विकास को रोजगार उपलब्ध कराने से जोड़ा जाए। जो उपलब्ध श्रम है उसका उत्पादन के लिए सर्वोत्तम उपयोग किया जाए और इससे आर्थिक विकास को गति दी जाए। जहां भी आर्थिक रूप से संभव हो वहां पूंजी के स्थान पर श्रम को लगाया जाए। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का सुझाव था कि ग्रामीण विकास के व्यापक कार्यक्रम द्वारा ऐसा विकास करना संभव होगा। इसमें वे सभी कार्यक्रम आ जाएंगे जिनमें श्रम का अधिकाधिक उपयोग और औद्योगिक क्षमता का पूरा उपयोग हो। घरेलू और विदेशी बाजार के लिए ऐसे औद्योगिक उत्पादों को प्रोत्साहित किया जाए जिनमें अधिक श्रम लगता हो और औद्योगिक उत्पादन में आर्थिक रूप से उचित श्रम प्रधान तकनीक लागू की जाती हो। कार्य प्रारम्भ होने में जो अवधि लगे उसे भी ध्यान में रखना आवश्यक है।

इस रिपोर्ट पर ध्यान देते हुए योजना के दस्तावेज में यह कहा गया कि हमें 'भौतिक पूंजी की अपेक्षा अधिक मानवीय पूंजी' का निवेश करना है। ग्रामीण विकास की दिशा में निवेश की यह मात्रा नगर विकास में किए जाने वाले निवेश से अधिक होगी। निवेश योजना में बड़ी परियोजनाओं के स्थान पर छोटी परियोजनाओं को वरीयता दी जाएगी। पूंजी प्रधान उद्योगों के स्थान पर श्रम प्रधान उद्योगों को प्राथमिकता देना आवश्यक होगा। इस दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप तकनीक और उत्पाद के बारे में उचित चयन करना होगा। योजना में यह कहा गया कि निवेश कार्यक्रमों में श्रमप्रधान निवेश के अन्तर्गत कृषि विकास, संचार और परिवहन युक्त ग्रामीण संरचना, ग्रामीण विद्युतीकरण, छोटी सिंचाई परियोजनाओं, जल प्रबन्ध ग्रामोद्योग, विकेन्द्रीकरण औद्योगिक पूंजी निवेश के विकेन्द्रीकरण और ग्रामीण तथा शहरी आवास योजनाओं पर अधिक बल दिया जाएगा। किंतु चौथी योजना में स्रोतों का जो आबंटन किया गया उससे यह स्पष्ट हो गया कि पिछले दशकों के दुखद अनुभव से योजना आयोग ने कुछ भी नहीं सीखा है। ऐसा लगता है कि योजना आयोग में दूर दृष्टि का अभाव है। अधिकारियों के स्तर पर एकाएक नीति संबंधी निर्णय लेने की ओर झुकाव होता है। वे विद्यमान परिस्थितयों से बाहर निकलने के लिए कोई भी तात्कालिक उपाय-योजना अपना लेते हैं। इन तात्कालिक उपायों को दीर्घकालिक योजना और विकास की नीति से जोड़ने का कोई प्रयत्न नहीं

होता। जनता की वाहवाही लूटने के लिए जो कार्य किए जाते हैं उनके बारे में तो कुछ न कहना ही ठीक है।

वैध आक्षेप

योजना-प्रक्रिया के प्रारम्भ से ही देशभक्त आलोचक उसके बारे में अपना असंतोष अभिव्यक्त करते रहे हैं। ऐसा नहीं है कि ये आलोचक व्यर्थ ही संदेह व्यक्त कर रहे थे और उनके पास कोई वैचारिक बिंदु नहीं था। समय-समय पर उन्होंने रचनात्मक सुझाव भी दिए हैं।

उन्होंने यह कहा कि योजना-दस्तावेज को इस प्रकार प्रस्तुत नहीं करना चाहिए कि वह शासक दल का निर्वाचन घोषणापत्र जैसा प्रतीत हो। ऐसा करने से वह जनता की योजना नहीं दल की योजना बन जाती है। (उस समय तक बजट के पूर्व की कर वृद्धि जैसी नीतियां प्रचलन में नहीं थी)। उन्होंने योजना के बारे में प्रजातांत्रिक प्रणाली की अवमानना किए जाने की तीखी आलोचना की। संसद के सम्मुख पहले से ही अंतिम रूप दी जा चुकी योजना प्रस्तुत कर दी जाती है और संसद के सदस्य योजना के विभिन्न पहलुओं की केवल आलोचना कर सकते हैं, पर उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकते। योजना के पीछे कोई सांविधानिक शक्ति भी नहीं है। योजना आयोग का कोई कार्यपालिका संबंधी कार्य नहीं है और वह किसी के प्रति उत्तरदायी भी नहीं है। योजनाओं के पीछे कोई विधायी शक्ति भी नहीं है। फिर भी योजना के नाम पर ही बजट प्रस्तुत किए जाते हैं और उसके समर्थन में असन्तुलित कानून पास किए जाते हैं। उसी के संबंध में संसद के दोनों सदनों में निरर्थक विचार-विमर्श होता है। योजना के गुणागुण के बारे में उसके प्रारम्भ के पूर्व कोई सार्वजनिक बहस नहीं होती।

साधन है, साध्य नहीं

इसमें संदेह नहीं कि हमारे राष्ट्रीय साधन-स्रोतों का कम से कम समय में अधिक से अधिक उपयोग करने के लिए योजना बनाना आवश्यक है। किंतु योजना साध्य है, साधन नहीं। योजना राष्ट्र के जीवनादर्शों और संस्कृति की संरचना के भीतर ही बनायी जानी चाहिए। योजना को केवल भौतक और आर्थिक साधन स्रोतों और परिव्यय के संचालन के रूप में नहीं लेना चाहिए बल्कि इसे प्राथमिकताएं सुनिश्चित करने वाली आवश्यक व्यवस्था के रूप में समझना चाहिए। योजना का केन्द्र-बिंदु मनुष्य होना चाहिए। योजना आदर्शवादी होनी चाहिए जिससे कि उसे निष्पादित करने के लिए लोग प्रेरित हों। इस दृष्टि से हमारी प्राचीन परम्परा, वर्तमान की आवश्यकता और भविष्य की आकांक्षाओं के प्रकाश में योजना का निर्माण होना चाहिए। योजनाकर्ताओं को शिक्षा, अर्थव्यवस्था, पर्यावरण और नैतिकता पर आधारित इस देश की प्राचीन समग्रता या एकात्मवादी उस विचाराधारा

का अनुसरण करना चाहिए जिसे उस समय राष्ट्रीय जीवन के सभी विभिन्न पहलुओं को विनियमित करने की शक्ति प्राप्त थी । इस प्रयोजन के लिए कसौटी राष्ट्रीय आवश्यकता होनी चाहिए, राजनीतिक स्वार्थपरायणता नहीं और अधिकारियों को भाषावाद, प्रांतवाद, प्रदेशवाद, जातिवाद, सम्प्रदायवाद, संकुचितता और अवसरवाद आदि से तथा आज की राजनीतिक छुआछुत से मुक्त होना चाहिए। विकास प्रशासन और विनियमक प्रशासन के बीच समुचित सम्बद्धता होनी चाहिए।

आकार

योजना का आकार तय करने में उपलब्ध साधन-स्रोतों का विचार न करने का तरीका छोड़ देना चाहिए। हमारे सभी साधन-स्रोतों का एक व्यापक राष्ट्रीय सर्वेक्षण करके ऐसी कार्य रीति और माप दंड निकाले जाएं जो भारत की परिस्थितियों में ग्रामीण और शहरी बेरोजगारी और अर्द्ध बेरोजगारी को दूर करने में समर्थ हों । हमारे पास बड़ी, छोटी और ग्रामीण औद्योगिक इकाइयों की एक अद्यतन और संपूर्ण सूची होनी चाहिए जिसमें यह भी दिया हो कि वे कहां पर हैं और उनमें क्या कार्य हो रहा है ? शक्ति, जल, मृदा, पौधों के पोषण, मिट्टी-जल-पादप संबंध, कुल सिंचित क्षेत्र आदि के बारे में पूरी जानकारी होनी चाहिए और विभिन्न मंत्रालयों द्वारा एक ही मद के बारे में विभिन्न आंकड़े देने की प्रणाली सहन नहीं की जानी चाहिए। अपनी जिम्मेदारी टालते रहना सहन नहीं किया जाना चाहिए। बाढ़, सूखा, वर्षा का न होना, युद्ध, विस्थापितों का होना विश्वभर में मुद्रास्फीति और भ्रष्टाचार, तेल की कमी, जनसंख्या और वस्तुओं की तथाकथित 'कमियों' और 'मंदी' का बहाना आदि अधिकारियों को नहीं करना चाहिए।

हमारी भूमि से जन्मा नहीं है

भारत की योजना भारत के स्वभाव के अनुकूल होनी चाहिए। हमारी पहली योजना में कोलम्बो योजना को समाविष्ट कर लिया गया था और उसी के अनुसार हमारी प्राथमिकताएं और विकास की दिशा तय हुई। यद्यपि भारत ने छह वर्षीय कोलम्बो योजना का प्रारूप तैयार करने में अपना आंशिक योगदान दिया था, फिर भी यह दक्षिण और दक्षिणपूर्व एशिया के राष्ट्रमण्डलीय देशों के राजनीतिक बिखराव को रोकने के लिए बनायी गई थी। बाद में हमारी योजना का प्रारूप तैयार करने में विदेशी सलाहकारों का प्रभाव बढ़ता चला गया। हमारी अपनी कोई बृहत जातिवाद, सम्प्रदायवाद, संकुचितता और अवसरवाद आदि तथा राजनीतिक-आर्थिक नीति नहीं थी। पश्चिम में बदलते हुए वैचारिक फैशनों के अनुसार हमारा पेंडुलम भी एक छोर से (मांग आधारित अर्थ और नीति) दूसरे छोर (प्रदाय आधारित अर्थ नीति) के बीच डोलता रहता है। हमने बृहत योजना की अपनी कोई संरचना नहीं बनायी। सभी योजनाओं में जहां योजना और उसकी तकनीक के बारे में साधारणतः कुछ भी कहा

गया है उसे पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि उस पर विदेशी प्रभाव है । यह विदेशी प्रभाव प्राथमिकताओं को तय करने, प्रस्तावित परिव्यय और वित्तीय साधन स्रोतों के अनुमानों में भी दिखायी पड़ता है । एक तरह से कहा जाए तो योजना के वे भाग जो निर्वाचन घोषणापत्र जैसे प्रतीत होते हैं और जो एक प्रकार से सत्तारूढ़ दल के लिए 'प्रासंगिक विचार' के रूप में (Obilter Dicter) अधिक हैं उन्हें ही भारतीय प्रतिभा की उपज कहा जाता है ।

प्राथमिकताओं का क्रम

इन प्रबुद्ध लोगों ने इसके साथ ही यह मांग भी की कि योजना के उद्देश्यों की पुनर्व्याख्या की जाए, जो प्राथमिकताएं उन्होंने बतायी थीं वे मोटे तौर से इस प्रकार थीं :—

(i) प्रतिरक्षा;

(ii) पूर्ण रोजगार (सभी नागरिकों की सभी क्षमताओं का पूर्णतम उपयोग);

(iii) मूल्य विनिमयन;

(iv) अधिकतम उत्पादन के माध्यम से अधिकतम वृद्धि दर;

(v) साम्यतापूर्ण वितरण- समस्त आर्थिक प्राधिकार का अधिकतम विकेन्द्रीकरण;

(v) प्रत्येक कुटुम्ब के लिए न्यूनतम जीवनस्तर की गारंटी— जिससे अन्त्योदय हो;

(vii) सभी प्रदेशों और जनता के सभी वर्गों का संतुलित और समन्वित विकास;

(viii) राष्ट्रीय स्वावलंबन; और

(ix) पूर्वोक्त उद्देश्यों के पक्ष में योजना की प्राथमिकताओं में तुरंत परिवर्तन किया जाए ।

इन प्रबुद्ध लोगों का यह मत था कि प्रतिरक्षा और अंतरिक्ष विज्ञान के पश्चात् पीने के पानी और कृषि उत्पादन में वृद्धि को सबसे अधिक अधिमान दिया जाना चाहिए । हमारे ५० प्रतिशत से अधिक गांवों में पीने के पानी की कमी या उसका अभाव है ।

इस दशाब्दि के अन्त में पीने का पानी प्रत्येक व्यक्ति को उपलब्ध होना चाहिए । विश्व स्वास्थ्य संगठन ने अन्तर्राष्ट्रीय पेय जल प्रदाय और स्वच्छता दशाब्दि मनाने का निर्णय किया है (अप्रैल,८१ से मार्च,१९९१) ।

रचनात्मक सुझाव

कृषि उत्पादन में वृद्धि करने और ग्रामीण विकास के लिए उन्होंने सुझाव दिए:

सिंचाई पर बल दिया जाए, विशेषकर छोटी सिंचाई योजनाओं पर क्योंकि छोटी सिंचाई योजनाओं में पूंजी-निवेश से कृषि उत्पादन और वित्तीय लाभ की दृष्टि से जो फल-प्राप्त होता है वह बड़ी योजनाओं की अपेक्षा अधिक होना है। कृषि उत्पाद के लिए उचित कीमत, सघन कृषि, खेतिहर भूस्वामी हों, अधिशेष भूमि का भूमिहीन श्रमिकों में वितरण हो, नए भूस्वामियों को खेती करने और अपनी भूमि का प्रबन्ध करने के लिए प्रारम्भिक वित्तीय सहायता और औजार दिए जाएं। भूमि को टुकड़ों-टुकड़ों में बांटने से बचाने के लिए सहकारी समितियां बनायी जाएं। अलाभकारी जोतों को भूराजस्व से या कृषि आय-कर से छूट दी जाए। परती भूमि का विकास किया जाए, न्यूनतम मजदूरी अधिनियम को असंगठित क्षेत्र के श्रमिकों पर भी लागू किया जाए। भवन-निर्माण कार्य में लगे श्रमिकों और सभी उद्योगों में कार्यरत अनियत मजदूरों की मुक्ति और पुनर्वास के लिए सही तरीके ढूंढ़े जाएं। संविधान में अनुसूचित जातियों और जनजातियों को जो संरक्षण और सुविधाएं दी गई हैं वे सभी घुमंतू और अर्द्धघुमंतू तथा पहले अपराधी कही जाने वाली अनूसूचित जनजातियों को भी दी जाएं। काम के बदले अनाज जैसे कार्यक्रमों को लागू किया जाए। ऋण मुक्ति के उपाय किए जाएं। छोटे और सीमांत कृषकों की उपज को धारण करने की क्षमता को बढ़ाने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में भंडारगृह बनाए जाएं। विशेषकर उन उत्पादों के भंडारण का प्रभावी प्रबंध किया जाए जो जल्दी ही खराब हो जाते हैं। छोटे उत्पादकों की सेवा के लिए सहकारी संगठन बनाए जाएं जैसे विपणन, परिवहन, अच्छे औजार, उन्नम बीज, उर्वरक, ऋण आदि और साथ ही ऋण प्राप्ति को विशेष निवेश के साथ जोड़ा जाए। इसी प्रकार उत्पादकता और विपणन को भी श्रृंखलाबद्ध किया जाए। पशु बीमा योजना और फसल बीमा योजना चालू की जाए। इस बारे में दांडेकर समिति के सुझावों पर विचार करना उचित होगा। उत्पादकों की सहकारी संस्था और उपभोक्ताओं की सहकारी संस्थाओं में सीधे संबंध स्थापित किए जाएं।

बड़े-बड़े लोक निर्माण के कार्य प्रारंभ किए जाएं। श्रम प्रधान परियोजनाएं प्रारम्भ हों और श्रम प्रधान उद्योग लगाए जाएं। उनके माध्यम से आवश्यक उपभोक्ता माल का उत्पादन हो। ग्रामीण क्षेत्रों में स्वरोजगार संबंधी प्रयोजनाओं का विस्तार किया जाए। लोगों को कुक्कुट पालन, मधुमक्खी पालन, मत्स्य पालन, कृषि-इंजीनियरिंग, पशुपालन, कताई-बुनाई और विभिन्न हस्त कलाओं में लगाया जाए। उत्पादन, सेवा और श्रम व्ययन के आधार पर कारीगरों के संगठन बनाए जाएं। ये संगठन बुनकरों, खादी श्रमिकों, बढ़ई, सुनारों, ठठेरों, भट्ठा मजदूरों, कुम्हारों, चर्मकारों, खिलौने बनाने वालों और इंजीनियरिंग का काम करने वाले कर्मियों आदि के हो सकते हैं। ग्रामीण कारीगरों की परम्परागत उत्पाद तकनीक में युक्तिसंगत परिवर्तन करके उन्हें लाभान्वित किया जाए। परिवर्तन इस प्रकार का

हो कि (१) बेरोजगारी न बढ़े (२) उपलब्ध प्रबन्धन और तकनीकी कौशल व्यर्थ न हो और (३) उत्पादन के विद्यमान सिद्धांतों का विपूंजीकरण न हो। औद्योगिक कच्ची सामग्री कृषि पर आधारित हो, उद्योग पर नहीं। विभिन्न प्रकार के ग्रामीण उद्योगों के ऐसे संगठन बनाए जाएं जिनसे परम्परागत ग्रामीण और कुटीर उद्योग ऐसे यांत्रिक उद्योग हो जाएं जिनमें शक्ति और छोटी-छोटी मशीनों का उपयोग हो। ऐसा करने पर भूमि पर से भार कम होगा। स्थानीय सामग्री के आधार पर गांव में मकान बनाने का कार्यक्रम हो। बैंकिंग को बढ़ावा देकर ग्रामीण क्षेत्र में लघु योजनाओं के माध्यम से वहां उपलब्ध सभी संसाधनों का उपयोग किया जाए।

वन आधारित उद्योगों का विस्तार किया जाए। वन और वनवासियों को पर्यावरण का अंग समझा जाए। वन क्षेत्र में वनवासियों के जो पारंपरिक अधिकार हैं, उन्हें संरक्षण प्रदान किया जाए। वन सेवाओं में उन्हें प्राथमिकता दी जाए अर्थात् वन-रक्षक, चौकीदार आदि के पद उन्हें दिए जाएं। ठेकेदारों के षड्यंत्रों से उनकी सहकारी समितियों की रक्षा की जाए और इस बात के लिए सावधानी बरती जाए कि आधुनिक प्रतिस्पर्धी अर्थव्यवस्था में उनका शोषण न हो। वन लगाने के लिए प्रोत्साहन दिया जाए। रियायतों के प्रयोजनों के लिए प्राइवेट वन और सरकारी वनों को एक ही स्तर पर रखा जाए। सहकारिता विधियों, नियमों और विनियमों को सरल बनाया जाए। विकास के नाम पर जिन्हें विस्थापित किया जाता है उनका पुनर्वास हो। स्त्रियों और बच्चों के कल्याण के लिए तथा गर्भवती महिलाओं के पोषण-कार्यक्रमों में तेजी लायी जाए। इसी प्रकार शिशु-माताओं और जनजाति क्षेत्रों, पहाड़ों और पिछड़े क्षेत्रों के बच्चों के लिए कार्यक्रम हों। विभिन्न स्थानों से योजना आयोग को इस प्रकार के ठोस सुझाव प्राप्त हुए थे उनकी या तो उपेक्षा की गई या उनका बड़े चलताऊ ढंग से निष्पादन कर दिया गया। आयोग कुछ काल्पनिक सफलताओं के लिए अपनी पीठ ठोंक कर अपने मुंह स्वयं मिट्ठू बनता रहा।

त्रुटियां

अब यह तथ्य सर्वविदित है कि ग्रामीण क्षेत्र में बहुप्रचारित हरित क्रांति का देश के बड़े भूभाग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है और इसी प्रकार देश के अधिकतर कृषक उससे अछूते रहे हैं। इससे हरियाणा, पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के धनी किसान लाभान्वित हुए जिसके कारण प्रादेशिक असंतुलन और बढ़ गया। जो तकनीकी प्रगति होती है उससे ग्राम में रहने वाले धनी लोग ही लाभ उठा सकते हैं। इस प्रकार धनी का धन और बढ़ जाता है। योजना आयोग ऋतुओं के अनुसार कुल क्षेत्र और वाणिज्यिक उपज के स्थान निर्धारण को ध्यान में रखकर कोई मार्गदर्शन नहीं देता।—विशेषकर गन्ने जैसी फसलों के उत्पादन में पानी की अनुपातहीन मात्रा की आवश्यकता के बारे में कोई जानकारी किसानों को नहीं देता। कृषि में बढ़े हुए उत्पाद का लाभ कीमतों के नियंत्रण के माध्यम से कम कर दिया गया है। जब अपने देश में फसल भरपूर होती है तब भी सरकार लाखों टन अनाज आयात करती है। इसी तरह सूखा पड़ने की स्थिति में भी उपलब्ध सिंचाई क्षमता का पूरा उपयोग नहीं होता,

फिर भी अतिरिक्त सिंचाई क्षमता बढ़ायी जाती है। सिंचाई की क्षमता के अनुरूप कृषि की सघनता में वृद्धि नहीं हुई है। प्रति हेक्टेयर उपज भी नहीं बढ़ी है। जो सिंचाई परियोजनाएं हैं वे इस बात पर ध्यान नहीं देती कि किस मौसम में किस फसल के लिए कितना पानी चाहिए और किसान किस पैटर्न में फसल लेते हैं। (आयोग ने 'दस्तूर योजना' के गुणावगुण पर विचार नहीं किया। उसने इस बात का आग्रह भी नहीं किया कि अपने देश के समस्त जल स्रोतों का प्रबन्ध केन्द्रीय नियोजन द्वारा हो)।

छोटी सिंचाई परियोजनाओं के अतिरिक्त किसानों को जल के भंडारण की सुविधाएं चाहिएं। ये सुविधाएं ऐसी हों कि जल के रिसने या भाप बन कर उड़ने की संभावना न हो। स्थानीय स्रोतों से ग्राम में विद्युत प्रदाय के लिए प्रबन्ध होना चाहिए। नगर के लिए जो विद्युत प्रदाय योजना बनायी जाती है उनसे ग्रामीण योजनाओं को अलग रखा जाए। जब भी विद्युत की कमी होती है या प्रणाली में खराबी आ जाती है तो ग्रामीण क्षेत्रों में विद्युत का प्रदाय बन्द हो जाता है जिससे ग्रामीण विकास बहुत अधिक प्रभावी होता है मनुष्य और पशु शक्ति पर आधारित विद्यमान शक्ति स्रोतों का उपयोग करना चाहिए। साथ ही जहां संभव हो वहां पर जल और वायु शक्ति का भी उपयोग होना चाहिए।

सामाजिक वानिकी

हमारी सामाजिक वानिकी योजनाएं अपने उद्देश्यों को पूरा करने में असफल रही हैं। इनसे यह आशा की जाती थी कि ये जलाने वाली लकड़ी, चारा, छोटे काष्ट और छोटे वन उत्पाद ग्रामीण जनता को उपलब्ध कराएंगी जिससे उनकी आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति होगी। योजना आयोग के कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन ने एक अध्ययन करके यह बताया कि कृषि वानिकी से बड़े किसानों को ही लाभ पहुंचता है। आधे से अधिक लाभ उठाने वाले लोग केवल दो राज्यों में हैं। इनमें से प्रत्येक को पांच सौ से लेकर एक हजार तक पौधे मिले। इसी से पता चलता है कि उनकी जोत कितनी बड़ी रही होगी। पहले यह बताया गया था कि हरियाणा और गुजरात में लाभ उठाने वाले प्रत्येक दस व्यक्तियों में से छह के पास दो हेक्टेयर से अधिक भूमि है। (केवल पश्चिमी बंगाल में ही कृषि-वानिकी से निर्धन व्यक्तियों को लाभ पहुंचा है)। धनी लोग सफेदा या यूकेलिप्टस जैसे जल्दी बढ़ने वाले वृक्ष उगाते हैं। इनसे रेयन उद्योग जैसे उद्योगों को कच्ची सामग्री मिलती है। सामाजिक वानिकी योजनाओं में उपयुक्त प्रकार के पेड़ लगाए जाने का चयन नहीं होता। जैसे वे जलाने वाली लकड़ी पर जोर देते हैं, चारे पर नहीं। जबकि गुजरात और राजस्थान में हाल ही में जो सूखा पड़ा है उससे यह पता चलता है कि चारे की कमी बहुत अधिक है क्योंकि भूमि का बहुत बड़ा क्षेत्र बंजर होता जा रहा है।

अतिशयोक्तिपूर्ण दावे

साधारण निर्वाचन के अवसर पर सत्तारूढ़ दल द्वारा विभिन्न गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों के आधार पर आर्थिक क्षेत्र में की गई उपलब्धियों का बढ़-चढ़कर दावा करना स्वाभाविक है। किंतु कोई भी

निष्पक्ष व्यक्ति यह देख लेता है कि ये दावे खोखले हैं। समेकित ग्राम विकास कार्यक्रम छठी योजना में प्रारम्भ किया गया था। त्रिवेन्द्रम स्थित 'इंस्टीट्यूट ऑफ मेनेजमेंट इन गवर्नमेंट' के सहायक प्रोफेसर डा० जी. मार्ले मोहन लाल ने अपने एक अध्ययन में यह कहा है कि लाभ पाने के लिए गलत लोग चुने गए। निवेश त्रुटिपूर्ण था और लाभ उठाने वालों के बारे में सही निर्णय नहीं किया गया। इन्हीं तथ्यों के कारण यह कार्यक्रम असफल रहा।

योजना आयोग के कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन और अन्य मूल्यांकन संबंधी अध्ययनों, भारतीय रिजर्व बैंक और 'इंस्टीट्यूट ऑफ फाइनेंशियल मेनेजमेंट एण्ड रिसर्च' के अध्ययनों के आधार पर डा० लाल ने यह निष्कर्ष निकाला कि उदारतम अनुमानों के आधार पर भी केवल ४० प्रतिशत लाभ उठाने वाले व्यक्ति ही गरीबी रेखा पार कर सके हैं और गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम तथा आई. आर. डी. पी. असफल रहे हैं। अतः इन्हें अधिक कारगर बनाए जाने की बहुत अधिक आवश्यकता है।

डा० लाल ने यह कहा कि भारतीय रिजर्व बैंक के अध्ययन ने यह पाया कि केवल १७ प्रतिशत लोग ही गरीबी की रेखा पार कर सके हैं। कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन ने इसे ४९.४ प्रतिशत पर रखा। किन्तु यदि मुद्रा-स्फीति पर ध्यान दिया जाए तो मूल्यांकन संगठन का आंकड़ा बीस प्रतिशत पर आ जाएगा। "यह भी ध्यान देने योग्य है कि जो लोग निर्धनता रेखा के ऊपर आए वे अधिकतर ऐसे लोग थे जो उस रेखा के बिल्कुल निकट थे। उनमें गरीब तो बहुत कम थे।" कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन के नमूने में गरीबी रेखा पार करने वाले ८० प्रतिशत लोग ऐसे थे जो लक्ष्य सूमह में सबसे ऊपर की ३० प्रतिशत आय की परिधि में थे। नीचे से ४० प्रतिशत के खंड में जो लोग थे उनमें से केवल ३.५ प्रतिशत ही ऊपर उठ सके।

इन विद्वत्तापूर्ण अध्ययनों के बिना ही ग्रामीण क्षेत्रों में सामान्य जन इस बात को भली-भांति जानता है कि पंचायती राज, सहकारी संस्थाएं, सामुदायिक विकास कार्यक्रम, हरित क्रांति, सिंचाई सुविधाएं, निवेश सहायता, ऋण-सुविधाएं, फसल प्रबन्ध सलाह आदि सभी बातें धनी व्यक्तियों के लाभ के लिए हैं। छोटे और सीमान्त कृषकों को इससे अलग ही रखा जाता है।

बांटो और राज करो

यह बड़े दुख की बात है कि स्वतंत्र भारत की सरकार ने उसी 'बांटो और शासन करो' की नीति का सहारा ले रखा है जिसका प्रारंभ ब्रिटिश सरकार ने अपने साम्राज्यवादी उद्देश्यों को पूरा करने के लिए किया था। फलस्वरूप एक ओर शहरी उपभोक्ता और ग्रामीण किसान के बीच तथा दूसरी ओर किसान और खेतिहर मजदूर के बीच संघर्ष होने लगा है। वास्तव में किसान की उचित कीमत पाने

की मांग और उपभोक्ता की आवश्यक वस्तुओं की कीमत स्थिर रखने की मांग में कोई विरोध नहीं है। यह विरोध सरकार की गलत नीतियों के कारण उत्पन्न होता है। यदि सरकार ने अपने द्वारा संकल्पित कल्याणकारी राज्य की संकल्पना पर बल दिया होता और ग्रामीण विकास के लिए संरचना खड़ी की होती तो यह समस्या इतनी विकराल नहीं होती।

लाभप्रद कीमत

'लाभप्रद कीमत' पद में यह अर्थ निहित है कि कीमत उत्पादन की लागत और निर्वाह-व्यय के संदर्भ में लाभप्रद होगी। उत्पादन की लागत के साथ उसे संलग्न किए बिना इसका निर्धारण नहीं हो सकता।

कृषि उत्पाद और उत्पादित माल की कीमतों के बीच उचित संबंध बनाए बिना कीमतों का विनिमयन संभव नहीं है और यह तभी हो सकता है जब उत्पादन की लागत के बारे में आंकड़े प्रकाशित करना भी अनिवार्य किया जाए। डा० एम. जी. बोकारे ने १९६६ में सबसे पहले कृषकों को लाभप्रद कीमत देने की मांग की थी। डा० बोकारे ने अब एक नई मांग की है कि सभी उद्योगों से संबंधित लागत-संपरीक्षा-प्रतिवेदन (Cost-Audit Reports) प्रकाशित की जाएं। यह मांग शुक्राचार्य के निम्नलिखित सूत्र पर आधारित है :

'येन व्ययेन संसिद्धस्तद् व्ययं तस्य मूल्यकम्।'

किसी भी वस्तु की वास्तविक कीमत उसकी उत्पादन लागत के बराबर होती है। न्यूनतम कीमत के बारे में यह कहने के पश्चात् शुक्राचार्य आगे कहते हैं :

सुलभासुलभत्वाच्च - अगुणत्व - गुणसंश्रयैः
यथाकामान् पदार्थानाम्-अर्थंऽहीनाधिकम् भवेत॥

किसी वस्तु का सुलभ होना या दुर्लभ होना और उसकी उपयोगिता की मात्रा से वस्तु की बाजार-कीमत बढ़ती या घटती है।

यह स्वाभाविक ही है कि उद्योगपति इस सिद्धांत के विरुद्ध हैं और सरकार इस समस्या का हल ढूंढ़ नहीं पा रही है। यद्यपि उसने 'कृषि कीमत आयोग' (Agricultural Prices Commission) को 'कृषि लागत और कीमत आयोग' (Commission for Agricultural Costs and Prices) के रूप में परिवर्तित कर दिया है। केन्द्र सरकार के कृषि मंत्रालय ने अपने तरीके से अस्पष्ट और संदिग्ध अर्थ वाली शैली में यह कहा है कि "कृषि लागत और कीमत आयोग किसी भी वस्तु

की कीमत तय करते समय उसकी समस्त आर्थिक संरचना पर एक विहंगम और व्यापक दृष्टि डालता है और साथ ही कुछ और तत्त्वों के बारे में विचार करता है जैसे उत्पादन की लागत, मांग और प्रदाय, फसलों के बीच कीमत की समानता, औद्योगिक लागत संरचना पर प्रभाव, साधारण मूल्य स्तर पर प्रभाव, निर्वाह व्यय पर प्रभाव, अंतर्राष्ट्रीय बाजार की कीमत की स्थिति और दी जाने वाली कीमत और प्राप्त कीमत के बीच समानता।"

यह कथन अत्यन्त लुभावना किन्तु अस्पष्ट है। अभी तक उक्त आयोग ने अपने किसी भी प्रतिवेदन में अपनी कार्य प्रणाली को स्पष्ट नहीं किया। उसने यह नहीं बताया कि कीमत के निर्धारण के लिए क्या सिद्धांत या सूत्र हैं और विभिन्न तथ्यों को कितना अधिमान दिया जाता है और जो लोग पूछना चाहते है उन्हें सरकार यह उत्तर देती है कि "यह कार्य-प्रणाली इतनी उलझी हुई है कि सामान्य व्यक्ति उसे समझ नहीं सकता।"

आज स्थिति यह है कि १९७०-७१ से औद्योगिक कीमतों की अपेक्षा कृषि-उत्पाद की कीमतें औसतन १० प्रतिशत कम रही हैं। १९७५-७६ और १९८२-८३ के बीच व्यापार के प्रतिकूल निर्बंधनों के कारण कृषि को ६३,६५ करोड़ रुपए की हानि हुई है। १२ राज्यों से इस विषय में जो आंकड़े उपलब्ध हैं उनके आधार पर १९७०-७१ की कीमत पर १९७९-८० में समाप्त होने वाले १० वर्ष की अवधि में कृषि क्षेत्र को १२,४८० करोड़ रुपए की सकल हानि हो चुकी है। सम्पूर्ण देश में उक्त अवधि के अंदर कृषि की अनुमानित हानि १८७२० करोड़ रुपए है जो १९७०-७१ की कीमत दर के आधार पर १९७९-८० की कुल कृषि आय के बराबर है। इस वर्ष की कृषि आय १८७७४ करोड़ थी। सातवें दशक में कृषि क्षेत्र अपनी १० प्रतिशत वार्षिक आय अन्य क्षेत्रों को दे रहा था। कृषि क्षेत्र से राजस्व के इस प्रकार निरंतर रिसने से पूंजी का बनना बंद हो गया और परिणामस्वरूप उत्पादन वृद्धि नहीं हुई। एक ओर तो कुल कृषि उत्पाद बढ़ते रहे और दूसरी और कृषि से होने वाली आय कम होती गई। कृषि उत्पाद का सूचक अंक १९७०-७१ में १११.५ था। जो १९८३-८४ में बढ़कर १५६.४ हो गया। १९७०-७१ की स्थिर कीमत पर खेतिहर मजदूरों की प्रति व्यक्ति आय इस अवधि में ४५०.५ रुपए से गिरकर ३६५ रुपए पर आ गई। इस प्रकार कृषि उत्पादन में ४० प्रतिशत की वृद्धि हुई और कृषि क्षेत्र की प्रति व्यक्ति आय में १९ प्रतिशत की कमी आ गई।

एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य पर ध्यान नहीं जाता। औद्योगिक क्षेत्र में सभी उत्पादन विक्रय के लिए आता है। किंतु कृषि क्षेत्र में उत्पादन का एक भाग जैसे अनाज अपने उपभोग के लिए होने के साथ-साथ वस्तु के रूप में अदायगी के लिए भी है। किंतु यह सभी जानते हैं कि छोटे उद्योगपतियों की खाद्यान्न भंडारण क्षमता छोटे किसान से कहीं अधिक है।

सहायिकी

सहायिकी की समस्या भी बड़ी जटिल है। सीमान्त और छोटे कृषकों को ग्राम विकास कार्यक्रम के अधीन जो सहायिकी दी जा रही है अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजातियों को जो वित्तीय सहायता दी जाती रही है वह दूसरे देशों में निर्धन व्यक्तियों को दी जाने वाली सामाजिक सुरक्षा के समान है। यहां उसको सहायिकी नाम देना गलत है। सहायिकी का मुख्य भाग कृषि निवेश के प्रदायकर्ताओं जैसे उर्वरक, सिंचाई, ऊर्जा आदि को दिया जाता है, कृषकों को नहीं। एक प्रकार से देखा जाए तो यह सहायिकी उन उद्यमियों को दी जा रही है जिन्हें, उद्योग ठीक तरह से संचालित न होने के कारण, पूंजी निवेश के निर्माण में हानि होती है। अतः इन सहायिकियों का मुख्य भाग वस्तुतः उद्योग और सरकारी संस्थानों को दिया जाता है, कृषकों को नहीं। भारत में कृषि क्षेत्र के लिए 'सहायिकी' शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया जाता है उस अर्थ में विश्व भर में कहीं नहीं किया जाता। विदेशों में कृषि क्षेत्र के संदर्भ में 'सहायिकी' शब्द का प्रयोग उस धन-राशि के लिए किया जाता है जो कृषकों को आंतरिक और बाह्य व्यापार की परिस्थितियां मुक्त होने के बाद दी जाती है। इसके विपरीत भारत में कृषकों को गेहूं और चावल की जो कीमतें मिल रही हैं वे उस कीमत से बहुत कम हैं जो उन्हें इन वस्तुओं का खुले बाजार में निर्यात करने से उन्हें प्राप्त हो सकती हैं। यह एक प्रकार से प्रतिलोम या विपरीत सहायिकी (Reverse Subsidy) है और इसकी रकम विशाल है।

सौतेला व्यवहार

कृषि के प्रति सरकार का जो सौतेला व्यवहार है उसका अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि छठी योजना में कृषि और सिंचाई के लिए सरकार का पूंजीनिवेश १८.३ प्रतिशत था जो सातवीं योजना में घटकर १५.२ प्रतिशत पर रह गया और हाल में उसे १३ प्रतिशत कर दिया गया है।

मार्ग क्या है ?

सरकार ने निर्धन किसानों के विरुद्ध जो जेहाद चलाया है उसका कोई औचित्य नहीं है। सरकार योजनाओं की प्राथमिकताओं में कृषि को उसका उचित स्थान प्रदान करे और यह सुनिश्चित करे कि कृषि क्षेत्र को आबंटित रकम उन लोगों तक पहुंचे जिनके लिए वह निर्धारित की गई है। भ्रष्ट कर्मचारी और गांवों में रहने वाले धनी लोग मिल कर उसे हड़प न लें। भारतीय खाद्य निगम और राज्य सरकारों द्वारा किए जा रहे बेकार के खर्च खत्म कर दिए जाएं। कृषि निवेशों संबंधी केन्द्र और राज्यों के अधिकार समाप्त कर दिए जाएं। कृषि उत्पाद और कारखानों में निर्मित माल के बीच समता स्थापित की जाए।

अर्थात् जो किसान को खरीदना पड़ता है और जो किसान बेचता है उसके बीच समानता हो, और जल, विद्युत, उर्वरक, बीज, डीजल, कीटनाशक, कृषि औजार आदि कृषि निवेशों पर समुचित सहायिकी दी जाए तो कृषकों की उत्पादन लागत बहुत घट जाएगी तथा कृषकों को उनके उत्पादन के लिए लाभप्रद कीमत देना कठिन नहीं होगा। इससे नगर के उपभोक्ताओं पर भी भार में वृद्धि नहीं होगी। अपितु यह भार घटता जाएगा। पिछले चार दशकों से सरकार ने बड़े-बड़े पूंजीपतियों को वित्तीय सहायता और अन्य सुविधाएं दी हैं। यदि इतनी ही सुविधाएं छह वर्ष के लिए कृषकों को दी जाएं तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस लघु अवधि के समाप्त होने पर कृषकों और उपभोक्ताओं के हित में जो कृत्रिम संघर्ष दिखायी पड़ता है वह तिरोहित हो जाएगा। जब कृषकों को लाभप्रद कीमतें मिलने लगेंगी तो वे श्रमिकों को भी उचित मजदूरी देंगे। अभी ग्रामों में जो अशान्ति दिखायी देती है उसका कारण यह नहीं है कि किसान मजदूरों को सही मजदूरी नहीं देना चाहता बल्कि उसकी कठिनाई यह है कि वह सही मजदूरी दे नहीं सकता। वैसे हर समुदाय में कुछ स्वार्थी असामाजिक तत्त्व रहते हैं, किंतु वे अपवाद हैं। गांवों में श्रमिकों, कृषकों और कारीगरों के बीच अभी भी परम्परागत सद्भाव है, यद्यपि उसे बिगाड़ने के लिए राजनेता निरंतर प्रयत्नशील हैं। उन संबंधों को और सुदृढ़ किया जा सकता है। इसलिए कमी यह नहीं है कि इस समस्या का हल नहीं निकल सकता बल्कि वास्तविक कमी तो यह है कि सरकार में इच्छाशक्ति ही नहीं है। यह भी कहा जा सकता है कि सत्तारूढ़ दल का दलगत स्वार्थ इसी में है कि इस प्रकार संघर्ष बढ़ता रहे।

यह आशा करना व्यर्थ है कि वर्तमान सरकार उन वस्तुओं की कीमतों को रोक सकेगी जो किसान खरीदता है।

सरकार कृषि में निवेश की जाने वाली वस्तुओं पर सभी प्रकार के केन्द्रीय और राज्य कर लगाती है। हम इस बात का आग्रह करते हैं कि उन्हें स्रोत पर ही प्रभावी सहायिकी दी जाए। १९८६ के 'रिसर्च हाईलाइट' में सरकार ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि कृषि निवेश और कृषि उत्पाद की कीमतों में असमानता बढ़ती जा रही है। हमारे सुझाव का महत्त्व और उसकी उपादेयता इसी से प्रकट हो जाती है।

१९६८-८० के बीच कृषि निवेश के साधारण सूचकांक में ३१७ प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि कृषि वस्तुओं के कीमत सूचकांक में वृद्धि १३५ प्रतिशत हुई। १९८६-८७ के 'रिसर्च हाईलाइट' में, जो कृषि मंत्रालय ने प्रकाशित किया है, यह कहा गया है कि १९७०-७१ से कृषि निवेश की कीमत कृषि उत्पाद की अपेक्षा २.३५ गुना तीव्र गति से बढ़ी है।

पारिस्थितिकी

पारिस्थितिकी संबंधी पूर्व सावधानियों के मामलों में भी ग्रामीण क्षेत्रों के साथ विभेद किया जाता है।

यह सामान्यतया स्वीकार किया जाता है कि आधुनिकीकरण से सभी प्राकृतिक साधन स्रोत प्रदूषित हो गए हैं जैसे भूमि, जल, वायु और पर्यावरण। हमने प्रकृति का उपयोग करने के स्थान पर उसका शोषण किया है। अमरीका ने १८९९ में इस समस्या की ओर ध्यान देते हुए पहला कानून बनाया किंतु भौतिकवाद और उपभोक्तावाद के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण यह प्रारम्भिक कदम व्यर्थ हो गया। प्राकृतिक संसाधन सीमित हैं। मनुष्य की आकांक्षाएं असीमित हैं। भूमि, जल और वायु के प्रदूषण के अतिरिक्त पर्यावरण में, अनेक प्रकार के अन्य प्रदूषण हो गए हैं जैसे ध्वनि, विकिरण, कीटनाशक, अम्ल वर्षा आदि।

पश्चिम के अनुयायी होने के कारण हमारे योजना निर्माताओं ने यह स्वीकार कर लिया कि कानपुर, मुम्बई, कलकत्ता, दिल्ली और मद्रास आदि बड़े नगरों में पर्यावरण प्रदूषण बहुत हुआ यह मानकर उन्होंने उस ओर ध्यान दिया। यद्यपि यह ध्यान देना अपर्याप्त मात्रा में था, फिर भी उसके निवारण के लिए कुछ उपचारात्मक उपाय किए गए। इस प्रयोजन के लिए अधिनियम भी बनाए गए। भोपाल, चेरनोबिल जैसी घटनाओं से साधारणजन का ध्यान भी इस उपेक्षित विषय की ओर केन्द्रित हुआ। अभी हाल में वियना स्थित अंतर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा अधिकरण ने अपने १९८८ के नाभिकीय सुरक्षा से संबंधित वार्षिक प्रतिवेदन में यह कहा कि नाभिकीय शक्ति के लगभग ५००० रिएक्टर वर्ष हो जाने और लोक सुरक्षा का सन्तोषजनक रिकार्ड होने के बाद भी जनता में यह चिंता है कि नाभिकीय शक्ति में जोखिम बहुत अधिक है। नाभिकीय दुर्घटना की आशंका के बारे में इस सामान्य-सी जनता की चिन्ता का विवरण देते हुए इस प्रतिवेदन में विकिरण-सक्रियता अपशिष्ट (Radio-active-waste) के प्रबन्ध और परिवहन, वायुयान दुर्घटनाओं, नाभ्य संयंत्र के आसपास भूकंप और नाभिकीय दुर्घटना के जोखिम तथा सैन्य नाभिकीय सुविधाओं के प्रदूषण से होने वाले खतरों को मुख्यतः गिनाया गया है।

किंतु यह बढ़ी हुई चिन्ता भी केवल शहरी तथा औद्योगिक क्षेत्रों तक ही सीमित है। ग्रामीण क्षेत्रों के साथ-साथ वन और पर्वतीय क्षेत्रों में प्रदूषण का जो दुष्प्रभाव पड़ा है उसकी गंभीरता को अभी भी अनुभव नहीं किया गया है। वनों को अविचारपूर्ण ढंग से काटने के कारण भूमि का रक्षण हो गया है, वर्षा अनियमित हो गई है और भूगर्भ के जल-स्रोत कम हो गए हैं। ग्रामीण क्षेत्र के निर्धनों की दैनंदिन आवश्यकताएं जैव मात्रा या तत्संबंधी उत्पादन से पूरी होती हैं। भोज़न और जलाने वाली लकड़ी या ईंधन के अतिरिक्त गाय का गोबर, फसलों का कचरा, चारा, उर्वरक या रासायनिक खाद, वनों की घास-फूस, सूखी पत्तियां, भवन निर्माण में काम आने वाली वस्तुएं जैसे छप्पर और अन्य सभी आधारभूत सामग्रियां जैव मात्रा के उत्पाद हैं। भारत में ५० प्रतिशत से अधिक ईंधन भोजन बनाने में व्यय होता है। भोजन बनाने के लिए जो ईंधन खर्च होता है उसमें से ९० प्रतिशत जैव द्रव्य से मिलता है। केवल दिल्ली में ही डेढ़ करोड़ रुपए की लकड़ी खुदरा रूप में बेची जाती है। पर्यावरण असंतुलन से ग्रामीण क्षेत्र के निवासियों की परम्परागत हस्तकलाएं, आवास, परिवहन और जीवन शैली पर बहुत गहरा प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। भारत के पास विश्व की भूमि का २.४५ हिस्सा है किंतु उसके पास

विश्व के १५ प्रतिशत गाय-बैल,५२ प्रतिशत भैंसे और १५ प्रतिशत बकरियां हैं।

सस्ते जैव द्रव्य पर आधारित कच्चे माल से चलने वाले औद्योगीकरण की खोज और कूड़े-कचरे को सस्ते ढंग से फेंकने के तरीकों ने उन संबंधित कानूनों का मजाक बना डाला है जो पहले ही अपूर्ण थे। दूसरी ओर राजनेता थोड़े से धन की प्राप्ति के लिए प्रदूषण को प्रोत्साहित करने के लिए सदैव तैयार रहते हैं। इससे स्थिति और जटिल हो गई है। मूल प्रकृति को नष्ट किया जा रहा है और वाणिज्यिक रूप से लाभप्रद नई प्रकृति का सृजन हो रहा है। चिनार के वनों के स्थान पर चीड़ के वन लगाए जा रहे हैं। साल के वनों के स्थान पर सागोन के जंगल लगाए जा रहे हैं और प्राकृतिक वनों के स्थान पर सफेदा (युकिलिप्टस) के पेड़ उगाए जा रहे हैं। पारिस्थितिक रूपान्तर या विनाश का जो मूल्य समाज को चुकाना पड़ेगा वह बहुत अधिक होगा। चरागाह की भूमि का विनाश करने पर उन २०० घुमंतू जनजातियों का क्या होगा जो मुख्यतया घूमते हुए जानवरों को चराते हैं। इनकी संख्या लाखों में है। हमारी नदियां और समुद्र औद्योगिक कूड़े-कचरे को प्राप्त करने वाले कूड़ेदान बना दिए गए हैं। इससे जल प्रदूषण तो हुआ ही है, हजारों मछुआरों को अपनी जीविका खोनी पड़ी है। हमारे योजनाकर्ता और राजकर्ता इस बात के दोषी हैं कि उन्होंने पूंजीपतियों की सहायता करने के लिए जानबूझकर हमारे पर्यावरण की उपेक्षा की है।

यह सोचना गलत है कि भारत एक विशाल देश है और इसलिए विस्तृत पर्यावरण योजना बनाने का काम भविष्य के लिए स्थगित किया जा सकता है और अभी तदर्थ रूप से हम कुछ उपाय करके समस्या का संतोषजनक हल निकाल लेंगे।

राजस्थान में हाल ही में जो घटना हुई है उससे इस विषय पर सरकार की निष्ठा पर संदेह उत्पन्न होता है। सरकार के पास इतनी समर्पित जन-शक्ति नहीं है कि वह उपलब्ध भूमि के एक हिस्से में वन लगा सके। इसमें जनता का भाग लेना आवश्यक है। किंतु जनता को उत्साहित करने के बजाय अलवर के जिला प्रशासन ने तरुण भारत सिंह नामक व्यक्ति पर ४९५० रुपए का जुर्माना इसलिए किया कि उसने वृक्षारोपण करने में सहायता की थी।

सूने गांव

सरकार की गलत नीतियों के परिणामस्वरूप बड़ी मात्रा में ग्रामीण लोग अपना घर-बार छोड़कर अन्यत्र जा रहे हैं।

प्रत्येक देशभक्त को सूने गांव देखकर दुख होता है। हो सकता है कि हम नगरीकरण को प्रोत्साहित न करते हों किंतु यह तथ्य भी सही है कि ग्राम से नगर की ओर पलायन को हम रोक नहीं पाए हैं। ग्रामीण क्षेत्रों की जनसंख्या बीस करोड़ के लगभग है और नगर की जनसंख्या चार प्रतिशत प्रतिवर्ष

के हिसाब से बढ़ रही है। राष्ट्रीय उत्पाद का ५० प्रतिशत नगरों से आ रहा है। सन् २००१ तक स्थिति यह हो जाएगी कि हर तीस भारतीयों में से एक नगर में रहेगा। कम से कम तीन नगर एक करोड़ से ऊपर जनसंख्या वाले हो जाएंगे और ४५ नगरों की जनसंख्या दस लाख से अधिक होगी। आज नगरों की जनसंख्या का २८ प्रतिशत निर्धनता की रेखा से नीचे है। इसका समुचित हल निकालने के लिए कोई कार्यक्रम न बनाये जाने के कारण निकट भविष्य में शहरों के अंदर बेकारों की संख्या और बढ़ेगी। योजना आयोग ने यह अनुमान लगाया है कि सन २००० तक जनसंख्या १९८५ के अनुमान की अपेक्षा तीन करोड़ साठ लाख अधिक होगी। १९८१ में नगरों की जनसंख्या पंद्रह करोड़ साठ लाख थी जिसके बारे में अनुमान है कि २००१ तक ३३ से ३५ करोड़ के लगभग हो जाएगी और २०२१ में ४३ करोड़ होगी। जल प्रदाय, स्वच्छता, मल-निकासी, अस्पताल-गाड़ी, अग्नि शमक यंत्र, सड़क पर प्रकाश, गंदे पानी को शुद्ध करना तथा निकासी, सार्वजनिक शौचालय, श्मशान, कब्रिस्तान, उद्यान, खेल के मैदान, रात्रि विश्राम गृह, परिवहन, अस्पताल, पाठशालाएं, प्रसूतिगृह, सड़क, पुल, बिजली, मकान, निराश्रितों के लिए विश्राम गृहों, गंदी बस्तियों के सुधार आदि आधारभूत सेवाओं और सुविधाओं की व्यवस्था करना एक भीमकाय समस्या होगी। १९८१ में मलिन बस्तियों में रहने वालों की संख्या चार करोड़ थी। इनकी दशा में सुधार लाने में सक्षम कोई कम लागत वाली तकनीक अभी तक विकसित नहीं हुई है। कलकत्ता के महानगर विकास प्राधिकरण ने सर्वेक्षण करके यह पाया है कि १९७५ में दो लाख लोग फुटपाथ पर रहते थे और इनमें से ५६ प्रतिशत की आय ८० रुपए प्रतिमास से कम थी। योजना आयोग ने इस समस्या की ओर ध्यान नहीं दिया कि नगरों की वृद्धि के साथ यह समस्या भी बढ़ती जाएगी। मुम्बई में एशिया की सबसे बड़ी झोंपड़ पट्टी 'धारावी' इस बात का स्पष्ट उदाहरण है। लोक स्वास्थ्य के कार्यक्रम अभी भी सामर्थ्य के बाहर हो रहे हैं। योजना आयोग ने स्थानीय स्वास्थ्य संस्थाओं को इन आधारभूत सेवाओं और सुविधाओं को प्रदान करने के लिए और आने वाले दशक में नगरों की वृद्धि के साथ-साथ अपनी क्षमता की वृद्धि करने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया है। फलस्वरूप, आने वाले दशकों में नगरों का आकार उनकी प्रशासनिक क्षमता से बाहर हो जाएगा। स्थानीय निकायों की जिम्मेदारी संभालने वाले नगर विकास प्राधिकरणों का कार्यक्रम कोई अच्छा नहीं है। वह काफी दोषपूर्ण है। योजना आयोग इस आने वाली विभीषिका का सामना करने के लिए कोई योजना की तैयारी नहीं कर रहा है। चुनाव जीतने पर दृष्टि रखकर पंचायत राज के नाम पर केन्द्र से सीधे पंचायतों को धन उपलब्ध कराने से भी इस समस्या का हल संभव नहीं है।

इस अबाधित नगरीकरण की वृद्धि के भयंकर परिणामों की ओर योजना आयोग ने कतई ध्यान नहीं दिया है। नगरीकरण के दबाव में कुटुंब और ग्रामीण बिरादरी का विघटन हो गया है। औद्योगिक क्षेत्रों में सामाजिक जीवन समाप्त हो गया है। गंदे और अपर्याप्त मकानों, गंदी बस्तियों, औद्योगिक दुर्घटनाओं, गांव से नगर आए हुए व्यक्तियों के एकाकीपन, स्त्री-पुरुष के अनुपात में असंतुलन, मनोवैज्ञानिक रूप से उखड़े हुए और अपने स्वाभाविक सामाजिक परिवेश से विलग ग्रामीणों में सामाजिक, नैतिक मूल्यों में आयी गिरावट, औद्योगिक जीवन के एकाकीपन, भौतिक और अभौतिक तत्त्वों में असन्तुलन, नवीन जीवन-शैली को अपनाने में असमर्थता, पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव के कारण

परम्परागत सांस्कृतिक मूल्यों का ह्रास और उनके स्थान पर नवीन जीवन-मूल्यों का विकसित न हो पाना संपूर्ण राष्ट्र के लिए गंभीर चिन्ता का विषय है। इसके साथ ही यह संकट धार्मिक और शैक्षणिक संस्थाओं में आने वाली गिरावट, मौजूदा सामाजिक इकाइयों में असामंजस्य रूढ़िगत और आधुनिक अंधविश्वास, जाति और सम्प्रदाय के विद्वेष तथा भ्रष्टाचार के बढ़ते हुए खतरों से स्थिति और जटिल हो गई है। इसीलिए आज यह कहा जाता है कि शहर जितना बड़ा होगा उतना ही अधिक प्रति व्यक्ति अपराध की दर होगी।

औद्योगिक रुग्णता

इस अति-नगरीकरण की आग में औद्योगिक रुग्णता घी का काम करती है। औद्योगिक श्रमिकों ने सरकार को यह चेतावनी दी थी कि औद्योगिक अशांति के कारण जो उत्पादन की हानि होती है वह बहुत थोड़ी होती है। हानि के मुख्य कारण हैं (१) खराब क्वालिटी का कच्चा माल या कच्चे माल का उपलब्ध न होना, (२) मांग की अपर्याप्तता, (३) संतुलनकारी उपकरणों की कमी, (४) पूंजी की कमी, (५) मशीन का खराब हो जाना, (६) प्रबन्ध संरचना की त्रुटियां, (७) प्रबन्धकों के विभिन्न वर्गों में वैमनस्य; और (८) अनुचित विपणन तथा निर्यात नीति। सरकार ने इस पहलू की ओर ध्यान नहीं दिया।

औद्योगिक रुग्णता में जो वृद्धि हो रही है उसकी जिम्मेदारी से योजना आयोग अलग नहीं हो सकता। यदि इन उद्योगों की दक्षता का मूल्यांकन किया जाता और पहले से चेतावनी देने की प्रणाली अपनायी जाती तो इस विपत्ति से बचा जा सकता था। भारतीय रिजर्व बैंक ने ३७८ इकाइयों का जो अध्ययन किया था उनसे रुग्णता के कारणों का निम्नलिखित विश्लेषण प्राप्त होता है।

रुग्णता का कारण

	संख्या	प्रतिशत
१. कुप्रबन्ध/प्रबन्ध में त्रुटि	११७	५२%
२. दोषपूर्ण योजना और तकनीकि कमियां	५२	१४%
३. श्रमिक संकट	९	२%
४. बाजार में गिरावट या मंदी	८६	२३%
५. अन्य कारण जैसे बिजली की कमी या कच्चे माल का पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न होना।	३४	९%
	३७८	१००%

पूंजीपतियों को तुष्ट करने की नीति औद्योगिक रुग्णता का सबसे बड़ा कारण है। छठी योजना में यह कहा गया था कि 'इससे केवल बेरोजगारी की समस्या ही नहीं बढ़ती बल्कि पूंजी-निवेश में भी

अवरोध उत्पन्न होता है और इससे उद्योगों की वृद्धि के लिए अनुकूल वातावरण नहीं बन पाता।" इसका सबसे स्पष्ट साक्ष्य यह है कि सरकार ने अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के ८७ वें अभिसमय की संपुष्टि करने से इनकार कर दिया। यह अभिसमय संगठन बनाने की स्वतंत्रता और संगठन के अधिकार के संरक्षण से संबंधित है। इसी प्रकार अभिसयम ९८ के साथ हुआ जो सामूहिक सौदेबाजी के श्रमिक अधिकार के बारे में है। छठी योजना के अन्त में यह कहा गया था कि "रुग्णता का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण प्रबन्धकों की अक्षमता या अयोग्यता है। शुद्ध लाभ को देखते हुए बहुत ऊंची दर पर लाभांश घोषित करना। विक्रय अभिकर्ताओं को बहुत अधिक कमीशन देना, अनुषंगी कंपनियों को एकमात्र विक्रेता नियुक्त करना आदि कुछ ऐसे तरीके हैं जिनसे औद्योगिक इकाइयों का धन बाहर चला जाता है। अपने कुकृत्यों के लिए उद्योगपतियों को दंडित नहीं किया जाता। अधिक से अधिक उनके उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर लिया जाता है।" इसके पश्चात् बनी योजनाओं में इस टिप्पणी पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। इसी कारण हम आज स्वयं को इस भयानक स्थिति में पाते हैं।

यदि हम हाल ही में छंटनी किए गए श्रमिकों की समस्या के साथ घरेलू नौकरों, अनौपचारिक सेक्टरों में काम कर रहे श्रमिकों जैसे दोपहर को खाने के डिब्बे पहुंचाने वाले कर्मचारियों, जूता पालिश करने वाले, अपने माता-पिता से दूर रहकर भारी काम करने वाले बच्चों, काम के लम्बे घंटों, अमानवीय व्यवहारों, पेंशनरों, भूतपूर्व सैनिकों, विभिन्न ऐच्छिक संगठनों में कम वेतन पर काम करने वाले कर्मचारियों, विभिन्न उद्योगों में कार्यरत असंगठित श्रमिकों, रेलवे गार्डों, गोदामों, माल-घरों और गोदी कर्मचारियों आदि की संख्या को जोड़ दें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि यह समस्या कितनी अधिक विकराल बन चुकी है।

घरेलू बचत

घरेलू बचत भी एक निरन्तर तंग करने वाली समस्या है।

घरेलू बचत की दर में कमी हुई है। इसके लिए गृह उत्पाद के अनुपात के रूप में १९८६-८७ में यह २१.६ प्रतिशत थी जो १९८७-८८ में २०.२ प्रतिशत हो गई।

इस अवधि में हमने, पारंपरिक ग्रामीण बचत की जो आदत थी, उससे लाभ नहीं उठाया। हमने अल्प बचतों को प्रोत्साहन देकर उन्हें औद्योगिक पूंजी निवेश करने से संबंधित वाणिज्यिक, ऋण और राजकोषीय नीति नहीं बनायी। हमने इस तथ्य की पूरी उपेक्षा कर दी कि अपने देश में घरेलू बचत कुल बचत का ७५ प्रतिशत है और अधिकतर घरेलू बचत करने वाले ही पूंजीनिवेश करते हैं। पश्चिमी

देशों में ऐसा नहीं है। प्राइवेट सेक्टर का इस क्षेत्र में कार्य संतोषजनक नहीं रहा और पब्लिक सेक्टर का तो उससे भी अधिक खराब हाल है। हमने पूंजी-निर्माण के लिए सादगी और मितव्ययता के परम्परागत सांस्कृतिक मूल्यों से लाभ नहीं उठाया।

अब आठवीं योजना में हमें यह बताया गया है कि घरेलू बचत को २१.४ प्रतिशत से बढ़ाकर २४.१ प्रतिशत किया जाएगा और कुल पूंजी निवेश को २३.२ प्रतिशत से बढ़ाकर २५.९ प्रतिशत किया जाएगा।

तीन कारण

अब यह सुस्थापित हो गया है कि मुद्रास्फीति के तीन मुख्य कारण हैं— घाटे का अर्थव्यवस्था, काला धन और बेलगाम फायदे वाले लाभांश और ब्याज की दरें। इन तीनों बातों के लिए दोष केवल सरकार के मत्थे ही मढ़ा जाएगा।

समानान्तर अर्थव्यवस्था

राष्ट्रीय विकास करने की हमारी यात्रा प्रारम्भ होते ही यह दिखायी पड़ रहा था कि एक समानान्तर अर्थव्यवस्था उत्पन्न होगी क्योंकि हमने लाइसेंस, परमिट, कोटा, मूल्य निर्धारण प्रक्रिया, प्राथमिकताएं, सहायिकी, माफी और छूट, कर-नियमों में खामियां, बहुविध नामों के आधार पर खातों को खोलना और उनके आधार पर भुगतान, अर्थव्यवस्था में अनेक और समानान्तर सरकारी अभिकरणों की क्रियाशीलता आदि की व्यवस्था करके नई समानान्तर अर्थव्यवस्था को जन्म देने की पृष्ठभूमि स्वतः तैयार कर दी थी। यद्यपि वांचू समिति (१९६१-६९), अन्य स्वतंत्र अभिकरण (१९७८-७९) और राष्ट्रीय लोक वित्त और नीति संस्थान (१९८३-८४) ने जो अनुमान दिए हैं उनकी सत्यता के बारे में संदेह किया जा सकता है फिर भी यह तथ्य स्वीकार करना ही होगा कि इस अवधि में काले धन में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। राष्ट्रीय आय के अनुपात में भी यह बहुत अधिक बढ़ गया है। १९४६ में और उसके पश्चात् १९७८ में विमुद्रीकरण किया गया किन्तु उसके परिणाम भी आशा के अनुरूप नहीं रहे। विशेष धारक बंधपत्रों पर भी अनधिकृत प्रीमियम मिलने लगा और उससे काले धन में वृद्धि हुई। नागरिकों को यह सुविधा भी दी गई कि वे जब तक चाहें तब तक काला धन कमाएं और फिर स्वैच्छिक प्रकटन योजना (Voluntary Disclosure Scheme) के अन्तर्गत अपने धन की घोषणा करके दंड से बचने के साथ-साथ काले धन को सफेद बना लें।

कर संरचना

अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के एक अध्ययन में यह कहा गया है कि इस बुराई के लिए दो बातें जिम्मेदार हैं, एक तो कर और दूसरी, नियंत्रण। (वास्तविक या बनावटी कमी से इस प्रक्रिया को बल मिलता है) करदाताओं को कर देने के लिए प्रोत्साहित करने के लिए कर की दरों में कमी करने से यह समाप्त नहीं होता। हमारे राष्ट्रीय उद्देश्यों के प्रकाशन में समस्त कर-संरचना का पुनरीक्षण और व्यवस्थित किया जाना आवश्यक है। यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएं कर से मुक्त हों और राष्ट्रीय न्यूनतम आय से नीचे जिनकी आय है उन पर कोई कर न लगाया जाए। हमारे देश में प्रत्यक्ष कर का संग्रह बहुत कम है। कराधान के द्वारा अधिकतम और न्यूनतम के बीच अनुपात स्थिर किया जा सकता है वैसे ही जैसे नगरीय और ग्रामीण भूमि की अधिकतम सीमा तय करके किया गया है।

नियंत्रण

कुछ दशाओं में नियंत्रण से सहायता मिल सकती है। राजनेता, अधिकारी वर्ग और व्यापारी लोग विवेकाधिकार रहित एवं स्वचालित नियंत्रण की व्यवस्था के स्थान पर अपने को प्राप्त विवेकशील अधिकारों के अन्तर्गत प्रशासनिक नियंत्रण को वरदान समझते हैं। उद्योगपति विधिक उपबंधों की कोई परवाह नहीं करते। हाल ही में यह पाया गया है कि एक उद्योगपति ने उधारपत्र (Letter of Credit) पर पूर्वदिनांकन किया था। इसकी जांच के आदेश प्रशासनिक अधिकारियों और केन्द्रीय जांच ब्यूरो को दिए गए और उनको वापस ले लिया गया। आयात नीति में परिवर्तन के बारे में सूचना पहले ही बाहर पहुंच जाती है। सीमाशुल्क की चोरी होती है और आर्थिक मंत्रालयों का नियंत्रण अपने हाथ में लेने के लिए अधिकारी वर्ग को अपने अनुकूल बनाए रखने के सफल प्रयास किए जाते हैं। जो लोग कर नहीं देते हैं उनमें दिल्ली के एक प्रसिद्ध भवन निर्माता भी हैं जिन्हें २८६ करोड़ रुपये की कर अदायगी करनी है। डा० धर्मतेजा का मामला सर्वविदित है। कुछ पब्लिक सेक्टर के निगम भी इसी सूची में आते हैं। राजनीति में धन की भूमिका निरन्तर बढ़ती जा रही है और यह ऐसा रहस्य है जिसे सभी जानते हैं।

जब निर्माता अपने उत्पादन के आंकड़ों को कम करके बताते हैं या उन्हें छिपाते हैं तब उससे काला धन उत्पन्न होता है। इससे उत्पाद शुल्क, विक्रय कर और आयकर की अपवंचना या चोरी भी होती है। काला धन जमाखोरी के लिए धन जमा करने का एक साधन बन जाता है। मुद्रा संबंधी नीति के उद्देश्य इसी कारण असफल होते हैं। सट्टेबाजों को उससे काफी लाभ पहुंचता है। उन्हें सरकार से कर की चोरी करते हुए अत्यधिक लाभ कमाने का मौका मिल जाता है। कुछ समय तक भू-संपत्ति या स्वर्ण या अवैध रूप से आयातित विदेशी माल में काला धन लगाया जाता था अब उसका उपयोग

आयातित माल को अपने देश में कानूनी रूप से बेचने या उनकी नकल करके वैसा ही माल तैयार करने में किया जाता है। इस समानांतर आर्थिक व्यवस्था से समाज विरोधी तस्करी, भ्रष्टाचार और विलासिता की वस्तुओं से जुड़े उपभोक्तावाद का जन्म होता है और अंत में यह देश की नैतिकता और समाज के सांस्कृतिक मूल्यों को नष्ट कर देता है।

भ्रष्टाचार

इस विषय में प्रशासन का उत्तरदायित्व बहुत अधिक है और उसकी अधिक व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस सच्चाई को सभी व्यक्ति जानते हैं कि राष्ट्र विरोधी तत्वों के प्रति प्रशासन सदा नरम रुख अपनाता रहा है। यदि कर-वंचकों, चोर बाजारियों, जमाखोरों, तस्करों, सट्टेबाजों, मिलावट करने वालों, आर्थिक अपराधियों और अन्य भ्रष्ट-तथा असामाजिक तत्त्वों के प्रति कठोर रुख अपनाया गया होता और उन्हें दोष सिद्धि की तारीख से छह वर्ष तक निर्वाचन लड़ने के लिए अयोग्य घोषित कर दिया जाता तो ऐसी स्थिति नहीं बनती। आयकर अधिनियम की दूसरी अनुसूची के भाग (५) की धारा ७३ के अधीन कर न देने वाले कितने लोगों को आज तक कारावास भेजा गया है ? (जबकि वास्तविकता यह है कि उस धारा के अधीन दंड भय उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त नहीं है)। काला धन और अधिकारी वर्ग तथा राजनेताओं के बीच निरन्तर बढ़ते हुए संबंधों की जानकारी किसे नहीं हैं ? इसके कारण भ्रष्टाचार, अपराध, पापाचार और हिंसा बढ़ती है।

यह सब जानते हैं कि भ्रष्टाचार फैला हुआ है। भ्रष्टाचार के दायरे में किसी सार्वजनिक पद की शक्ति और प्रभाव का अनुचित उपयोग भी सम्मिलित है। इसी प्रकार सार्वजनिक जीवन में अपनी विशेष स्थिति का दुरुपयोग भी भ्रष्टाचार है। रॉबर्ट सी० ब्रुक्स ने यह कहा है कि "राजनीतिक भ्रष्टाचार तब होता है जब व्यक्तिगत लाभ के लिए कोई राजनेता अपने लिए निर्धारित कर्तव्य का पालन नहीं करता। इस भ्रष्टाचार में कम या अधिक कुछ पाने के बदले में विधि-विरोधी कार्य किया जाता है।" पुनः जैसा कि इलिअट और मैरिल ने कहा है कि "व्यापार में भ्रष्टाचार का सहारा, राजनीति में भ्रष्टाचार और संगठित अपराध ये तीनों मिलकर समाज का विघटन करते हैं। इन तीनों का लक्ष्य बिना प्रयत्न के लाभ प्राप्त करना होता है।" भ्रष्टाचार निवारण समिति ने यह कहा था कि द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भ्रष्टाचार बढ़ा और स्वतंत्रता के पश्चात् उसमें और अधिक वृद्धि हुई। सरकार के अधिकार क्षेत्र में विनियमन, नियंत्रण, लाइसेंस, परमिट, वस्तुओं का अभाव या न्यूनता, विवेकाधीन शक्तियां, लोकतांत्रिक सरकार की लूट-प्रणाली तथा एक ओर राजनेता और बड़े व्यापारी में अपवित्र गठबंधन और दूसरी ओर राजनेताओं तथा अपराधियों के बीच सांठ-गांठ से भ्रष्टाचार बढ़ता है। हाल ही में आर्थिक अपराधों में बहुत वृद्धि हुई है। इनमें कर की वंचना या चोरी, शेयर के भाव बढ़ाना, शेयर मार्केट में गलत काम करना, कम्पनियों के प्रशासन चलाना, भवन-निर्माण और आपूर्ति में रद्दी माल लगाकर ठेकों को पूरा करना आदि शामिल हैं। राजनेताओं के दबाव के कारण संगठित अपराध करने

वाले अपराधी दंड से बच जाते हैं। जैसे होटलों में धोखाधड़ी, वेश्यावृत्ति, निषिद्ध क्षेत्रों में शराब की बिक्री, जालसाजी, जुआ, अवैध शराब की बिक्री, अपहरण और डकैती, मकानों में सेंध लगाकर चोरी करना, राजनीतिक हत्या आदि।

प्रत्येक आर्थिक गतिविधि में एक बिचौलिया होता है। विश्व में बिचौलियों की शक्ति जिस प्रकार बढ़ी है उसके बारे में डुमसीयर और बॉवर ने कहा है कि "यदि किसान अपना गेहूं मुफ्त में दे दे और चक्की वाला उसे मुफ्त में पीसकर आटा बना दे और रेल विभाग उस आटे को मुफ्त में वहन करे तब भी डबल रोटी की कीमत ४.२ सेंट ही होगी।" इन दलालों की यह प्रवृत्ति हमारी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर अपनी पकड़ और अधिक मजबूत करती जा रही है।

उदारीकरण

इन तथ्यों के होते हुए भी पूंजीवादियों द्वारा नियंत्रित समचार-पत्र साधारण जनता को तथाकथित 'नवीन आर्थिक नीति' की प्रकृति और गुण के बारे में भ्रम में डाल रहे हैं। इस 'उदारीकरण प्रक्रिया' में राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के मुद्रा और बैंक सहित सभी क्षेत्र आते हैं। कंपनी अधिनियम, औद्योगिक संबंध, पूंजी बाजार की संरचना और योजना-प्रारूप महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करने का प्रस्ताव है या उन्हें किया जा रहा है। सातवीं योजना में पहली बार ५३ प्रतिशत पूंजी निवेश प्राइवेट सेक्टर द्वारा किए जाने का अनुमान लगाया गया। इससे पहले वह ५० प्रतिशत से अधिक नहीं था। बहुत से उद्योग जो पब्लिक सेक्टर के लिए थे, अब प्राइवेट सेक्टर के लिए भी खोल दिए गए हैं। पहले उद्योगों का जो वर्गीकरण किया गया था अर्थात् पब्लिक सेक्टर, लघु सेक्टर, बिना लाइसेंस का सेक्टर, एकाधिकार हित सेक्टर, गैर-फेरा (Non-Fera) सेक्टर आदि को समाप्त किया जा रहा है। आयात-कोटा या आयात- निर्बन्धन के स्थान पर आयात-शुल्क को अधिमान दिया जा रहा है। संपदा शुल्क, दूरदर्शन, रेडियो आदि के लाइसेंस, फीस और चुंगी आदि का पुनरीक्षण हो रहा है। अतः निहित स्वार्थ वाले तत्त्वों द्वारा झूठा प्रचार किए जाने के बावजूद इन सभी से धनी और अधिक धनी हो जाएगा और निर्धन और अधिक निर्धन।

उदारीकरण के पक्ष में जो दावे किए जा रहे हैं उनका खोखलापन देश के आर्थिक परिदृश्य पर दृष्टि डालने से ही स्पष्ट हो जाता है।

राजस्व घाटा

सरकार के राजस्व और व्यय में संतुलन लाना साधारण आर्थिक वृद्धि के लिए ही नहीं वरन् कीमतों में स्थिरता लाने के लिए भी आवश्यक है। हम यह देख रहे हैं कि धीरे-धीरे सरकार का व्यय राजस्व की तुलना में अधिक तीव्र गति से बढ़ रहा है। इससे सरकार की बचत करने की प्रवृत्ति समाप्त होकर

उधार ली गई धनराशियों पर उसकी निर्भरता अधिकाधिक बढ़ती जा रही है। मुद्रा प्रणाली पर चक्रवर्ती समिति के प्रतिवेदन में यह बताया गया है कि मुद्रा-आपूर्ति में जो वृद्धि हुई है उसका कारण केन्द्रीय सरकार के बजट घाटे में हुई बढ़ोतरी है। मुद्रास्फीति वृद्धि की औसत दर में कमी करने के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा-आपूर्ति की औसत दर में कमी लायी जाए और यह तभी हो सकता है जब केन्द्रीय सरकार के बजट के घाटे को नीचे रखा जाए। इसके लिए सरकार के चालू व्यय में बहुत से प्रतिबंध लगाने पड़ेंगे। सभी तरह की फिजलूखर्ची और निम्न प्राथमिकताओं वाले व्यय को कम करना होगा, सार्वजनिक सेक्टर के उद्यमों को अधिक उत्पादन करना होगा। कर-राजस्व को ऊपर ले जाना होगा, सरकार की सहायिकी का लाभ उठाने वालों के अच्छे लक्ष्य निर्धारित करने होंगे, सरकार के राजस्व और व्यय के बीच में अच्छा संतुलन करने के लिए सार्वजनिक सेक्टर के गैर-योजना प्रशासनिक व्यय में बहुत बचत करनी होगी और कीमतों में स्थिरता कायम करनी होगी। इसी भांति गैर-योजना प्रशासनिक व्यय में महत्त्वपूर्ण कटौती करनी पड़ेगी।

नवें वित्त आयोग ने यह आशा प्रकट की थी कि ३१ मार्च, १९९५ तक राजस्व घाटा शून्य के स्तर पर आ जाएगा। अभी तक के अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह आशा काल्पनिक और व्यर्थ है।

संरचनात्मक परिवर्तन

राजस्व और व्यय के बीच संतुलन की इस समस्या को अलग करके नहीं देखा जा सकता। इसके लिए तो आधारभूत कारणों पर हमें विचार करना होगा।

बहुत से विचारकों ने पहले ही यह बता दिया था कि ब्रिटेन का नमूना हमारे लिए उपयुक्त नहीं है। गांधी जी ने 'हिन्द स्वराज' में, श्री अरविन्द ने 'गवर्नमेंट ऑफ इन्टरेस्ट' में, लोक नायक जयप्रकाश नारायण और आचार्य विनोबा भावे ने 'दलविहीन लोकतंत्र' में, श्री गुरुजी ने 'कृत्यवादी प्रतिनिधित्व' में, पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने 'सरकार के एकात्मवादी रूप' में, एम. एन. राय द्वारा बतायी गई प्राथमिक आवश्यकताओं के जिन प्रतिरूपों का वर्णन किया गया है उन सब पर गंभीर राष्ट्रीय विचार-विमर्श आरंभ करना चाहिए था। उसको किए बगैर संविधान में एक के बाद एक संशोधन करने से कोई लाभ नहीं है। जहां तक योजना आयोग का संबंध है वह इस प्रकार के सुझाव देने के लिए न तो सक्षम है और न ही यह उसके अधिकार की परिधि में ही आता है। इसका कारण यह है कि वह तो स्वयं संविधान की सृष्टि है।

किन्तु योजना आयोग की वर्तमान प्रणाली की संरचना और क्षमता के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए गए हैं जिन पर गंभीरता से विचार नहीं हुआ। उदाहरणार्थ, भारत के राष्ट्रपति के माध्यम से नवंबर

१९६९ में कार्यपालिका को कुछ सुझाव दिए गए थे उनमें से प्रमुख हैं:—

"विभागों में केवल वही कार्य रखे जाएं जो स्पष्ट रूप से सरकार के कृत्य हैं और जिनके लिए मंत्रिमण्डल संसद के प्रति उत्तरदायी है। इसके अतिरिक्त जितने कृत्य हैं, चाहे व्यापार के हों या आर्थिक हों, न्यायिक हों या किसी अन्य प्रकार के हों सभी आयोगों के अंतर्गत गैर सरकारी लोक अभिकरणों को सौंप दिए जाने चाहिएं। इन पर उच्चतम स्तर पर संसद का अधीक्षण हो जिससे मंत्रिमण्डल और अधिकारी वर्ग को बहुत से अनावश्यक कार्यों से मुक्ति मिल जाएगी।" इसी ज्ञापन में यह कहा गया था कि "स्वायत्त वित्तीय प्राधिकरण की स्थापना की जाए जो मुद्रा और ऋण का भारसाधक हो। इससे मुद्रा नियंत्रण के माध्यम से कीमतों में सुधार करने का और ऋण नियंत्रण के माध्यम से बेरोजगारी हटाने का उत्तरदायित्व पूरा किया जाने में मदद मिलेगी।"

इसी ज्ञापन में यह कहा गया था कि "नैसर्गिक आपदाओं जैसे बाढ़, अग्नि-कांड, भूकंप, महामारी युद्ध, दंगों, दुर्घटनाओं, हिंसा, तोड़-फोड़ आदि से पीड़ित लोगों के पुनर्वास के लिए तुरंत राहत देने के लिए विशेष निधि स्थापित की जाए। सेना, पुलिस और अन्य बलों के जो लोग अपना कर्तव्य पूरा करते हुए वीरगति को प्राप्त हो जाते हैं उनके कुटुंब के लिए वित्तीय सहायता के लिए स्थायी निधि बनायी जाए।"

योजना आयोग ने इन संरचनात्मक सुधारों पर कोई ध्यान नहीं दिया। अतः इसमें कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है कि विभिन्न सामाजिक कार्यकर्ताओं और सामाजिक संगठनों द्वारा जो सामाजिक और रचनात्मक कार्य किए जा रहे हैं उन पर विचार करना योजना आयोग अपने अधिकार-क्षेत्र से बाहर मानता है।

साम्राज्यवाद के तंतु

पंडित नेहरू ने १९४७ के पहले के देशभक्तों के समान यह अनुभव किया था कि एक नया साम्राज्यवाद उत्पन्न हो गया है जो विश्व को अपने आधिपत्य में लेना चाहता है। पंडित नेहरू ने इसके विषय में १९३४ में लिखते हुए उसे 'आर्थिक साम्राज्यवाद' बताया था और कहा था कि यह नक्शे पर दिखायी नहीं देता। एटलस में देखने पर ऐसा प्रतीत होगा कि यह देश स्वतंत्र और स्वाधीन है किन्तु यदि आप पर्दा उठाकर स्वयं देखें तो आप यह पाएंगे कि वह दूसरे देश या दूसरे देश के बैंकरों या व्यापारियों के चंगुल में है। अमरीका का यही अदृश्य साम्राज्य है। परन्तु दुर्भाग्य यह है कि पंडित नेहरू को इस नए साम्राज्यवाद की कार्य प्रणाली के बारे में कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं था। विदेशी प्रौद्योगिकी को आमंत्रित करने पर विदेशी पूंजी स्वयमेव चली आती है और वही इस साम्राज्यवाद का मुख्य उपकरण है।

किसी भी अविकसित देश में घरेलू बचत पूंजी निवेश और आयात पर आधारित प्रौद्योगिकी की वित्तीय अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं होती। पंडित नेहरू ने यह नहीं समझा कि तथाकथित आयातित आधुनिक प्रौद्योगिकी के माध्यम से आगे बढ़ने की जो बात है उसमें प्रति एकड़ भूमि में उपज बढ़ाने या एक औद्योगिक इकाई में पूंजी निवेश को बढ़ावा नहीं मिलता बल्कि उसमें कार्य में लगे प्रति श्रमिक या उद्यमी के लाभ में बढ़ोतरी होती है जिससे आय की विसंगतियां बढ़ती हैं, बेरोजगारी में वृद्धि होती है और आर्थिक शक्ति केन्द्रित होती है। पश्चिम में जहां यह प्रौद्योगिकी विकसित हुई वहां श्रम की कमी की समस्या थी और उसे घरेलू तथा विदेशी बड़े-बड़े बाजार उपलब्ध थे। प्रत्येक अविकसित देश में तो समस्या यह है कि वहां श्रम अधिक मात्रा में है और बाजार बहुत छोटे हैं।

इसी बात पर सूक्ष्मता से विचार करते हुए पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने कहा था "एक अर्थ में ट्रैक्टर और बैल प्रौद्योगिकी के दो विभिन्न स्तर हैं। ट्रैक्टर का उपयोग करने पर वह आर्थिक कारक के रूप में बैल का स्थान ले लेगा। दोनों का एक साथ उपयोग नहीं हो सकता। सामान्य बुद्धि से यह निकलता है कि हमें उसी स्तर की प्रौद्योगिकी का उपयोग करना है जिसमें उत्पादन के सभी तत्त्व काम आएं जो हमारे पास प्रचुरता में उपलब्ध हैं। प्रौद्योगिकी चुनते समय मनुष्य-शक्ति, धन, प्रबंध, सामग्री और बाजार इन सब पर ध्यान देना चाहिए।"

श्री जे. डी. सेठी जैसे गांधीवादी अर्थशास्त्रियों ने विदेशी प्रौद्योगिकी के अविचारपूर्ण उपयोग के विरुद्ध ऐसी ही चेतावनी दी थी।

'स्माल इज ब्यूटीफुल' के लेखक डा० सुमाचर भी स्वतंत्र रूप से इसी निष्कर्ष पर पहुंचे। उन्होंने यह कहा कि "यदि हम अर्थशास्त्र को इस प्रकार देखते हैं कि मनुष्यों का भी कुछ महत्त्व होता है तो हमें इस प्रकार की प्रौद्योगिकी को अपनाना होगा जिसमें मानवीय गुण हों।" किन्तु पंडित नेहरू के पश्चिमी प्रौद्योगिकी को अपने देश में रखने के अति-उत्साह ने इन चेतावनियों की ओर कोई ध्यान नहीं देने दिया। इस विषय का संकल्प पारित करने के एक वर्ष के भीतर ही सरकार ने विदेशी पूंजी के बारे में अपनी नीति परिवर्तित कर दी।

अप्रैल, १९४९ को पंडित नेहरू ने संसद में यह कहा था "सरकार ने विदेशी पूंजी का उपयोग करने के बारे में सरकार की नीति ६ अप्रैल, १९४८ के संकल्प में घोषित कर दी थी। विदेशी पूंजी को राष्ट्रीय हित में विनियमित करने की आवश्यकता इसलिए हुई कि अतीत में हमारे देश की अर्थव्यवस्था पर विदेशी पूंजी और निवेश का नियंत्रण रहा। किन्तु आज परिस्थितियां नितान्त भिन्न हैं। अतः विनिमयन का उद्देश्य यह होना चाहिए कि हम अपने देश के लिए विदेशी पूंजी का उपयोग इस तरह कर सकें कि उससे हमें अधिकाधिक लाभ हो। भारतीय पूंजी की विदेशी पूंजी से अनुपूर्ति होनी चाहिए। इसका कारण यह है कि हमारी राष्ट्रीय बचत देश के त्वरित विकास के लिए पर्याप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त

बहुत से वैज्ञानिक, तकनीकी और औद्योगिक जानकारी तथा पूंजी उपकरण विदेशी पूंजी से ही प्राप्त किए जा सकते हैं।"

पंडित नेहरू के इस ऐतिहासिक भाषण के बाद आर्थिक दासता की हमारी राष्ट्रीय यात्रा प्रारंभ हुई।

२९ अगस्त, १९७५ को गर्वपूर्वक यह घोषित किया गया कि "विश्व में ऐसा कोई देश नहीं है जो विदेशी फर्मों को ७४ प्रतिशत तक समता अंश (Equity Shares) लगाने की अनुमति देता है।"

विदेशी प्रौद्योगिकी पर गैलब्रेथ के विचार

गैलब्रेथ ने अपनी पुस्तक 'फ्रॉम पुअर दु द रिच' में यह कहा है कि "द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् औद्योगिक देशों के बीच आर्थिक मामलों के बारे में एक मुख्य बात पर सहमति हुई। ये देश समाजवादी और गैरसमाजवादी दोनों थे। विशेष रूप से अमरीका और सोवियत संघ के बीच यह मान लिया गया कि विकास के अग्रिम चरण पर उपयोग किए जाने वाले आर्थिक प्रकल्प एशिया और अफ्रीका को बिना अनुकूलन के अंतरित किए जा सकते हैं। लगभग यही स्थिति मध्य और दक्षिण अमरीका की भी है। अंतरणीय या अंतरित प्रकल्प मुख्य रूप से वही होगा जो उसके उद्‌भव के देश में है। ....इसके अतिरिक्त सहमति का एक बिन्दू और है। यह विश्वास किया जाता है कि आर्थिक विकास अर्थात् कृषि और औद्योगिक विकास की इकाइयां और उनके उपकरण राष्ट्रीय प्रगति की परम आवश्यकता हैं। सर्वप्रथम प्राथमिकता इन्हें ही प्राप्त है बाकी सब बाद में होगा।"

"अमरीका और सोवियत संघ ने इस प्रकार राष्ट्रीय विकास की पद्धति को गलत रूप में समझा है। उन्होंने विश्व के विकास में जो ऐतिहासिक प्रक्रिया है उसकी उपेक्षा कर दी है। इन दोनों देशों ने अपने अनुभव पर भी ध्यान नहीं दिया है। ...विकास के उन आर्थिक प्रकल्पों को, जो बाद के विकास चरणों में उपयोगी हैं, प्रारंभिक चरण पर अंतरित करने से हानि अवश्य होगी।"

"किन्तु इन सभी तथ्यों पर ध्यान न देकर इस पूरे प्रश्न को सरल बना दिया गया और इसमें पूंजीवाद और समाजवाद दोनों के आदर्श समाहित कर लिए गए। संभवतः इसका कारण यह भी था कि जो लोग विकास के इस प्रकार के दृष्टिकोण को प्रतिपादित कर रहे थे उनको भी इसका औचित्य बता दिया जाए।"

यह भूल विकसित पूंजीवादी और समाजवादी दोनों देशों ने की। अपने देश के विकास के बाद वाले चरण में जो बातें उन्हें अनुकूल और उचित प्रतीत हुईं उन्हें ही उन्होंने अन्य राष्ट्रों पर लागू कर दिया जो विकास के प्रारम्भिक चरण पर थे।" अमरीकी तकनीकी विशेषज्ञ भारतीयों की बार-बार मांग से और अधिक उत्साहित होकर उन्हें नए से नए औजार भारत की कृषि और औद्योगिक

आवश्यकताओं को ध्यान में न रखकर देने लगे। किन्तु इससे भारत को बहुत नुकसान पहुंचा। कृषि में तो यह बात विशेष रूप से लागू होती है। यदि कोई बात अमरीका के केन्सास राज्य में की जाती है तो क्या गुजरात में भी वही करनी चाहिए? मृदा और जल-प्रबंध, संकर बीज, उर्वरक के स्थान पर जटिल इंजीनियरी और सामाजिक सलाह भारत को दी गई और इसके परिणामस्वरूप सभी प्रयास और शक्ति व्यर्थ चले गए।

प्रौद्योगिकी : भारतीय अनुभव

ग्रामीण सेक्टर के लिए देशी प्रौद्योगिकी का विकास ही लाभप्रद होता है। इसमें निवेश और कुशलता स्थानीय रूप से प्राप्य होती है। भारत को अपनी ही प्रौद्योगिकी को अनुसंधान का आधार बनाना चाहिए। आज हमारे पास अंतर्राष्ट्रीय स्तर के कई वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक केन्द्र हैं जो बहु-विज्ञानीय अनुसंधान कर रहे हैं, अपना ज्ञान दूसरों तक फैलाते हैं, विद्यार्थियों और जनता की बढ़ती हुई मांगों की पूर्ति करते हैं। योजना आयोग और विभिन्न मंत्रालयों के अधीन अनुसंधान कक्ष जो अनुसंधान का कार्य कर रहे हैं उनके एकीकरण की भी आवश्यकता है जिससे एक ही काम को दोहराया न जाए और दक्षता में वृद्धि हो।

उदाहरण के लिए जहां यह सही है कि प्रतिरक्षा और अन्य भारी उद्योगों की अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए इस्पात कारखाना आवश्यक है क्योंकि वे ही विशेष गुणवत्ता का लोहा दे सकते हैं वहीं ग्रामीण उद्योगों की आवश्यकताओं के लिए ग्रामीण लोहे के कारखाने हो सकते हैं। हल, गाड़ी के पहिए आदि उपकरणों के लिए बहुत उच्च गुणवत्ता के लोहे की आवश्यकता नहीं है।

केवल अबोध और अनजान व्यक्ति ही इस बात को स्वीकार करेंगे कि कोई भी नई प्रौद्योगिकी सभी परिस्थितियों में समान रूप से उपयोगी होती है। इसका कारण यह है कि उसका विकास के विभिन्न चरणों से संबंध होता है। उपलब्ध अधिसंरचना और विद्यमान आर्थिक और सामाजिक संरचना से ही वह जुड़ी रहती है। एक सामाजिक-आर्थिक परिस्थिति से उत्पन्न नई प्रौद्योगिकी को एकाएक एक भिन्न अर्थव्यवस्था में, जिसमें परिस्थितियां भिन्न हैं, लागू कर देने से सामाजिक-आर्थिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाएगा। किसी भी प्रौद्योगिकी को नए क्षेत्र में लगाते समय कुछ नई बातें भी उसके साथ प्रवेश पा जाती हैं जो संभव है उस नए क्षेत्र के लिए अनुकूल न हों।

प्रायः यह देखा गया है कि उच्च प्रौद्योगिकी वाले उद्योग विकासशील देशों में अपना आर्थिक क्षेत्र बना लेते हैं। विदेशी प्रौद्योगिकी, जो अधिकतर आयातित निवेश और सेवाओं पर आधारित होती है, स्थानीय अनुषंगी उद्योग को बढ़ावा नहीं देती। अर्थात् उसके आस-पास का अविकसित आर्थिक क्षेत्र उसी स्तर पर रह जाता है। क्रय शक्ति नीचे स्तर पर रहती है जिससे उच्च उद्योगों के उत्पादन को बेचना कठिन होता है। उच्च उद्योगों के आधार पर विकसित आर्थिक शक्ति विदेशों के उच्च प्रौद्योगिक क्षेत्रों से जुड़ जाती है और अपने ही देश के निम्न औद्योगिक क्षेत्र से कटी हुई रहती है। उच्च प्रौद्योगिकी

के वे द्वीप, जिनके आस-पास निम्न औद्योगिक आर्थिक क्षेत्र का समुद्र रहता है, विकसित विदेशी आर्थिक क्षेत्र से अपने संबंध के कारण संकट उत्पन्न करते हैं। अनुभव से यह ज्ञात होता है कि उनके इस संबंध के कारण विदेशों में आर्थिक साम्राज्य प्रारंभ होता है। विकसित देशों के लिए प्रौद्योगिकी का अप्रचलित हो जाना एक स्वाभाविक स्थायी प्रक्रिया है। अतः उनके सामने समस्या यह आती है कि इस अप्रचलित और कालबाह्य तकनीक को कहां खपाया जाए? अविकसित या विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था ही इनके लिए सर्वाधिक उपयुक्त स्थान बन जाते हैं। अतएव प्रौद्योगिकी से जो संबंध जुड़ता है वह विकासशील देशों के अत्यन्त उच्च विकसित आर्थिक क्षेत्र और विकसित देशों के अप्रचलित तकनीक वाले आर्थिक क्षेत्र के बीच होता है।

हमने यह अंधविश्वास पाल रखा है कि भारत २१ वीं शताब्दी में तब तक प्रवेश नहीं कर सकता जब तक कि वह पश्चिम की प्रौद्योगिकी को अपना न ले और पश्चिम की कार्बन प्रति न बन जाए। किन्तु इस संबंध में एक महत्वपूर्ण ध्यान देने योग्य बात यह है कि पश्चिम में कुछ सुसंस्कृत वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी विशेषज्ञ इस प्रकार की बेलगाम प्रगति पर शंका प्रकट करते हैं। वे तकनीकी व्यवहार-ज्ञान (technical know-how) और तकनीकी ज्ञान (technical know-what) के बीच भेद करते हैं और यह सुझाव देते हैं कि प्रमुख विद्वानों का एक प्रौद्योगिकी पर्यवेक्षक दल हो जो अपने देश के सांस्कृतिक मूल्यों से भली-भांति परिचित हो और यह पर्यवेक्षक दल ही यह तय करे कि कौन-सा तकनीकी ज्ञान उन्हें प्राप्त करना चाहिए। इन तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए यह आवश्यक है कि आधुनिक और पारंपरिक देशी प्रौद्योगिकी में अनुसंधान करके,—

(i) एक राष्ट्रीय प्रौद्योगिकी नीति बनायी जाए जो यह तय करे कि पश्चिमी प्रौद्योगिकी के कौन से अंश ग्रहण किए जाएं, कौन से अनुकूलित किए जाएं और किन्हें अस्वीकार किया जाए और कौन से क्षेत्रों में भारतीय प्रौद्योगिकी विकसित करनी आवश्यक है;

(ii) पारंपरिक प्रौद्योगिकी की संवीक्षा करके यह देखें कि कौन से भाग आधुनिक परिस्थिति में अनुकूलित किए जा सकते हैं;

(iii) अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थिति के अनुरूप अपनी प्रौद्योगिकी विकसित करे। इसमें यह सावधानी बरती जाए कि शक्ति और आणविक ऊर्जा का प्रयोग करके उत्पादन की प्रक्रिया का विकेन्द्रीकरण हो और—

(i) अपने गांव के कारीगरों के लाभ के लिए उनके उत्पादन की पारंपरिक प्रक्रिया में युक्तियुक्त परिवर्तन किया जाए।

इस बीच योजना आयोग का यह उत्तरदायित्व था कि वह हमारे उद्योगों में विद्यमान प्रतिष्ठापित क्षमता का पूरा उपयोग सुनिश्चित करे और कृषि के लिए महंगी कीमतों वाले उपकरणों के लिए ऋण तथा उसके साथ ही पूंजी उपलब्ध कराए।

यह भी आवश्यक है कि लघु और बड़े उद्योगों के क्षेत्रों की सीमाएं निर्धारित कर दी जाएं। साधारणतया उपभोक्ता माल लघु उद्योग के क्षेत्र में तथा उत्पादक और आधारित माल बड़े उद्योग के क्षेत्र में रखा जाए।

योजना आयोग को विभिन्न उद्योगों के स्थान,उनके आकार और उनकी प्रौद्योगिकी के लिए विशेषज्ञ समिति की नियुक्ति की मांग को गंभीरता से लेना चाहिए। इससे हमारे देश का औद्योगिक मानचित्र नया हो जाता,प्रादेशिक असंतुलन कम हो जाता,उत्पादन की प्रक्रिया का अधिकतम उपयोग सुनिश्चित हो जाता,आर्थिक शक्ति और आर्थिक लाभ वितरित हो जाता और रोजगार के अवसर सभी ओर फैल जाते। सामान्य आवास के स्थान के निकट रोजगार के अवसर मिलने से नगरीकरण की लागत कम हो जाती और नगरों की आवास की आर्थिक लागत भी घट जाती। शिक्षित बेरोजगारों को लघु उद्योग प्रारंभ करने के लिए वह राज्यों को पर्याप्त सहायता देता जिससे बड़े उद्योगों के आसपास अनुषंगी उद्योग विकसित हो जाते विशेषकर ऐसे उद्योग जो प्रतिरक्षा उत्पादन में लगे हों।

एक विख्यात अर्थशास्त्री ने यह कहा है कि सामाजिक-आर्थिक संस्थाओं के एकपक्षीय विकास से आर्थिक विकास की प्रक्रिया दूषित हो गई है इससे जो शक्तिशाली हित समूह हैं उन्हें बहुत अधिक आर्थिक लाभ मिल रहा है।

योजना आयोग ने एक पाकिस्तानी अर्थशास्त्री की इस चेतावनी को गंभीरता से नहीं लिया है जिसमें उसने कहा था कि उत्पादन के तरीके में एक ऐसी निहित व्यवस्था होती है जो अपने से असंगत वितरण की व्यवस्था विकसित नहीं होने देती। इसलिए विलास की वस्तुओं के उत्पादन पर प्रतिबंध लगा कर,उपभोक्ता माल के उद्योगों को प्रोत्साहित करना चाहिए,सभी बेकार के खर्चे पर व्यय कर लगाना चाहिए,स्वदेशी की भावना को पुनर्जीवित करना चाहिए,उपभोक्ताओं के संगठन बनाने चाहिए और आवश्यकतानुसार उपभोक्ताओं से प्रतिरोध या हड़ताल करानी चाहिए।

आजकल उत्पादों के मॉडल जल्दी-जल्दी बदल जाते हैं और उसी के अनुसार परिवर्तन किया जाता है। इसमें मोटर-कार जैसे माल के लिए लगातार मांग होती है। यही हाल इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों का है। पश्चिम में उत्पादन की एक प्रकार की प्रक्रिया समाप्त करके दूसरी अपनाने में बहुत अपव्यय होता है। इस बात की पूरी संभावना रहती है कि जिस उत्पादन प्रक्रिया को वे फेंक रहे हैं उसे वे विकसित देशों को देकर लाभ कमा लेते हैं। अतएव योजना आयोग ने इस महत्त्वपूर्ण पहलू पर विचार न करके

देश के प्रति अपराध किया है।

हमारे नेता इस अंधविश्वास में डूबे रहते हैं कि एक ही प्रबंध-प्रणाली सभी संस्कृतियों पर लागू हो सकती है। पश्चिम में उपजी प्रबंध-प्रणाली कभी भी पूरी तरह से हमारी सांस्कृतिक मूल्य प्रणाली में चल नहीं सकती। अमरीका में भी इस विषय में परिवर्तन हो रहा है और देश के प्रबंध-विज्ञान और प्रबंध-शिक्षा में परिवर्तन बढ़ रहा है। १९८७ में शेयर बाजार में गिरावट के बाद परिवर्तन की गति बढ़ गई है। हमारे देश में प्रबंध की अमरीका प्रणाली को यथावत लागू करने के विरुद्ध लोग बात करते रहे हैं। हमारे देश में इस बात के प्रति जागरूकता है कि अपनी सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप प्रबंध व्यवस्था हो और निरन्तर परिवर्तित होने वाली परिस्थितियों में उसका सतत अनुकूलन किया जाए।

किन्तु योजना आयोग ने इस बारे में कोई दिशा-निर्देश नहीं किया है। यह बड़े दुख की बात है कि विभिन्न सेक्टरों में तुलनात्मक दृष्टि से समान उत्तरदायित्व के लिए समान पारिश्रमिक नहीं दिया जा रहा है। कारण यह है कि हमारे देश से बाहर मध्य-पूर्व के देशों में या दूसरे उद्योगों में प्रबंधकों के चले जाने का भय होता है। हमें अपने विकास का विशिष्ट प्रतिरूप बनाना चाहिए। हो सकता है कि यह पश्चिमी मानदंडों से न नापा जा सकता हो अर्थात् विकास दर, सकल राष्ट्रीय उत्पाद, प्रति व्यक्ति आय, राष्ट्रीय आय आदि।

हमारे देश के आर्थिक जीवन में कुछ अमूर्त बातें हैं जिन्हें किसी यंत्र से नापना संभव नहीं है। यह सत्य है कि हम अपने राष्ट्र के संबंध में कोई मापदंड नहीं बना सकते।

व्यापार घाटा

भुगतान असंतुलन में घाटे को कम करने के लिए और हमारे विदेशी मुद्राकोष को बचाने के लिए आयात प्रतिस्थापन कार्यक्रम आवश्यक था। इसी उद्देश्य से कुछ क्षेत्रों में संरक्षणवादी व्यापार नीति लागू की जानी चाहिए थी। अनावश्यक आयात समाप्त किया जाना चाहिए था। उत्पादक माल के उत्पादन के लिए आयात की अनुमति दी जानी चाहिए थी और इसी प्रकार के अन्य बहुत से कार्य करने चाहिए थे।

सरकार ने भुगतान शेष घाटे और बजट संबंधी असन्तुलन की संबद्ध समस्या को ठीक करने के लिए कोई भी प्रभावी कार्यवाही नहीं की। साधन-स्रोतों की ओर देखें तो सरकार योजना व्यय के लिए उस प्रकार वित्तीय साधन नहीं जुटा सकी जिससे मुद्रास्फीति न हो। गैर योजना व्यय की मुख्य मद जैसे ब्याज भुगतान, सहायिकी और प्रतिरक्षा व्यय में वृद्धि की सरकार व्यवस्था नहीं कर सकी।

१९८८-८९ का व्यापार घाटा बढ़कर ७४१२ करोड़ रुपए हो गया था। हमारे विदेशी मुद्राकोष

में जो कमी आ रही है उससे यह स्पष्ट होता है कि हम वाणिज्यिक उत्पादों की ओर आकर्षित हो रहे हैं। आबिद हुसैन समिति ने निर्यात उन्नयन के लिए जो सिफारिशें की थीं वे लागू कर दी गई हैं। १९८८-८९ के बजट में आयात से होने वाली आय पर शत-प्रतिशत आयकर से छूट दी गई और आयात के लाभ पर जो न्यूनतम कर था वह भी समाप्त कर दिया गया। किन्तु यह दृश्य उत्साहवर्धक नहीं है चाहे सकल राष्ट्रीय उत्पादन को प्रतिशत के रूप में देखें या विश्व के निर्यात के प्रतिशत के रूप में या उन करंसियों के रूप में देखें जिनमें भारत को भुगतान करना होता है। सभी दृष्टि से निर्यात से होने वाली आय अपर्याप्त दिखायी देती है। इसके प्रतिकूल शासकीय रियायत और प्रोत्साहन का लाभ उठाकर बहुत से कपटपूर्ण व्यवहार किए जाते हैं जिनसे होने वाले लाभ से विदेशी मुद्रा प्राप्त नहीं होती। यह धन विदेशों में गुप्त खातों में रखा जाता है। जनता को दिखाने के लिए सरकार इस बात पर बल देती रहती है कि निर्यात में वृद्धि हो, आयात किए जाने वाली वस्तुओं को यहीं बनाया जाए और दुर्लभ विदेशी मुद्रा का सदुपयोग किया जाए। वर्ष १९८८-८९ में निर्यात में बहुत बढ़ोत्तरी हुई किन्तु फिर भी आयात उससे भी अधिक हुआ। सरकार को यह स्वीकार करना पड़ा कि ७ वीं योजना के दौरान भुगतान संतुलन बहुत कठिन था। इसके कई कारण थे। देश में तेल के उत्पादन में वृद्धि न होना, विदेश में संरक्षणात्मक उपाय, मुख्य अंतर्राष्ट्रीय वातावरण। स्पष्ट है कि ८ वीं योजना के लिए विदेशी मुद्रा का कोई स्थायी विदेशी मुद्राकोष नहीं है।

भारतीय रिजर्व बैंक ने १९८७-८८ की करेंसी और वित्त के संबंध में अपनी जो रिपोर्ट दी है उसके अनुसार विदेशी व्यापार घाटा १९८०-८१ से १९८७-८८ की अवधि में ४६,१०९ करोड़ रुपए था।

विदेशी विनिधान

विदेशी आर्थिक साम्राज्यवाद में भारतीय दलालों की भूमिका घृणास्पद है। वे राष्ट्रीय आत्म निर्भरता को अलगाववाद मानते हैं और आर्थिक उपनिवेशवाद को विश्व की परस्पर निर्भरता वाली स्थिति समझते हैं। वे यह घोषित करते हैं कि किसी भी तरह की संरक्षणात्मक व्यापारविधि प्रौद्योगिकी के उत्थान में बाधा है। किन्तु देखने में यही आता है कि जब कभी भी किसी विदेशी कंपनी को अपने देश में उत्पादन करने या बेचने की अनुज्ञप्ति या लाइसेंस दिया जाता है तब अपने राष्ट्रीय हित को कुछ न कुछ नुकसान अवश्य होता है। बहुत से देशों ने विदेशी सहयोग के करार अपनी शर्तों के आधार पर किए हैं। उन्होंने कोई बंधन स्वीकार नहीं किया। यदि विदेशी पूंजी-निवेश पर पर्याप्त प्रभावशाली रोक नहीं लगायी गई तो भारत भी दक्षिणी अमरीका के राज्यों जैसा हो जाएगा। किन्तु हमारे देश के अन्तर्राष्ट्रीयतावादी इस बात से क्रुद्ध हो जाते हैं कि कोई भी अमरीका कंपनी, जो भारत में कारोबार करना चाहती है, उस पर औद्योगिक लाइसेंस, आयात परमिट, निर्यात बाध्यताएं, वित्तीय नियंत्रण आदि की शर्तें क्यों लगायी जाती हैं? जबकि यह सब एक प्रकार का धोखा है जो केवल साधारण जन को दिखाने के लिए किया जाता है। ये तत्त्व, सुपर ३०१ के विरोध में जो शोर मचाया गया है, उसका भी मजाक बनाते हैं। इनका कहना है कि यदि कोई विदेशी बैंक अपनी कोई शाखा खोलना चाहता है तो

उसे बैंककारी विनियमन अधिनियम,१९४९ के अनुसार भारतीय रिजर्व बैंक से अनुज्ञप्ति क्यों लेनी पड़े ? यदि कोई विदेशी बैंक अपना प्रतिनिधि कार्यालय खोलना चाहता है तो उसे लाइसेंस की आवश्यकता क्यों हो ? उनसे यह अपेक्षा क्यों की जाए कि वे भारतीय रिजर्व बैंक के मार्गदर्शन को स्वीकार करें ? इन बैंकों के विवेक पर ही यह छोड़ देना चाहिए वे सामाजिक बैंकिंग करें या अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और बड़े निगमों की वित्तीय सहायता करें । उनका कहना है कि क्या हमें यह स्मरण नहीं रखना चाहिए कि वे सामाजिक बैंकिंग करें या अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और बड़े निगमों की वित्तीय सहायता करें । उनका है कि क्या हमें यह स्मरण नहीं रखना चाहिए कि विदेशी पूंजी-निवेश की आय-वृद्धि में महत्त्वपूर्ण भूमिका है ? इससे प्रौद्योगिकी का अंतरण होता है और प्रबंधन क्षमता बढ़ती है । इससे अर्थव्यवस्था पर बाह्य आर्थिक प्रभाव पड़ता है और स्वदेश के गुणक प्रभाव-क्षेत्र में भी वह आ जाता है । इसलिए उनका तर्क है कि प्राइवेट विदेशी पूंजी निवेश और विदेशी सहयोग चुनने में कठोरता बरतने की प्रणाली गलत है । पिछले दशक में इन्हीं तत्वों द्वारा यह कहा गया था कि हमें अपनी मातृभूमि को विदेशी पूंजी के लिए मुक्त कर देना चाहिए । यही तथाकथित वैश्विक परस्पर-निर्भरता है ।

अमरीका ने भारत को जापान और ब्राज़ील के साथ रखा है और यह कहा है कि ये लोग अनुचित व्यापारिक व्यवहार करते हैं । अमरीका विशेष व्यापार नियम ३०१ के अधीन भारत के साथं ब्राजील, दक्षिण कोरिया, मेक्सिको, चीन, सऊदी अरब, ताइवान और थाईलैंड भी हैं । इस बार अमरीका खुले तौर से सामने आ गया । पहले वह विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के माध्यम से पर्दे के पीछे रह कर यह काम करता था । दबाव डालने के इन प्रभावशाली तरीकों से कुछ मूल प्रश्न उत्पन्न होते हैं ।

क्या किसी महाशक्ति को, जो स्वयं अनुचित व्यापारिक व्यवहार करती रही है, यह नैतिक अधिकार है कि भारत से या किसी अन्य देश से यह कहे कि विदेशी पूंजी का प्रवाह अबाध होना चाहिए और उस पर माल का निर्यात करने से संबंधित और स्थानीय पूंजी निवेश को प्रोत्साहन देने से संबंधित प्रतिबंध नहीं लगाए जाने चाहिएं ? अमरीका को यह कहने का क्या अधिकार है कि आयात और निर्यात को परस्पर जोड़ने से भारत का हित नहीं होगा ? यदि भारत अपना निर्यात बढ़ा रहा है और आयात को कम कर रहा है तो वह अपने अधिकार क्षेत्र के भीतर यह काम कर रहा है क्योंकि वह जानता है कि उसका भुगतान संतुलन बिगड़ गया है और उसे ऋण सेवा का विशाल भार उठाना पड़ रहा है । जिस प्रकार अमरीका को अधिकार है उसी प्रकार भारत को भी यह अधिकार है कि वह अपने राष्ट्रीय हितों के अनुसार अपनी विदेशी व्यापार नीति बनाए । यदि अमरीका यह नहीं मानता है तो इससे उसका साम्राज्यवादी रुख ही प्रकट होगा । हमारी आर्थिक संप्रभुता पर यह अतिक्रमण पिछले चालीस वर्षों से हो रहा है और इसमें हमारे शासक भी सहयोग दे रहे हैं । किंतु इस बार तो अमरीका ने अति ही कर दी है । संभवतः इसका कारण कुछ तो उसकी स्वयं की बिगड़ी हुई अर्थव्यवस्था है और कुछ इसलिए कि भारत के माध्यम से सभी अन्य देशों को वह चेतावनी दे रहा है ।

विदेशी उद्यमों को अधिमान देने के लिए विधि बनाना देशभक्ति नहीं है । विदेशी पेटेंट धारक

(चाहे उत्पाद के हों या प्रक्रिया के) अपने अनुसार परिस्थिति पर नियंत्रण नहीं रख सकते और यह नहीं कह सकते कि जो उद्योग उन्होंने प्रारंभ किए हैं वे केवल विदेशियों के हित के लिए किए हैं। क्या किसी स्वाभिमानी राष्ट्र के लिए यह सहन करना उचित है कि कोई विदेशी पेटेंटधारक यहां आकर पेटेंट प्राप्त करे और उसका उपयोग हमारे देशी उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए न करके हमारे लोगों को रोकने के लिए करे? क्या इससे हमारी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का विकास अवरुद्ध नहीं होगा? अन्य प्रतियोगी स्रोतों से पेटेंटीकृत उत्पाद आयात करने का अपना अधिकार हम क्यों छोड़ दें? हमें इस बात के लिए क्यों विवश किया जाए कि हम पेटेंटीकृत उत्पाद के लिए केवल पेटेंटकर्ता के स्रोत पर ही निर्भर रहें? अब यह सिद्ध हो चुका है कि विदेशी कंपनियां, विशेषकर बहुराष्ट्रीय कंपनियों, ने अपने लिए संरक्षित बाजार बनाने के लिए कानूनी व्यवस्थाओं का दुरुपयोग किया है। वे पेटेंटीकृत वस्तुओं का उत्पादन करने से भारतीयों को रोकते हैं और स्वयं उनका हमारे देश में उत्पादन न करके वे भारत को हमेशा के लिए आयात पर निर्भर बना देते हैं। वे यह चाहते हैं कि भारतीय वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीविद भारत की परिस्थितियों के अनुकूल प्रक्रिया और उत्पादों के बारे में शोध न करें और अपने विशेष क्षेत्रों में वे भारतीयों को कोई भी अनुसंधान करने से रोकते हैं।

इन सब बातों के होते हुए भी हमारे एकाधिकारवादी पूंजीपति अमरीका द्वारा डाले गए इस दबाव के बावजूद कुछ लाभ उठा सकते हैं क्योंकि संभव है बाद में उनके पक्ष में कुछ अधिक उदारवादी नीति बना ली जाए।

ऐसा नहीं है कि हम वैश्विक परस्परावलंबन के महत्त्व को समझते नहीं हैं। अंतर्राष्ट्रीयवाद और विश्ववाद हमारी ही परंपरा का अंग हैं। किंतु परस्पर-निर्भरता को विदेशी साम्राज्यवाद से अलग करना होगा। विदेशी पूंजी और विदेशी व्यवहारज्ञान का स्वागत करना चाहिए किंतु अपनी आर्थिक संप्रभुता को बचाकर। अमरीका ब्रिटेन, फ्रांस या जर्मनी में भी विदेशी पूंजी निवेश होता है रूस में भी दूसरे देशों की पूंजी लगी हुई है। जर्मनी, जापान, फ्रांस आदि विकसित देश विदेशी पूंजी और तकनीकी व्यवहारज्ञान पर आंशिक रूप से अवलंबित हैं। किंतु इन सभी ने विदेशी तत्त्वों को बड़ी सावधानी के साथ स्वीकार किया या और इस प्रकार स्वीकार किया था कि जिससे उनके राष्ट्रीय सम्मान और हित की रक्षा हो। उनके विदेशी सहयोग के जो करार हैं वे अपनी शर्तों या निर्बन्धनों के आधार पर होते हैं। अतः इन कारारों की आड़ में विदेशी शक्ति अपने साम्राज्यवादी मंतव्य को पूरा नहीं कर सकती। हमारी वर्तमान आर्थिक दासता हमारे शासकों की दास मनोवृत्ति का परिणाम है। इसके लिए आर्थिक विस्तारवाद या साम्राज्यवाद को दोष देना ठीक नहीं है।

(क) विदेशी विनिमयन अधिनियम (FERA) से बहुराष्ट्रीय कंपनियों की गतिविधियों;

(ख) विदेशी प्रौद्योगिकी और प्रबन्ध के आयात पर; और

(ग) विदेशी सहायता और संयुक्त उद्यम पर कोई नियंत्रण नहीं लग सका। हमारे शासक अपने देश की आर्थिक स्वतंत्रता बनाए रखने के न तो इच्छुक हैं और न प्रयत्नशील।

अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के अनुसार १९८७ में विकासशील देशों ने विदेशी पूंजी का निवेश १२.५ बिलियन डालर किया था। आर्थिक वातावरण अनुकूलन न होते हुए भी विकासशील देशों ने अपनी अर्थव्यवस्था को उदार बनाया और विदेशी कंपनियों के फायदे के लिए कर से छूट आदि के उपबंध किए। इस प्रकार सुविधा देकर जो विदेशी पूंजी निवेश कराया गया उससे विदेशी सहायता प्राप्त करने वाले इन देशों के साधन-स्रोतों से रिसाव होने लगा। पहले जो पूंजी निवेश किया गया था उससे होने वाले लाभ और लाभांश आने वाले धन की तुलना में बहुत अधिक हैं। एक समय अमरीका विश्व का सबसे बड़ा विदेशी पूंजी निवेशकर्ता था। आज वह विदेशी पूंजी निवेश का बहुत बड़ा ग्राहक है। ब्रिटेन और जापान इस समय बड़े पूंजी-निवेश कर्त्ता हैं। तृतीय विश्व के देश कच्चे माल का निर्यात करके जो फायदा लेते थे वह भी बहुत कम होने लगा है। पश्चिमी प्रौद्योगिकी श्रम प्रधान उत्पादन की अपेक्षाओं के अनुरूप नहीं है। "प्रत्येक वर्ष २० से ३० प्रतिशत तक विदेशी पूंजी निवेश तृतीय विश्व में होता है। विश्व में कुल स्टाक पूंजी निवेश का यह चौथाई भाग है।"

प्रत्यक्ष विदेशी पूंजी निवेश की नीति के बारे में हमारे देश में अत्यधिक भ्रम है। विभिन्न आर्थिक मंत्रालय और योजना आयोग विदेशी पूंजी निवेशकर्ताओं को परस्पर-विरोधी संकेत प्रदान करते हैं। १९८७ में प्रत्यक्ष विदेशी पूंजी निवेश भारत में १०७ करोड़ रुपए था, १९८८ में यह २३ करोड़ रुपए हो गया। अमरीका जापान और पश्चिमी जर्मनी से विदेशी सहयोग १९८७ में ४५८ करोड़ रुपए था। १९८८ में वह बढ़कर १४२.९ करोड़ रुपए हो गया। समस्त विदेशी पूंजी निवेशों के बारे में अद्यतन जानकारी उपलब्ध नहीं है। विशेषकर इटली के पूंजी-निवेशकर्त्ताओं के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त नहीं है।

(नूलियन और एन्टोनी के उस देश में शायद दहेज पुरुष को देना पड़ता है) सरकारी स्रोतों के अनुसार मार्च, १९८७ में विदेशी पूंजी-निवेश की रकम बढ़कर ६१४९ करोड़ रुपए हो गई थी।

आठवीं योजना

अपने पुराने अनुभव के आधार पर कोई भी आठवीं योजना के परिणाम के बारे में आशावान नहीं है। कोई भी यह विश्वास नहीं करता कि सार्वजनिक क्षेत्र के लिए धन इस प्रकार एकत्र किया जाएगा जिससे मुद्रा स्फीति न हो। मुद्रा स्फीति ४ से ५ प्रतिशत के बीच सीमित रहेगी और ऋण सेवा अनुपात २८ प्रतिशत से घटकर २० या २१ प्रतिशत हो जाएगा तथा निर्यात वृद्धि होती जाएगी, इन सब बातों पर विश्वास करना कठिन है। 'जलवायु-कृषि प्रादेशिक प्रणाली' से हमारे साधन-स्रोतों का वैज्ञानिक उपयोग होगा और देश में कृषि उपज में वृद्धि होगी, राष्ट्रीय कृषि जलवायु योजना के अनुसार ही राज्यों

में भी योजना बनायी जाएगी, इन सब बातों को लोग शब्दाडंबर ही समझते हैं। यही कारण है कि यह प्रश्न किया जा रहा है कि क्या उत्पादिता के सभी पहलुओं यथा समय, लागत, गुणवत्ता, भुगतान, वितरण, पर्यावरण, जानकारी आदि को ध्यान में रखकर मानव-शक्ति, धन, उत्पादन या निर्माण परिसम्पत्ति आदि सभी स्रोतों का सर्वोत्तम उपयोग सुनिश्चित हो सकेगा ? विभिन्न सेक्टरों के बीच साधन-स्रोतों में अपना अंश बढ़ाने के लिए जो प्रतिस्पर्धा चल रही है और उसके साथ ही विभिन्न हित समूहों में अपने हितों के लिए जो खींचतान है उसे देखते हुए राष्ट्रीय अपेक्षाओं के अनुसार योजना बनाना असंभव लगता है।

जो दृष्टिकोण प्रपत्र (Approach Paper) प्रस्तुत किया गया है उसे देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि आठवीं योजना वास्तविकता पर आधारित है। यदि उदाहरण ही देना हो तो यह कहा जा सकता है कि यह आशंका स्पष्ट रूप से दिखायी दे रही है कि कुछ क्षेत्रों में ऐसी निर्माण क्षमताएं लगायी जाएंगी जो आयातित पूंजी निवेश और वस्तुओं पर आधारित होंगी और उनमें यदि आगत और निर्गत की समुचित कीमत लगायी गई तो ऐसा प्रतीत होगा कि उनमें देशी मूल्य नहीं के बराबर है। विद्युत प्रदाय में जो कमी है और उसमें समय-समय पर जो कटौती होती जा रही है वह भी आठवीं योजना में और बढ़ेगी और उससे उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। उद्योग, वाणिज्य और परिवहन से क्षेत्र में ऊर्जा के संरक्षण के लिए बहुत से कदम उठाए जाने हैं। पेट्रोलियम रहित ऊर्जा के स्रोतों के उत्पादन और विस्तार की अनिवार्यता सभी अनुभव करते हैं। यह बात संदेहजनक ही है कि क्या योजना-काल की अवधि में सिंचाई क्षमता और उसके वास्तविक उपयोग के बीच का अन्तर समाप्त हो जाएगा, मुख्य उद्योगों के आधारभूत ढांचे की उत्पादिता और कार्यकुशलता में वृद्धि हो जाएगी और नवें वित्त आयोग द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र में किए गए भारी पूंजी-निवेश से कम से कम ६ प्रतिशत का लाभ मिल सकेगा ? ग्रामीण अधिसंरचना को देखते हुए क्या योजना यह सुनिश्चित करेगी कि प्रत्येक गांव को रेलवे स्टेशन, राज्य और राष्ट्रीय राजमार्गों के साथ सड़कों का जाल बिछाकर जोड़ दिया जाएगा, वहां पीने का पानी सभी को उपलब्ध होगा और टेलीफोन आदि संचार सुविधाएं वहां उपलब्ध हो जाएंगी ?

१९८८-८९ में वित्तीय प्रबंध का लक्ष्य सूखाग्रस्त अर्थव्यवस्था को पुनजीर्वित करके उत्पादन की गति को, विशेषकर कृषि उत्पादन को बढ़ाना, निर्यात की वृद्धि को वरीयता देना, आर्थिक विकास की गति को फिर से तीव्र करना और मुद्रास्फीति की दर को नियंत्रण में रखना था। यह कितना हो पाया है इसका तो कोई भी व्यक्ति अनुमान लगा सकता है। आठवीं योजना के दौरान ऊर्जा बचत के उपकरणों में पेट्रोल उपयोग करने वाले वाहनों में ऊर्जा की बचत करने वाले शोध के लिए त्वरित एवं संगठित प्रयासों का नवीनीकरण करने की आवश्यकता है और सार्वजनिक परिवहन प्रणाली, विशेषकर नगरों और बड़े नगरों की परिवहन प्रणाली को बढ़ाया जाना चाहिए। अच्छे भवनों की व्यवस्था, कुशल ईंधन इंजनों के प्रयोग, मौजूदा बायलरों को कुशल ईंधन के प्रयोग द्वारा सुधारने, तेल के स्थान पर कोयला या अन्य ईंधन का यथासंभव उपयोग होना चाहिए। ईंधन के वैकल्पिक स्रोतों के रूप में साफ्ट कोल, बायोगैस, सूर्य ऊर्जा आदि को विकसित किया जाना चाहिए। ऊर्जा प्रयोग की

जांच-पड़ताल और उचित प्रोत्साहन के आधार पर ऊर्जा की बचत करने के लिए प्रेरित करना ऐसे क्षेत्र रहे हैं जिनकी ओर अभी तक कोई गंभीर प्रयास नहीं किए गए हैं। छोटी-छोटी पन-बिजली प्रणाली से, समुद्र से और शहरी तथा कृषि संबंधी कूड़े-कचड़े से ऊर्जा प्राप्त करनी चाहिए। किन्तु इन अपेक्षाओं की ओर किसी का ध्यान आज तक नहीं गया है। क्या सन् १९८८-८९ के आर्थिक सर्वेक्षण की इन टिप्पणियों की ओर राजनीति से प्रेरित योजनाकार गंभीरता से ध्यान दे सकेंगे ? गैर-वाणिज्यिक ऊर्जा जैसे जलाने की लकड़ी और गोबर आदि का प्रयोग दिन-प्रतिदिन कम होता जा रहा है। किन्तु क्या वाणिज्यिक और गैर-वाणिज्यिक ऊर्जा के उपभोग में उचित संतुलन कायम किया जा सकेगा ? आधारभूत उद्योगों के संबंध में कोई दूरगामी व्यूह रचना नहीं की गई है। उदाहरण के लिए सन् १९८८-८९ के दौरान तेल परिशोधन और पेट्रोलियम उत्पादन में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई है। बढ़ती हुई मांग को अधिक आयात द्वारा पूरा किया गया है। यही तरीका अन्य उपभोक्ता मांगों के संबंध में अपनाया गया है। प्रश्न उठता है कि क्या इस्पात, सीमेंट, उर्वरक, कोयला, शक्ति, पेट्रोलियम और पेट्रोलियम उत्पाद, भूरा कोयला, तेल परिशोधन, प्राकृतिक गैस आदि आधारभूत उद्योगों को आठवीं योजना के दौरान वरीयता दी जाएगी ?

सन् १९८९ के योजना विशेषांक में 'पंचायती राज— रुग्णता और उपाय' शीर्षक के अपने लेख में डा. आदिशेषैया, जो इस विषय के अधिकृत विद्वान है, ने कहा था कि "इस परिस्थिति में पंचायती राज के लिए निर्वाचन कराने से संपन्न कृषकों को लाभ पहुंचेगा।" इसी तरह डा० अम्बेड़कर द्वारा गांव के बजाय व्यक्ति पर बल दिए जाने और व्यक्ति को आधारभूत इकाई मानने के कथन की उपेक्षा करके पंचायती राज योजना को गांवों में लागू कर दिया गया है इस संबंध में यह तथ्य स्मरणीय है कि पंचायती राज व्यवस्था ने गांव को आधारभूत इकाई माना है जबकि डा० अम्बेडकर व्यक्ति को इकाई मानते थे। अब विशेष कार्यक्रम बनाकर चालीस हजार पदों को अनुसूचित जाति और जनजाति के प्रत्याशियों द्वारा भरकर क्या डा० अम्बेडकर की आत्मा को तुष्ट किया जा रहा है ?

फिर भी कोई नहीं जानता कि क्या पंचायती राज और जवाहर रोजगार योजना की घोषणा करके आठवीं योजना के सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग को प्रकट नहीं कर दिया गया है ? योजना के दृष्टिकोण प्रपत्र (Approach Paper) में यह नहीं बताया गया है कि योजना के लिए आवश्यक धनराशि कहां से आएगी और योजना-काल के दौरान कराधान का स्वरूप क्या होगा ? सातवीं योजना के लिए वित्तीय साधन प्रायः उधार ली गई धनराशि और घाटे की अर्थव्यवस्था से जुटाए गए थे। इन दोनों के बारे में यह प्रपत्र पूरी तरह अस्पष्ट है। इस पत्र में कुछ पवित्र किन्तु आधारहीन नारे लिखे गए हैं और उसकी जो धारणाएं हैं वे सातवीं योजना से भी ज्यादा अवास्तविक हैं। इसीलिए इसमें योजना के उद्देश्यों का विवरण देते हुए विकास और आधुनिकीकरण, निर्धनता उन्मूलन और साम्यता, न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति और विकेन्द्रीकरण, साधनहीन गरीब व्यक्तियों के संगठित किए जाने को प्रोत्साहन देने तथा विभिन्न तथा विभिन्न स्तरों पर निर्णय लेने की प्रक्रिया में उनकी भागीदारी आदि की बातें कही गई हैं। स्पष्ट है कि ये सभी सदिच्छाएं राजनीति से प्रेरित हैं और इसीलिए विदेशी पूंजी

निवेश, निर्यात और आयात, सार्वजनिक उद्यमों से होने वाले लाभ, गैर-सरकारी उद्यमों की क्षमता, घाटे की अर्थव्यवस्था की सीमा, वृद्धि दर, घरेलू बचत में बढ़ोतरी, सकल पूंजी निवेश और कुल सार्वजनिक लागत आदि के विषय में अशुद्ध अनुमान दिए गए हैं।

दुर्भाग्यवश राजनीतिक लाभ-हानि से पीड़ित हमारे नीति-निर्माताओं को यह विश्वास हो गया है कि राष्ट्रीय पुनर्निर्माण करने के लिए किसी दूरगामी योजना की आवश्यकता नहीं है और उसके स्थान पर चुनाव राजनीति से जुड़े लोकाकर्षक नारे तात्कालिक रूप से लाभकारी होंगे। इसलिए योजना लक्ष्यों में अनवरतता बनाए रखना अब महत्त्वपूर्ण नहीं रह गया है और इस संबंध में डा० डी० आर० गाडगिल जैसे विशेषज्ञों ने जो सलाह दी है उसकी कोई चिन्ता नहीं करता।

पुनः वे प्रत्येक सभ्यता को भी अच्छी या बुरी इसी आधार पर मानते हैं कि वह पश्चिमी सभ्यता के कहां तक निकट है।

पश्चिमी देशों के प्रायः सभी विद्वानों का यह विश्वास है कि पश्चिम का जो प्रतिरूप है वह समस्त विश्व के विकास के लिए विश्वजनीन आदर्श है। जबकि वस्तुस्थिति यह है कि वे स्वयं भी यह नहीं जानते हैं कि उनका प्रतिरूप उनके लिए कितना लाभप्रद है। डा० रवि बत्रा ने १९९० और १९९६ के बीच मंदी की जो भविष्यवाणी की है उस पर यदि ध्यान न भी दें तो भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि १९८५ में अमरीका स्वयं एक ऋणी देश बन गया। अमरीका अब टोकियो के पूंजी-निवेशकर्ताओं पर वित्त के लिए आधारित है। उसके १२० बिलियन डालर घाटे के बजट की पूर्ति जापान से होती है।

वाल स्ट्रीट जरनल ने अपने शताब्दी समारोह के समय यह प्रश्न उठाया था कि "क्या सन् २००५ में अमरीकी बच्चे अपने माता-पिता से अधिक अच्छी स्थिति में रहेंगे?" और उत्तर में यह कहा था कि "आज से कुछ वर्ष पहले यह प्रश्न पूछना हिमाकत होता। अमरीका चरित्र में भविष्य के प्रति पूर्ण आशावान होना उतना ही स्वभाविक है जितना कि लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए मौलिक अधिकार। किन्तु यह आस्था अब डगमगा रही है। इस कारण यह भयभीत महाशक्ति अब विकासशील देशों पर अपना साम्राज्यवादी शिकंजा कड़ा कर रही है।

लगता है कि हमारा योजना आयोग इस अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिदृश्य से अनभिज्ञ होकर कल्पना जगत में बिचर रहा है। अमरीका विशेषज्ञों ने जो पांच विश्वव्यापी महामारियां गिनायी हैं उनकी ओर से भी योजना आयोग उदासीन है। अमरीका की सुरक्षा को सोवियत संघ की शक्ति से भी अधिक इन महामारियों से खतरा है। (यह अभिमत सोवियत संघ के अस्तित्व में रहते हुए शक्ति संतुलन की राजनीति के दौरान व्यक्त किए गए थे— सं.)। ये महामारियां हैं। विकासशील देशों की आर्थिक गतिहीनता, पर्यावरण को हुआ नुकसान, प्रजातंत्र पर सैन्य शक्तियों का दबाव, हथियारों का प्रसार और

नशीले पदार्थों का बढ़ता हुआ व्यापार।

विदेशी ऋण

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की विस्तारित निधि सुविधा के अन्तर्गत अधिशेष ऋणों की पुनर्अदायगी की जो पद्धति है उसे निकाल देने पर हमारा अधिशेष विदेशी ऋण १९८७-८८ के अंत में ५५,००० करोड़ रुपए था,१९८३-८४ में यह २४,००० करोड़ रुपए था,१९८०-८१ में १३,४७९ करोड़ तथा १९७५-७६ में १०,३८५ करोड़ था। अब सरकार ने यह घोषित किया है कि मार्च,१९८९ तक हम पर बकाया विदेशी ऋण ६८,८३१ करोड़ रुपए है। हमें १९८७-८८ में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष को ४,७३२ करोड़ रुपए चुकाना था जबकि १९८०-८१ में यह धनराशि केवल २६८ करोड़ रुपए थी। ऋण सेवा अनुपात १९८७-८८ में बढ़कर २४ प्रतिशत पहुंच गया था जो कि चिन्ताजनक है। एशिया में उधार लेने वाले देशों में भारत सबसे ऊपर है और 'इन्स्टीट्यूट ऑफ इंटरनेशनल फाइनेंस' ने भारत सरकार के आंकड़ों पर शंका प्रकट की है। उनका यह अनुमान है कि भारत को जो ऋण चुकाना है वह मार्च,१९८९ के अंत में ९६,३२० करोड़ रुपए था। उक्त संस्था के अनुसार हमें सकल देशी उत्पाद में से २५ प्रतिशत विदेशी ऋण की अदायगी के लिए रखना होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त संस्थान का दृष्टिकोण अधिक सही प्रतीत होता है अनिवासी भारतीयों के निक्षेप, लघु-अवधि ऋण और उधार के पुनर्मूल्यांकन को अपवर्जित करने या अलग रखने का कोई औचित्य नहीं है। १९८९-९० के अंत में अनिवासी निक्षेप अनुमानतः १०.९ बिलियन डालर था। इसमें इस पर दिया जाने वाला ब्याज सम्मिलित नहीं है। अनिवासी निक्षेपों के बारे में सरकारी रिपोर्ट में यह कहा गया कि १९८३ में ये १,३८६ करोड़ थे जो मार्च,१९८९ में बढ़कर १३,९७१ करोड़ हो गए। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त संस्थान के अनुसार १९८९-९० में भारत को लघु-अवधि उधार पर ब्याज के रूप में ४७.४ करोड़ डालर देना था। इस वित्तीय वर्ष के अंत में इस प्रकार के उधार ६.७ बिलियन डालर तक पहुंच जाएंगे। भारत सरकार और संस्थान के प्राक्कलनों में ३.३ बिलियन डालर का अंतर है जो ऋण के पुनर्मूल्यांकन के कारण है। इसके अतिरिक्त बहुत से गुप्त सैन्य ऋण हैं जो न तो संस्थान के आंकड़ों में हैं और न ही सरकार ने उन्हें दिखाया है। एक अनुमान के अनुसार ये ऋण १५,००० करोड़ रुपए हो सकते हैं। इन सैन्य ऋणों से हमारा आरक्षित धन (Reserves) धीरे-धीरे समाप्त होता जा रहा है यद्यपि आंकड़ों से ऐसा प्रतीत नहीं होता।

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय ब्रिटेन ने रिजर्व बैंक में जो सिक्के और सोना छोड़ा था उसका मूल्य १,८१० करोड़ रुपए था। इसके साथ १,७३५ करोड़ का स्टर्लिंग अधिशेष था। युद्ध के पूर्व के ऋण के रूप में ४२५ करोड़ और साम्राज्य डालर पूल के रूप में ११५ करोड़ रुपए अर्थात् कुल मिलाकर ३,४५२ करोड़ रुपए थे। १९५०-५१ तक अंग्रेज द्वारा छोड़ा गया धन समाप्त हो गया और हम पर विदेशों का ३२ करोड़ रुपए का ऋण चढ़ गया। आज निर्यात व्यापार बहुत बढ़ गया है फिर भी

१९८९ के मार्च के अंत तक विदेशी ऋण ९६,३२० करोड़ रुपए हो गया था। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक भारतीय को १,२४० रुपए का ऋण चुकाना है।

भारतीय रुपए के मूल्य में विश्व की दूसरी करंसियों की तुलना में जो अवमूल्यन हुआ है उसके कारण आयात के लिए अदायगी और ऋण सेवा का भार बहुत बढ़ गया है।

भारत भिक्षा का पात्र लेकर २४ देशों से याचना कर रहा है जिनमें बेल्जियम, आस्ट्रिया, आयरलैंड, नार्वे और डेनमार्क भी हैं। औद्योगिक सेक्टर में हमारी योजना व्यय का अंश बहुत तीव्र गति से वृद्धिगत हो रहा है। ब्राजील और मेक्सिको के बाद भारत विश्व का सबसे बड़ा ऋणी देश है।

श्री जे० डी० सेठी के शब्दों में "जिस दिन भारत का ऋण १०० बिलियन डालर से ऊपर चला जाएगा और प्रतिव्यक्ति आय ३०० डालर के आसपास बनी रहेगी उस दिन आर्थिक परावलंबन पूरा हो जाएगा।" (देखिए '*पैट्रियट*' २३ जून, १९८९)

ऋण का फंदा या फांसी का फंदा

वैसे भारत ऋण के फंदे में वैसे ही फंस चुका है। तीसरी दुनिया के देशों के लिए यह फांसी के फंदे जैसा ही है। इस सन्दर्भ में पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने सरकार को चेतावनी दी थी। १९६५ में भारत-पाक युद्ध के समय पूजनीय गुरुजी ने भी चेतावनी दी थी। उन्होंने कहा था " जैसे-जैसे समय बीतता जाता है वैसे-वैसे आत्मनिर्भर होने की आवश्यकता हम अधिकाधिक अनुभव करते हैं। सरकार ने पाकिस्तान को नहर का पानी उदार रूप से देना जारी रखा जबकि हमारी ओर की फसल पानी के अभाव में सूख रही है। जब हमें प्रतिरक्षा के लिए पैसे की आवश्यकता थी तब भी सरकार करोड़ों रुपए पाकिस्तान को दे रही थी। स्पष्ट है कि हम विश्व बैंक के दबाव में आ गए क्योंकि धन संबंधी सहायता के लिए हम उसी पर आधारित हैं। भिखारी को चुनने का अधिकार नहीं होता। उसी प्रकार ऋणी को भी चयन करने का अधिकार नहीं होता। यह बात हम पर शब्दशः लागू होती है। इतने वर्षों में भी हम अपनी अर्थव्यवस्था स्वावलंबी नहीं बना पाए हैं। उसी की हम कीमत चुका रहे हैं....।"

यदि हम दृढ़तापूर्वक ऐसा करते तो कुछ समय के लिए कठिनाई अवश्य होती किन्तु तब राष्ट्र त्याग के लिए तत्पर हो जाता और अर्थव्यवस्था को स्वावलंबी बनाने का संकल्प पैदा हो जाता।

२३ विख्यात अर्थशास्त्रियों ने अगस्त, १९८१ में एक वक्तव्य देकर यही प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। डा० अशोक मित्र ने भी अपने दस्तावेज में यही बात दोहरायी। सर जोसेफ गोल्ड ने अपने प्रपत्र 'कंडीशनलिटी' में जो तर्क प्रस्तुत किये थे उनका औचित्य भी यही था।

किन्तु कुछ कारणोंवश, जो बहुत साफ हैं, हमारी सरकार के नेता न तो साहसी हैं और न स्पष्टवादी। उन्होंने उस प्रकार का रवैया नहीं अपनाया जैसा जमैका के प्रधानमंत्री माइकेल मनेली या तंजानिया के राष्ट्रपति जूलियस न्यरेरे ने अपनाया था।

परिणामतः भारत को फांसी का फंदा लग गया है और मजेदार बात यह है कि हमारे नीति निर्धारकों को अभी भी अपने किए पर कोई पछतावा नहीं है।

समस्या का मर्म या केन्द्र बिन्दु

इस समस्या का मर्म सामान्य व्यक्ति की राष्ट्रीय चेतना के स्तर में निहित है। यदि यह स्तर ऊपर उठ जाए तो सरकार को ऐसी नीति और कार्यक्रम बनाने के लिए बाध्य होना पड़ेगा जो राष्ट्र की पुनर्रचना के लिए अनुकूल हों। इस चेतना के अभाव में कोई भी कार्यक्रम, नीति व योजना सफल नहीं होगी।

अतः राष्ट्र निर्माण के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और आधारभूत अधिसंरचना राष्ट्रीय चेतना है। अभी तक हम लोग गाड़ी के पीछे घोड़ा बांधते आए हैं। हमने आयोग, समिति, नामों की तालिका, औपचारिक योजना, कार्यक्रम, परियोजना, स्कीम, संस्थान, गोष्ठी, विचार-विमर्श, शोध-पत्र आदि से प्रारम्भ किया। किंतु जो बात पहले होनी चाहिए थी वह नहीं हुई। सबसे पहले निर्माणकर्ता का निर्माण होना था। पूजनीय गुरुजी ने यह कहा था "हमारे राष्ट्र के पुनर्जागरण का प्रारम्भ मनुष्य के संस्कार से होना चाहिए।" पिछले दशकों में इसी की उपेक्षा हुई।

कारण यह है कि हम इस भ्रम में रहे कि सरकार के माध्यम से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। यह ठीक है कि सरकार की एक भूमिका है और उसे कुछ कर्तव्य पूरे करने हैं। किंतु वह सकल सृष्टि की सर्जक नहीं है।

आर्थर लेविस ने 'दि प्रिंसिपल्स ऑफ इकॉनोमिक प्लानिंग' में यह कहा है "पिछड़े देशों में योजना बनाने में सरकार को विकसित देशों की तुलना में अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। सरकार को ऐसे बहुत से काम करने पड़ते हैं जो विकसित देशों में उद्यमियों पर छोड़ दिए जाते हैं। उसे उद्योग केन्द्र खोलने पड़ते हैं। कृषि में क्रान्ति के प्रयत्न करने पड़ते हैं। विदेशी मुद्रा का कठोरता से नियंत्रण करना होता है और इसके अतिरिक्त कई बहुत से सामान्य आर्थिक कानून बनाने होते हैं। और यह सब करने के लिए उनके पास जो सिविल सेवा होती है वह विकसित देशों की तुलना में गुणहीन होती है।" लेविस स्वयं यह प्रश्न पूछते हैं कि "ऐसी कौन सी बात है जो पिछड़े देश को इन सभी गलतियों और अक्षमताओं के होते हुए भी आगे ले जाए?"

फिर इसका उत्तर विद्वान लेखक स्वयं इस प्रकार देते हैं:

"यदि उनके साथ की जनता राष्ट्रवादी है और पिछड़ेपन का उसे बोध है और वह आगे बढ़ने के लिए उत्सुक है तो वे कठिनाई भोग लेंगे, गलतियों को सहन कर लेंगे और साथ ही देश के पुनर्निर्माण के लिए प्रयत्नशील रहेंगे। योजना के लिए जनता का उत्साह चिकनाई का काम करता है और यही आर्थिक विकास के लिए पेट्रोल बन जाता है। इसी बल के कारण सभी बातें संभव हो जाती हैं। यदि सरकार यह जानती है कि इस गतिशील बल का किस तरह उपयोग किया जाए तो सबसे पिछड़ा देश भी आगे आ सकता है।" ध्येय से प्रेरित इस गतिशील और संगठित जन का जो बल होता है उसे संगणक भी नहीं आंक सकता। उसकी प्रगति के नियम अनूठे होते हैं। जरा से बियाफा के साहसी और देशभक्त लोगों ने यह कर दिखलाया है।

दुःख की बात है कि हमारे राजनेताओं ने योजना के स्नेहक और आर्थिक विकास के पेट्रोल को समाप्त कर दिया है।

स्वतंत्रता के पहले लोगों का राजनेताओं में पूरा विश्वास था। वे राष्ट्रनिर्माता समझे जाते थे। अब यह विश्वास धीरे-धीरे उठता जा रहा है। अब यह माना जाता है कि राजनीति वह कला है जिसमें निर्धन से मत प्राप्त किया जाता है और धनी से चुनाव के लिए धन, और दोनों से यह कहा जाता है कि उनकी दूसरे पक्ष से रक्षा की जाएगी।

१९४७ के पहले वे लोग भी जो राबर्ट ला फॉले (Robert La Fallette) के इस कथन पर विश्वास नहीं रखते थे कि राजनीति 'कार्य रूप में अर्थनीति' है यह मानकर चलते थे कि यह लोकहित का कार्य है। वे इस बात पर कभी विश्वास नहीं कर सकते थे कि कभी राजनीति अवसरवादिता में परिणत हो जाएगी जहां सब कुछ चल सकता है। अनेक साधारण निर्वाचनों के अनुभव के पश्चात् लोग अब यह समझने लगे हैं कि राजनेता वह है जिसे सब तरफ के दबाव के कारण सीधा रहना पड़ता है और उसका सबसे बड़ा गुण उसकी झूठ बोलने की क्षमता है। राजनीतिज्ञों का यह पर्दाफाश हो जाने से जनता के मस्तिष्क में एक शून्य का विकास हो गया है। वर्तमान परिदृश्य की यह सर्वाधिक दुखद घटना है।

इस संशयवाद के कारण लोग किसी योजना, परियोजना या कार्य के बारे में खुलकर अपना सहयोग नहीं देते हैं। वे जानते हैं कि प्रधानमंत्री जिस पंचायती राज की बात कर रहे हैं वह उस पंचायती राज से भिन्न है जो उनके पूर्व पुरुष देना चाहते थे। बल्कि उन्हें अपने अनुभव से यह मालूम है कि इसके कारण ग्रामीण क्षेत्रों में तनाव बढ़ेगा। वे जानते हैं कि यह कार्य हड़बड़ी में किया गया है, इसका प्रारूपण भी खराब है और इसके पीछे उद्देश्य राजनीतिक है। बलवंतराय मेहता, अशोक मेहता या सरकारिया आयोग के प्रतिवेदनों पर यह आधारित नहीं है। एक ओर तो जवाहर रोजगार योजना चलायी जाती है और दूसरी ओर भर्ती पर प्रतिबंध लगाया जाता है। निजीकरण को बढ़ावा देते हैं और साथ ही अविवेकी कंप्यूटरीकरण की घोषणा करते हैं। लघु उद्योगों के नाम पर बड़ी-बड़ी पूंजी ग्रामीण क्षेत्रों में लगायी जा रही है। क्या इससे ग्रामोद्योग बढ़ेगा या उससे बेनामी भुगतान किए जाएंगे? कृषि

को योजना में जो अधिमान दिया गया है उससे क्या उसका लाभ संपन्न किसानों को ही नहीं मिलेगा ? क्या सरकार कीमतों का पुनरावलोकन करने के लिए शक्तिसंपन्न समिति की स्थापना करेगी ? इस प्रकार की समिति का सुझाव अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने केन्या सरकार को दिया था । क्या योजना आयोग केन्द्रीय सरकार को भी उसी प्रकार वित्तीय अनुशासन में बांध सकेगा जिस प्रकार केन्द्र-राज्य संबंधों के लिए कहा जा रहा है ? क्या सरकार एकाधिकार वाले पूंजीपतियों की ऊंची आय को सीमित करने का प्रयत्न करेगी जैसा कि ऊंची मजदूरी या वेतन पाने वालों के लिए किया जा रहा है ? क्या सरकार अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के विश्व नियोजन कार्यक्रम के प्रतिवेदन को सच्चे मन से लागू करेगी और निम्नतम आर्थिक इकाई की कार्य-शक्ति को ऊपर लाने का प्रयत्न करेगी ? ऐसा करने से उपभोक्ता माल की मांग बढ़ेगी, जिससे उपभोक्ता माल बनाने वाले उद्योगों की स्थिति सुधरेगी । इससे रोजगार भी बढ़ेंगे और निचले स्तर के गरीब लोगों की आय में वृद्धि होगी ।

यह जो प्रश्न उठाए गए हैं ये सब उदाहरणस्वरूप हैं । इनके अतिरिक्त भी बहुत प्रश्न हैं । किंतु सामान्य व्यक्ति यह समझ गया है कि इन सभी परेशान करने वाले प्रश्नों का एक ही उत्तर 'नहीं' में है । साधारण जन यह समझता है कि योजना में ही कुछ कमी है जिसके कारण गरीबी बढ़ती जा रही है । जो वह अपने अन्तरमन से अनुभूत करता है वही बात श्री दयाकृष्ण ने अपनी तर्कबुद्धि से , अपनी स्थापना से और अपने अध्ययन से साबित कर दी है ।

('इंडियाज प्लाण्ड पावर्टी' की प्रस्तावना)

* * * * *

अबोधगम्य

उत्तरोत्तर प्रस्फुटन

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने एक बार लिखा था :

"इस नश्वर जगत में सब कुछ नश्वर है और निश्चय ही वह नष्ट हो जायेगा, किन्तु विचार, आदर्श और स्वप्न कभी नष्ट नहीं—होते।"

१९२५ के विजयादशमी दिवस पर एक ऋषि ने दिव्य स्वप्न देखा था। और वह था वैभव के शिखर पर आरूढ़ अपनी मातृभूमि का विराट दर्शन।

उनके स्वप्न को उत्तरोत्तर साकार करने की प्रक्रिया में 'संस्कार भारती' की स्थापना एक महत्त्वपूर्ण चरण है। एक अविस्मरणीय उपलब्धि।

संस्कार भारती

'संस्कार भारती' का श्रीगणेश कब हुआ? औपचारिक रूप से १ जनवरी, १९८१ को। किन्तु अनौपचारिक रूप से उसकी भावनात्मक नींव १९५४ में ही पड़ चुकी थी।

डा० के० डी० स्वामिनाथन हमें बताते हैं कि फ्रांस, स्पेन, सहारा, उत्तरी यूरोप, साइबेरिया, दक्षिण अफ्रीका, आस्ट्रेलिया तथा उत्तर, मध्य और दक्षिण अमरीका के प्रस्तर-युगीन चित्रों के बारे में तो पश्चिमी जगत में प्रकाशनों की बाढ़-सी आ गयी है। पर उसके उपरान्त भी भारत के प्रस्तर-युगीन चित्रों के

उल्लेख वाला प्रकाशन भारत से बाहर कोई नहीं हुआ। उनका उल्लेख प्रथम बार तभी हुआ जब १९६८ में ब्रिजेट तथा रेमंड अलेहिन ने अपनी कृति 'भारतीय सभ्यता का जन्म' (बर्थ ऑफ इंडियन सिविलाजेशन) में इस संबंध में एक अध्याय जोड़ा। समूचे विश्व में पाये जाने वाले प्रस्तर-युगीन चित्रों के बारे में पश्चिम की सभी सामान्य कृतियां भारत की अनदेखी करती हैं और वे समूची विशाल व्याख्या में आधे-अशुद्ध वाक्य से अधिक कुछ नहीं लिखतीं।

मध्य भारत के रेतीले पत्थर में ८००० वर्षों के कालखंड की कहानी कहने वाले शैल चित्रों का विशाल भंडार है। जहां तक संख्या, विषय तथा शैली की विविधता तथा वैज्ञानिक महत्त्व का संबंध है, प्रस्तर-युगीन कला के भंडार के रूप में भूतल का कोई भी अन्य क्षेत्र दक्षिण भारत से आगे नहीं हो सकता।

भले ही १८६१ में भारतीय पुरातत्त्व-सर्वेक्षण विभाग की स्थापना हो गयी थी और पुरातत्त्वीय संदर्भ में शैलचित्र का प्रथम उल्लेख १८८० में मिलता है, फिर भी १९५८ से पूर्व शैलचित्रों को विस्तृत परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का कोई गंभीर प्रयास नहीं किया गया, लेकिन तब भी यह कार्य अपनी आरम्भिक अवस्था में ही था।

१९५४ में विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन के विष्णु वाकणकर ने प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रों के अभिलेख की जानकारी विश्व को देने के लिये एकाकी अभियान छेड़ा। तब से अब तक उन्होंने एक त्रिभुजाकार क्षेत्र में स्थित सैकड़ों चित्रित आश्रयस्थलों को खोज निकाला है और उनका वर्णन किया है। इस क्षेत्र की आधार-रेखा उत्तर में वाराणसी से उदयपुर तक फैली हुई है और उसका शिखर बिन्दु दक्षिण में (मैसूर में) है।

हाल ही में उन्हें अपने कार्य के लिए राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर महती मान्यता प्राप्त हुई है।

'संस्कार भारती' की भावना वाकणकर के एकाकी अभियान के आरंभ होते ही सजग तथा सक्रिय हो गयी।

लखनऊ में संगठन के औपचारिक उद्घाटन के साथ-साथ वह साकार भी हो गयी।

ऐसे सभी देशभक्त प्रणेताओं के स्वप्न साकार होते हैं क्योंकि उनके सिर पर भारत की राष्ट्र-शक्ति का वरदहस्त होता है।

'संस्कार'

'संस्कार' शब्द का प्रयोग तो बहुधा होता है लेकिन विरला ही उसके अर्थ को समझ पाता है।

साधारण व्यक्ति तो 'संस्कार' को शिक्षा का पर्याय समझता है। वैसे तो शिक्षा अपने आप में एक अति उदात्त कर्म है लेकिन गुणात्मक दृष्टि से वह संस्कार से भिन्न है। जहां शिक्षा का संबंध बुद्धि से है, वहीं संस्कार का संबंध मन, हृदय और आत्मा से है। हो सकता है कि एक उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति 'संस्कार' विहीन हो और एक उच्च 'सुसंस्कृत' व्यक्ति अनपढ़ हो। 'संस्कार' अनेक तत्त्वों का सामूहिक प्रतिफल होता है। ये तत्त्व आतंरिक भी होते हैं और विषयपरक भी। ऐसे तत्त्वों में से कला एक सर्वोपरि तत्त्व है। 'संस्कार भारती' कला अर्थात् हिन्दू कला के माध्यम से 'संस्कार' रोपण के ध्येय को पूरा करना चाहती है।

हिन्दू कला तथा हिन्दू मानस

हमारा देश चार दशक से भी पहले स्वाधीन हो गया था। किन्तु आधुनिक शिक्षित मानस अब भी पहले की भांति ही दास भाव से जकड़ा हुआ है। अंग्रेजी रंग में रंगा हिन्दू अब भी यही प्रयास करेगा कि भारत की हर स्थिति को यूरोपीय मापदंड से नापे, भारत की हर समस्या को यूरोपीय दृष्टिकोण से परखे और भारत की हर वस्तु को यूरोपीय चश्मे से देखे। 'हिन्दू' से जुड़ी कोई भी वस्तु तभी महान समझी जा सकती है जब उसे महानता के बारे में किसी पश्चिमी विशेषज्ञ का प्रमाणपत्र मिले। विवेकानंद अपने शिकागो अभिभाषण के बाद ही महान बने। रवीन्द्र-संगीत संगीत की वैज्ञानिक कोटि में तभी आया जब गुरुदेव को नोबल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। हिन्दू साहित्य की कोई भी कृति तब तक सुन्दर नहीं हो सकती जब तक यूरोपीय देशों के शोपेनहावर उसका गुणगान न करें। अंग्रेजी सांचे-ढांचे में ढले हिन्दू की दृष्टि में 'हर सुन्दर वस्तु' स्वतः ही 'शाश्वत आनंद का निर्झर' नहीं बन जाती।

ठेठ फैशनपरस्त हिन्दू की तुलना में पश्चिम का सच्चा कलामर्मज्ञ हिन्दू कला की अधिक सहज भाव तथा बेहतर ढंग से सराहना तथा आराधना कर सकता है। आधुनिकता से ओतप्रोत हिन्दू हृदय को छूने के लिए तो हिन्दू कला को किसी पश्चिमी प्रमाणपत्र की अपेक्षा रहती ही है।

यह भी सच है कि हिन्दुस्थान की आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए अभी हाल तक यूरोपवासियों की ओर से कोई गंभीर प्रयास नहीं किया गया है।

सभ्यता की कहानी खंड १ (द स्टोरी ऑफ सिविलाइजेशन) में हमारी पौर्वात्य परम्परा (प्रवर ऑरिएन्टल हेरीटेज) में विल डूरेंट ने कहा है:

"आधुनिक विद्यार्थी के लिए इससे अधिक लज्जा की बात नहीं हो सकती कि भारत के बारे में उसका ज्ञान अत्यल्प है। यह कोई २० लाख वर्ग मील में फैला एक विशाल प्रायद्वीप है। आकार में

वह अमरीका के क्षेत्रफल से दो-तिहाई है तथा ग्रेट ब्रिटेन से बीस गुना बड़ा है। वहां ३२ करोड़ आत्मायें निवास करती हैं। यह जनसंख्या उत्तर तथा दक्षिण अमरीका की कुल जनसंख्या से भी अधिक है। अथवा यूं कहिये कि धरती की जनसंख्या का वह पांचवां भाग है। वहां मोहनजोदड़ो की २९०० ई० पू० अथवा उससे भी पूर्व से लेकर गांधी, रमण तथा टैगोर तक की विकास तथा सभ्यता की भव्य अविच्छिन्न परम्परा है। वहां बर्बर मूर्तिपूजा से लेकर अति सूक्ष्म तथा आध्यात्मिक सर्वेश्वरवाद तक की हर चौखट को चूमने वाले मत हैं। वहां अर्वाचीन और प्राचीन का अद्‌भुत संगम है। वहां ईसा से आठ शती पूर्व उपनिषद् काल के दार्शनिकों से लेकर ईसा से आठ शती पश्चात् के शंकराचार्य जैसे दार्शनिकों ने उपनिषदों में वर्णित अद्वैतवाद के विषय की सहस्रों प्रकार से विवेचना प्रस्तुत की है। वहां ऐसे वैज्ञानिक हुए हैं जिन्होंने तीन हजार वर्ष पूर्व खगोल विज्ञान का विकास किया और हमारे अपने काल में नोबल पुरस्कार प्राप्त किये। वहां ग्रामों में अज्ञात पुरातनता वाला लोकतंत्रात्मक संघटन है। वहां राजधानियों में अशोक तथा अकबर जैसे बुद्धिमान तथा परोपकारी शासक हुए हैं। वहां लगभग होमर जितने पुरातन महाकाव्यों का गान करने वाले चारण हुए हैं और अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठियों में श्रोताओं को मंत्रमुग्ध करने वाले कवि हुए हैं। वहां ऐसे कलाकार हुए हैं जिन्होंने तिब्बत से श्रीलंका तक और कम्बोडिया से जावा तक हिन्दू देवी-देवताओं के विशाल मन्दिरों का निर्माण किया है और मुगल बादशाहों तथा बेगमों के लिए बीसियों सर्वांगपूर्ण महल तराश कर खड़े किये हैं। यह वह भारत है जिसे अब स्थिरमना विद्वान एक बौद्धिक आलोक वाले महाद्वीप के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं तथा पश्चिमी मानस इस सत्य को समझने लगा है जबकि कल तक वह इस सभ्यता को यूरोप की बपौती समझता था।"

हिन्दू कला और पश्चिमी जगत

अति प्राचीन काल की हिन्दू कला के बारे में यूरोपीय लोगों की दृष्टि निश्चय ही अत्यन्त अस्पष्ट और क्षीण अथवा धुंधली छवि की रही है। १८ वीं शती के अन्तिम २५ वर्षों में फ्रान्सिस फोके तथा सर विलियम जोन्स ने हिन्दुओं की वीणा तथा उनके वाद्य-यन्त्रों का परिचय पश्चिम से कराया। हिन्दू जीवन के सौन्दर्य-पक्ष के प्रति यूरोपीय कला प्रेमियों की आतुरता तथा अभिरुचि का प्रवाह अबाध गति से चलता रहा। इसके फलस्वरूप जहां एक ओर कलाओं के सच्चे प्रेमियों ने हिन्दू कला की उत्तरोत्तर और अधिक सराहना की, वहीं दूसरी ओर कला के क्षेत्र में साम्राज्यवादियों तथा उनके पिट्ठुओं ने विद्वेष और आशंका का विष उगला। इसी कारण हमें उच्च गुणगान के साथ-साथ अति निन्दा भी देखने को मिलती है।

विदेशी कला मर्मज्ञता

हिन्दू कला के सम्पर्क में आने के बाद पश्चिम के अनेक कला प्रेमी उसके दीवाने हो गये। उन्हें

कला से सच्चा प्रेम था। उनके मानस राजनीतिक तथा आर्थिक साम्राज्यवाद के असंगत प्रभावों से कलुषित नहीं थे। प्रस्तुत हैं कतिपय उद्‌गार :

आबू पर्वत पर स्थित विमला तथा तेजपाल के जैन मंदिरों के बारे में फर्ग्युसन ने कहा है कि "पच्चीकारी की बारीकियां और आभूषणों की कलात्मक विविधताएं इतनी चित्ताकर्षक एवं हृदयग्राही हैं कि उनसे श्रेष्ठ उदाहरण कदाचित् ही अन्यत्र देखने को मिल सकें। आक्सफोर्ड अथवा वेस्ट मिन्स्टर में हेनरी सप्तम के चैपेल (प्रार्थनागृह) में गॉथिक वास्तुशिल्पियों द्वारा प्रस्तुत नमूने आबू पर्वत के इन जैन मंदिरों की तुलना में अत्यन्त रुक्ष और भद्दे हैं।"

एडमंड गिलेस : "जब हम 'कथकली' के इस प्रदर्शन को देखकर लौटे तो हमें वास्तव में ऐसा लगा कि पश्चिमी जगत के जिस रंगमंच ने हमें अत्यधिक प्रभावित किया था, उसकी अब कोई सार्थकता ही नहीं रही और प्राच्य रंगमंच से हमें अभी बहुत-कुछ सीखना है क्योंकि वह अपरिमेय एवं असीमित है।"

सुप्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे ने संभवतः अपने ग्रन्थ 'फाड्स्ट' की प्रस्तावना में वर्णित विचार महाकवि कालिदास से लिए हैं। 'शाकुन्तलम्' के विषय में वे कहते हैं :

"तुझे नव वर्ष के बौर कहूं या समापन काल के फल ? या आत्मा को आनन्द विभोर करने वाला, मन मोहने वाला तथा आत्मा को संतृप्त करने वाला कहूं ? क्या तुम पृथ्वी और स्वर्ग दोनों हो ? यदि मैं तुझे शकुन्तला नाम दूं तो फिर कहने को कुछ भी शेष नहीं रहेगा।" इतने उद्‌गार ही पर्याप्त हैं।

विदेशी आलोचक

लेकिन ललित कला के ऐसे पारखी अपवादस्वरूप ही हैं।

अभी हाल तक पश्चिम में हिन्दू कला को कोई समुचित सम्मान प्राप्त नहीं था।

उसके बारे में अनेकानेक मिथ्या धारणायें बनाई गयीं और फैलाई गयीं। उसे कलंकित किया गया। उग्र आलोचकों ने प्रायः जानबूझकर उस पर निराधार निन्दाओं की बौछार की। यथा, अजन्ता शैली सम सामयिक रोमन साम्राज्य की सर्वदेशीय कला की एक स्थानीय शाखा है और गुफा के चित्रों में फारसी दूतों द्वारा अपने प्रत्यय पत्र प्रस्तुत किये जाने के समारोह का सजीव चित्रण है और यह अजन्ता शैली की व्युत्पन्न प्रवृत्ति का विशिष्ट साक्ष्य है। "आपके हिन्दू चित्रण के इतिहास में लम्बे-लम्बे अन्तराल हैं। उसने माइकेल एंजेलो, टिटियन अथवा टिन्टोरेट्टो जैसे किसी कलाकार को पैदा नहीं

किया है। वह अमूर्तता अथवा अति यथार्थवाद की प्रधानता वाले आधुनिक चित्रण से भी घटिया है। उस पर 'ओ पी कला' और 'गत्यात्मक कला' (किनेटिक कला) का प्रभाव है और वह 'भविष्यवाद' की आधुनिक विधा को प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहा है। कलात्मक हिन्दू मंदिरों की तुलना प्रसिद्ध यूनानी डोरिक मंदिर अथवा इतालवी गिरजे, धर्मपीठ या कैम्पेनाइल मीनार अथवा मध्ययुगीन फ्रांस की गांथिक धर्मपीठों (कैथीड्रलों) से नहीं की जा सकती। हिन्दू कलाकार हेलेनीकृत सौन्दर्य बोध की यूनानी संकल्पना से अनभिज्ञ थे। भारतीय वास्तुकला में सहबद्धता, सुस्पष्टता अथवा आदर्श औदार्य का अभाव है। सब कुछ भारी भरकम, अति क्लान्त, वैभवहीन एवं श्रीविहीन है। अतः अरोचक है। सब कुछ राक्षसों, राक्षसियों की भीमकाय धमाचौकड़ी एवं विराट बर्बरता है। शिव का तांडव नृत्य मृत्यु अथवा विनाश का नृत्य है। वह आदिमजातीय वेगवान ऊर्जा का अनियंत्रित विस्फोट है। भारतीय रंगमंच सृजनात्मकता तथा कल्पनाशीलता का कोई अवसर प्रदान नहीं करता। हिन्दू मूर्तिकला यूरोपीय अथवा यूनानी मूर्तिकला से घटिया है। वह भद्दी, भ्रामक, अतिशयोक्तिपूर्ण, अपरिष्कृत, विचित्र और बेतुकी है। वह एक ऐसी विकृत कल्पना की उपज है जो अप्रिय यथार्थ के दुःस्वप्न लोक में भटक रही है। उसमें सहजता का अभाव है।

सहानुभूति रखने वाले मानस

उन लोगों के अनुदार कटाक्षों के बारे में हम क्यों चिन्ता करें, जो नख से शिख तक विद्वेषी तथा पूर्वाग्रही हैं और हिन्दू से जुड़ी हर वस्तु का अवमूल्यन करने पर तुले हुए हैं। पर ऐसे पश्चिमवासियों के लिए क्या कहा जाए जो हमारे प्रति सहानुभूतिशून्य नहीं हैं। वह यह अनुभव करते हैं कि कला के परम्परागत भारतीय सिद्धान्तों तथा परम्परागत पश्चिमी सिद्धान्तों में अन्तर है और किसी कलाकृति का मूल्यांकन करने के लिए आवश्यक है कि एक अच्छा आलोचक कलाकार के परिवेश, उसकी ऐतिहासिक सम्बद्धता तथा कलाकार के विचारों पर स्वयं कलाकार के व्यक्तिगत एवं अन्य आस-पास के दृश्य चरित्रों द्वारा पड़ने वाले प्रभाव आदि का समुचित अध्ययन, मनन, विश्लेषण और शोध करके ही कला की गुणवत्ता का निर्णय करे।

वास्तव में इसका कारण यह है कि पश्चिमी समालोचक प्रायः हिन्दू मानस की विशिष्ट प्रकृति से अनभिज्ञ होते हैं।

एकात्म दर्शन

हिन्दू अपने एकात्मपरक चिन्तन तथा अन्तर-अनुशासनात्मक दृष्टिकोण के लिए विश्वविख्यात है। वह इस बारे में जागरूक है कि कला को अलग-थलग करके उस पर मनन नहीं किया जा सकता। कला सामान्य जीवन तथा संस्कृति का अभिन्न अंग है। विज्ञान तथा कला को भी पूर्णतया अलग-अलग खानों में नहीं रखा जा सकता। एक अवस्था में विज्ञान का विकास वैसे ही कला का रूप धारण कर

लेता है जैसे कि एक अवस्था में कला का विकास विज्ञान का रूप धारण कर लेता है । भौतिकता तथा आध्यात्मिकता को भी पूर्णतया अलग-अलग खानों में नहीं रखा जा सकता । आइन्स्टीन का विचार है कि धर्म के बिना विज्ञान लूला है और विज्ञान के बिना धर्म अंधा है । अपने विकास की चरम स्थिति में विज्ञान आध्यात्मिकता से एकाकार हो जाता है । डा० फ्रिजोफ कापरा कहते हैं, "ब्रह्माण्ड की मूल एकात्मता एवं अखंडता न केवल रहस्यवादी अनुभूति का मूल मंत्र है बल्कि वह आधुनिक भौतिकी का भी एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्यान्वेषण है ।" ताल्सताय का निष्कर्ष है, "सर्वोच्च विवेक की दृष्टि में केवल एक ही विज्ञान है और वह है अखंडता का विज्ञान जो न केवल समूची सृष्टि को स्पष्ट करे बल्कि बताये कि उसमें मानव का क्या स्थान है ।" सनातन धर्म, जिसका नवीनतम रूप दीनदयाल जी का एकात्म मानव दर्शन है, इस तथ्य को अनुभव करता है और वह उसका एक मूलमंत्र है । कला को भी इस सम्पूर्णता के एक अविभाज्य अंग के रूप में माना जाना चाहिए ।

ललित कलाओं के संवर्धन को समर्पित एक अखिल भारतीय संगठन 'संस्कार भारती' के लक्ष्यों तथा उद्देश्यों का मनन, अध्ययन तथा मूल्यांकन इसी पृष्ठभूमि में किया जाना चाहिए ।

"कला अद्वितीय है । वह हमें प्रेरणा देती है और उदात्त बनाती है । अपने प्रयास में कलाकार परमानंद का अनुभव करता है और दर्शक वस्तुतः मंत्रमुग्ध हो जाता है । वह पीड़ित की पीड़ा को हर लेती है और हताश तथा निराश व्यक्ति में उत्साह का संचार करती है । वह मानव-मन में प्रतिष्ठित करुणा को प्रस्फुटित करती है ।

करुणा तथा संवेदनशीलता मानव को प्रगति की ओर ले जाती है और मानवता के लिए दैवी अमृत सिद्ध होती है । वस्तुतः तो परिवार, समाज तथा मानवता केवल करुणा नामक इस एक गुण की ही अभिव्यक्तियां हैं । इसके अभाव में न तो मानव की मानवता बचेगी और न बचेगा समाज का अस्तित्व । कला, करुणा तथा मानवता मिलकर हमारे सामाजिक जीवन के पावन संगम का निर्माण करती हैं ।

करुणा तथा संवेदनशीलता के सहारे मानव संस्कार ग्रहण करता है । संस्कार ही संस्कृति के लक्ष्य तक पहुंचने के प्रकृत-पथ का द्वार है । मानव का इतिहास इसका साक्षी है ।"

'संस्कार भारती' की यह मान्यता उचित ही है कि मोक्ष की शाश्वत खोज में जुटी मानवता के लिए ललित कलायें दैवी वरदान हैं । ललित कलायें मानव को इस योग्य बनाती हैं कि वह सरस, सुन्दर, उत्थानकारी तथा मनमोहक मनोरंजन के माध्यम से स्वयं को परिमार्जित तथा प्रबुद्ध कर सके । यह 'संस्कार' का एक प्रमुख वाहन है ।

आदिमकालीन कला की उत्पत्ति आदिमकालीन सौन्दर्य-बोध से हुई । समय के साथ-साथ शरीर, चित्रण, अंगराग, गोदना गोदने, बलिकर्म, बुनाई, वस्त्र-परिधान, आभूषणों, मिट्टी के बरतनों, सामान्य चित्रकला, इन्द्रजाल, लोकगीत, लोक साहित्य, नीति-कथाएं, आख्यान, अन्योक्तियों, पुराण-कथाओं, आरेखन, लेखन, लिपि, भाषा, विभिन्न प्रकार के प्राथमिक साहित्य और उसके विविध रूप हस्तकला, मूर्तिकला, वास्तुकला, गीत तथा नृत्य, स्वांग, संगीत तथा नाटक, खेल तथा समारोहों आदि का विकास होता गया ।

वैज्ञानिक प्रगति के साथ-साथ प्राचीन कलाओं में नये आयाम जोड़े गये और नयी कलाओं का आविर्भाव हुआ । मानव की हर गतिविधि के बारे में ऐसा ही हुआ ।

अपने पेट की ज्वाला को शांत करने के लिए मानव भटकता रहा । उसने शिकार किया, मछलियां पकड़ीं, पशु-संवर्धन तथा पशु-पालन किया । उसने खेती की, अग्नि की खोज की और वस्तुओं को भूनते-भूनते वह माइक्रो-वैव चूल्हे पर अति आधुनिक ढंग से खाना पकाने लगा । वह कन्दराओं से गगनचुम्बी अट्टालिकाओं तक, वृक्षों की छाल से पोलिएस्टर तक, आदिमकालीन स्वतंत्र प्रेम से मार्लिन मनरो के रोमांस तक पहुंच गया । स्वाभाविक है कि कलाओं के क्षेत्र में भी विज्ञान का वैसा ही प्रभाव पड़ा ।

लेकिन इस तथ्य के बावजूद यह सोचना ठीक नहीं होगा कि कला कोई अलग-थलग वस्तु है और वह ऐसे द्वीप जैसी है जिसका शेष संसार से कोई वास्ता नहीं । मानव मन में जो पदार्थ, घटनायें तथा कारक संस्कार डालते हैं वे अनगिनत हैं । आतंरिक तथा बाह्य जगत की हर वस्तु पर संस्कार प्रभाव डालते हैं और स्वयं उनसे प्रभावित भी होते हैं । मानव मन पर पड़ने वाले प्रभाव की हर लहर तथा प्रकृति नदी का हर करतब संस्कारों के निर्माण में सहायक होता है । विवेकानंद कहते हैं, "आंतरिक अनुभूति से प्राप्त सत्य को मनोविज्ञान, तत्त्वमीमांसा तथा धर्म कहते हैं और बाह्य अनुभूति से प्राप्त सत्य को भौतिक विज्ञान । अब एक सर्वांगपूर्ण सत्य की समरसता दोनों जगतों की अनुभूति से होनी चाहिये ।" कलाओं के माध्यम से संस्कार डालने के लिए उच्चतर से भी उच्चतर स्तरों पर समरसता की खोज करनी होगी । हमारे संस्कारों की वर्तमान स्थिति अतीत और वर्तमान की ऐसी हर वस्तु के संचयी प्रभाव से उपजी है । संस्कारों तथा कलाओं के सही, बोधगम्य तथा वास्तविक समाकलन के लिए इन सभी तत्त्वों को ध्यान में रखना होगा । ऐसे अभ्यास के बिना जो भी दृष्टिकोण अपनाया जायेगा, वह असंतुलित तथा अधूरा होगा ।

यथा: भूवैज्ञानिक तथा भौगोलिक परिस्थितियां, राजनीति पर प्रभाव डालने वाले भौगोलिक तत्त्व, जलवायु, ऋतु, प्राकृतिक संसाधन, प्राकृतिक उथल-पुथल और आपदायें, बाढ़, सूखा, तूफान, अकाल,

भूकम्प, ऋतु-चक्र, महाद्वीपीय अपसरण, अतिवृष्टि, हिमाच्छादन, ज्वालामुखी, भूवैज्ञानिक विभीषिकायें, महामारियां तथा पर्यावरणीय तत्त्व। उत्पादन तथा विनाश के साधन-आदिमकालीन साधनों से आधुनिक प्रौद्योगिकी तक और डंडों तथा पत्थरों से परमाणु हथियारों तक और व्यक्तिगत, सामाजिक तथा मानवीय मनोविज्ञान तथा उनके पारस्परिक संबंधों पर इन साधनों की प्रकृति तथा स्तरों में समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव।

उत्पादन, वितरण, विनिमय, खपत तथा वाणिज्यिक आदान-प्रदान के प्रतिरूप

जीवन, मृत्यु, मृत्यु के बाद के जीवन, आत्मा, ईश्वर, अलौकिक, धर्म, नैतिक सिद्धान्तों, अध्यात्म, भला-बुरा, उचित-अनुचित, पाप-पुण्य, सामाजिक नियमों, रीति-रिवाजों, शिष्टाचार, वेशभूषा, तीज-त्योहार तथा पर्व संबंधी संकल्पनायें तथा सज्जन संबंधी आदर्श।

भय, आश्चर्य, स्वप्न, घृणा, प्रशंसा, आदर तथा पूजन के पात्र पदार्थ।

विश्राम, सुख-सुविधा, विलास के साधनों, तनावों तथा दबावों, चुनौतियों तथा अवसरों के प्रति दृष्टिकोण।

सामान्य आस्था-प्रणालियां, अंधविश्वास, विश्वास, सहज वृत्तियां, भावनायें, संवेदनायें, सहजज्ञान।

सौंदर्य, लोभ, कामुकता, यौन-स्वच्छंदता, विभिन्न प्रकार के विवाह-विधान, विवाह पूर्व के संबंधों, वेश्यावृत्ति, जात-कर्म, कौमार्य, सतीत्व, यौन संबंधों में पाखंड संयम, तलाक, गर्भपात तथा शिशु हत्या के प्रति पारम्परिक प्रतिक्रिया।

ऐतिहासिक घटनाओं, ऐतिहासिक महापुरुषों, ऐतिहासिक साहित्य, बदलती हुई अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों तथा बहुधा सांस्कृतिक समागमों का प्रभाव।

सभ्यता की स्थिति जिसमें सामाजिक संरचना, आर्थिक एवं राजनीतिक संस्थागत सांचा-ढांचा, नैतिक मूल्य पद्धति, ज्ञान की मात्रा, सांस्कृतिक स्तर, लोक विचार-पद्धतियां तथा देश, काल और ब्रह्माण्ड के संबंध में मान्य संकल्पनायें सम्मिलित हैं।

हो सकता है कि पश्चिम के जनसाधारण की समझ में यह बात न आये लेकिन समेकित चिन्तन-मनन से यह पता चल जायेगा कि किस प्रकार ये सभी तत्त्व अलग-अलग मात्रा में प्रकृति से तथा कला के विकास तथा ह्रास से प्रभावित होते हैं और उन्हें प्रभावित करते हैं।

(२)

दृष्टिकोण

भौगोलिक परिवेश

अपनी पुस्तक 'स्वभाव और जलवायु' (कैरेक्टर एंड क्लाइमेट) में हंलिगटन ने बड़े ही सुन्दर ढंग से यह समझाया है कि किस प्रकार जलवायु तथा भौगोलिक परिस्थितियां मानव स्वभाव या चरित्र को प्रभावित करती हैं। यथा, वह कहते हैं कि अपेक्षाकृत बंजर, पहाड़ी क्षेत्रों की शुष्क तथा शीत जलवायु में रुक्ष और दृढ़ प्रवृत्तियां पनपती हैं और उपजाऊ मैदानी क्षेत्रों की नरम-नरम नमी लोगों को अनुद्यमी एवं आराम पसन्द बना देती है। गुणात्मक दृष्टि से भूमध्यसागर की जलवायु का प्रभाव उत्तर की जलवायु के प्रभाव से भिन्न होगा। मोटे तौर पर लोग अन्तर्मुखी हैं या बहिर्मुखी, इस तथ्य से जलवायु की परिस्थितियों का कुछ न कुछ तो वास्ता है ही। हाल ही में एक स्तंभ लेखक ने बड़े ही मजाकिया ढंग से कहा है कि भले ही पश्चिमी ढंग के प्रणय निवेदन में कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका को रिझाने के लिए शेक्सपियर की इस उक्ति का सहारा ले ले और कहे "क्या मैं तेरी तुलना ग्रीष्म-दिवस से करूं" पर भारतीय पर्यावरण में ये ही शब्द प्रेमिका के मन में एक भिन्न धारणा, भिन्न मानसिक प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकते हैं। इसका अर्थ होगा कि रोमानी प्रेमी इस बात की अनुमति मांग रहा है कि वह अपने सच्चे प्रेम की तुलना असह्य गर्मी, अत्यधिक नमी, जलाभाव, पसीने से तर कपड़ों, निर्जलीकरण, क्रुद्ध मुद्रा, पसीने वाली बगलों, धुंधले चश्मे तथा सूखे गले से कर सके। ये तो मन में कौंधने वाली केवल कुछ धारणायें हैं।

क्या यह बोधगम्य नहीं है कि रेगिस्तान के जिन क्षेत्रों में कृषि का विकास नहीं हुआ है, वहां की घुमन्तू जातियों के लोग व्यक्तिवादी नहीं हो सकते। उनका तो अस्तित्व ही इस बात पर निर्भर है कि वे समूह बनाकर रहें, गतिशील हों, अनुशासन में रहें और एक ही नेता के प्रति निष्ठा रखें। एक स्थान पर बसे कृषि समुदाय के लोग इन वृत्तियों को अपनाने के लिए बाध्य नहीं हैं। उनकी उत्पादन-प्रक्रिया व्यक्तिवाद के अनुकूल है और सामाजिक एकात्मता के प्रतिकूल है और उसकी भरपायी सशक्त सांस्कृतिक संस्कारों से करनी होगी।

यूरेशिया के विशाल क्षेत्रों में बहुधा बर्बरतापूर्ण आक्रमण होते रहे हैं। जो क्षेत्र निरन्तर युद्धरत समूहों के अखाड़े बने रहते हैं, उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि वे कला तथा संस्कृति और बौद्धिक तथा आध्यात्मिक साधना करने के केन्द्र के रूप में विकसित हो सकें।

निश्चय ही इटलीवासियों की सामान्य मनःस्थिति उन जर्मनीवासियों से भिन्न होगी जिनका स्वदेश 'खुला युद्धक्षेत्र' रहा है।

इस्त्रायल और स्विट्‌रजरलैंड का एक सा मनोविज्ञान नहीं हो सकता। लहरों पर अपना झंडा फहराने वाली प्रमुख नौशक्ति बनने के ब्रिटेन के उद्यम में उसकी विशिष्ट एकाकी भौगोलिक स्थिति ने महान योगदान किया है।

क्या भूगोल ने रूस की सहायता नहीं की? क्या रूस के विशाल भीतरी प्रदेश तथा भयंकर शीतऋतु ने नेपोलियन को नहीं हराया और हिटलर की सेनाओं का मार्ग अवरुद्ध नहीं किया?

हम इस बात की कल्पना नहीं कर सकते कि यदि सर्वशक्तिमान ईश्वर अमरीका को पोलैंड की सी दुर्भाग्यपूर्ण भौगोलिक स्थिति में रख देता तो क्या फिर भी वहां के लोग भौतिक समृद्धि की दिशा में अनवरत ऐसे ही बढ़ते चले जाते। उनकी वर्तमान विपुल समृद्धि का आंशिक श्रेय शेष जगत और उनके बीच पसरे अटलांटिक महासागर को मिलना ही चाहिये।

राजनीति पर प्रभाव डालने वाले भूगोल-तत्त्व-शास्त्र द्वारा इस शती के प्रथम दशक में की गयी भविष्यवाणी पूर्णतया गलत नहीं थी कि ब्रिटेन की केन्द्रीय स्थिति तब तक बनी रहेगी जब तक कि भूगोल के कुछ भाग या कोई क्षेत्र खोजने शेष बने रहेंगे। और जब कभी संसार एक बन्द व्यवस्था जैसा हो जायेगा और उसे खोज की आवश्यकता नहीं रहेगी तो यह नन्हा-सा द्वीप अपनी वैभवपूर्ण स्थिति को गंवा देगा और विश्व-केन्द्र वहां से हटकर पहले तो अफ्रीका तथा यूरेशिया वाले 'आरंभिक द्वीप' (होम आइलैंड) में और फिर में उस 'आरंभिक द्वीप' के आन्तरिक भाग में चला जायेगा जो हिमालय से उत्तर-ध्रुव तक फैला हुआ है।

एशिया में भारत की जो भौगोलिक स्थिति है, अधिकांशतः वैसी ही स्थिति यूरोप में इटली की है।

भूगोल तथा कला

भूगोल तथा कला के आपसी संबंध के बारे में हमारे देश में लगभग अनदेखी सी की गयी है। सिस्टर ए. सी. वायोलिटा ने 'भूगोल संबंधी नवीन धारायें तथा संकल्पनायें' (रीसेन्ट ट्रेन्ड्‌स एंड कन्सैप्ट्‌स-इन ज्योग्रफी) में एक लेख में बताया है कि किस प्रकार भूगोल ने भारतीय संगीत पर प्रभाव डाला है।

भारत का संगीत अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग प्रकार का है लेकिन उसे दो विशिष्ट वर्गों में विभाजित कर सकते हैं— उत्तर का हिन्दुस्थानी संगीत और दक्षिण का कर्नाटक संगीत। उत्तर भारत को अनेक आक्रमण झेलने पड़े। अतः उसने योद्धा जातियों को जन्म दिया। दक्षिण में जीवन अधिक शांतिपूर्ण था और लोगों के पास खेतीबाड़ी के लिए समय था। उन्हें विदेशियों से मिलने-जुलने के अधिक अवसर नहीं मिले। अतः वे परम्पराप्रिय, रूढ़िवादी और अलग-थलग रहे। इसकी झलक

उनके संगीत में मिलती है। उनका संगीत भी परम्परागत तथा शास्त्रीय रहा है।

भारतीय संगीत के साथ प्रकृति का बड़ा गहरा नाता रहा है। भारतीय संगीत में अलग-अलग ऋतुओं और दिवस के अलग-अलग प्रहरों तथा प्रकृति के पंचतत्त्वों के लिए अलग-अलग 'राग' हैं। कतिपय 'राग' बसन्त की छवि प्रस्तुत करते हैं। 'राग मल्हार' सुदूर आकाश में विद्युत-गर्जन की प्रतिध्वनियां तथा वर्षा की बूंदों की पड़पड़ाहट को हमारे मानस पटल पर अंकित करता है। वह हमारे सामने माटी की भीनी-भीनी गंध को, वनस्पति की हरियाली को और मोर के शोर तथा कोयल की कूक को साकार करता है। अनेक 'राग' वर्षा ऋतु के सुर में सुर मिलाते हैं। उन्हें सुनकर लगता है जैसे आकाश में मेघ उमड़-घुमड़ रहे हैं और मूसलाधार वर्षा हो रही है। 'राग भटियाली' बंगाल की नदियों के स्थिर प्रवाह की झलक देता है। उसे सुनकर लगता है जैसे संध्या के झुटपुटे में घर लौटते समय मछेरे दर्द के सुर में गा रहे हों।

मारवाड़ प्रदेश की चट्टानों तथा रेतीले परिवेश के ऊबड़-खाबड़पन तथा शुष्कता को 'राग मांड' में संजोया और पिरोया गया है। पर्वतों की ढलानों पर जब जल लट्ठों तथा पत्थरों के साथ-साथ वेग से नीचे गिरता है तो उसके प्रवाह की ध्वनि को तथा पर्वतों और घाटियों की प्रतिध्वनियों को 'राग पहाड़ी' मुखर करता है। विषाद और अवसाद के 'राग भैरव' को उषाकाल के शांत वातावरण में गाया जाता है।

प्रारम्भिक पंजाबी लोक संगीत की तलुना जीवन तथा आनंद से भरपूर तीव्र गति से प्रवाहमान पहाड़ी झरने से की जा सकती है। कालान्तर में यह लोक संगीत भी कल्पित प्रेमियों तथा नायकों की विरहपूर्ण करुण कथाओं के कथन का माध्यम बन गया। उसकी तुलना स्वयं पंजाब में ही बहने वाली चिनाब जैसी गहरी, स्थिर, भव्य तथा मन्दगति नदी से की जा सकती है। पंजाबी लोक संगीत कुछ-कुछ पश्चिम एशिया के कतिपय देशों के संगीत से मिलता-जुलता है। पंजाब इन देशों के निकट है और उस पर इन देशों के लोगों ने आक्रमण किया। पंजाब के लोग सुख-दुःख के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं और उसकी झलक उनके गीत एवं संगीत में भी पायी जाती है।

बिहार में वर्षा ऋतु के 'श्रावण' मास में जब लोग दिन-रात खेतों में जुटे रहते हैं, तो वे वहां 'बरसाती' नामक गीतों की वर्षा करते हैं।

जब हम बंगला लोकगीत को सुनते हैं तो हमारे सामने बंगालियों के दिन-प्रतिदिन के ठेठ सामान्य देहाती जीवन का चित्र खड़ा हो जाता है। इस संगीत की विविधता का कारण यह है कि वहां संगीत की रचना जीवन की बदलती हुई मनोदशा के अनुसार की जाती है। अलग-अलग जिलों का अलग-अलग संगीत है और उसमें प्रदेश की विविध भौतिक विशिष्टताओं को ध्यान में रखा गया है। इन गीतों में बंगाल के चौड़े खेतों तथा नदियों का वर्णन है। उनमें ऋतुओं की बहार और उदासी का

चित्रण है। वे लोगों की आशाओं, सपनों तथा कुंठाओं को, उनके सुख-दुःख तथा फसलों के पर्वों तथा तीज-त्यौहारों के उल्लास को व्यक्त करते हैं।

पर्यावरण के अनुसार संगीत की गति भी बदलती जाती है। गर्म जलवायु में संगीत मंद ताल में चलता है। वह अधिक विस्तार वाला और अधिक जटिल होता है। ठंडी जलवायु में वह द्रुत ताल में और उच्च स्तर में गाया जाता है।

विचार प्रणालियां

धार्मिक विचारधाराओं, विचार-प्रणालियों (थॉट सिस्टम) की अपनी अलग भूमिका होती है।

यहां 'विचार प्रणाली' शब्द का प्रयोग जान-बूझकर किया गया है।

विचारधारा (आइडियोलॉजी) शब्द समय-समय पर अपना अर्थ बदलता रहा है। आज उसका प्रयोग उस अर्थ में नहीं किया जा रहा है जिस अर्थ में उसका प्रयोग पहले-पहल नैपोलियन के काल में किया गया था।

'रिलीजन' शब्द ने स्पष्टता से कहीं अधिक संभ्रम पैदा किया है। जैसा कि पंडित जवाहर लाल नेहरू ने कहा है, "किसी भी भाषा के किसी भी शब्द की तुलना में 'रिलीजन' शब्द की व्याख्या में विभिन्नता की कहीं अधिक संभावना है। इस शब्द की अलग-अलग लोगों ने अलग-अलग ढंग से व्याख्या की है...। इस शब्द को पढ़ने या सुनने पर संभवतः किन्हीं दो व्यक्तियों के मन में विचारों और छवियों की एक सी धारणा पैदा नहीं होगी। 'रिलीजन' शब्द ने (यदि कभी कोई था) अपना सम्पूर्ण सही महत्त्व गंवा दिया है और वह उस समय केवल संभ्रम पैदा करता है जब प्रायः पर्याप्त नितान्त भिन्न अर्थ उसके साथ जोड़े जाते हैं और जिसके फलस्वरूप कभी भी समाप्त न होने वाले तर्क-वितर्क जन्म लेते हैं। इससे तो कहीं बेहतर यह होगा कि उसका प्रयोग ही समाप्त कर दिया जाये और उसके स्थान पर अधिक सीमित अर्थ वाले अन्य शब्दों का प्रयोग किया जाए। यथा ईश्वर मीमांसा, दर्शन, नैतिक सिद्धान्त, आचार-शास्त्र, अध्यात्म, तत्त्वमीमांसा, कर्तव्य, विधि-विधान आदि।"

इसमें संदेह नहीं कि 'दर्शन (फिलॉसफी) शब्द का निश्चित अर्थ था प्रज्ञा तथा ज्ञान की पिपासा, प्राणी के रूप में अस्तित्व का विज्ञान, पदार्थों के कारणों तथा नियमों का ज्ञान, ज्ञान की किसी भी शाखा में निहित सिद्धान्त। लेकिन आज वह अत्यधिक प्रचलन वाले सिक्के जैसा हो गया है और उसने अपनी निश्चितता तथा पैनापन खो दिया है।

इसी कारण 'विचार प्रणालियों' शब्द का प्रयोग उचित लगता है।

जो भी हो, अपने मुख्य मुद्दे को स्पष्ट करने के लिए हम सहज ही उन मुद्दों की अवहेलना कर सकते हैं जो अतीत के अंग बन गये हैं और आज की दुनिया में उनका कोई वारिस नहीं है ।

यहूदी धर्म

हिब्रू राष्ट्र के पूर्वजों तथा संस्थापकों अब्राहम, इस्साक तथा जैकब के पास कलाओं के लिए न तो समय ही था और न सुविधाएं ही । मूसा ने भी उन्हीं का अनुसरण किया । 'मूसा' संहिता के आधार पर ही बाद के यहूदी जीवन का ढांचा खड़ा किया गया । पर उसके द्वितीय धर्मादेश के माध्यम से प्रभु की जो राष्ट्रीय संकल्पना खड़ी की गयी, उसमें कला की उपेक्षा की गयी । उसके अनुसार प्रभु की कोई उत्कीर्ण छवियां नहीं गढ़ी जा सकती थीं और प्रभु को रूप तथा छवि से परे होना ही चाहिये । धर्मादेश ने धर्म के प्रति हिब्रू निष्ठा को अनिवार्य ठहराया और विज्ञान तथा कला के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी । खगोल विज्ञान की उपेक्षा की गयी । नये मंदिर में किसी भी प्रकार की कोई मूर्तियां नहीं थीं । पुरानी मूर्तियों को बेबीलोन भेज दिया गया । बेबीलोनिया की दासता के बाद हमें किसी मूर्ति, चित्र अथवा नक्काशी का चिन्ह नहीं मिलता । पुजारी केवल नगण्य वास्तुकला तथा संगीत की अनुमति देते थे ।

इंजील या 'ओल्ड टेस्टामेंट' के रूप में संकलित सभी पुस्तकें यहूदियों के पावन साहित्यिक ग्रन्थ थे जिन्हें उनके अपने देश से ५८७ ई० पूर्व में नबूछडनेजार द्वितीय ने बेबीलोनिया में निर्वासित कर दिया था और केवल कुछ मुट्ठीभर साधारण लोग ही वहां शेष रह गये थे । बाद में ये निर्वासित यहूदी अपने नगरों और येरुशलम में लौट आये और उन्होंने अपने मन्दिर का पुनर्निर्माण किया । जातीय तथा मानसिक रूप से संभ्रमित और कमजोर नियंत्रण के कारण समस्याओं से ग्रस्त हिब्रू लोगों के मजहब को ९६० ईसा पूर्व में सोलोमन नामक राजा ने नवरूप तथा नवजीवन प्रदान किया । राजा सोलोमन के शासन काल में हिब्रू लोगों का यह अल्पकालीन वैभव समाप्त हो जाता है । कालान्तर में यह पुजारीयुक्त वाली वैभवपूर्ण स्थिति अल्पकाल के लिए बनी रही । पर उसके शासन की समाप्ति के साथ ही उसका अन्त हो गया । कालान्तर में यह पुरोहिती या पैगम्बरी मजहब बन गया और शनैः शनैः यहूदी यह विश्वास करने लगे कि केवल जेहोवा ही सच्चा प्रभु है और समूचे भूमंडल के एकमेव प्रभु ने इस पृथ्वी पर एक राष्ट्र के रूप में उन्हें ही चुना है और जेहोवा के दीर्घ लम्बित अभिवचनों को पूरा करने के लिए एक मसीहा आयेगा । 'किसी भी अन्य देवी-देवता को सहन न करने वाले' एकमेव 'प्रभु' 'ईर्ष्यालु प्रभु' की संकल्पना तथा वचन और दैवी नेतृत्व की धारणा ने यहूदी मजहब की असहिष्णुता या कट्टरतावाद को ऐसा भाव प्रदान किया जिसका प्रदर्शन कोई भी अन्य सम सामयिक मजहब नहीं कर सका । बौद्धधर्म, कन्फूसियसवाद, लाओत्सेवाद अथवा ताओवाद में न तो ऐसी कठोरता थी और न ही असहिष्णुता या कट्टरता का प्रबल वेग ।

इस दृढ़ धारणा में से ही यहूदियों के मानसिक मूलाधार का जन्म हुआ । उसने उन्हें सदियों के विश्वव्यापी उत्पीड़न के झंझावात में भी जीवित रखा । लेकिन यद्यपि सदियों तक समूचे भूमंडल पर

बिखरी उनकी प्रतिभा ने विभिन्न संस्कृतियों के उत्थान में सारवान सहयोग दिया पर उनकी सृजनात्मकता का सदुपयोग उस लम्बी अवधि में उनकी अपनी जन्मभूमि के सांस्कृतिक पुनर्जागरण के लिए नहीं किया जा सका। उनके इस परम्परागत मानसिक मूलाधार के प्रभाव को इस्रायल के जन्म के पश्चात् राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के तथा अरब जगत के प्रति प्रबल प्रतिरोध के उनके भगीरथ प्रयास में देखा जा सकता है। आज इस्रायल को तत्काल आवश्यकता है स्पार्टा की युयुत्सु-वृत्ति की, न कि फ्लोरेंस के लोकप्रसिद्ध सौन्दर्य बोध की।

इस्लाम

लगता है कि राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न पक्षों पर पड़ने वाले इस्लाम के प्रभाव को तटस्थ भाव से आंकने और मापने का कोई विशद प्रयास अभी तक नहीं किया गया है, भले ही विश्व के बाजारों में इस्लाम संबंधी साहित्य की बाढ़ आ रही हो। 'पंथनिरपेक्षता तथा इस्लाम' के विषय के बारे में कोई प्रामाणिक पुस्तक उपलब्ध नहीं है। उन विनिबंधों को जैसे कि एम० एन० राय ने रचे हैं, अपवाद माना जाता है। इस्लाम से संबंधित विभिन्न शब्दों का प्रयोग असंगत ढंग से किया जा रहा है और उससे विचार-संभ्रम उत्पन्न हो रहा है। कलाओं के क्षेत्र में ऐसा विशेष रूप से हो रहा है यथाः 'इस्लामी कला', 'मुस्लिमा', 'हिन्दू-मुस्लिम', 'मूरी' (मूरिस) अथवा 'हिन्दू-अरबी', वास्तुकला, मुगल कला, अफगान शैली की वास्तुकला, फारसी कला आदि। इस क्षेत्र में भी कला का क ख ग भी न जानने वाले राजनेता अपने दलगत स्वार्थों को साधने के लिए सर्वनाश कर रहे हैं। इस तथ्य को भुलाया जा रहा है कि इस्लाम को अपना धर्म घोषित करने वाले हर राष्ट्र जाति या कबीले की अपनी अलग विशिष्टताओं वाली संस्कृति है। एम० एन० राय के ध्यान में यह तथ्य था जब उन्होंने कहा था कि खेबर के मार्ग से जो आक्रमण किये गये, वे विभिन्न कबीलों यथा अरबों, मुगलों आदि के थे और वस्तुतः इस्लाम के नहीं थे। उनके अनुसार ऐसे तथा बाद की शासन प्रणालियों के आक्रमण का स्वरूप आक्रमणकारी कबीलों की अलग-अलग विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए अलग-अलग था। पुनश्च फारस की अथवा मिस्र के पिरामिडों की अनोखी वास्तुकला शैली इस्लाम पूर्व की थी। हमारे देश में अफगान शासकों ने वास्तुकला संबंधी अपने प्रयोजनों के लिए हिन्दू कारीगरों का उपयोग किया, हिन्दू विषय-वस्तु का अनुकरण किया और यहां तक कि हिन्दू मंदिरों के स्तम्भों को भी अपना लिया। उनकी अनेक मस्जिदें मात्र ऐसे हिन्दू मंदिर थे जिनका मुस्लिम नमाज के लिए पुनर्निर्माण कर लिया गया था। फतेहपुर सीकरी, दिल्ली तथा आगरा की वास्तुकला शैली को मुगल शैली कहा जाता है। आज संगीत को समर्पित अध्यवसायी मुस्लिम कलाकार बड़ी ही उत्तम रीति से संगीत की देशी शैलियों की साधना तथा उनका संवर्धन कर रहे हैं और उन सभी का देशी कला के 'साधकों' के रूप में सम्मान किया जाता है। तानसेन भी ऐसे ही साधक थे। अकबर के शासन काल में जो सत्रह कलाकार (चित्रकार) चोटी के माने जाते थे, उनमें से तेरह हिन्दू थे। ताजमहल, कुतुब मीनार तथा अन्य कृतियों के बारे में पी० एन० ओक के दावों को किसी भी प्रख्यात विद्वान ने चुनौती नहीं दी है। किन्तु यह माना जाता है कि ताजमहल के डिजाइन के लिए शाहजहां ने तीन विदेशी कलाकारों का सदुपयोग किया। उनमें

से एक गीरोनिमो वेरेनियो नामक इतालवी था, दूसरा उस्ताद इसा नामक फारसवासी था और तीसरा आस्तिन दे बोर्दियो नामक फ्रांसीसी था। (लार्ड विलियम बैन्टिक के मन में एक बार यह विचार आया था कि ताजमहल एक हिन्दू ठेकेदार को १५० ००० पौंड में बेच दिया जाए।)

मजहब के रूप में इस्लाम ने अपनी छत्रछाया में रहने वाले लोगों के स्वभाव पर प्रभाव डाला है। लेकिन उन लोगों की मूल संस्कृतियों ने भी इस्लाम के स्थानीय तथा सामान्य स्वभाव पर प्रभाव डाला है। इस समूचे असाधारण पक्ष का विवेचनात्मक विश्लेषण करने के लिए एक और रॉय को जन्म लेना होगा। लेकिन फिर भी तथ्य यह है कि इस्लाम का स्वभाव ललित कलाओं के संवर्धन के अनुकूल नहीं है। जूडिया (न्यू टेस्टामेंट में सम्मिलित पुस्तक) में मूसा के निषेध की भांति इस्लामी निषेध ने भी इस्लामी जगत में कलाओं की प्रगति में बाधा डाली।

हाल ही में दूरदर्शन पर रामायण तथा महाभारत पर धारावाहिक प्रस्तुत किये गये। क्या पैगम्बर हजरत मुहम्मद के जीवन पर भी ऐसे ही धारावाहिक प्रस्तुत किये जा सकते हैं? जो भी इस दुष्कर कार्य को हाथ में लेगा उसे 'रेगिस्तान— के प्रभु' की उपस्थिति को अनिवार्यतः संकेत अथवा प्रतीक के रूप में दिखाना होगा और वह होगा उनके ऊंट का पिछला भाग और उसकी पूंछ, क्योंकि हजरत पैगम्बर'— को पर्दे पर नहीं दिखाया जा सकता। वह इस्लाम के सिद्धान्तों के प्रतिकूल होगा।

यह एक मान्य तथ्य है कि औरंगजेब तथा उसके पूर्ववर्तियों के मन पर इस्लाम का प्रभाव एक सा नहीं था। औरंगजेब के बारे में विल डूरण्ट ने कहा है :

"निरख-परख के बावजूद औरंगजेब मुगल तथा भारतीय कला के लिए अभिशाप था। एक ही मजहब के अंधभक्त के रूप में उसे कला में मूर्तिपूजा तथा अकारता के अलावा और कुछ नहीं दिखाई देता था....। भारतीय कला ने कब्र तक उसका पीछा किया।"

तथाकथित 'हिन्दू-मुस्लिम वास्तुकला' के बारे में श्री अरविंद का अभिमत है कि "इसकी विशिष्टताओं की विशुद्ध स्वदेशी उत्पत्ति के दावों के समर्थन की चिंता मुझे नहीं है। मुझे ऐसा लगता है कि यहां भारतीय मानस ने अरब तथा फारस की कल्पना से बहुत कुछ ग्रहण किया है और कुछ मस्जिदों तथा मकबरों में मुझे अफगानों तथा मुगलों को स्पष्ट तथा मुखर शैली की छाप दिखाई पड़ी। फिर भी यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट है कि इनमें अंकित कला कुल मिलाकर भारतीय कला की सृजनात्मकता का ही एक विशेष रूप है। भले ही उसका वह रूप हिन्दू कलाकारों द्वारा पत्थरों पर उत्कीर्ण महान् आध्यात्मिक श्रेणी का न होकर दूसरे दर्जे की कलात्मकता की श्रेणी में आता हो।" साथ ही हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि "इसमें प्राचीन भारतीय विचारकों के विशद आध्यात्मिक तत्व का प्रकटीकरण नहीं हुआ है। लेकिन फिर भी ये संरचनाएं भारतीय मस्तिष्क की ही कृतियां हैं जिन पर पश्चिमी एशिया का प्रभाव परिलक्षित होता है।"

वास्तुकला संबंधी अपने अध्याय का समापन करते हुए विल डूरांट ने कहा है, "अतः इस संक्षिप्त से सर्वेक्षण का समापन भी समारंभ जैसा होना चाहिये। मैं यह स्वीकार करता हूं कि बस केवल एक हिन्दू ही पूर्णतः भारतीय कला का मूल्यांकन कर सकता है अथवा उसके बारे में लिख सकता है।

कम्युनिज्म

नवीनतम शामी (सेमेटिक) मतवाद (रिलीजन) कम्युनिज्म ने अपनी विचारधारा के अनुसार एक नवीन 'सर्वहारा संस्कृति' के निर्माण का सपना देखा। 'सर्वहारा संस्कृति' के समर्थकों ने अतीत की राष्ट्रीय लोकतांत्रिक परम्पराओं को नकार दिया और शून्यवाद या नाशवाद (निहिलिज्म) तथा नियम निष्ठता (फॉर्मेलिज्म) का पक्ष लिया।

लेनिन अंशतः इसी दृष्टिकोण के पक्षधर थे। उनका आग्रह था कि, "सामान्यतः राजनीतिक शिक्षा के क्षेत्र में और विशेषतः कला के क्षेत्र में जो भी कार्य हो उसमें वर्ग संघर्ष की भावना होनी चाहिये.. .." समस्त विज्ञानों की भांति समस्त कलाओं से भी यह अपेक्षा की गयी कि वे 'सर्वहारा की तानाशाही' के ध्येय को पोषित करें। लेनिन के कार्यक्रम में कहा गया कि "श्रमजीवी वर्ग को इस योग्य बनाया जायेगा कि वह उस सम्पूर्ण कला-निधि का आनंद ले सकें जिसका सृजन उसके श्रम का शोषण करके किया गया लेकिन अभी तक जिसका आनंद पूर्णतः शोषक-वर्ग लेता रहा।" यह आवश्यक है कि "श्रमजीवी वर्ग के सशक्त तथा अक्षय क्षमता-भंडार की अभिवृद्धि के लिए एक दृढ़ आधार खड़ा किया जाए।"

लेनिन समाजवादी औद्योगीकरण, कृषि-सहकारिता तथा सांस्कृतिक क्रांति को समाजवादी पुनर्निर्माण के तीन प्रमुख अन्योन्याश्रित अंग मानता था। उनकी दृष्टि में संस्कृति देश-काल से परे कोई अलग-अलग वस्तु नहीं थी। उनके विचार में वह जीवन के समस्त पक्षों से जुड़ी थी। सांस्कृतिक क्रांति राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक विकास में सहायक थी। उनके अनुसार सांस्कृतिक क्रांति लाना राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने से अधिक दुष्कर कार्य था।

लेनिन को पता था कि कम्युनिस्ट राज्य की राजनीतिक शिक्षा-पद्धति को सुदृढ़ करने के लिए 'शिक्षकों के सम्पूर्ण ज्ञान का उपयोग आवश्यक था जिसे उन्होंने बुर्जुआ वर्ग से विरासत में प्राप्त किया था।'

लेनिन ने लिखा है, "मार्क्सवाद को क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग की विचारधारा के रूप में अपना ऐतिहासिक महत्व इसलिए प्राप्त हुआ है क्योंकि बुर्जुआ काल की सर्वाधिक मूल्यवान उपलब्धियों को नकारने के बजाए दो हजार से भी अधिक वर्षों के मानवीय विचार एवं संस्कृति के विकास की प्रत्येक मूल्यवान वस्तु को आत्मसात् करके उसे पुनः नया रूप दे दिया गया है।" पुनश्च, "हमें उसका (अर्थात् सांस्कृतिक कायाकल्प की प्रक्रिया का) समाजवादी पुनर्निर्माण की किसी अन्य समस्या की

भांति ही गहन तथा विशद विश्लेषण करना चाहिये और ऐसा करते समय मानव समाज, देश तथा हर प्रदेश की स्थानीय विशेषताओं की ओर समुचित ध्यान देना चाहिये । सांस्कृतिक क्रांति की कालावधि में क्रांति-पूर्व सांस्कृतिक संस्थानों का कुछ पुनर्गठन करके उनका सदुपयोग किया जा सकता है । इनमें और बातों के अलावा रंगमंच, चित्रकारी, संगीत संस्कृति की कायापलट, विकास तथा नव साहित्य का सृजन भी सम्मिलित है ।"

यथा, उजबेकिस्तान के मध्य एशियाई गणराज्य में यह प्रयास किया गया कि उसके लोगों की उपयुक्त सांस्कृतिक परम्पराओं का पुनरुत्थान किया जाए और उनका सम्पर्क अनेक शताब्दियों की साहित्य, विज्ञान तथा कला संबंधी उपलब्धियों से कराया जाए। इनमें सुविख्यात गणितज्ञ तथा खगोलविज्ञानी मिर्जो, उलुगबेक, विश्व कोशकार सिना मुहम्मद इब्न-मूसा, खोरेज्मी, महान उज्बेक कवि तथा चिन्तक अलीशेर नवोई तथा विज्ञान और संस्कृति के उत्थान में महान योगदान करने वाली अन्य प्रतिभाएं शामिल हैं ।

लेनिन का विचार था कि समग्र समाजवादी संस्कृति के विकास के साथ-साथ सांस्कृतिक क्रांति को हर राष्ट्रिकता की सर्वोत्तम राष्ट्रीय विशिष्टताओं को लगन-जतन से आगे बढ़ाना और ऊपर चढ़ाना चाहिये ।

किन्तु लेनिन के उत्तराधिकारी ने उनकी नीति की अवहेलना की, भले ही १९३६ के सोवियत संविधान में १९३० के दशक के पूर्वार्ध में देश के सफल औद्योगीकरण, कृषि के सामूहिकीकरण और सांस्कृतिक क्रांति की उपलब्धियों का बखान किया गया ।

स्तालिन ने भी सोवियत संघ की सभी राष्ट्रीय संस्कृतियों के रूसीकरण का प्रयास किया ।

इसका अर्थ था कि रूसियों की संस्कृति का प्रसार हो और रूसी भाषा का अध्ययन किया जाए। इसके अनुसार विभिन्न राष्ट्रीय संस्कृतियों की सभी विशिष्टताओं को कूड़े के ढेर की भांति फेंक दिया गया और उन्हें घिसी-पिटी तथा पुरानी घोषित कर दिया गया । शिक्षा प्रणाली पर कठोर अनुशासन का अंकुश लगा दिया गया । सभी राष्ट्रिकताओं के प्रतिभावान लेखकों, कवियों, नाटककारों, कलाकारों, संगीतज्ञों, अभिनेताओं के अलावा इंजीनियरों, कृषि शास्त्रियों, डाक्टरों, शिक्षकों तथा वैज्ञानिकों को भी रूसीकरण के कठोर शिकंजे में जकड़ दिया गया । संस्कृति से यह अपेक्षा नहीं की गयी कि वह लोगों की विभिन्न श्रेणियों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा करे, लोगों की स्वतंत्र कलात्मक लगन-जतन को प्रोत्साहन दे और उनकी विशिष्ट प्रतिभाओं तथा सौंदर्य-रुचियों के लिए पर्याप्त अवसर जुटाये । 'अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी संस्कृति' की आड़ में सभी गैर-रूसी लोगों पर रूसी संस्कृति थोप दी गयी ।

किन्तु इस बात की ओर ध्यान दिया जाना चाहिये कि मिखाइल गोर्बाचौब ने इस संबंध में सोवियत संघ के सम्पूर्ण चिन्तन तथा नीतियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन का सूत्रपात किया। अक्टूबर क्रांति की ७० वीं वर्षगांठ पर सोवियत संघ कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति, सोवियत संघ तथा आर. एस. एफ. एस. आर. की सर्वोच्च सोवियत संयुक्त समारोह सम्मेलन में उन्होंने कहा था कि "विद्वानों, वैज्ञानिकों, आविष्कारकों, लेखकों, पत्रकारों, कलाकारों, अभिनेताओं तथा शिक्षकों को— उन सभी को, जो संस्कृति तथा शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में काम करते हैं, पुनर्रचना (पेरेस्त्रोइका) का प्रबल समर्थक होना ही चाहिये।"

इस अवसर पर उस मानपत्र का उद्धरण असंगत नहीं होगा जो ८४५ ई० पू० में शाओ के ड्यूक ने राजा लि-बॉग को दिया था :

"एक सम्राट को ज्ञात होता है कि वह उस अवस्था में किस प्रकार राजकाज चलाये जब किसी प्रकार का कोई अंकुश या भय नहीं होता और कवि मुक्त भाव से छंद रचना कर सकते हैं, लोग नाटक खेल सकते हैं, इतिहासकार सत्य को प्रस्तुत कर सकते हैं, मंत्री परामर्श दे सकते हैं, निर्धन करों पर रोष प्रकट कर सकते हैं, छात्र उच्च स्वर से पाठ याद कर सकते हैं, कारीगर अपने कौशल की सराहना कर सकते हैं और रोजी खोज सकते हैं, लोग किसी भी चीज के बारे में मुंह खोल सकते हैं और बुद्धजन किसी भी चीज में दोष निकाल सकते हैं।"

'मसीही' अथवा 'यूरोपीयता'

यह रूढ़िसंगत है पर तर्कसंगत नहीं कि यूरोपीय संस्कृति, यूरोपीय कला और यूरोपीय विज्ञान को 'मसीही' संस्कृति, 'मसीही' कला और 'मसीही' विज्ञान का पर्याय माना जाए। जन साधारण के लिए दोनों में कोई विभेद करने की कोई व्यावहारिक आवश्यकता नहीं है।

मानव मात्र के मानस पर ईसा मसीह का अपार प्रभाव पड़ता रहा है। लेकिन ईसाइयत का वैसा प्रभाव नहीं है। जन साधारण को यह पता नहीं है कि ईसा को ईसाइयत के साथ जोड़ना उचित नहीं होगा। तथापि यह एक ऐसा मूलबिन्दु है जिसकी ओर हर गंभीर चिन्तक को ध्यान देना चाहिये।

एच० जी० वेल्स के अनुसार ईसा मसीह तो ईसाइयत के संस्थापक न होकर उसके उद्गम स्रोत थे।

"यह आवश्यक है कि पाठकों का ध्यान इस तथ्य की ओर दिलाया जाए कि.... इस पूर्ण विकसित 'निकाइया' की ईसाइयत तथा 'नाजरेथ' के ईसामसीह के उपदेशों के बीच आकाश-पाताल का अन्तर है। सभी मसीही मानते हैं कि निकाइया के अन्दर नाजरेथ के ईसा की शिक्षाओं का पूर्ण सार दिया गया है लेकिन यह हमारे विचार क्षेत्र से बाहर का प्रश्न है। स्फटिक की भांति स्पष्ट रूप से यह दीख

पड़ता है कि नाजरेथ का उपदेश नये प्रकार का एक ऐसा पैगम्बरी उपदेश था जो यहूदी पैगम्बरों के साथ प्रारंभ हुआ। उसमें पुरोहित के लिंए कोई स्थान नहीं था। उसमें कोई वेदी,कर्मकांड और अनुष्ठान भी नहीं था। वह तो त्यागमय पश्चाताप से परिपूर्ण मानवता के लिए आकुल हृदय था। धर्मोपदेशकों का संगठन इसका एकमात्र संगठन था और उसका मुख्य कार्य उपदेश देना था। लेकिन चौथी शताब्दी में अस्तित्व में आयी पूर्ण विकसित और सर्वव्यापक ईसाइयत ईसा मसीह के उपदेशों पर आधारित होने के बावजूद एक प्रकार का पुरोहित वाला धर्म था जो हजारों वर्षों से संसार में प्रचलित था। उसके लम्बे-चौड़े कर्मकांड का केन्द्र थी एक वेदी और पूजन का अनिवार्य कार्य था मिस्सा (मास) के एक अभिषिक्त पादरी के हाथ से अर्पित चढ़ावा। और उसका दिन-दूनी रात-चौगुनी उन्नति करता हुआ उपयाजकों, पादरियों और विशपों का एक संगठनों था.....इसके अतिरिक्त हमें एक अति महत्वपूर्ण बात ध्यान रखनी चाहिये कि ईसाइयत की जड़ें जमाने में सम्राट की अपनी भूमिका बड़ी निर्णायक रही है। उसके अन्तर्गत केवल कॉन्स्टेन्टाइन महान द्वारा बुलायी गयी निकाइया की परिषद् ही केवल सम्मिलित नहीं है, सन् ३८१ एवं ५५३ में (कुन्सुन्तूनिया में) बुलायी गयी दो बड़ी परिषदें और सन् ४३१ में स्फेसस और ४५१ में चाल्सडन में आयोजित परिषदें भी शामिल हैं जिन्हें शासन की शक्ति द्वारा आहत किया गया था। और यह तथ्य भी पूरी तरह स्पष्ट है कि इस कालखंड की ईसाइयत में ईसा की मूल भावनाओं या शिक्षाओं के समान या उससे भी अधिक प्रभावशाली रूप में कान्स्टेन्टाइन महान की भावनाओं का प्रकटीकरण होता है।"

वेल्स ने यह भी कहा है कि ईसा के धर्मोपदेशों और ब्रह्म ज्ञान संबंधी घोषणाओं को ईसाइयत ने कुछ भी महत्व नहीं दिया है यद्यपि कहा यही जाता है कि ईसाइयत ईसा मसीह की शिक्षाओं पर आधारित है। विभिन्न ईसाई मतावलम्बी उपदेशकों द्वारा मुक्ति के लिए जिन सिद्धान्तों का बढ़-चढ़कर उल्लेख किया जाता है वे ईसा मसीह की शिक्षाओं में कहीं उपलब्ध नहीं होते। केवल संत जॉन के धर्मोपदेश के एक अंश के अलावा वस्तुतः ईसा के श्रीमुख से निकले ऐसे एक शब्द को भी खोज पाना कठिन है जिनमें उन्होंने दावा किया हो कि वह यहूदियों के मसीहा हैं....तथा ईश्वरत्व का अंग होने के किसी दावे को अथवा किसी ऐसे परिच्छेद को खोज पाना तो और भी कठिन है जिसमें उन्होंने 'प्रायश्चित' के सिद्धान्त पर प्रकाश डाला हो अथवा अपने अनुयायियों से प्रसादों अथवा परम प्रसादों के चढ़ावे का) (अर्थात् पुरोहित कर्म का) आग्रह किया हो। पर आज हम यह देखते हैं कि कालान्तर में किस प्रकार समूचा ईसाई जगत त्रित्व (ट्रिनिटी) संबंधी विवादों से ग्रस्त एवं त्रस्त हो गया। इस बारे में कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है कि ईसा मसीह के पट्ट शिष्यों ने भी कभी 'त्रित्व' के बारे में सुना हो– उनके श्रीमुख से तो कदापि नहीं। पुनः, यहूदियों के शनिवार संबंधी धर्म-चर्चा, पूजा-उपासना एवं विश्राम (सब्बाथ) के दिन को ईसाइयों के रविवार के उस धार्मिक कार्यों के लिए सुनिश्चित दिन में बदल दिया गया जो ईसाई-पूजा का आज एक महत्त्वपूर्ण अंग बना हुआ है। दूसरी ओर सच्चाई यह

है कि स्वयं ईसा मसीह ने जान-बूझकर 'सब्बाथ' या धार्मिक-कार्यों के लिए सुनिश्चित दिन का उल्लंघन यह कहकर किया कि इसकी योजना मनुष्य के लिए की गयी थी मानव को सब्बाथ के लिए नहीं रचा गया है। इसी तरह उन्होंने अपनी मां मेरी की पूजा उस मातृत्व की आदि शक्ति अथवा स्वर्ग की रानी घोषित कर कभी नहीं की। कालान्तर में जो ईसाई पूजा-पद्धति और परम्परा की मुख्य विशेषताएं बतायी गईं उनकी भी उन्होंने उपेक्षा की थी। यही कारण है कि ईसाइयत पर संदेह रखने वाले अनेक अविश्वासी लेखकों ने ईसा मसीह को ईसाई कहकर पुकारने पर भी संशय प्रकट किया है।....इसके साथ ही जिस स्वर्गिक राज्य (किंग्डम ऑफ गॉड) की शिक्षाओं का बड़े ही प्रभावशाली ढंग से ईसामसीह ने वर्णन किया था उसे आज के प्रायः सभी ईसाई गिरजाघरों में कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है।"

ईसा के प्रमुख उपदेश अर्थात् स्वर्ग के साम्राज्य के सिद्धान्त की मसीही पंथों में अति अल्प भूमिका रही है। "फिर भी इस बात पर ध्यान दिया जाए कि जहां ईसा के यथार्थ उपदेशों में ऐसा बहुत कुछ था जिसे कोई धनी व्यक्ति या पादरी या व्यापारी या राजकीय अधिकारी या सामान्य संभ्रान्त नागरिक अपनी जीवन शैली में अति क्रान्तिकारी परिवर्तन किये बिना स्वीकार नहीं कर सकता, वहां ऐसा कुछ नहीं था जिसे गौतम शाक्य के वास्तविक उपदेश का अनुयायी तत्काल ग्रहण न कर सके। इसी भांति प्राचीन बौद्ध के नजारीन बनने पर भी रोक नहीं है और ईसा के वास्तविक शिष्यों को भी बुद्ध की धार्मिक शिक्षाएं ग्रहण करने पर कोई रोक नहीं लगायी गयी है।"

मूलतः संत पाल के चर्चवाद अथवा आगस्टाइन के पूर्व की ईसाइयत का दृष्टिकोण ललित कलाओं के प्रति उदार नहीं था।

२५ अप्रैल, ३८७ ई० को अपने बपतिस्मे के शीघ्र पश्चात् आगस्टाइन ने उदारशील कलाओं विशेषतः संगीत के बारे में विनिबंध-माला की रचना की। उसने अपना निजी उदारशील कला पाठ्यक्रम तैयार किया। एक प्रकार से उन्होंने पुरातन कला तथा रोमन शिक्षा-पद्धति को मान्यता प्रदान की।

आगस्टाइन ने मूर्तिपूजा की आलोचना की। वह मूर्तिपूजा के घोर आलोचक थे। लेकिन अनजाने में उन्होंने दर्शन, अलंकारिक तथा पुरातन ज्ञानोपार्जन तथा सौन्दर्य शास्त्र को भी अपने लेखों में स्थान दिया।

विक्टोरिया उकोलोवा का कहना है कि "नवीन ईसाई संस्कृति का विकास करने के लिए, जिसने समस्त यूरोप में मध्य शताब्दी तक राज्य किया, आगस्टाइन पुरानी परम्परा की धरोहर के एक भाग का

नवीन ज्ञान और संस्कृति के साथ समायोजन करने का इच्छुक था।"

"आगस्टाइन की विविधता ने अपेक्षाकृत आध्यात्मिक जीवन की ऐसी उदार पद्धति के लिए मार्ग प्रशस्त किया जिसमें पुरातन परम्परा ने ज्ञानोपार्जन, दार्शनिक युक्तिसंगतता तथा काव्य जगत के उद्‌गम के स्रोत के रूप में सहायता पहुंचाई।"

"पुरातन संस्कृति की ओर आगस्टाइन ने जो गहन ध्यान दिया है.... वह यथा समय १२ वीं शताब्दी के केरोलिंजियाई पुनर्जागरण तथा कवियों की प्रगतिशील प्रवृत्तियों के लिए ऐसा आवर्धक लेन्स सिद्ध हुआ जो पुरातनता को उनके और अधिक निकट लाये। निश्चय ही वह काफी अनगढ़ आवर्धक लैन्स था और कभी-कभी उसने जीवन को उसकी असली छवि से कहीं बड़े व छोटे और नीरस रूप में प्रस्तुत किया। लेकिन वह प्रमुख बात नहीं थी। क्योंकि इसके फलस्वरूप पुरातनता का समावेश मध्ययुगीन संस्कृति में हुआ और वह पीढ़ियों के मध्य ऐसा सम्पर्क सिद्ध हुआ जिसने अपने असाधारण तथा परस्पर-विरोधी अस्तित्व से सच्चे पुनर्जागरण के लिए मार्ग प्रशस्त किया।"

प्रारम्भिक मध्ययुगीन कालों में कला में मूर्ति पूजा की प्रवृत्तियां बनी रहीं। सम्पूर्ण मध्ययुगीन शिक्षा-पद्धति अधिकांशतः उत्तरवर्ती पुरातन स्कूलों जैसे स्तम्भों पर टिकी थी। उसे समुचित रूप से मसीही बौद्धिक पर्यावरण के अनुकूल अपनाया गया। साहित्य में भी उत्तरवर्ती पुरातन परम्पराओं का एक प्रकार का समावेश हुआ।

तीसरी तथा चौथी शताब्दी के नव अफलातूनवाद ने मध्ययुग को ऐसे विचार दिए जो सदैव रूढ़िवादी ईसाइयत से मेल नहीं खाते थे। तपोपूत आदर्श की खोज का सूत्रपात ईसाई विरोधी जुलियन ने भी किया।

विश्वव्यापी राज्य के रोमन सपने का प्रभाव जनमानस पर छाया रहा। शार्लमन का साम्राज्य, पवित्र रोमन साम्राज्य, स्लावों की तृतीय रोम योजना और अन्ततः पोप (महान पोप ग्रेगरी) की धर्मतन्त्रीय महत्त्वकांक्षायें रोमन राज्य के इसी आदर्श से प्रेरित थीं।

जब ईसाइयत राज्य-धर्म बन गयी, उसके बाद भी रोमन संस्कृति तथा रोमन संस्थानों का प्रभाव बना रहा। संक्रमण तथा परस्पर आबद्धता का यह काल कुछ सदियों तक चलता रहा। जन-पर्वों की

उल्लासपूर्ण भावनात्मक तथा कलात्मक प्रकृति तथा गैर-ईसाई कलाओं की तड़क-भड़क का नीरस ईसाइयत की निवृत्तिमार्गी तपश्चर्या तथा धर्मान्धता से सीधा विरोध था। खड्ग-युद्ध, सर्कस तथा अन्य रंगमंचीय प्रदर्शनों, घुड़दौड़ों हाथियों तथा मगरमच्छों के प्रदर्शनों में लोगों की रुचि बनी रही।

विजयी चर्च होमर की उस स्वर्ण- शृंखला को नहीं तोड़ सका जिसने भूतल को स्वर्ग से, पुरातनता को मध्य युगों से, पुरातनता को पुनर्जागरण से, पुरातनता को नवजात राष्ट्रीय संस्कृतियों से तथा पुरातनता को वर्तमानकाल से जोड़ा।

ग्रेगरी ने संगीत के ऐसे व्यापक उपयोग का शुभारंभ किया जिसमें विभिन्न राष्ट्रों के गान तथा गैर-ईसाई धुनों की झलक पाई जाती थी।

एम्ब्रोज ने बाद में रोमन छन्दशास्त्र की अलंकारपूर्ण भाषा तथा क्लिष्ट साहित्य का तिरस्कार किया।

मसीही लेखकों ने पुरातन साहित्य में संतों के जीवन से तथा अंशतः बर्बर जातियों के मिथकों से अनेक चमत्कार उधार लिए। ग्रेगरी ने भी ऐसा ही किया।

धीरे-धीरे ईसाइयत ने पुरातन मूर्ति पूजावाद तथा बर्बरी पूजावाद को अपने में रचा पचा लिया। अपने 'मोरालिया' में ग्रेगरी ने भी पुरातन छंद शास्त्र, पुरातन व्याकरण तथा पुरातन दर्शन की उपेक्षा नहीं की।

ईसा पूर्व के प्रतिभाशाली दिग्गज मसीही जगत पर प्रभाव डालते रहे, भले ही अपने 'मोरालिया' तथा 'डाइलाग्ज' (संवादों) (५९०-६०४) के लिए प्रख्यात पोप ग्रेगरी जैसे मसीही धर्मोपदेशकों ने उनके विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा किया। 'संवादों' में पूछा गया : "वैयाकरणों की क्या सार्थकता हो सकती है ? क्या वे मार्गदर्शन के स्थान पर हमारे मानस को भ्रष्ट नहीं करते, पाइथागोरस, सुकरात, अफलातून तथा अरस्तू जैसे दार्शनिकों का वाग्छल हमारा क्या प्रयोजन सिद्ध कर सकता है ? होमर, वर्जिल तथा मीनेंडर जैसे अपावन कवियों के गीत हमारे लिए किस काम के हो सकते है ? सेलस्ट, हेरोडोटस, लिपी तथा अन्य गैर-ईसाई इतिहासकार मसीही परिवार का क्या हित कर सकते हैं ? क्या ग्रैक्कस, लिसियस, डेमोस्थनीज तथा तुलियस की वाग्मिता ईशू के पावन वचनामृत का मुकाबला कर सकती है ? फ्लैक्कस, सोलिनस, वारो, प्लाउट्स तथा सिसेरो की बेतुकी युक्तियां हमारे लिए किस काम की हैं ?"

महत्त्वक्रम में आगस्टाइन के बाद ग्रेगरी का नम्बर आता है। वह छठी शती के अन्त में और ७ वीं शती के प्रारंभ में ईसाइयत पर पूरी तरह छाए रहे।

भले ही अन्दर से ग्रेगरी मूर्ति-पूजावाद को मिटाना चाहते थे पर उन्होंने पुरातन धार्मिक अनुष्ठानों तथा रूढ़िगत समारोहों को करने की अनुमति दी। उन्होंने स्थानीय तथा जनजातीय लोगों के प्राचीन देवी-देवताओं के पवित्र स्थलों की पवित्रता को यथावत बनाये रखा और उनमें गिरजाघरों की स्थापना की।

ग्रेगरी के काल में ही रोम, जो कभी सम्राटों का महानगर था, संत पीटर के रोम में परिणत हुआ और समूचे मसीही जगत की राजधानी होने का दावा करने लगा। पोप की गद्दी की स्थापना देवदूत पीटर ने की थी।

प्रत्यक्ष है कि ईसाइयत पर ईसा पूर्व के रोमन तथा बर्बरी मूर्ति पूजावाद का प्रभाव पड़ा। १३ वीं शताब्दी में अरबी संस्कृति तथा पुनर्जागरण से उसका सम्पर्क हुआ। अफलातून, अरस्तू, होमर, विजिल, ओविड, प्टोलेमी तथा हिप्पोक्रेट्स ने यूरोप को पुनर्जागरण के द्वार तक पहुंचाया। उसने विश्व को एक नव-दर्शन, मूल्यों तथा विचारों की एक नई-पद्धति और एक नवीन कलात्मक भाषा प्रदान की।

पुनर्जागरण

औद्योगिक क्रांति से पूर्व यूरोप के इतिहास में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काल पुनर्जागरण (रेनेसां) का रहा है। इस अंग्रेजी शब्द का अर्थ है 'पुनर्जन्म' (रिबर्थ) और इसका प्रयोग समूचे पश्चिमी जगत के पुनरुत्थान के संदर्भ में किया जाता है। 'पुनर्जागरण' का एक अंश 'पुनर्जागरण' का वह काल था जिसमें १४ वीं, १५ वीं और १६ वीं शताब्दियों में इटली तथा पश्चिमी जगत में शैक्षिक, साहित्यिक तथा कलात्मक पुनरुत्थान हुआ। वह इटली से प्रभावित था। शास्त्रीय कला तथा ज्ञान के उत्खनन के कारण पुनर्जागरण में पुनरुत्थान हुआ। यूरोपीय क्षमता तथा ऊर्जा के कहीं अधिक व्यापक तथा अधिक जटिल पुनरुत्थान का यह तो केवल एक कारण था। (पुनरुत्थान और सुधार का वह काल लगभग समसामयिक है जिसमें मुख्यतः चर्च के भीतर 'सुधार' की प्रधानता रही है। असीसी के संत फ्रांसिस इसके अग्रदूत थे। इसी सुधार काल में लोयोला के संत इग्नैटियस ने 'सोसाइटी ऑफ जीसस' की स्थापना की।

यह वस्तुतः एक बहु आयामी प्रस्फुटन का काल था।

एक ओर जहां १४ वीं शताब्दी में प्लेग की महामारी फैली, इंग्लैंड, फ्रांस तथा जर्मनी के कृषक-विद्रोह हुए, पश्चिमी यूरोप में श्रमिक-वर्गों के आन्दोलन हुए और धार्मिक विद्रोहियों तथा सच्चे हुतात्माओं के संघर्ष की परम्परा बनी, वहीं दूसरी ओर १४ वीं शती में उत्तम श्रेणी के कागज का विकास, १५ वीं शती में छपाई की शुरुआत तथा स्थानीय बोलियों के स्थान पर विभिन्न प्रदेशों की मानक साहित्यिक भाषाओं का उपयोग होकर यूरोपीय साहित्य का सृजन हो रहा था।

ईसाइयत पूर्व पुरातनता की परम्परा वह जड़ तथा तना बनी जिस पर यूरोप की समस्त राष्ट्रीय संस्कृतियों की कलमें लगायी गयीं। छठी शती के अंतिम असाधारण गैर-ईसाई दार्शनिक बोएथियस जैसे 'अंतिम रोमन' पुरातनता की ऐसी सांस्कृतिक निधियों के कुशल रखवाले थे यथा अनगिनत अति विशिष्ट तथा सुंदर भवनों, गिरजाघरों, मठों, नगरीय गॉथिक चर्चों, नगर-भवनों तथा सशक्त मीनारों वाले दुर्गों का प्रसूनों की भांति प्रस्फुटन और पुरातन कला के पुनः अन्वेषण, पुनरुद्धार तथा अनुकरण के केन्द्र के रूप में फ्लौरेंस का अभ्युदय।

पुनर्जागरण काल में पश्चिमी यूरोप में नामों के ऐसे नक्षत्र-मंडल का उदय हुआ जो यूनान के सर्वोत्तम युग श्रेष्ठ वैज्ञानिक दिग्गजों को भी मात देते हैं। यथा लियोनार्डो दा विन्सी (१४५२-१५१९), कोपरनिक्स (१४७३-१५४३), टायहो ब्राहे (१५४६-१६०१), केपलर (१५७१-१६३०), गिल्बर्ट (१५४०-१६०३), गैलीलियो गैलिली (१५६४-१६४२)।

ललित कलाओं के 'साधक' थे लियोनार्डो दा विन्सी, फिलिप्पो लिप्पी, बोट्टिसेल्ली, डोनाटेल्लो, माइकेलएंजेलो तथा रैफैल।

यह है उत्पत्ति-गाथा उस विकास की जिसे आजकल यूरोपीय संस्कृति, यूरोपीय विज्ञान तथा यूरोपीय कला कहा जाता है, भले ही बाद में पश्चिमी सभ्यता के अंग के रूप में यूरोप ने विकास के लम्बे-लम्बे डग भरे हैं और वह औद्योगिक क्रांति के न्यूटनी विज्ञान से द्वितीय औद्योगिक क्रांति के बाद के आधुनिक काल तक पहुंच गया है।

नवीन ज्ञान

स्वाभाविक है कि मानव के ज्ञान में हर अमूल्य वृद्धि विचार पद्धतियों पर गहरा प्रभाव डालती है।

ईसा मसीह के मूल वचनामृत (उपदेशों) में ऐसा कुछ नहीं था जिसका विरोध नव-अन्वेषित सच्चाइयों से होता। किन्तु मान्य ईसाइयत ने संत पॉल के धार्मिक विचारों को अंगीकार किया जिनका कोई उल्लेख ईसा मसीह की शिक्षाओं में नहीं मिलता। पॉल ने अरस्तू के उन सिद्धान्तों की निरख-परख का कोई कष्ट नहीं उठाया जो उनके काल में प्रचलित थे। ईसाइयत ने अपना महल पॉल के सिद्धान्तों पर खड़ा किया और ईसा मसीह के आदेशों की उपेक्षा की।

गैलीलियो को अपनी इस दृढ़ उक्ति को बदलने पर बाध्य किया गया कि पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है क्योंकि ऐसी कोई शंका कि यह जगत ब्रह्माण्ड का मध्य नहीं है, ईसाइयत की सत्ता एवं प्रभुता पर भीषण कुठाराघात करती दिखायी पड़ती थी।

डार्विन की कृतियों नैसर्गिक वरण के माध्यम से प्रजातियों का उद्‌गम (ओरिजिन ऑफ स्पेसीज

बाई मीन्स ऑफ नेचुरल-सलेक्शन') तथा मानव का उद्‌गम ('डिसेण्ट ऑफ मैन') ने ईसाइयत, प्रथम पाप की उसकी कहानी तथा प्रायश्चित के उसके तर्क आदि विचारों को गहरा आघात पहुंचाया।

जब आइन्स्टीन ने सिद्ध कर दिया कि पदार्थ को ऊर्जा में और ऊर्जा को पदार्थ में बदला जा सकता है तो उन्होंने न्यूटनी विज्ञान के पैरों पर खड़े भौतिकवाद की नींव को ही हिलाकर रख दिया। फलस्वरूप भौतिकवाद पर आधारित विचारधाराओं ने कुछ सीमा तक अपनी विश्वसनीयता खो दी।

विशेषज्ञों का यह सुविचारित मत है कि यदि औद्योगिकी पर प्रौद्योगिकी लोकायुक्त ने अंकुश नहीं लगाया तो वह न केवल सृजन तथा संहार की प्रणालियों को परिवर्तित कर देगा अपितु वस्तुतः एक नितांत नवीन सभ्यता का सूत्रपात कर देगा और मानव-मस्तिष्क उसके साथ कदम से कदम मिलाकर नहीं चल सकेगा।

चन्द्रमा पर पहली बार मानव के चरण पड़ने का स्वागत करते हुए अपने सम्पादकीय में जी० टी० माउखोलकर ने यह आशंका व्यक्त की कि यद्यपि मानव द्वारा अंतरिक्ष-अन्वेषण और उस पर विजय प्राप्त कर लेना स्वयं में अति श्लाघ्य है, फिर भी वह उस भाव प्रधान तथा भाव प्रवण साहित्य और कला को गंभीर क्षति पहुंचाएगा जिसमें चन्द्र और सितारों को गौरवपूर्ण स्थान आज तक प्राप्त रहा है।

कहां हिन्दू पुनर्जागरण, कहां यूरोपीय पुनर्जागरण

यहां यह बात जोर देकर कही जानी चाहिए कि हिन्दू पुनर्जागरण की प्रकृति यूरोपीय पुनर्जागरण की प्रकृति से पूर्णरूपेण भिन्न होगी।

जेम्स एच० कजेन्स ने अपनी कृति भारतीय पुनर्जागरण (द रेनेसां इन इंडिया) में यह प्रश्न उठाया है कि क्या भारत के संदर्भ में 'पुनर्जागरण' शब्द की कोई सार्थकता है भी, क्योंकि भारत तो सदा-सर्वदा जाग्रत रहा है और उसे पुनर्जागरण की तो कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

'पुनर्जागरण' (रेनेसां) शब्द को भारतीयता के संदर्भ में समझा जाना चाहिये। यह सच है कि 'यह शब्द हमें यूरोपीय संस्कृति के उस संक्रमण-बिन्दु का स्मरण कराता है जिसके संदर्भ में पहले-पहल इसका प्रयोग किया गया था वस्तुतः वह उतना पुनर्जागरण नहीं था, जितना कि वह अतीत की ओर लौटना था। वह तो ईसाइयत, ट्यूटानियत और सामन्तवादी यूरोपीय स्थिति से ऊबकर फिर से यूनानी-लैटिन भावना और ज्ञान की ओर मुड़ जाना था और उससे होने वाले परिणामों से प्रभावित होना था। अतः वह पुनर्जागरण निश्चित रूप से उस प्रकार का नहीं है जो भारत में कभी संभव हो।"

अरविन्द के अनुसार आध्यात्मिकता ने ही भारत की नियति के संकट की हर घड़ी में सदैव उसकी

रक्षा की और वही उसके पुनर्जागरण का उद्‌गम-स्रोत भी है। यदि ऐसे संकट अन्य किसी भी राष्ट्र के सम्मुख आए होते तो उसकी आत्मा और उसका शरीर कभी का नष्ट-भ्रष्ट हो जाता।

'१८ वीं तथा १९ वीं शताब्दियों में अपनी पराकाष्ठा पर पहुंची महान अवनति' का उल्लेख करते हुए अरविन्द ने उस काल के बारे में कहा है कि "वह तो सान्ध्य-काल है जहां से कालचक्र की भारतीय धारणा के अनुसार एक नव-युग का श्रीगणेश होना है"। वह कहते हैं, "यही वह घड़ी थी जब ऊपर से थोपी गई यूरोपीय संस्कृति के भार ने पुनर्जागरण को अनिवार्य बना दिया।"

श्री अरविन्द का कहना है: "जब भारत का पुनर्जागरण पूर्ण हो जायेगा तब निश्चय ही उसमें एक ऐसी चेतना आएगी जो निश्चित रूप से जर्मन की चेतना जैसी क्रूर नहीं होगी बल्कि वह तो भारत की आत्मा की वास्तविक प्रकृति तथा क्षमता के अनुरूप होगी।"

संस्कृति की प्रकृति

हमें न तो कल्चर, 'सभ्यता' और 'संस्कृति' शब्दों के गुणार्थ के बारे में पांडित्यपूर्ण चर्चा करनी है और न ही इस दृष्टिकोण का अनुमोदन करना है कि 'संस्कृति' की भांति 'कल्चर' के बारे में सार्वदेशिक स्वरूप की धारणा होनी चाहिये। हमें तो इस तथ्य को स्वीकार करना है कि बोलचाल की भाषा में 'कल्चर' किसी समाज के मानस पर पड़ने वाले प्रभावों की ऐसी प्रवृत्ति का द्योतक है जो विशेष रूप से उसकी अपनी होती है और पुनः जो उनके समूचे इतिहास में उसके भावों, उद्वेगों, विचार, वाणी और कर्म को संचयी रूप से प्रभावित करती है।

अतः प्रत्येक संस्कृति का मानवीय गतिविधि के प्रत्येक क्षेत्र पर अपना विशिष्ट प्रभाव पड़ता है। यह ठीक ही कहा गया है कि सांस्कृतिक विभिन्नताएं उस रीति से उपजती हैं जिस रीति से सामाजिक अनुभव का विश्लेषण और विवेचन होता है और जो संकल्पनाओं, प्रतीकों, मूल्यों तथा भाव मुद्राओं या दृष्टिकोणों के रूप में स्पष्ट रूप से सुनायी पड़ती है। संस्कृति विशिष्ट सामाजिक आत्म चेतना है। यथा, इस तथ्य के होते हुए भी कि पाश्चात्य संगीत में लयबद्धता (हार्मनी) के उपयोग से बहुत पहले वैदिक ऋचाओं का लयबद्धता गान भारत के ऋषि-मुनियों के आश्रमों में गूंजता था, यह स्वीकार करना ही होगा कि भारतीय संगीत पाश्चात्य संगीत से इस दृष्टि से भिन्न है कि उसमें लयबद्धता के लिए कोई स्थान नहीं है जबकि लयबद्धता पाश्चात्य संगीत का अनिवार्य अंग है। भारतीय संगीत का स्वरूप सुरीला रागात्मक होता है और वह भाव की सहज भाषा को व्यक्त करता है। लयबद्धता राग को गहनता प्रदान करके उसे सजाती-संवारती है और उसमें चार चांद लगा देती है। एक विशेषज्ञ के अनुसार पाश्चात्य संगीत में समरसता के भाव तथा भारतीय संगीत में उसके अभाव का कारण इन भागों में रहने वाले लोगों के स्वभाव के ही कारण हो सकता है। भारतीय को अपने पड़ोसी की अपेक्षा अनन्त से नाता जोड़ना अधिक सरल लगता है। भारतीय संगीत का प्रयोजन है, आत्मा को शुद्ध किया जाए, तन पर अनुशासन का अंकुश लगाया जाए, अपने भीतर स्थित अनन्त के प्रति संवेदनशीलता

पैदा की जाए, अपने श्वास की डोर को अंतरिक्ष के स्वास की डोर से और अपने स्पन्दनों को ब्रह्माण्ड के स्पन्दनों से जोड़ा जाए।" प्रायः भारतीय बाह्य समूहों की अपेक्षा अपने परिवार के बारे में अधिक चिन्ता करते हैं। इन सब कारणों से भारतीय संगीतज्ञ अपेक्षाकृत एकल वादक होता है, न कि दूसरों के साथ मिलकर संगत करने वाला वादक। जैसा कि पाश्चात्य संगीत के बड़े-बड़े वाद्य वृन्दों के छोटे-छोटे समूह करते हैं। मुख्यतः एकल वादक होने के नाते कला मर्मज्ञ की एक विशेषता होती है। स्वर, संगीत प्रदर्शन का अपूर्व कौशल।

इसके विपरीत यूरोपवासी की इच्छा रही है कि व्यक्तियों को समुदायों में परिणित किया जाए। इस प्रक्रिया में वह अपनी स्वाधीनता का बलिदान करने को तत्पर रहता है। इसे उसके जीवन में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, फिर चाहे वह पूजा-अर्चना का क्षेत्र हो या कार्य-व्यापार का, सामाजिकता या संगीत का जहां वाद्य-वृन्दों की प्रधानता रहती है। वाद्य-वृन्दों या गायन वृन्दों में हर साज या आवाज की एक हद तक ही अपनी आजादी होती है लेकिन उसे अन्य आवाजों की उपस्थिति को ध्यान में रखना पड़ता है और अपने सुर को समूह के अन्य सुरों से मिलाना होता है। भारतीय संगीत में वर्ग के अन्दर भी एकल वादन बना रहता है और वह कभी भी सुसंगत रूप में एकाकार नहीं हो पाता। अतः आर्केस्ट्रा भारतीय संगीत की प्रकृति के प्रतिकूल है।

'रिपब्लिक' में अफलातून (प्लेटो) ने कहा है कि "संगीत शैली में परिवर्तन संस्कृति में मूल परिवर्तन में प्रतिबिम्बित होता है।"

संस्कृति का अर्थ तथा उसकी—प्रक्रिया (द मीनिंग एंड प्रोसेस ऑफ कल्चर) में प्रो० जी० सी० पांडे ने कहा है, "भारत का सामाजिक इतिहास पश्चिम के इतिहास से भिन्न है। भारतीय इतिहास की एक नितान्त भिन्न लय और ताल है। पश्चिमी में सामाजिक परिवर्तन अधिक द्रुतगति से हुए हैं और कभी-कभी तो क्रान्तिकारी ढंग से हुए हैं। सामाजिक जीवन के विकास में राज्य ने अहं भूमिका निभायी है और सत्ता के लिए संघर्ष अधिक तीखा और अधिक व्यापक रहा है। वैचारिक प्रतिबद्धता की पराकाष्ठा रही है और मतभेद तथा विरोध के प्रति सहिष्णुता अल्पतम। तर्क संगतता के अपने पागलपन में पश्चिमी विचारधारा ने चित्तियों तथा वृत्तियों की असंगतियों को ऐसे असाध्य अन्तर्विरोधी का रूप दे दिया है जो निरंकुश चयन की अपेक्षा करते हैं। दूसरी ओर भारतीय मानस ने प्रयास किया है कि सामाजिक संबंधों का विनियमन अमूर्त कारण से नहीं अपितु सहज ज्ञान तथा सहानुभूति से किया जाए। नई चुनौतियों का सामना करने के लिए उसने पुराने समाधानों में संशोधन-परिवर्द्धन किए हैं, उसे अस्वीकार नहीं किया है।

"पश्चिमी मानवतावाद ने प्रकृति पर मानव की विजय और उसकी सत्ता पर बल दिया है और उसे अपनी इच्छा पूर्ति का साधन बनाया है। भारतीय मानवतावाद ने 'जिओ और जीने दो' का सहिष्णु दर्शन अपनाया है। प्रकृति पर विजय के अभियान के स्थान पर उसने एक स्तर पर प्रकृति के साथ

सामञ्जस्य बैठाने और फिर उससे मुक्ति पाने के आदर्श को मान्यता दी है। शक्ति के माध्यम से मुक्ति के स्थान पर उसने आत्म-निग्रह के माध्यम से मुक्ति का प्रयास किया है। पश्चिम में धर्म को संगठित या संस्थागत सिद्धान्त के मत के रूप में मान्यता दी गयी है जो समुदाय-व्यवस्था के अनुरूप ही है। भारत में धर्म को सदैव व्यक्तिगत एवं समाज से ऊपर मानने की सशक्त परम्परा रही है। पश्चिमी सामाजिक परम्परा पर वहां के शहरी जीवन तथा 'सभ्यता की तकनीकी व्यवस्था' का प्रभुत्व रहा है। पश्चिम का इतिहास एथेन्स तथा सिकन्दरिया, रोम तथा कुन्स्तुन्तुनिया, पेरिस तथा लंदन का इतिहास है। उसमें सामाजिक तथा राजनीतिक रूप में संक्रमण का एक सुचिन्हित कालक्रम रहा है। अतः उसका सहज काल विभाजन किया जा सकता है। दूसरी ओर भारत की सामाजिक तथा सांस्कृतिक परम्परा में प्राचीन तथा नवीन व्यवस्थाएं साथ-साथ चलती रही हैं और यह निरन्तरता प्रागैतिहासिक काल से चली आ रही है। अनुदारवाद के साथ-साथ अतीत की पुनर्व्याख्या करने की तत्परता ने यहां क्रांतियां नहीं होने दीं और जाति-व्यवस्था ने वर्ग-वैमनस्यों तथा वर्ग संघर्षों को पनपने नहीं दिया है। भारतीय समाज के इतिहास को और आधिक सहज रूप से परस्परव्यापी सुस्पष्ट कालखंडों में विभाजित किया जा सकता है। वह सम्पूर्ण प्रगति तथा एकता की परिधि में आश्चर्यजनक अविच्छिन्नता एवं विषमता का कौतुक उपस्थित प्रस्तुत करता है।"

ऋषि अरविन्द ने इस बिन्दु को बड़े ही युक्तिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। यथा, कला के क्षेत्र में उन्होंने कहा है :

"पश्चिमी मानस रूप तथा आकार के आकर्षण जाल में फंसा हुआ है। वह उससे चिपटा रहता है और उसके मोहपाश से मुक्त नहीं हो पाता। वह रूप के अपने सौन्दर्य के कारण उसके प्रति आशक्त रहता है। वह उन भावनात्मक, बौद्धिक, सौंदर्यात्मक संवेदनाओं पर निर्भर करता है जो सीधे उसकी अति मूर्त भाषा से उपजती हैं। वह आत्मा को तन तक सीमित रखता है। अतः यह कहा जा सकता है कि इस मानस रूप के लिए वह आत्मा का सृजन करता है। अपने अस्तित्व तथा हर प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए यह आत्मा रूप पर निर्भर करती है। इस संबंध में भारतीय दृष्टिकोण नितांत सर्वथा विपरीत है। भारतीय मानस की दृष्टि में रूप का कोई अलग अस्तित्व नहीं है। वह तो आत्मा का सृजन है और वह अपनी सम्पूर्ण सार्थकता तथा मूल्य आत्मा से ग्रहण करता है। हर रेखा, आकार-व्यवस्था, रंग, रूप, मुद्रा, हर शारीरिक हाव-भाव, चाहे वह कितने भी अनगिनत, कितने भी विविध, संकुल तथा प्रचुर हों, मूलतः और अन्ततः एक सुझाव, एक संकेत और बहुधा एक प्रतीक भर होते हैं। उनका प्रमुख प्रयोजन होता है कि वह एक ऐसे आध्यात्मिक भाव, विचार, छवि के लिए आधार प्रस्तुत करें जो पुनः अपने से परे उस अल्प वर्चनीय आत्मा के कहीं अधिक सशक्त रूप से संवेदनीय भाव की वास्तविकता तक पहुंच जाए। इसी से सौन्दर्यपारखी मानस में गतिशीलता उत्पन्न होकर उन्हें विभिन्न आकार प्रदान कर देती है।"

"तुलना कीजिये। एक ओर वहां ठसाठस भरी कला दीर्घायें और चित्रों से अतिरंजित दीवारें तो

दूसरी ओर यहां एकान्त गुफाओं में स्थित मंदिरों में हमारी कलाकृतियां। भारतीय मंदिर वस्तुतः सर्वशक्तिमान परमेश्वर की दिव्य पूजा वेदी हैं, ब्रह्मांडीय आत्मा का आवास है, अनंत की स्तुति और आराधना है।"

"प्राचीन तथा मध्ययुगीन भारत की मूर्तिकला को कला की उपलब्धियों में बहुत ऊंचा स्थान प्राप्त है। खोजने पर भी हमें इससे अधिक गहन उद्देश्यपूर्ण, अधिक भावपूर्ण तथा उपलब्धि के सतत कौशल से परिपूर्ण नमूना नहीं मिल सकेगा। मूर्तिकला की सर्वांगपूर्ण कलाकृतियों का दो सहस्राब्दियों का प्रामाणिक इतिहास किसी देश के जीवन का दुर्लभ तथा श्लाघनीय तथ्य है। इसका कारण यह है कि लोगों के धार्मिक, दार्शनिक तथा सौंदर्य प्रेमी मानस के बीच घना संबंध रहा है। भारतीय मूर्तिकला की महानता यह है कि प्रस्तर तथा कांस्य में ढलकर जिस प्राकृतिक निर्दोषिता और विद्वतापूर्ण बोध के साथ साकार होकर उसने अपने-आपको अभिव्यक्त किया है, यूनानी सौंदर्य पारखी मानस उसकी अभिव्यक्ति तो दूर कल्पना भी नहीं कर सकता।"

"कला के मामले में पश्चिमी मानस चिरकाल तक उस यूनानी तथा पुनर्जागरण परम्परा के बंधन में बंधा रहा जिसमें बाद के मनस्वियों ने परिवर्तन किया। उसमें से बाहर जाने के लिए केवल दो पार्श्व-कक्ष रोमानी तथा यथार्थवादी प्रेरणाओं के थे लेकिन वे एक ही भवन की एकमात्र शाखायें थीं।"

विश्व ने मूर्तिभंजकों के नग्न बर्बर विध्वंस की काली करतूतें देखी हैं। मुस्लिमों ने गैर-मुस्लिमों की कला तथा वास्तुकला की कृतियों का निर्मम विध्वंस किया। पुर्तगालियों ने बर्बरता से एलीफेंटा की मूर्तियों तथा नक्काशियों को नष्ट किया। अल्लाह की फौजों ने सिकन्दरिया के प्रसिद्ध ग्रन्थागार को जलाकर राख कर दिया। इसके विपरीत देखिए उन सैकड़ों गुफा-मंदिरों को जो हमारे युग की प्रारम्भिक शताब्दियों में जैनियों, वेदानुयायियों, तथा बौद्धों के लिए बनाये गये। खजुराहो में सदियों तक बड़े ही प्रेमभाव और सम्मान के साथ जैनियों, वैष्णवों तथा शैवों के मंदिर साथ-साथ खड़े रहे। जेहादी संस्कृति के साये में तो इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

जब संस्कृति की शैली में परिवर्तन होते हैं तो उनके कारण भाषा में भी निरंतर परिवर्तन होता रहता है। भाषाओं पर सांस्कृतिक तत्वों का प्रभाव पड़ता है और वे अपनी ध्वन्यात्मक तथा संरचनात्मक सत्याभासों के अनुसार बदलती हैं। इसमें संदेह नहीं कि संस्कृति की प्रक्रिया में कतिपय मूल प्रथाओं तथा वृत्तियों में अपेक्षाकृत अल्प परिवर्तन होते हैं और प्रायः पुराने अर्थों में से नये अर्थ निकाल लिए जाते हैं। लेकिन अर्थ-परिवर्तन के क्षेत्र में हम असीम सी संभावनाओं के क्षेत्र में पदार्पण करते हैं क्योंकि वह सामान्य सांस्कृतिक परिवर्तन के समानान्तर चलता है। सांस्कृतिक परिवर्तन के कारण विभिन्न प्रकार के वार्तालापों की संख्या में परिवर्तन होता है और उसका प्रभाव शब्दकोश अथवा भाषा में शब्दों का प्रचलन होता है। इस प्रकार पुनर्वितरण सम्पूर्ण होता रहता है। अर्थ-परिवर्तन की यह

एक मूल प्रक्रिया है। शामी (सेमेटिक) यूरोपीय देशों में कहीं अधिक सांस्कृतिक परिवर्तन हुए हैं।

दर्शन के बारे में भी यही स्थिति है। 'मानवतावाद' पूर्व से पश्चिम तक जाते-जाते अपना स्वरूप बदल लेता है।

श्रद्धेय श्री गुरुजी कहा करते थे कि पश्चिम का मानवतावाद आत्मकेन्द्रित है। लेकिन हिन्दू मानवतावाद की स्थिति भिन्न है। वह तो परम सत्य की इस अनुभूति से उपजा है कि "समूचा ब्रह्मांड अखंड इकाई है"।

नलिनीकांत गुप्त का विचार है : "वास्तविक मानवतावाद का जन्म अथवा पुनर्जन्म पुनर्जागरण के साथ हुआ। जितना वह रचनात्मक तथा सकारात्मक था, उतनी ही कट्टरता तथा कठोरता से वह नकारात्मक और प्रतिवादी भी था क्योंकि उसका मूल स्वरूप, जिसके आधार पर उसका नामकरण हुआ, उस सबका विरोधी था अथवा उस सबसे विमुखता रखता था जिसका संबंध अति-मानवीय, ईश्वर अथवा आत्मा से, स्वर्ग अथवा अन्य लोकों से, अमूर्त अथवा अतीन्द्रिय वास्तविकताओं से था। यह आन्दोलन वस्तुतः इसलिए 'मानवतावादी' था कि उसने मध्य युग के मजहबी तंत्र और व्यवस्था का विरोध किया था।

डा० मैस्त्रे खेद प्रगट करते हैं, "भला हो मान्टेस्क्यू का कि मैंने अपने जमाने में फ्रांसीसियों इतालवियों और रूसियों को देखा है। मैं यह भी मानता हूं कि कोई फारसवासी भी हो सकता है। लेकिन जहां तक मानव (इंसान) का संबंध है, मैं घोषणा करता हूं कि अपने जीवन काल में मैंने उसे देखा ही नहीं है, यदि वह कहीं है तो उसकी जानकारी मुझे नहीं है।"

"आधुनिक संस्कृति मानवता से प्रारंभ होकर राष्ट्रीयता से होते हुए पाशविकता तक पहुंच जाती है।" प्रत्यक्ष है कि यहां 'आधुनिक संस्कृति' का उल्लेख 'पश्चिमी संस्कृति' के संदर्भ में किया गया है।

फ्रिजोग कापरा का विचार है: "पश्चिमवासियों ने अभी तक अन्तर्प्रज्ञा पर तार्किक ज्ञान को, मजहब पर विज्ञान को, सहयोग पर स्पर्धा को, प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण पर उनके शोषण को वरीयता दी है तथा अन्य कारकों के साथ इन कारकों ने प्रचंड सांस्कृतिक असन्तुलन को जन्म दिया है और वही हमारे वर्तमान संकट की जड़ है। हमारे विचारों तथा भावनाओं में, हमारे मूल्यों और हमारी वृत्तियों में तथा हमारी सामाजिक तथा राजनीतिक संरचनाओं में असंतुलन पैदा हो गया है। वर्तमान संकट संवेदनशील संस्कृति से संक्रमण का है। चाहे व्यक्ति हो या समाज, सभ्यता हो या नक्षत्रीय पर्यावरण-व्यवस्था, सर्वत्र हम संक्रमण की स्थिति में हैं। ऐसी स्थिति में हमें आवश्यकता है एक नये प्रतिमान की...., वास्तविकता के एक नये दर्शन की, हमारे विचारों, अनुभूतियों तथा मूल्यों में आमूल

परिवर्तन की ।"

'संस्कृति' के प्रति पश्चिम के दृष्टिकोण का इस 'सांस्कृतिक असंतुलन' पर अति खेदजनक तथा भयावह कुप्रभाव पड़ा है । इस विषय के संबंध में एक अतिवादी दृष्टिकोण लारेंस लोवेल नामक एक सज्जन ने अमरीका की अकादमीय परम्पराओं का उग्र विरोध (एट वार विद एकेडेमिक ट्रेडीशन्स-इन अमेरिका) में व्यक्त किया है ।

संसार में (संस्कृति से) अधिक दुर्बोध और कुछ नहीं है । उसके अर्थ को शब्दों में व्यक्त करने का प्रयास हवा को मुट्ठी में बांधने जैसा है और हम देखते हैं कि हवा तो सर्वत्र है पर हमारी मुट्ठी में नहीं आती ।"

संस्कृति जीवन-मूल्यों को ढालती है । हमारी संस्कृति ने हमें जीवन के विविध मूल्यों का वरदान दिया है । पंडित जवाहरलाल नेहरू ने कहा है, "हम भारतवासी अपने समूचे इतिहास काल में एक अनोखे ढंग से पले और ढले हैं । आधुनिक युग का हमारा सबसे महान नेता न तो धनवान था, और न ही वह सैन्यशक्ति या किसी महान पद से सम्पन्न था । फिर भी करोड़ों भारतवासी उनके आगे अपना शीश झुकाते थे और उनके महान नेतृत्व का अनुसरण करने का प्रयास करते थे । ऐसे व्यक्ति का हम सम्मान करते हैं और मैं आशा करता हूं कि हम आधुनिक जगत में भी सदा ही ऐसे व्यक्ति का आदर करते रहेंगे ।"

पश्चिमी मानस के लिए यह चमत्कार है । ऐसा कैसे हो सकता है ? पी० एच० प्रभु कहते हैं : "भारत तथा अन्य देशों के सामाजिक वर्गों की उत्पत्ति, विकास तथा स्थिरता के बीच एक भारी अन्तर यह है कि अन्यत्र वर्ग-प्रतिष्ठा धन-सम्पदा की सहचरी तथा सहज उपज होती है और सत्ता तथा प्राधिकार उसके साथ जुड़े रहते हैं जबकि हिन्दू भारत में न केवल यह प्रयास किया गया कि सम्पदा को प्रतिष्ठा से, सत्ता को प्राधिकार से, निष्काम कर्म को वैज्ञानिक उपलब्धियों तथा सुख-सुविधाओं के प्रलोभनों से पूर्णतः मुक्त रखा जाए तथा इस लक्ष्य को प्राप्त भी किया गया ।"

हिन्दू सौंदर्य शास्त्र

हमारी संस्कृति निगमनात्मक संस्कृति है । जिस संस्कृति में मानव जीवन की समूची संरचना मानव तथा ब्रह्माण्ड के बीच सर्वांगपूर्ण संबंधों पर टिकी होती है, उसे 'निगमनात्मक संस्कृति' कहते हैं । किसी व्यक्ति का जो कर्म जीवन के परम लक्ष्य से मेल नहीं खाता, उसे सौंदर्य शास्त्रीय अनुभूति से भी असंगत माना जाता है । यूनानी मानस पर छायी हुई 'सौंदर्य' की संकल्पना और तत्संबंधी हिन्दू संकल्पना में आकाश-पाताल का अंतर है । भारतीय सौंदर्य अनुभूति के लिए अपेक्षित रेखांकन तथा रंग और ढंग यूरोपवासी द्वारा अपेक्षित रेखांकन एवं रंग और ढंग जैसा नहीं है । हो सकता है कि हिन्दू टिन्टोरेट्टो की कलाकृतियों यथा दृढ़ मांसपेशियों वाले 'आदम' तथा सुंदर 'हौवा' दानव (ड्रैगन) का

संहार करने वाले संत जार्ज, वेनेशिया के सीनेटरों को दर्शन देने वाले ईशू के सौंदर्य की पूर्णतः सराहना न कर सकें। हिन्दुओं को फ्रायट का सिद्धांत एक सीमा तक ही मान्य है। एक सुन्दर युवती सामान्यतः आकर्षक लगती है। इसे विवादास्पद कथन नहीं माना जाना चाहिये। लेकिन निर्दोष मुस्कान बिखेरने वाला एक नन्हा शिशु भी तो सुन्दर होता है पर वह सामान्य मानस में वैसी कामवासना का भाव तो पैदा नहीं करता जिसका अनुभव हमें लावण्यमयी नारी को देखने पर होता है। तारों भरी रातों, हिमाच्छादित हिमालय की श्रेणियों, नदियों अथवा समुद्रों के संगम जैसे प्राकृतिक दृश्य भी तो हमारे सौंदर्य बोध को उद्दीप्त एवं जाग्रत करते हैं। पर वे फ्रायडवादी कामवासना के संवाहक तो नहीं होते। न ही उनका दिव्य सौंदर्य तुरंत हथिया लेने की हमारी नैसर्गिक लालसा को भड़काता है। हम केवल उन्हें सराहते हैं और उसका आनंद लेते हैं और अपनी सुधबुध खो बैठते हैं। हमारी दृष्टि में ये सब चीजें 'लौकिक अथवा-ऐहिक' नहीं होतीं। एक सहज अनुभूति होती है कि ये दृश्य तो इस भूलोक से कहीं दूर के हैं अथवा वे स्वर्ग के अथवा जिस किसी अन्य नाम से भी हम उसे पुकारें, उसके निकट हैं। हमें एक विशुद्ध एवं खरे आनंद की अनुभूति होती है और हम अपने क्षुद्र आत्म को भूल जाते हैं। एक कट्टर नास्तिक के लिए भी यह मानसिक अवस्था उस आध्यात्मिक समाधि की दिशा में बढ़ता हुआ एक लम्बा डग है जिसे वह अपनी निजी अनुभूति के सच्चे स्वरूप को जाने बिना भी वस्तुतः अनुभव कर सकता है। हिन्दू सौंदर्य बोध उसे आध्यात्मिक अनुभूति की ओर ले जाने वाला राजमार्ग है जहां परम सत्य, परम ज्ञान तथा परम आनंद— सत्, चित्, आनंद की त्रिवेणी का संगम होता है। 'नासदीय' मानव मन की सर्वप्रथम सौंदर्याभिव्यक्ति रहा है। उसकी भावना की डोर के दर्शन इन समूची शतियों के साहित्य तथा कला में किए जा सकते हैं। 'अमृतानुभव' जैसी श्रेष्ठ कृतियों में यह संभव नहीं है कि सौंदर्यबोध तथा आध्यात्मिकता के बीच कोई लक्ष्मण रेखा खींची जाए। टिपोनस उमर खैयाम, केसानोवा एक प्रकार का सौंदर्यबोध प्रस्तुत करते हैं तो वैदिक ऋषि-मुनि, ज्ञानेश्वर, विवेकानंद आदि एक अन्य प्रकार का। उनका कला संबंधी परख का स्तर और भी ऊंचा है। दोनों ही आनंद के चरम बिन्दु तक पहुंचते हैं। लेकिन एक के संदर्भ में आनंद क्षणभंगुर तथा सीमित है जबकि दूसरे के संदर्भ में वह शाश्वत तथा असीम है। सम्पूर्णतापरक हिन्दू सौंदर्य बोध प्रस्फुटित होकर आध्यात्मिकता का रूप ले लेता है। कोई भी अन्य संस्कृति इस सोपान तक नहीं पहुंचती।

"आध्यात्मिकता अपरिहार्य है", इस भाव को पंडित नेहरू ने इस प्रकार व्यक्त किया है :

"देश में भौतिक समृद्धि को पनपाने की अपनी लगन के कारण जनता में हमने मानव प्रकृति के आध्यात्मिक तत्व की ओर ध्यान नहीं दिया है। अतः यदि व्यक्ति तथा राष्ट्र के सामने कोई सार्थक प्रयोजन प्रस्तुत करना है, उसके सामने जीने का कोई आधार रखना है और जरूरी हो तो मरने के लिए भी हमें किसी जीवन-दर्शन को पुनर्जीवित करना पड़ेगा और अपने चिन्तन-मनन को आध्यात्मिक पृष्ठभूमि प्रदान करनी होगी। हम कल्याणकारी राज्य की बातें करते हैं, लोकतंत्र तथा समाजवाद की भी, लेकिन वे हमारे सामने स्पष्ट तथा दुविधारहित अर्थ प्रस्तुत नहीं करते। लोकतंत्र तथा समाजवाद साध्य के साधन हैं और स्वतः साध्य नहीं हैं।

अपनी समस्याओं के इन आर्थिक पक्षों पर विचार करते समय हमें उस प्राण-शक्ति के वेदान्ती आदर्शों को ध्यान में रखना होगा जो हमारे अस्तित्व का आंतरिक मूलाधार हैं।"

संस्थागत संरचना

इस संबंध में पश्चिम में १८४८ से लेकर आज तक खुलेआम गरमागरम बहस होती रही है।

हिन्दुओं को सदैव इस बात का ज्ञान व मान रहा है कि कला मानव-मन की उपज है तथा मानव-मन और समाज-व्यवस्था की एक-दूसरे पर क्रिया और प्रतिक्रिया होती रहती है। भले ही अंतिम विश्लेषण के अनुसार मानव-मन एक अधिक निर्णायक तत्व है, फिर भी मानव-मन पर समाज-व्यवस्था का प्रभाव एक निर्विवाद तथ्य है।

किसी भी प्रकार का सृजन-कर्म हो, उसमें सृजनकर्ता स्वयं को अपने सृजन की वस्तु से एकाकार कर लेता है। श्रेष्ठता तथा उत्कृष्टता तभी प्राप्त की जा सकती है जब सृजनकर्ता का 'आत्म' अपने सृजन की वस्तु अर्थात् 'अनात्म' से पूर्णतया घुलमिल जाता है। नरगिस या नारसिसस ऐसा नहीं कर सकता क्योंकि उसकी आत्म-शक्ति उसके आत्म को अपने से परे की किसी भी वस्तु से पूर्णतया एकाकार नहीं होने देती। किसी भी सृजनकर्ता में—चाहे वह कला का हो या साहित्य अथवा विज्ञान का— उत्कृष्टता और 'आत्मासक्ति' एक-दूसरे के सर्वथा विपरीत हैं। सृजन की वस्तु के प्रति सच्चा और संकोचरहित प्रेम होना ही चाहिये।

जब स्तालिन ने घोषणा की थी कि कम्युनिज्म का आधार तो घृणा है तो श्रद्धेय श्री गुरु जी ने कहा था कि हिन्दुत्व का आधार तो प्रेम है। तब सृजनात्मकता के संदर्भ में उनके इस उद्‌गार की महत्ता को भली-भांति हृदयंगम नहीं किया गया था।

प्रेम तो समस्त कलाओं का अपरिहार्य स्रोत है। अतः कोई भी समाज-व्यवस्था जो इस अनमोल दिव्य भावना के सृजन, उज्जीवन तथा उन्नयन में सहायक नहीं होती, वह कला के पल्लवन में भी सहायक नहीं हो सकती।

हाल के काल में एरिक फ्रॉम ने इस विषय का समुचित विवेचन किया है।

सभी मानवतावादियों की भांति फ्रॉम भी आत्मविमुखता, अमानवीयकरण और वस्तुओं से चिपके रहने का विरोध करते हैं।

औद्योगिक सभ्यता इन सब पापों के लिए उत्तरदायी और अपराधी है।

बढ़ई, सुनार, किसान और चित्रकार की दशा में उत्पादनकर्ता और उसके उत्पादन के बीच गाढ़ा निजी संबंध होता है। किन्तु आधुनिक फैक्टरी-कर्मकार का अपने उत्पाद से ऐसा कोई संबंध नहीं होता। उसके सभी संबंध व्यक्तित्वहीन होते हैं। उसकी दृष्टि में 'समता' का अर्थ है स्तरीकरण। आज 'समता' का अर्थ एकात्मता न होकर समानता से है। वह एक व्यक्ति नहीं रह जाता। वह तो, 'नौ से पांच बजे' तक हाजिरी बजा देता है। वह तो श्रम-बल अथवा नौकरशाही का एक पुर्जा बनकर रह जाता है। उसकी सभी गतिविधियां पूर्व निश्चित होती हैं और दिनचर्या बनकर रह जाती हैं। व्यक्तित्व की विशिष्टता के इस लोप पर मार्क्स ने रोष प्रगट किया था। उन्होंने कहा था, "मानव को मानव समझो और संसार के साथ उसके संबंध को मानवीय दृष्टिकोण से देखो। आपको केवल प्रेम के बदले प्रेम, केवल विश्वास के बदले विश्वास आदि मिल सकता है। यदि आप कला का आनंद लेना चाहते हैं तो आपको कलात्मक ढंग से प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति होना ही चाहिये....मानव तथा प्रकृति के साथ आपके हर संबंध को आपकी मनचाही वस्तु के अनुरूप आपके वास्तविक व्यक्तिगत जीवन की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति होना ही चाहिये"। आधुनिक प्रौद्योगीकरण में यह संभव नहीं है। प्रेम में ही मनोविज्ञान की अंतिम परिणति होनी चाहिये लेकिन औद्योगिक मनोविज्ञान इस तथ्य को स्वीकार नहीं करता।

फ्रॉम ने कहा है, "यदि समसामयिक पश्चिमी संस्कृति में हम प्रेम के बारे में चर्चा करते हैं तो हमारा आशय यह प्रश्न करने का होता है कि क्या पश्चिमी सभ्यता का सामाजिक सांचा-ढ़ांचा और उससे उत्पन्न होने वाली भावना प्रेम के विकास में सहायक है ? ऐसे का उत्तर 'नकारात्मक ही होगा।'

'पूंजीवाद' समाज के सिद्धान्त तथा प्रेम के सिद्धान्त के बीच चील और सांप का सा बैर है.... निश्चय ही वर्तमान व्यवस्था के अधीन प्रेम कर सकने वाले लोग बिरले ही होते हैं। निश्चय ही वर्तमान पश्चिमी समाज में प्रेम एक गौण गुण है। इसका कारण यह नहीं है कि व्यवसायों की विविधता प्रेम की प्रवृत्ति को पनपने नहीं देती बल्कि उसका कारण यह है कि उत्पादन-प्रधान तथा लाभ-लोभी समाज की भावना कुछ ऐसी है कि केवल प्रतिकूलतावादी ही उससे अपनी रक्षा कर सकता है.... यदि प्रेम को अति व्यक्तिवादी गौण भावना नहीं अपितु सामाजिक सद्भावना बनाना है तो हमारे सामाजिक सांचे-ढ़ांचे में महत्त्वपूर्ण तथा आमूल परिवर्तन आवश्यक हैं।"

यदि मानव को प्रेम का पाठ पढ़ाना है तो उसे सर्वोच्च स्थान देना ही होगा। उसे आर्थिक तंत्र का स्वामी बनना होगा, न कि उसका दास।

स्वाभाविक है कि सच्ची 'कला' की उन्नति के लिए भी यही पूर्व शर्त है।

'समाज-व्यवस्था' एक व्यापक शब्द है। सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक संस्थानों का समूचा सांचा-ढांचा इसके अन्तर्गत आ जाता है।

कला की प्रकृति

इस विषय से कला की प्रकृति का भी कुछ वास्ता है। यह मानते हुए भी कि चित्रकला के क्षेत्र में उत्तरवर्ती यूरोप ने दीर्घकाल की सतत् नवीन प्रेरणा के साथ प्रचुर मात्रा में बहुत कुछ किया है फिर भी फिडियास के ओलम्पियन देवताओं का चित्रण गुणात्मक दृष्टि से वैसे कलात्मक स्तर का नहीं है जैसा कि भारतीय मूर्तिकला में तराशे गये देवताओं यथा बुद्ध, नटराज, शिव के नृत्यों का है। अरविन्द का कहना है कि यह अन्तर इन कलाओं अर्थात् चित्रकला व शिल्पकला के लिए आवश्यक भिन्न प्रकार की मानसिकता के कारण है।

पत्थर या कांस्य को तराशने की कला के लिए एक विशेष कौशल की आवश्यकता थी। यह कौशल प्राचीन काल के कलाकारों में तो था लेकिन आधुनिकों के पास वह है नहीं, और है भी तो केवल विरलों के पास। उसके लिए तो ऐसा कलात्मक मानस चाहिये जो न तो अति चंचल और असंयमी हो, न ही अपने व्यक्तित्व तथा मनोभाव और क्षणिक आवेगों से अति अभिभूत हो। वह तो सुदृढ़ विचार तथा कल्पना के किसी महान आधार पर टिका हो, स्थिर स्वभाव वाला हो और अपनी कल्पना को ऐसी वस्तुओं पर स्थिर करे जो मजबूत और टिकाऊ हों। रंग की आत्मा जिस असंयमित सौंदर्य बोध की अनुमति देती है और उसे आमंत्रित भी करती है; बुश, कलम, पेंसिल की रेखा जीवन की चहल-पहल के जिस आकर्षण की अनुमति देती है, इन सभी का यहां निषेध है और यदि किसी अंश तक स्वीकृति है भी तो संयम की लक्ष्मण रेखा के भीतर जिसे लांघना खतरनाक ही नहीं है बल्कि शीघ्र ही मृत्यु को न्योता देना भी है।

एंजलो अथवा रोडिन जैसे इक्के-दुक्के व्यक्तियों की कुछ महान कृतियों के बावजूद उत्तरवर्ती यूरोप अधिकांशतः मूर्तिकला के क्षेत्र में असफल रहा है। उसका कारण है। वह प्रस्तर तथा कांस्य के बाहरी भाग में ही रमा रहा। उसने उनके भीतर नहीं झांका। उसने जीवन के चित्रण के लिए उन्हें केवल माध्यम बनाया। उनके लिए यह गहन दर्शन अथवा आध्यात्मिक प्रेरणा का आधार नहीं खोज सका।

'कला'

जब 'संस्कार भारती' कला की चर्चा करती है तो निश्चय ही पाश्चिमात्य अथवा हमारे देश में उनके अनुयायी अवश्य पूछेंगे कि संस्कार-भारती के अनुसार 'कला' की परिभाषा क्या है ?

एक अवसर पर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने पश्चिमी श्रोताओं के सम्मुख 'कला' की व्याख्या करने से इनकार कर दिया। उसके स्थान पर उन्होंने उसके क्रियात्मक पक्ष को स्पष्ट किया।

क्या उनका विचार था कि 'कला' संबंधी हमारी संकल्पना तथा उसके प्रति हमारे दृष्टिकोण को पाश्चिमात्य नहीं समझ पायेंगे क्योंकि उनकी विशिष्ट मानसिक संरचना हमसे भिन्न है। फिर भी उन्होंने बड़े जतन से उसके क्रियात्मक पक्ष को समझाने का प्रयास किया।

'कला क्या है ?' तत्संबंधी चर्चायें उस क्षेत्र में चेतन, प्रयोजन के तत्त्वों का सूत्रपात करती हैं जहां सृजन तथा आनंदानुभूति की हमारी दोनों ही क्षमतायें स्वस्फूर्त तथा अर्द्धचेतन रही हैं। उनका लक्ष्य होता है कि वे हमारे सामने ऐसे निश्चित प्रतिमान प्रस्तुत करें जो कला-कृतियों के संबंध में हमारे निर्णयों का मार्गदर्शन कर सकें। अतः हमने आधुनिक काल में निर्णायकों को अपने बनाये हुए किन्हीं विशेष नियमों के अनुसार निर्णय देते हुए सुना है। उनके कारण ऐसी अमर कृतियों को सिंहासन से उतार दिया जाता है जो सदियों तक निर्विवाद रही हैं।

कसौटी क्या है ? क्या कलाकृतियों का मूल्यांकन इस आधार पर किया जाए कि वे कहां तक विश्वजनीन रूप से समझी जाती हैं या वे कहां तक जीवन की अपनी दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करती हैं या वे कहां तक सामयिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करती हैं या वे कहां तक किसी ऐसी बात को अभिव्यक्त करती हैं जो कलाकार के अपने देशवासियों की प्रकृति से निजत्व रखती हैं ?

आनंदानुभूति साहित्य और कला दोनों की ही आत्मा है। विश्लेषण करने पर उसके सतरंगे दर्पण में उसके समूचे भिन्न नक्षत्र जगत में व्याप्त विभिन्न रंगों तथा तीव्रता की असंख्य किरण मालाओं को झिलमिलाते हुए देखा जा सकता है।

मानव के पास ऐसी भावनात्मक ऊर्जा का भंडार है जो पूर्णतः उसकी आत्म रक्षा में नहीं खप पाती। यह अतिरेक कला-सृजन के रूप में अपना मार्ग खोजने का प्रयास करता है, क्योंकि मानव की सभ्यता उसके अतिरेक के आधार पर खड़ी है।

कला में मानव स्वयं को अभिव्यक्त करता है, अपने पदार्थों को नहीं। उसके पदार्थों को तो स्थान सूचना तथा विज्ञान की पुस्तकों में मिलता है जहां उसे स्वयं को पूर्णतया छिपाना पड़ता है।

वे प्रमुख सृजनात्मक शक्तियां, जो वस्तुओं को हमारी जीवन्त संरचना में रूपान्तरित करती हैं, भावनात्मक शक्तियां होती हैं।

यह जगत पूर्णतया हमारा अपना हो जाता है जब वह हमारे मनोभावों की परिधि में आ जाता है। जब हमारी घृणा और वेदना, सुख और दुःख, भय और अचरज निरंतर उस पर प्रभाव डालते हैं तो यह जगत हमारे व्यक्तित्व का अभिन्न अंग हो जाता है।

सूर्योदय का तथ्य नहीं अपितु हमसे उसका जो संबंध है, वह शाश्वत रुचि का विषय होता है।

जो चीजें हमारे मनोभावों को उद्दीप्त करती हैं, वे हमारी अपनी स्वानुभूति को भी उद्दीप्त करती हैं। कलाकार अपने कथ्य को केवल सूचना देकर और स्पष्ट करके अभिव्यक्त नहीं कर सकता। जब मुझे

कहना होता है कि मैं गुलाब के बारे में क्या अनुभव करता हूं तो स्थिति भिन्न होती है। तब तथ्यों अथवा नियमों से उसका कोई वास्ता नहीं होता। उसका संबंध स्वाद से होता है और उसकी अनुभूति केवल चखकर ही की जा सकती है।

काव्य में हमें समुचित सुरुचि-सम्पन्न शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। वे न केवल बोल उठते हैं बल्कि चित्र प्रस्तुत करते हैं और गाते हैं। चित्र और गीत तथ्य मात्र नहीं होते, वे व्यक्तिगत तथ्य होते हैं।

वे केवल अपने तक सीमित नहीं रहते। अपितु हमारे अंग भी बन जाते हैं। वे विश्लेषण के बंधन में नहीं पड़ते और तुरन्त हमारे हृदय को छू लेते हैं।

जब हमारा हृदय प्रेम अथवा अन्य प्रमुख भावों में पूर्णतः विभोर हो जाता है तो हमारा व्यक्तित्व उससे आप्लावित हो जाता है। तब वह अभिव्यक्ति की पीड़ा से विवश होकर स्वयं को अभिव्यक्त करने के लिए छटपटाने लगता है। तब कला का जन्म होता है और हम आवश्यकता के दावों और उपयोगिता के प्रलाप को भूल जाते हैं। हमारे मंदिरों के कलश सितारों को चूमने का और हमारे संगीत के सुमधुर स्वर अनिवर्चनीय की गहराई को मापने का प्रयास करने लगते हैं।

उपयोगिता और आत्माभिव्यक्ति की दो समानान्तर पटरियों पर चलने वाली मानव की ऊर्जायें आपस में मिलने और घुलने लगती हैं।

हमारे जीवन का एक पक्ष असीम है। वहां हम स्वयं को पग-पग पर निःशेष करते जाते हैं। हमारे जीवन का एक दूसरा पक्ष भी है। वहां हमारी कामना, आनंदानुभूति और त्याग असीम है। मानव के इस असीम पक्ष की अभिव्यक्ति किन्हीं ऐसे प्रतीकों के रूप में होनी ही चाहिये जिनमें अमरत्व के तत्व हों। स्वाभाविक है कि वहां वह सर्वांगपूर्णता का प्रयास करेगी।

मानव के सच्चे संस्कार का, सत्यं, शिवं, सुंदरम् के साकार संसार का यह सृजन ही कला का धर्म, कर्म एवं मर्म है।

सत्य का विराट पुरुष से शाश्वत संबंध है। सौंदर्य केवल तथ्य नहीं है, उसका प्राकलन नहीं हो सकता, उसका सर्वेक्षण और प्रमापन नहीं हो सकता। वह तो अभिव्यक्ति है।

धुंध और कोहरे से ढके इन विशाल प्रदेशों में कला अपने ऐसे सितारों का सृजन कर रही है जो अपने आकार में तो ससीम हैं पर अपने व्यक्तित्व में असीम हैं।

कला में हमारे भीतर बैठा व्यक्ति अपने उत्तर विराट-पुरुष को भेज रहा है और विराट-पुरुष तथ्यों

के प्रकाशहीन संसार के आर-पार अनन्त सौंदर्य के संसार के रूप में स्वयं को हमारे सामने प्रकट कर रहा है।

संभवतः गुरुदेव की यह आशंका ठीक ही थी कि इस विषय विशेष में उनके श्रोताओं की जन्मजात अक्षमता थी।

जैसा कि ऋषि अरविन्द ने कहा है : "भारतीय कलात्मक सृजन का समूचा आधार प्रत्यक्षतः आध्यात्मिक तथा अन्तर्दर्शी है और वह बुद्धि की तलुना में प्रत्यक्ष अनुभूति-पद्धति की अथाह श्रेष्ठता को दर्शाता है।"

विज्ञान के बारे में लियोनार्दो द विन्सी की उल्लेखनीय सहज अनुभूतियां तथा कला के बारे में उनकी सृजनात्मक सहज अनुभूतियां एक ही शक्ति से प्रस्फुटित हुई परन्तु परिवेशीय अथवा गौण मानसिक प्रक्रियायें भिन्न रंग-रूप की थीं। स्वयं कला में भी विभिन्न प्रकार की सहज अनुभूतियां हैं। (शेक्सपियर, बाल्जाक और इब्सन की सहज अनुभूतियां)

सहज पश्चिमी मानसिकता भारतीय कला से कुछ ऐसी चीज की मांग करती है जो भारतीय कला की अनोखी भावना और प्रेरणा के उद्देश्य से भिन्न है। वह मांग करती है कि वह एक अन्य प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूति, सृजन-दृष्टि, कल्पनाशक्ति तथा अभिव्यंजना-शैली के क्षेत्र में पदार्पण करने के लिए तैयार नहीं है।

समस्त महान कला सृजन का उद्‌गम सहज अनुभूति से होता है, वास्तव में बुद्धि अथवा कल्पना की किसी अद्‌भुत उड़ान से नहीं। ये केवल मानसिक रूपान्तर होते हैं परन्तु इनके पीछे जीवन अथवा अस्तित्व के किसी सत्य की, उस सत्य के किसी महत्त्वपूर्ण रूप की, मानव मन में उसके किसी विकास की सीधी सहज अनुभूति होती है। अभी तक महान यूरोपीय तथा महान भारतीय सृजन में कोई अन्तर नहीं है। तो भारी अन्तर कहां से प्राप्त होता है ? यह अन्तर हर अन्य वस्तु में है। अन्तर सहज अनुभूति के विषय और क्षेत्र में है। अन्तर दृष्टि अथवा संकेत को साकार करने की शैली में है। अन्तर प्रस्तुतिकरण में बाह्य रूप और विधा की भूमिका में है। अन्तर मानव मन के लिए प्रस्तुतीकरण की समूची शैली में तथा हमारे पिन्ड के केन्द्र में है जिसे सृजन पाता है।

प्राचीन भारतीय कला का सिद्धान्त अन्य प्रकार का है। वह अपने सर्वोच्च से भी सर्वोच्च स्तर पर अपना स्वरूप शेष को दे देती है और अपने प्रभाव की कुछ छाप उस पर छोड़ देती है। उसका सर्वोच्च उद्देश्य यह है कि वह आत्मा के संदर्भ में आत्म, असीम, दिव्य को अपनी अभिव्यंजना के द्वारध' आत्म को अपने साकार ससीम प्रतीकों के द्वारा असीम को, अपनी शक्तियों के द्वारा दिव्य को कुछ अभिव्यक्ति प्रदान करे। ऐसा नहीं है कि समस्त भारतीय सृजन ने इस आदर्श को प्राप्त कर लिया। निस्संदेह ऐसा

बहुत-सा सृजन है जो घटिया स्तर का, प्रभावशून्य तथा भ्रष्ट भी है लेकिन यह सर्वोत्तम तथा अति विशिष्ट निष्पादन है जो कला को अपनी स्वर शैली प्रदान करता है और उसी दृष्टि से ही हमें मूल्यांकन करना चाहिये। वस्तुतः भारतीय कला का भी वैसा ही आध्यात्मिक लक्ष्य तथा सिद्धान्त है जैसा कि शेष भारतीय संस्कृति का है। यह एक अन्तर्दर्शी तथा आध्यात्मिक कला है और उसे अन्तर्दर्शी तथा आध्यात्मिक दृष्टि से ही देखा जाना चाहिये।

परिदृश्य

किसी हिन्दू द्वारा हिन्दू कलाओं तथा हिन्दू सौन्दर्य-बोध के आंकलन तथा मूल्यांकन को पूर्णतया आत्मपरक माना जा सकता है। इन विषयों के बारे में भारत में भगिनी निवेदिता के नाम से विख्यात मार्ग्रेट नोबल की प्रतिक्रिया को अधिक निष्पक्ष माना जायेगा। अतः इस विषय पर उनके कतिपय उद्‌गार अधिक उपयुक्त तथा ज्ञानवर्धक होंगे : "चित्तौड़ केवल कालक्रमिक अभिलेख नहीं है, वह शाश्वत प्रतीक है, वह भारतीय प्रतिभा के एक कालखंड के हृदय का हृदय है।"

"चिरकाल तक, जब तक धरती रहेगी, एलोरा एक ऐसा स्थान होगा जहां प्रभु का रहस्य मानवों की आत्माओं पर प्रचुरतम मात्रा में प्रस्फुटित हुआ है, चाहे उनकी आस्थायें, चाहे उनका धर्म जो भी हो।"

"किसी विशाल आर्गन (वाद्ययंत्र) की वक्रताओं तथा स्तंभों की भांति अजन्ता की घाटी में सूर्याभिमुखी पर्वतीय क्षेत्र के साथ-साथ पत्थर की मेहराबों तथा स्तंभों की शृंखला फैली हुई है।"

"योगियों ने सर्वत्र ही अपनी स्मृति को वंश-परम्परा के द्वारा नहीं अपितु स्थापत्य कला के द्वारा संजोकर रखा है। भारत में स्थान-स्थान पर स्थापत्य कला के ये नमूने उत्कीर्ण हुए मिलते हैं जैसे दक्षिण में महाबलीपुरम या एलोरा की गुफा भित्तियों में तथा और भी विभिन्न स्थानों में निर्माण के स्थान पर सभी के भाव एक जैसे ही हैं।"

"यहां इन सुरम्य साधना स्थलों में— क्योंकि वे सब के सब नैसर्गिक सौन्दर्य के मध्य में स्थित हैं— उस विचारधारा तथा ज्ञान, मौन चिन्तन-मनन की शक्ति को पल्लवित किया गया जिसने भारत को वह रूप प्रदान किया जिस रूप में आज हम उसे जानते हैं। यहां उन सपनों को संजोया गया जिनका प्रतिबिम्ब समाज पर पड़ा और वे उन युगों के सामाजिक आदर्श बनें जिनमें हम रहते हैं।"

"यह निश्चित है कि तीर्थयात्रा की पवित्रता में स्थान का, कला का और भौगोलिक महत्त्व का भी गुणगान निहित है।"

"भारतीय अन्तश्चेतना में स्थान की सौन्दर्यता उसी प्रकार प्रतिबिंबित होती है जिस प्रकार स्वयं भगवान के उद्‌गार आत्मा में परिलक्षित होते हैं।— यदि नियाग्रा प्रपात गंगातट पर स्थित होता तो

इस बात की कल्पना भी बड़ी विचित्र सी लगती है कि मानवता उसका कितना भिन्न मूल्यांकन करती। पर इसमें संदेह नहीं कि उस अवस्था में फैशनेबल पिकनिकों तथा मौज-मस्ती के लिए रेलयात्रियों के स्थान पर तीर्थयात्रियों की वार्षिक या मासिक यात्रा वहां पर होती। होटलों के स्थान पर मंदिर होते।ध्यानाकर्षी असंयम के स्थान पर संयम होता। मानवीय उपयोगिता के रथ में उसके शक्तिशाली अश्वों को जोतने की कामना के स्थान पर शरीर को तज देने की तथा तुरन्त सर्वोच्च सत्ता से मिलन के हर्षोन्माद प्राप्ति की अदम्य इच्छा होती।

"पश्चिमी हिमालय की उत्तुंग पर्वतमालाओं में लद्दाख की सीमाओं के निकट है लम्बी संकरी हिमानी घाटी और उसी में है अमरनाथ की जगप्रसिद्ध गुफा। उनकी गगनचुम्बी ऊंचाइयों के विस्मयकारी विराट वैभव तथा सौन्दर्य का वे (यात्रीगण) परम प्रभु के उपयुक्त धाम के रूप में सदा सर्वदा सुमिरन करते रहेंगे। मसीहियों को लगेगा मानों वे चर्च में हैं। वहां की चट्टानें और हिमनद पुण्य-स्थल के अंग हैं। बर्फीले दर्रे स्तंभों पर खड़े गलियारे हैं। उनके पीछे खड़े हैं हाथ में पताकाएं लिए गायकवृन्दों के जुलूसों के प्रतीक चीड़ के जंगल और स्वयं ऊपर का आकाश है। धर्ममठ की छत-यौवतियों की यही विशेषता है कि वे समूची प्रकृति पर उस भावना को आरोपित करती हैं जिसे हम केवल पूजा-स्थल के साथ ही जोड़ते हैं।"

कलाकारों से निवेदन

"हिन्दुत्व अपने एक संदर्भ में प्रतीकात्मकता को अत्यन्त प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त करता है। उसकी यह प्रतीकात्मकता विश्वव्यापी है। उसकी यह मान्यता है कि कोई भी कलाकृति अपनी कहानी बिना किसी गलती, त्रुटि या भूल के स्वयं उद्घाटित करती है और इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि कौन सी भाषा बोली जा रही है अथवा पाठक पढ़ा-लिखा है या अनपढ़।"

"एक भारतीय कलाकृति को यदि वस्तुतः भारतीय और सचमुच महान बनना है, तो उसे भारतीय हृदय को भारतीय ढंग से ही स्पर्श करना होगा, उसे ऐसे किसी विचार या भावना का सम्प्रेषण करना ही होगा जो या तो जाना-पहचाना हो या फिर सहज सुबोध हो। इसके अलावा उसे अति श्रेष्ठ स्तर का बनना ही होगा। उसे दर्शक के मन में किसी ऐसी दिव्य भावना को जाग्रत करना ही होगा जो उसकी महानता का प्रतीक है।"

"कला का पुनर्जन्म होना ही है। लेकिन जैसा कि हम जानते हैं यह यूरोपीय दयनीय हास्य-लेखन जैसा नहीं होगा। इस तरह की कला तो इतनी श्रेष्ठ है कि उसके समकक्ष जन-जन तक पहुंचने वाली अन्य कोई ध्वनि ही नहीं है। एक गति अथवा कलाकृति इतनी उत्तेजक और प्रेरक हो सकती है जो पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक बसने वाले सभी समुदायों को प्रभावित करके उन्हें एकता के सूत्र में आबद्ध कर दे। और ऐसी कला का पुनर्जन्म अवश्य होगा क्योंकि उसने अपना एक नया विषय 'भारत' स्वयं ढूंढ़ लिया है।"

"जिस मानव ने अपने गुण की सम्पूर्ण संस्कृति की पुण्य सलिला में स्नान नहीं किया है, वह उस संस्कृति की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति कर ही नहीं सकता।"

"आज भारत में 'कला' जिस पवित्र संदेश से आवेशित है वह है 'राष्ट्रीयता' का संदेश।"

"अतः किन्हीं दो व्यक्तियों को कला का अध्ययन सही परिप्रेक्ष्य में करने दो, वे दो व्यक्ति ही भारत की कला की दुनिया को बदल देंगे।"

अतः कला हमें देश के सामान्य जन से वार्ता करने का एक महान अवसर प्रदान करती है और इसका पुनर्जन्म भारत माता के श्रेष्ठ निर्माण एवं 'पुनर्जागरण' के लिए जरूरी है।"

कला को विज्ञान, शिक्षा, उद्योग, व्यापार की भांति केवल मातृभूमि के पुनर्निर्माण के लिए प्रयोग किया जाना चाहिए न कि किसी अन्य उद्देश्य के लिए।"

नान्यः पंथाः

'संस्कार-भारती' का जन्म इसलिए हुआ है कि वह हिन्दू कला को इस योग्य बना सके कि वह भगिनी निवेदिता द्वारा निवेदित भूमिका का निर्वाह कर सके। उन्हें भी यह पता था कि हिन्दू के व्यक्तिगत जीवन का लक्ष्य है— '**आत्मनोमोक्षार्थं जगद हिताय च**' अर्थात् 'अपने उद्धार के साथ-साथ जगत का भी कल्याण करो।' इसका अर्थ है कि हिन्दू पुनर्जागरण की ही नैसर्गिक उपज मानवीय पुनर्जागरण है, यद्यपि उनके जीवन-काल में उनका यह उद्‌गार समय से अति पूर्व का कहा जाता। फिर भी यह स्वीकार किया जाता है कि "भारत में जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण और मानवीय क्रिया-कलापों को संभालने की ऐसी क्षमता है जो एक साथ समूचे विश्व की जरूरतों को पूरा करने में सक्षम है। आर्नोल्ड टॉयनबी कहते हैं कि "यदि भारत अपनी परम्परागत विरासत के श्रेष्ठ भारतीय आदर्शों को जीने में सफल नहीं हुआ तो यह समस्त मानव समाज के लिए एक दुःखद घटना होगी। अतः भारत के कंधों पर आध्यात्मिक दायित्व का भारी भार है।"

मानव समाज की अनेकानेक व्याधियां हैं और उन्हें दूर करने के लिए अभी तक अनेकानेक उपचार किए जा चुके हैं। पर लगता है कि उनमें से कोई भी समस्या के मूल तक नहीं पहुंचा। "इबोल्यून एंड अर्थली डेस्टिनी" में नलिनी कान्त गुप्त कहते हैं :

"हमें संयुक्त राष्ट्र संगठन की बेहद जरूरत थी लेकिन हम ही सबसे अधिक असंगठन की संभावना की चुनौती का सामना कर रहे हैं। इससे हमें यही सीख मिलती है कि न तो अकेली राजनीति और न ही अर्थव्यवस्था हमारी रक्षा कर सकेगी। संदेश दिया जा चुका है, आज तो आवश्यकता है हृदय-परिवर्तन की। मानवता के कर्णधारों को पुराने के स्थान पर नया हृदय लगवाना होगा।"

किन्तु क्या ऐसा 'हृदय-परिवर्तन' संभव है ?

संभव है। कहता है एक स्वस्थमना सन्त जिसकी वाणी धीमी है।

एक ऐसा उपचार रह गया है जिसका प्रयोग अभी तक नहीं किया है। वह क्या है ?

सौंदर्यबोध।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद नये मानव समाज के निर्माण का प्रयास प्रारंभ हुआ था। इस प्रयोजन के लिए आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक स्वातंत्र्य महत्त्वपूर्ण हैं। लेकिन सौन्दर्यबोध के बिना क्या वे पर्याप्त होंगे ? यही प्रश्न जे० एच० कोसिन्स ने अपनी कृति जीवन को सौंदर्य की भूख "द एस्थेटिक नेसेसिटी ऑफ लाइफ" में उठाया है। लेखक का आग्रह है कि सौंदर्यबोध के माध्यम से मानव के मनोभावों पर अंकुश लगाये बिना नये समाज का गठन नहीं किया जा सकता। मानवीयता रहित बुद्धि खतरनाक सिद्ध हो सकती है।

कोसिन्स की विचारधारा हमें श्रद्धेय डा० हेडगेवार के उद्‌गार का स्मरण कराती है। उन्होंने कहा है, "हमारे देश में कलाओं के तो अनेक महाविद्यालय हैं पर हृदय का कोई महाविद्यालय नहीं है।"

पीड़ा से ग्रस्त तथा त्रस्त मानवता के मानस को कोसिन्स के आग्रह में आशा की एक नई किरण के दर्शन हो सकते हैं। उनके अनुसार कलायें तो अपराधियों तथा आतंकवादियों को भी शान्त कर सकती हैं।

इस प्रयोजन के लिए यह एक अनिवार्य अनुपूरक उपाय दीख पड़ता है।

उस दशा में निश्चय ही 'संस्कार भारती' जैसे संगठनों से अपेक्षा की जायेगी कि वे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करें।

आर्नोल्ड टॉयनबी ने कहा है, "हम आज भी विश्व इतिहास के इस संक्रमण-अध्याय में जी रहे हैं लेकिन यह तो पहले से ही स्पष्ट होता जा रहा है कि जिस अध्याय का श्रीगणेश पश्चिम में हुआ था, यदि उसकी परिणति मानव जाति के विनाश में नहीं होनी है तो उसका समापन भारतीय ही होगा। मानव इतिहास की इस संकटपूर्ण घड़ी में मानवजाति के उद्धार का एक ही मार्ग है और वह है भारतीय मार्ग।"

(३)

दिशा निर्देश

विरोधाभास

समग्रता परम्परागत हिन्दू चिन्तन-पद्धति का मूल तत्व है। जिन लोगों को इस दृष्टिकोण का ज्ञान अथवा मान नहीं है, वे पश्चिम के दिग्गजों की महानता का भी समुचित मूल्यांकन नहीं कर सकेंगे। सौंदर्य और कुरूपता की सच्ची प्रकृति के बारे में दार्शनिक सुकरात क्यों जिज्ञासा रखते थे। जब यूरोप में प्लेटो तथा अरस्तु की विचारधाराओं के वास्तविक आशय के बारे में कभी न समाप्त होने वाली परिचर्चा अपने यौवन पर थी, उस समय कलाकार रेफेल ने अपने ग्रन्थ 'द स्कूल ऑफ एथेन्स' में सामान्य यूरोपीय मानस के लिए इस साहित्यिक विवाद को यह कहकर समाप्त किया कि प्लेटो ने स्वर्ग का विवरण प्रस्तुत किया है जबकि अरस्तु ने अपने-आपको बड़ी दृढ़ता के साथ धरती से जोड़ रखा है।

पश्चिम में आजकल समग्रतावाद के प्रति अभिरुचि और सराहना का भाव पनपने लगा है। खासकर द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद युद्ध नेताओं ने यह अनुभव किया कि अन्तर-अनुशासनात्मक या अन्तर-विषयी दृष्टिकोण अपनाया जाना ही लाभकारी है। परन्तु पश्चिम की चकाचौंध से प्रभावित हिन्दू बुद्धिजीवी हीन भावना से त्रस्त-ग्रस्त होकर अपनी विशिष्टता और अस्मिता खो देने के लिए पागल है और इस तरह वह सांस्कृतिक आत्मशून्यता को गले लगा रहा है। (हाल में ही ऐसी मानसिक दासता के विरुद्ध विद्रोह भी-देखने में आया है।)

बहुत पहले ही आर्नोल्ड टॉयनबी ने टिप्पणी की थी : "जिन हिन्दुओं ने पूरी तरह परायी और विदेशी पश्चिमी सभ्यता की प्रौद्योगिकी तथा विज्ञान, भाषा तथा साहित्य, प्रशासन एवं कानून की व्यवस्थाओं को अपनाया वे उन्हें रूसियों की तुलना में अपने जीवन का सहज क्रम बनाने और उनसे सामञ्जस्य करने में अधिक सफल सिद्ध हुए हैं जबकि यह पश्चिमी ज्ञान और जीवन-क्रम रूसियों की तुलना में उनकी जीवन प्रणाली के अधिक विरुद्ध था। यद्यपि इससे हिन्दू आत्मा अत्यधिक तनावग्रस्त रही होगी और देर-सबेर वह स्वयं को इससे मुक्त करने का मार्ग अवश्य खोज लेगी।"

"टॉयनबी के अनुसार पश्चिमी जीवन पद्धति यूनानी -यहूदी विरासत का अभिन्न अंग है और यह समूची सांस्कृतिक परम्परा हिन्दू जीवन-दर्शन के लिए परकीय है। अतः देर-सबेर इस व्यर्थ की व्यवस्था को अमान्य किया जाना सुनिश्चित है। लेकिन इस बीच इन भ्रमित हिन्दुओं के कारण राष्ट्र को आत्मविस्मृती की बड़ी महंगी कीमत चुकानी पड़ रही है। इसके कारण भारत को राष्ट्रीय जीवन

के हर क्षेत्र में अकल्पनीय क्षति उठानी पड़ रही है। कला का क्षेत्र भी इस व्याधि का अपवाद नहीं है।

संकल्पना का संभ्रम

जनमानस में कला की कोई स्पष्ट तथा सुबोध संकल्पना नहीं है। विभेदीकरण की पश्चिमी प्रवृत्ति की देन अभिजातीय मनोवृत्ति जनमानस पर छायी हुई है यथा, आभिजात वर्ग की कला-दीर्घायें केवल वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकारिता, संगीत कला आदि आकर्षणयुक्त कलाओं के लिए सुरक्षित रहती हैं। इसमें उन सच्चे खरे कलाकारों का, जिन्हें व्यावहारिक सुविधा के लिए 'शिल्पकार' अथवा 'दस्तकार' कहा जाता है— क्या स्थान है, कोई नहीं जानता ? 'विश्वकर्मा' समूचे सृजनशील श्रमिक वर्ग के राष्ट्रीय देवता हैं। क्या उनके 'सपूत' कला के पावन मंदिर में प्रवेश कर सकेंगे ?

हाल ही में 'दस्तकार वर्ग' ने कोची (केरल) में परम्परागत शिल्प की प्रदर्शनी का आयोजन किया। वहां देश भर से परम्परागत शैली के कोई ४० शिल्पकार आए और उन्होंने अपनी कृतियों का प्रदर्शन किया। उन्हें देखकर केरल के परिष्कृत रुचिवाले कला-प्रेमी ठगे से रह गये। उड़ीसा की 'पट्टा' चित्रकारी विशेष आकर्षण का केन्द्र बनी। पुरी में जगन्नाथ मंदिर में बसे 'पट्टा' चित्रकारों की पीढ़ी दर पीढ़ी चलने वाली 'साधना' की लम्बी परम्परा है। क्या उन्हें 'कलाकारों' की श्रेणी में केवल इसलिए नहीं रखा जाना चाहिये कि वे सम्भ्रान्त नहीं हैं ? अथवा इसलिये कि उनकी कलाकृतियां 'उपयोगी' तो हैं पर 'परिष्कृत' नहीं।

मात्र तकनीकी तथा अकादमीय आधारों पर ऐसी कोई 'अव्याप्ति' अथवा बहिष्कार न केवल इन साधकों के लिए बल्कि समूचे देश के हित पर कुठाराघात करने वाला होगा। इसका अर्थ होगा कि हम अपने-आपको ललित कलाओं की उस समृद्ध तथा वैभवपूर्ण परम्परा से वंचित रखें जिसकी सराहना विदेशियों ने भी सच्चे हृदय से की है। यथा, देखिए विल डूरण्ट के उद्‌गार :

"प्लासी के युद्ध से पूर्व-अर्थात् ब्रिटिश-पूर्व भारत के बारे में डूरण्ट का कहना है कि हर परिपक्व कारीगर शिल्पकार होता था और वह अपने कौशल तथा अभिरूचि के अनुसार अपनी कृति को रूप और व्यक्तित्व प्रदान करता था। आज भी जब दस्तकारियों का स्थान पैचदारियों ने ले लिया है और शिल्पकार घटकर 'दस्तकार' भर रह गये हैं, देखा जाता है कि हिन्दुस्थान के हर नगर की स्टालों तथा दुकानों पर कारीगर बैठे रहते हैं। वे धातु को ठोंकते-पीटते हैं, गहने आदि गढ़ते हैं, डिजाइन तैयार करते हैं, नजाकत और नफासत वाली शालें बुनते हैं, कशीदाकारी करते हैं और हाथीदांत और लकड़ी पर नक्काशी करते हैं। हमारी जानकारी में तो संभवतः ऐसा कोई अन्य देश नहीं है जिसके पास कलाओं की ऐसी प्रचुर एवं समृद्ध विविधता रही हो।"

डूरण्ट के ही अनुसार : "यदि पात्र किसी अनमोल धातु से बनाया जाना हो तब तो उस पर कलात्मकता में कोई कसर शेष नहीं रह पाती थी। देखिये मद्रास के विक्टोरिया संस्थान में चांदी के

तंजोरी फूलदान को अथवा कैंडी की पान की सुनहरी तश्तरी को। पीतल को भी ठोंक-पीटकर अनगिनत प्रकार के दीपों, कटोरों तथा अन्य पात्रों को अनेक प्रकार से ढाला गया। जस्ते की काली मिश्र धातु (बीडरी) का उपयोग प्रायः संदूक, चिलमचियां और ट्रे के लिए किया गया और एक धातु को दूसरी पर चढ़ाया गया अथवा उस पर सोने-चांदी का मुलम्मा किया गया। लकड़ी पर प्रचुरता से पौधों तथा पशुओं की आकृतियों की नक्काशी की गई। हाथी दांत को तराशकर पुण्यात्मा देवी-देवताओं की मूर्तियों से लेकर पांसे तक बनाये गये, दरवाजों तथा लकड़ी की अन्य वस्तुओं में उसे जड़ा गया और प्रसाधन की वस्तुओं तथा इत्रों को रखने के लिए उससे सुरुचि सम्पन्न पात्र बनाये गये। प्रचुर मात्रा में आभूषण बनाये गये जिन्हें धनवान और निर्धन दोनों ही पहनते थे अथवा उनका संग्रह करते थे। स्वर्ण के ऊपर चमचमाते झुमकों, रंगों की मीनाकारी करने में जयपुर सबसे अधिक निष्णात था। बाजूबन्द, माला के मनकों, पेन्डेन्टों, चाकुओं और कंघों को अनेक सुन्दर रूपों में ढाला गया और उन पर जीव-जन्तुओं, जानवरों एवं धार्मिक चित्रों के चित्ताकर्षक चित्र उभारे गए। एक-एक झुमके के नन्हें से कलेवर में देवी-देवताओं के पचासों चित्र उकेरे गए। अकल्पनीय कलात्मकता के साथ कपड़ों की बुनाई की गयी। सीजर के काल से लेकर आधुनिक काल तक सारी दुनिया ने भारतीय वस्त्रों को सराहा है। कभी-कभी तो अति सूक्ष्म तथा अति श्रमसाध्य पूर्ण नाप-तोल के पश्चात् ताने-बाने के हर धागे को रंगा जाता था और फिर उसे करघे पर चढ़ाया जाता था। जैसे-जैसे बुनाई होती जाती थी, डिजाइन प्रकट होता जाता था और वह दोनों ओर एक जैसा होता था। हाथ के कते तथा बुने खद्दर के सुनहरे तारों से झिलमिलाते जरी के वस्त्र तक, नयनाभिराम पायजामों से अदृश्य सीवनदार कश्मीर के शाल तक, भारत में बुना गया हर वस्त्र ऐसी सुन्दरता से ओतप्रोत होता है जो अति प्राचीन कला की देन है और अब नैसर्गिक कला सी लगने लगी है।"

संभवतः हमारे देश में कला का परम्परागत विस्तार कहीं अधिक व्यापक था। यह बात चौंसठ कलाओं के परम्परागत परिगणन से स्पष्ट हो गई है।

यह धारणा ठीक नहीं है कि कोई कला-विशेष किसी अन्य कला से बढ़कर है। जब एक संगीत प्रेमी ने पूछा कि कौन सी कला अन्य सबसे बढ़कर है तो महर्षि अरविन्द ने उत्तर दिया, "क्या आप चाहते हैं कि मैं संगीत की देवी के सिर पर तो ताज पहना दूं या उसे श्रेष्ठ ठहरा दूं और चित्रकारिता, मूर्तिकला, वास्तुकला, फुलकारी की देवियों को, कला की नौ की नौ देवियों को कुपित कर दूं ? वरीयता की आपकी कसौटी गलत है।"

"हर महान कला की अपनी प्रेषणीयता (अपील) और प्रेषणीयता-पद्धति होती है और हरेक अपने-अपने क्षेत्र में अन्य सबसे श्रेष्ठ है।"

वे कहां स्थित हैं ?

जहां यह सच है कि कलाओं के क्षेत्र में प्रायः घटिया तत्त्वों में पर्याप्त विश्वजनीन तो नहीं पर अधिक

सामान्य प्रेषणीयता होती है, वहां यह भी एक तथ्य है कि हर देश में प्रादेशिक अथवा सामाजिक विकास के विभिन्न चरण होंगे ही और इसी विकास के अनुरूप कलात्मक विकास के विभिन्न स्तर होंगे।

यथा, 'नाट्यम' के प्रकरण को लें। भरत मुनि का 'नाट्य-शास्त्र' भारतीय नाट्य-कला के बारे में परस्पर जुड़े विषयों का महाग्रन्थ है। वह रंगमंच के सभी पक्षों, नृत्य के सभी पक्षों और संगीत के मूलाधारों का प्रलेख-ग्रन्थ है। 'नाट्य' में इन तीनों पक्षों का समावेश है।

भारतीय संगीत तथा नृत्य का प्राचीनतम आधारभूत प्रमाण ऋग्वेद में मिलता है। ऋग्वेद में गोलाकार रूप में नृत्य करने वाले जोड़ों का उल्लेख है। संवादों के रूप में ऋचाओं, अर्थात् संगीत तथा नाटक के संदर्भ में सामवेद सूक्तों की तो वैदिक साहित्य में भरमार है। संगीत, नृत्य तथा नाटक के प्रतिमान 'शुक्ल यजुर्वेद' की 'बाजा-सनायी-संहिता' में दिये गए हैं।

इसमें संदेह नहीं कि तब से अब तक भारतीय नृत्य एक लम्बी यात्रा कर चुका है। भारतीय नृत्य यात्रा की गौरवपूर्ण गाथा के बारे में साहित्य का विपुल भंडार है। आधुनिक कृतियों में अधिक महत्त्वपूर्ण है, आनन्द कुमार स्वामी कृत 'शिव-नृत्य' (दि डांस ऑफ शिव) डॉ० सी० पी० राम स्वामी कृत 'नृत्य-कला' (दि आर्ट ऑफ डांस), मृणालिनी साराबाई कृत 'भारत का पावन-नृत्य' (द सेक्रेड डांस ऑफ इंडिया) पी० के० शिवशंकर पिल्ले कृत 'थुल्लाल की उत्पत्ति और विकास' (ओरिजिन एंड डेवलपमेंट ऑफ थुल्लाल), दुर्गादास मुखोपाध्याय द्वारा संपादित 'भारत की अभिनय-कला के अल्प ज्ञान रूप' (लेंसर नोन फार्म्स ऑफ पर्फार्मिंग आर्ट्स इन इंडिया) डॉ० कपिला वात्स्यान कृत 'भारतीय लोक नृत्य की परम्परायें' (ट्रेडीशन्स ऑफ इंडियन फॉक डांस) तथा के० एस० रामस्वामी शास्त्री कृत 'भारतीय नृत्य एक आध्यात्मिक कला' (इंडियन डांस एज ए स्प्रिचुअल आर्ट)। यह साहित्य इस बात का साक्षी है कि भारतीय नृत्य अब तक भारी प्रगति कर चुका है।

हाल ही के काल में इस कला के अन्य अनेक योग्य प्रतिपादक हुए हैं।

उदयशंकर प्रथम भारतीय नृत्य कला विशारद हैं जिन्होंने बिरजू महाराज के साथ भारतीय नृत्य-नाटक (बैले) प्रस्तुत किया। उन्होंने भारत को विश्व के सांस्कृतिक मानचित्र में स्थान दिलाया और विभिन्न पद्धतियों के संश्लेषण का प्रयास किया।

कला मंडलम के वेल्लाथोल ने इरिन्जलाक्कुडा माधवन चकयार जैसे कूडियाथम नर्तकों और कलामंडलम के कृष्णन नायर, रमण कुट्टी नायर तथा गोपी जैसे कथकली नर्तकों तथा वेल्लाथुनाडू के राजा ने कला को पल्लवित किया और उसे कथकली का परिष्कृत रूप दिया।राजा ने कोट्टारक्कारा के रामानक्कम के राजा कीकला को संवारा जो मनावेदन ज्रमोरिन के कृष्णानट्टम के उत्तराधिकारी बने। वेल्लतोल ने भास, कुलशेखर, वर्मन, श्रीहर्ष, महेन्द्रविक्रम पल्लव, बोधायन, शक्तिभद्र, कट्टायम

राजा, किंग स्वाती तिरुनाल, उन्नयी वरियार और इरयिम्मन थम्पी की कृतियों के सौन्दर्य-बोध को साकार रूप प्रदान किया।

रुक्मिणी देवी ने नृत्य में पुनः नवजीवन का संचार किया।

आन्ध्र प्रदेश की यामिनी कृष्णमूर्ति, शोभा नायडू तथा रानी कर्ण ने कुचीपुडी को प्रसिद्धि के शिखर पर पहुंचाया।

तमिलनाडु की डा० पद्मा सुब्रह्मण्यम् तथा वैजयन्तीमाला ने भरतनाट्यम को गौरव प्रदान किया। कल्याणकुट्टी अम्मा ने मोहिनियाट्टम के यश में वृद्धि की।

ऐसे ही कुछ अन्य प्रख्यात कलाकार हैं कथक की तारा चौधरी तथा सितारा देवी, मणिपुरी की दर्शना जावेरी, ओडिसी की सोनल मानसिंह तथा अन्य अनेक कलारत्न।

(इस कला का यह एक मान्य स्तर है। लेकिन यही सब कुछ नहीं है)

जैसा कि हम सब जानते ही हैं, आज विशेषतः उत्तरी भागों के नगरीय क्षेत्रों में पश्चिमी संगीत से कहीं अधिक लोकप्रिय पश्चिमी नृत्य होता जा रहा है। हर कला को अपने क्षेत्र में सिद्धान्तहीन नौसिखियों तथा पाखंडियों के प्रवेश के कारण स्तर में गिरावट का कुफल भोगना पड़ता है। आज जो प्रभाव पनपता जा रहा है, वह पश्चिमी नृत्य की अधिक परिष्कृत शैली अर्थात् बैले या अन्ना पावलोवा की कला का नहीं है। वह तो प्रायः उसकी ओछी तथा कभी-कभी अश्लील शैली का प्रभाव है। यह पहली चिन्ता का विषय होना चाहिये क्योंकि आशु प्रभाव वाले मानस पर उसका सीधा तथा बुरा प्रभाव पड़ता है। सच्ची कला में इन लोगों की कोई अभिरुचि नहीं होती। नाट्यवेद अथवा नाट्यशास्त्र के लिए उनके पास धैर्य नहीं है। बिरजू महाराज अथवा उदयशंकर बनने के लिए वे तपस्या नहीं करना चाहते। वे कला के सच्चे पुजारी नहीं होते, वे तो कलाकार होने का 'ढोंग' करते हैं।

सौभाग्यवश यह महामारी केवल शहरी क्षेत्रों तक सीमित है।

हम बता चुके हैं कि यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि एक ही समाज में एक ही कालावधि में विकास के विभिन्न स्तर होते हैं।

हाल ही में सार्वजनिक नेता परिगणित वनवासी जनजातियों की ओर अधिक ध्यान दे रहे हैं। उनके ध्यान में यह बात आई है कि विभिन्न प्रदेशों की हमारी वनवासी जनजातियों ने नृत्य तथा संगीत की अपनी अनोखी शैलियों का विकास किया है। इन सभी शैलियों के नाम गिनाना तो असंभव होगा।

हर जनजाति की लोकनृत्य की अपनी शैलियां तथा जनजाति से इतर ग्रामीणों की शैलियां होती हैं। दोनों प्रकार के लोकनृत्यों की शैलियां होती हैं। ऐसे लोकनृत्य भी होते हैं जो दैनिक-जीवन, रीति-रिवाजों और आस्था-पद्धतियों के प्रसंगों को प्रस्तुत करते हैं। उन्हें सामाजिक उत्सवों पर यथा विवाह, शिशु-जन्म, कृषि-कार्यों, ऋतु-परिवर्तनों, मेलों, त्योहारों अथवा धार्मिक पर्वों पर प्रस्तुत किया जाता है। सभी लोकनृत्यों के साथ समुचित संगीत होता है यथा कबूतर नृत्य, पतंग नृत्य, कुंभ नृत्य, तश्तरी नृत्य तथा सर्प नृत्य में प्रयुक्त संगीत। हर जनजाति की अपनी अलग शैलियां होती है। गोंड के लोगों की 'झूमर', 'सैला', 'रिना' शैलियां हैं और 'कर्मा' तथा 'चैत्र' उत्सव के नृत्य। हर प्रान्त के भी अपने अनोखे नृत्य होते हैं, यथा, राजस्थान में सिद्ध जाटों का 'अग्नि-नृत्य' 'काभी घोडी' 'गीदर', कमार जनजाति का 'तेरा ताली', गरसिया जनजाति का 'वलार' भीलों का 'ढोली', 'गौरी' और घूमर मीना जनजाति का 'चेर', 'रैका', 'झोरिया' आदि। विभिन्न राज्यों के कुछ नृत्यों का यथा गुजरात के 'गर्बा' और पंजाब के 'भांगड़ा' का अधिक प्रचार-प्रसार हुआ है। लेकिन उसका यह अर्थ नहीं है कि इन राज्यों में अन्य शैलियां नहीं हैं। कर्नाटक के 'यक्षगण' तथा तमिलनाडु के 'थेरुक्चुट्ट' नुक्कड़ नाटक सुविख्यात हैं। लेकिन अन्य राज्य भी नुक्कड़ नाटकों की अपनी शैलियों का बखान कर सकते हैं।

वास्तव में समग्रतः यह एक अति मनोहारी बहुरंगी सतरंगी दृश्य है।

लेकिन यह नितांत स्पष्ट है कि कहां गांवों तथा मुफस्सिल कस्बों के नुक्कड़ और कहां महानगरों के भव्य थियेटर? यह एक बड़ी लम्बी छलांग है। इन दो ध्रुवों के बीच अनेक स्तर तथा चरण हैं।

प्रश्न उठता है कि देहाती स्तर पर पसीना बहाने वाले इन सभी कलाकारों को गर्वोन्नत ग्रीवा वाले हमारे विद्वान, जो इस क्षेत्र के मान्यता प्राप्त आकलनकर्ता हैं, क्या स्थान देंगे? हमारी परम्परागत कसौटी इन आकलनकर्ताओं की कसौटी से भिन्न थी। इन लोगों की आंखें तो आडम्बरपूर्ण तड़क-भड़क की चकाचौंध से चौंधिया गयी हैं। पहले तो कसौटी यह थी कि उन्हीं 'कलाकारों' को 'श्रेष्ठ वर्ग' में स्थान दिया जाए जिन्होंने सच्ची लगन से घोर 'साधना' की हो। आज इन सच्चे कलाकारों की स्थिति क्या होगी?

अभिप्रेरणा

हिन्दू कला के क्षेत्र में पश्चिमीकरण का सबसे बड़ा दुष्परिणाम यह हुआ है कि कलाकारों, कलाप्रेमियों तथा कलाप्रबंधकों की अभिप्रेरणा में घोर अथवा मूलभूत क्रान्तिकारी परिवर्तन आ गया है।

सभी हिन्दू-कला-विधाओं की उत्पत्ति अद्वैत परमसत्ता की अनुभूति से हुई है। उसी के प्रति वे समर्पित हैं और वही उनका परम लक्ष्य है। यह तथ्य उसे विशिष्टता प्रदान करता है। अजन्ता के बारे में विल डूरण्ट का यह विचार समूची हिन्दू कलाओं के सामान्य स्वरूप को दर्शाता है, "यहां अजन्ता में धर्म के प्रति निष्ठा वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकारी के कण-कण में समा गयी है और उनका सुखद संगम हुआ है और इस प्रकार हिन्दू कला के अति उत्तम स्मारक का जन्म हुआ है।" पुनश्च, "शिव स्वयं नृत्य के देव हैं और शिव-नृत्य संसार की समूची गतिविधि अथवा प्रत्येक गतिशीलता का प्रतीक हैं। न्यूयार्क की नाट्य दीर्घा में नृत्य प्रस्तुत करने वाले, व्यवसायी वृत्ति वाले नर्तक को यह जानकर आश्चर्य होगा कि उसके पूर्ववर्तियों के नाट्य में नृत्य, नाटक तथा संगीत तीनों का संगम होता था। यह नाट्य 'मोक्ष'— प्राप्ति की परमानन्ददायी प्रेरणा से प्रभावित था। अतीत काल में सच्चे समर्पित कलाकारों का एकमात्र लक्ष्य यही था कि वे पूर्ण एकाग्रता से संपूर्ण जीवन भर कला की 'साधना' करते रहें। एक सच्चा कलाकार अपने निजी कलात्मक व्यक्तित्व से कहीं ऊंचे लक्ष्य का माध्यम और साधन होता है। वह कलाकार अपनी गहन साधना में निवास करता है और अपने आंतरिक तथा बाह्य निरीक्षण, प्रेक्षण तथा अनुभव की त्रिवेणी के संगम से एक नये संसार की सृष्टि करता है। चरमोत्कर्ष की स्थिति के विषय में ध्यान देने योग्य बात यह है कि अपने अंतिम दिनों में मिल्टन प्रतिदिन पचास और विर्जिल केवल नौ पंक्तियां लिख पाए थे। 'सावित्री' एक बार नहीं बारह बार लिखी गयी। कष्ट और चुनौतियां उसके तप में निखार कर चरमोत्कर्ष लाती हैं। जब बीथोवेन बहरे तथा मिल्टन अंधे हो गये तभी हमें उन्होंने अपनी सर्वोत्तम कला-कृतियां दीं। जब विरह की पीड़ा अपनी पराकाष्ठा पर पहुंची तभी मीरा के हृदय से अति रोमांचकारी भजनों के निर्झर फूटे। मृत्यु की काली छाया में जान बुनयान नेअपनी 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस', सावरकर ने अपनी 'कमला' और रामप्रसाद बिस्मिल ने अपनी 'सरफरोसी' की तमन्ना पूरी की। ऐसी तपस्या तो केवल कोई साचक 'साधक' ही कर सकता है। जब एक गर्वोक्त ड्यूक की पत्नी ने लियानार्डो द विन्सी से पूछा कि उनकी श्रेष्ठ कृति को पूरा करने में उन्हें कितना समय लगा तो उनका उत्तर था 'इकसठ वर्ष, मदाम'। जब माइकल एंजेलो से उनके अपने चित्रों में बार-बार परिवर्तन करने के संबंध में उसकी निरर्थकता उन्हें बतायी गयी तब उन्होंने झुंझलाकर कहा, "इन परिवर्तनों में से प्रत्येक साधारण हो सकता है या व्यर्थ लग सकता है लेकिन जब इन सभी साधारण परिवर्तनों का एक साथ संगम होता है तब वे साधारण या निरर्थक न रहकर एक महत्त्वपूर्ण असाधारण कृति का निर्माण कर देते हैं।"

आदर्श स्थिति में कला और कलाकार एकाकार हो जाते हैं। डब्ल्यू० बी० यीट्स पूछते हैं, 'नृत्य से हम नर्तक की पहचान कैसे कर सकते हैं?' इलियट तो इससे भी परे चले जाते हैं.... और वहां केवल नृत्य रह जाता है।' केवल इस एक मात्र गुण के कारण ही समर्पित कलाकार सम्मानजनक श्रेणी में स्थान पा जाते हैं। 'साधना' को व्यवसायीकरण से अलग रखना चाहिए और एक सच्चे कलाकार

को कला के व्यापार से अपने-आपको अवश्य दूर रखना चाहिए।

दुर्भाग्यवश कला के क्षेत्र में भी व्यवसायीकरण के स्वार्थ जैसी उपयोगितावाद की अवधारणा ने अपना आधिपत्य जमा लिया है।

अब यह वृत्ति सी हो गयी है कि कला के सौंदर्य पक्ष की उपेक्षा करके कला के वाणिज्यिक पक्ष को अत्यधिक महत्त्व दिया जाए। मंच की साज-सज्जा एवं सहयोगी कलाकारों को देने के लिए यथेष्ट धन-स्रोत, प्रचार एवं व्यक्तित्व की प्रशंसा के लिए संचार या प्रचार माध्यमों से उचित सम्पर्क, कलाकारों के लिए पर्याप्त वित्तीय संसाधनों की व्यवस्था करने आदि के लिए सरकारी संरक्षण प्राप्त करने के प्रयास और उनमें प्रवेश, छवि-निर्माण आज कला की 'साधना' से अधिक महत्त्वपूर्ण बन गए हैं। आजकल सही अर्थों में 'साधना' के पुजारी कला-छात्र अपवादस्वरूप ही हैं जो कला के मूल तत्वों को ग्रहण करने के लिए संघर्ष करते हैं और अपनी ज्ञान वृद्धि एवं स्वयं की परिपूर्णता के लिए ज्ञान-प्राप्ति की उत्कट इच्छा रखते हैं। अतीत में छात्रगण समर्पित आचार्यों गुरुओं के चरणों में बैठकर गहन प्रशिक्षण प्राप्त करते थे। आज के कला-संस्थानों के लिए पुरातन आचार्यों के आदर्शों पर चलना उनके अपने अस्तित्व के लिए भी कठिन बन जाएगा। पुनश्च, आज ऐसे गुरुओं की मांग भी नहीं है क्योंकि हर किशोर इस हड़बड़ी में हैं कि जितनी जल्दी हो सके रेडियो या दूरदर्शन में घुस जाए।

कला संवर्धन में जुटे कला-संगठन मनोरंजन पक्ष की अधिक चिन्ता करते हैं। श्रोता या दर्शक भी न तो गंभीर होते हैं और न ही उनमें कला-पारखी होने वाली गहन उत्सुकता ही कहीं दिखायी देती है। कला प्रेमियों (कला मर्मज्ञ) के पास परिष्कृत मूल्यांकन एवं सराहना के लिए आवश्यक अवकाश के क्षण या धैर्य का पूर्णतया अभाव है। औद्योगिक सभ्यता के इस युग में कला के क्षेत्र में जुटे लोगों के पास समय का अकाल है और कला को चाहिये मन की स्थिरता, शांति और मानसिक तथा शारीरिक ऊर्जा का भंडार। किन्तु आज तो धन और यश की लोलुपता अति प्रबल है। इसी से प्रचार माध्यमों, विज्ञापन-एजेंसियों का महत्त्व बढ़ गया है। कला-प्रबंधकों का बोलबाला है। वे छल-बल-कौशल से कलाकारों तथा कलाप्रेमियों को बड़ी चतुरायी से मूर्ख बना रहे हैं।

अतः वाणिज्यिक कला सच्ची कला को धकेलते हुए आगे बढ़ रही है। हम तेजी से अति सामान्य के विनाशकारी गड्ढे की ओर बढ़ रहे हैं। यदि तुरंत इस वृत्ति पर अंकुश नहीं लगाया गया तो कला के क्षेत्र में हम रसातल में चले जायेंगे।

प्रत्यक्षतः यह असंभव कार्य है। इसे संभव तभी बनाया जा सकता है जब हिन्दुत्व की मूल भावना की पुनः प्रतिष्ठा की जाए। यही 'संस्कार भारती' का ध्येय है।

और इसी के लिए उसे मूल से प्रारंभ करना है।

वस्तुतः कला है क्या ?

पुनश्च हरि ओऽम् !

(हिन्दु कला दृष्टि की प्रस्तावना)

* * * * *

देहली-दीपक

आपात्-स्थिति
असाधारण स्थिति है ।
किन्तु
उसका निर्माण
साधारण कारणों से
हो सकता है ।
और,
उसको समाप्त करने के लिए
असाधारण संघर्ष की
आवश्यकता हुआ करती है ।
असाधारण धैर्य-शौर्य से युक्त
असाधारण संघर्ष !
ऐसे ही एक संघर्ष की गाथा
यहां प्रस्तुत की जा रही है ।
स्वतंत्रता और लोकतंत्र के
सभी उपासकों के लिए
यह संघर्ष-गाथा
देहली पर रखे हुए
दीपक का काम करेगी ।

इसके प्रकाश में
वे देख सकेंगे
भूतकालीन प्रेरणादायक घटनाएं
और
भविष्यकालीन निरापद मार्ग ।
क्योंकि
तानाशाही एक प्रवृत्ति है,
उतनी ही मानव-स्वभाव-सुलभ
जितनी की
स्वतंत्रता की दुर्दम्य इच्छा ।
दोनों मानव-स्वभाव-सुलभ हैं,
इसलिए
दोनों सार्वदेशीय हैं, सार्वकालिक हैं ।
इस कारण
इस संघर्ष-गाथा का महत्त्व भी
सार्वदेशीय है, सार्वकालिक है ।
क्योंकि कहा ही गया है—
"निरंतर सतर्कता
स्वतंत्रता का मूल्य है ।"

आपात्‌कालीन संघर्ष के विषय में पर्याप्त साहित्य प्रकाशित हो चुका है, किन्तु इस संघर्ष का समग्र, प्रमाणबद्ध तथा अधिकृत इतिहास अब तक जनता के सामने नहीं आ सका। इसके कुछ कारण भी हैं।

अब तक प्रकाशित साहित्य का दो श्रेणियों में वर्गीकरण किया जा सकता है: एक आत्मनिवेदन-परक और दूसरा वस्तुनिष्ठ। आत्मनिवेदनपरक साहित्य की सीमाएं समझ में आ सकती हैं। आत्मनिवेदन के द्वारा समग्र इतिहास संकलित होने की दृष्टि से यह आवश्यक है कि इस अभियान में सिपाही या संचालक के नाते काम किए हुए सभी व्यक्तियों का आत्मनिवेदन प्रकाशित हो। यह अब तक हुआ नहीं और आगे भी होने की सम्भावना नहीं।

आपात्‌स्थिति हटने के पश्चात् संघर्ष के विषय में वस्तुनिष्ठ साहित्य भी प्रचुर मात्रा में प्रकाशित हुआ है। किन्तु इन लेखकों के सम्मुख एक दुविधा थी। इस कालखण्ड में क्या-क्या हुआ, इसकी तीव्र जिज्ञासा जनमानस में थी और इस जिज्ञासा की पूर्ति करने वाले लेख या पुस्तकें शीघ्रातिशीघ्र बाजार में आना व्यावसायिक दृष्टि से आवश्यक था; किन्तु इतनी शीघ्रता से, प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित सभी तथ्य, आंकड़े तथा जानकारी प्राप्त करना किसी के लिए भी सम्भव नहीं था क्योंकि इस कालखण्ड की महत्त्वपूर्ण कार्यवाहियों की तैयारी भूमिगत लोगों ने ही की थी। सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त करके लेखन किया गया होता तो जन-जिज्ञासा तथा वाणिज्यीय दृष्टि से प्रकाशन-कार्य में अक्षम्य विलम्ब हो जाता। अतः जिस लेखक के पास लेखनकाल में जितनी जानकारी उपलब्ध थी, उसी का उपयोग उसने किया। यह उचित ही रहा। किन्तु इस प्रक्रिया के कारण वस्तुनिष्ठ साहित्य के माध्यम से भी अब तक संघर्ष का समग्र इतिहास संकलित नहीं हो सका।

इस तरह के संघर्ष का इतिहास कैसे लिखा जाए, यह भी एक समस्या है। भूमिगत जीवन का तथा कार्य का कितना हिस्सा प्रकाशित किया जाए और कितना अप्रकाशित ही रखा जाए यह तारतम्य का विषय है। एक बार स्वातंत्र्यवीर सावरकर जी से पूछा गया कि फ्रांस के किनारे के पास समुद्र में कूदने का पराक्रम करते समय उन्होंने किस तरकीब का सहारा लिया था? सावरकर जी ने कहा, 'इस प्रश्न का उत्तर देने से लाभ क्या होगा? क्या आपमें से कोई इस जानकारी से प्रेरणा लेकर कुछ प्रत्यक्ष कार्य करने वाला है?' और दूसरी बात, इसका क्या भरोसा है कि दूसरे किसी क्रांतिकारी को उसी तरकीब का उपयोग करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी? यह भी सोचने का एक पहलू हो सकता है, यद्यपि यह सही है कि परिस्थितियों में अन्तर है और निकट भविष्य में आपात्‌स्थिति की पुनरावृत्ति नहीं होगी, ऐसा प्रतीत होता है।

इस तरह का इतिहास कैसे लिखा जाए, इसका प्रमाणित नमूना (Model) भी उपलब्ध नहीं है। भारत के क्रांतिकारियों की पहली पीढ़ी को प्रेरणा प्राप्त हुई थी अपने ऐतिहासिक महापुरुषों से तथा विदेशियों में से, प्रमुख रूप से जोसेफ मैजिनी से। मैजिनी का जीवनवृत्त उपलब्ध है। लेनिन, स्टालिन

आदि भूमिगत कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं का भी जीवनवृत्त प्रकाशित हुआ है। भारतीय क्रांतिकारियों के जीवन पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इस तरह के साहित्य से यह स्पष्ट होता है कि भूमिगत कार्यकर्ताओं द्वारा किए गए कार्य तथा उनकी उपलब्धियों को प्रसिद्ध करना तो सरल है, किन्तु स्वदेश में भूमिगत जीवन कैसे बिताया गया, उसमें किस-किस की सहायता किस तरह हुई, भूमिगत अवस्था में पारस्परिक सूचना-सम्पर्क (Line of Communication) किस तरह रखा गया आदि बातों का अधिकृत विवरण करना प्रायः खतरे से खाली नहीं माना जाता। यह सन्तुलन कायम रखते हुए इतिहास लिखना बड़ा कठिन कार्य है। हमारे लिए यह हर्ष की बात है कि प्रस्तुत कृति में इस तरह का संतुलन भी रखा गया है और देने योग्य अधिकतम जानकारी देने का प्रयास भी किया गया है। अब तक प्रकाशित साहित्य में समयाभाव के कारण कितनी अपूर्णताएं आ गयीं, यह समझना कठिन नहीं है;— उदाहरण के लिए, भारतीय लोकदल के सैकड़ों लोगों द्वारा उत्तर प्रदेश में श्रीमती गायत्री देवी के नेतृत्व में किया हुआ एक दिन का सांकेतिक सत्याग्रह, पूर्वी उत्तर प्रदेश में 'जय गुरुदेव' सम्प्रदाय के लोगों द्वारा किया हुआ सत्याग्रह, सर्वोदयवादी कार्यकर्ताओं द्वारा प्रारम्भिक स्थिति की द्विधामनःस्थिति का मुकाबला करते हुए निश्चय के साथ किया हुआ कार्य; विरोधी दलों के सदस्यों द्वारा संसद का उपयोग करते हुए किया हुआ जन-जागरण; महाराष्ट्र के कंधार क्षेत्र में 'शेतकारी कामकरी पक्ष' द्वारा किया हुआ अभियान; श्रमिक क्षेत्र में भारतीय मजदूर संघ तथा सी. पी. एम. की सी. आई. टी. यू. द्वारा संघर्ष को दिया हुआ योगदान; वी. एम. तारकुण्डे के नेतृत्व में मानव अधिकार तथा नागरिक स्वतंत्रता की रक्षा के लिए निर्मित संस्था द्वारा हुआ कार्य; महिलाओं के क्षेत्र में 'राष्ट्र सेविका समिति' द्वारा प्रदत्त सहयोग; विद्यार्थी क्षेत्र में विद्यार्थी परिषद् द्वारा दिया गया नेतृत्व तथा दिशा-निर्देशन; 'आचार्य-सम्मेलन' का विवरण तथा उस उपक्रम का तात्कालिक परिस्थितियों पर हुआ परिणाम; वकीलों, शिक्षाशास्त्रियों, भूतपूर्व न्यायाधीशों तथा साहित्यसेवियों आदि के प्रयत्न; कामनवेल्थ कान्फ्रेंस के समय प्रतिनिधि को भारत की परिस्थिति से अवगत कराने हेतु किए गए प्रयास; डी. एम. के. सरकार का अप्रत्यक्ष सहयोग; गुजरात की गैर-कांग्रेसी सरकार का प्रत्यक्ष सहयोग; संघर्षकाल में जम्मू-कश्मीर के शासकों की मनोवृत्ति; जेलों में बन्दियों का हौसला बढ़ाने की दृष्टि से किए गए उपक्रम; पीड़ित परिवारों की सहायता करने की पद्धतियां; निर्वाचन की घोषणा से पूर्व जनता पार्टी की स्थापना के लिए किए गए प्रयास, आदि कितने ही पहलू महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अब तक अस्पष्ट हैं, यहां तक कि लोक संघर्ष समिति के कार्य का सूत्रबद्ध इतिहास भी अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है। संघर्ष में किसी भी अखिल भारतीय दल की तुलना में जिस प्रादेशिक दल का योगदान अधिक शानदार रहा, उस अकाली दल को भी नव साहित्य में उचित स्थान प्राप्त नहीं हो सका। यह सम्पूर्ण संघर्ष जिस संगठन के आधार पर हो सका उस 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' के योगदान का विवरण भी उपलब्ध नहीं हैं।

: २ :

संघर्ष का सच्चा तथा सम्पूर्ण इतिहास लिखना संभव है क्या ?

सितंबर,१९७६ में संयुक्त राष्ट्र महासंघ में अनियमित गिरफ्तारियों तथा अमानवीय यातनाओं के निषेध में पारित प्रस्ताव का समर्थन करने वाली भारत सरकार के पुलिसराज में सरकारी प्रोत्साहन पर किए गए क्रूर अत्याचारों-यातनाओं (Torture) का शिकार बने हुए दस हजार से अधिक निरपराध अहिंसक जीव, जेलों में या जेल जीवन के कारण पांडुरंगपंत क्षीरसागर या मोरुभैय्या गद्रे के समान हुतात्मा हुए सैकड़ों देशभक्त; लगभग २५ हजार मीसा के कारण और लगभग एक लाख स्वयं अपनी इच्छा से कारागारों का मार्ग चलने वाले-ऐसे मिलाकर कुल सवा लाख वीरव्रती; अहिंसा को जीवनश्रद्धा मानने वाले हजारों भूमिगत क्रांतिकारी; परिवारों के कर्तापुरुष कारावास में जाने के कारण असहाय और बर्बाद हुए हजारों परिवार; नसबन्दी अभियान से पीड़ित अगणित लोग; नगर-सौंदर्य तथा विकास-योजनाओं के नाम पर गिरायी गयी झोंपड़ियों के कितने ही निवासी; चुनाव की घोषणा के पश्चात् भी जेलों में रखे गए संघ, जनसंघ के १५ हजार कार्यकर्ता; सरकार की जनताविरोधी नीति के कारण भुखमरी, बेरोजगारी और मूल्यवृद्धि के फलस्वरूप व्याधियां, अपंगता तथा अकाल-मृत्यु प्राप्त करने वाले गरीब लोग,— इन असंख्य लोगों में से हर एक का व्यक्तिगत रूप से नामनिर्देश करना किस इतिहासकार के लिए संभव होगा ?

जिन घटनाओं का अति संक्षिप्त उल्लेख करना संभव हो सकता है, उनका भी पूरा विवरण प्रस्तुत करना औचित्यपूर्ण होते हुए भी स्थलाभावादि सीमाओं के कारण व्यवहार्य होगा क्या ? केवल उदाहरण की दृष्टि से आपात्काल-पूर्व कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं की बात लीजिए :

'मार्शल मानसून' की अवकृपा के राजनीतिक क्षेत्र पर हुए विविध परिणाम; देशी-विदेशी पूंजीपतियों के प्रभाव के कारण भारत सरकार द्वारा जानबूझ कर अपनायी गयी गलत नीतियां; गुजरात और बिहार के छात्र आन्दोलन, गुजरात में निर्वाचन के लिए मोरारजी भाई का आमरण अनशन; लोकनायक जयप्रकाश जी को सक्रिय राजनीति में लाने का विद्यार्थी परिषद् नेता रामबहादुर राय और गोविन्दाचार्य का सफल प्रयत्न; आने वाली घटनाओं के बारे में न्यायमूर्ति कोका सुब्बाराव, न्यायमूर्ति एच. आर. खन्ना, के. संतानम्, आचार्य कृपलानी, बालासाहब देवरस, नानी पालखीवाला की दी हुई चेतावनियां; नवनिर्मित परिस्थितियों में संसदीय कार्यवाही की व्यर्थता स्पष्ट करने वाला अटलबिहारी वाजपेयी का वक्तव्य; श्रीमती इंदिरा गांधी के प्रति निष्ठाप्रदर्शक प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करना अस्वीकार करने वाले कृष्णकांत तथा चन्द्रशेखर की भूमिका; इलाहाबाद उच्च न्यायालय के पास पहुंचने वाले राजनारायण और १२ जून, १९७५ को अपना ऐतिहासिक निर्णय देने वाले न्यायमूर्ति जगमोहन लाल सिन्हा पर पर्दे के पीछे से आए हुए अनुचित दबाव; प्रमुख विपक्षियों तथा संभाव्य विपक्षियों पर हुए शारीरिक आक्रमण; राजनीति का अपराधीकरण; सभी राज्यों के पुलिस दलों से केन्द्रीय पुलिस दल को अधिक बलवान बनाने का प्रयास; इस कालावधि में 'रॉ' तथा 'के.जी.बी' की गतिविधियां; न्यायपालिका, संसद (संविधान) तथा प्रेस को प्रतिबद्ध (Committed) बनाने के लिए भय तथा प्रलोभन के प्रयोग; और सबसे महत्त्वपूर्ण बात श्रीमती इंदिराजी का सही मनोविश्लेषण करना विपक्षियों तथा कांग्रेसियों के लिए भी संभव न हो, इस दृष्टि से बरती गयी सावधानियां ।

इन सब का पूरा विवरण स्थल-मूल्य सीमा के अंतर्गत असंभव है।

प्रत्यक्ष संघर्ष की तो बात ही अलग है। वह परिमाण (proportion) की दृष्टि से अति विशाल तथा बहुआयामी रहा। इसका पाल (canvas) देश-विदेशव्यापी रहा। उसका विवरण सर्वसमापवेशक हो तथा संबंधित हर एक पक्ष और व्यक्ति को न्याय देने वाला हो, यही उचित और अपेक्षित है। कितने लोगों को तथा आयामों को न्याय देना इस दृष्टि से आवश्यक है ? इस कालखण्ड में दिन-प्रतिदिन परिवर्तित होने वाली हर एक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामरिक सूक्ष्मताएं; प्रत्येक नयी व्यूहरचना या कूटप्रबंध बनाते समय सरकारी खेमे में हुई साधक-बाधक चर्चाएं; नवनवीन परिस्थितियों की स्वदेशी तथा विदेशी जन-मानस में होने वाली परिवर्तनशील प्रतिक्रियाएं; दैनंदिन घटनाओं के कारण नित्य बदलते जाने वाला स्व-पर-बलाबल; इन सब का बारीकी से निरीक्षण करते हुए नवनवीन संघर्ष-योजनाएं बनाने हेतु संघर्षकारियों की चलायी हुई अविरत मंत्रणाएं; संघर्ष के शिविर में सम्मिलित विभिन्न पक्षों और व्यक्तियों की एक ही घटना या योजना के विषय में विभिन्न प्रेरक प्रवृत्तियों के कारण विभिन्न आन्तरिक प्रतिक्रियाएं; दोनों ओर की अखण्ड परिवर्तन योग्य साधन-संस्थाओं की रचनाएं; इन सबके प्रकाश में चलाया गया बहुआयामी सतत संघर्ष; उसमें सहभागी होने वाले असंख्य लोगों की मनोवैज्ञानिक एवं भौतिक अवस्थाएं; केवल विविध घटनाएं ही नहीं अपितु उनका तर्कशुद्ध अन्वयार्थ, इन सब पहलुओं को लेकर जो विवरण होगा, वही सर्वंकष तथा न्यायपूर्ण माना जाएगा। इस तरह का विवरण करने की क्षमता लेखकों में हो तो भी इस प्रकार के महाभारत-तुल्य महाग्रंथ का प्रकाशन उपरिनिर्दिष्ट सीमाओं के कारण व्यवहार्य हो सकता है क्या ?

आपात्कालीन संघर्ष में समूहगत कार्य-कलाप बहुत रहे।विविध समूह और उनमें से हर एक के विविध स्वरूप के कार्य। इनके अलावा व्यक्तिगत स्तर पर इतने लोगों ने महत्त्वपूर्ण काम किए कि उनकी यथाक्रम गणना करना बहुत कष्टसाध्य होगा।

आपात्काल में कौरव दल की सामूहिक व्यूह-रचना के अतिरिक्त उनके रथी-महारथियों के किए हुए पराक्रमों को 'मास-मीडिया' ने अति प्रकाशित किया था। वह स्थिति दूसरे पक्ष की नहीं थी।

हजारों भूमिगत कार्यकर्ताओं का तथा सत्याग्रहियों का सहभाग शानदार था ही। किन्तु संगठित, सामूहिक प्रयासों के अतिरिक्त व्यक्तिगत स्तर पर किए हुए प्रयास भी परिणामकारक थे। ऐसे व्यक्तियों की, उनके प्रयासों की संख्या बहुत अधिक थी। उनका सबका उल्लेख करना भी कठिन कार्य है, केवल नमूने के लिए कुछ व्यक्तियों तथा प्रयासों का अस्पष्ट निर्देश किया जा रहा है।

मोरारजी भाई और नानाजी देशमुख की गिरफ्तारी के पश्चात् लोकसंघर्ष समिति के द्वितीय मंत्री के नाते रवींद्र वर्मा ने तथा द्वितीय अध्यक्ष के नाते एस. एम. जोशी का किया हुआ कार्य और उनके व्यक्तिगत सचिव भोगीभाई की सेवाएं बहुत महत्त्वपूर्ण रहीं। नानासाहेब गोरे का किया हुआ प्रकट जन-जागरण और कर्पूरी ठाकुर तथा लोकनाथ जोशी का किया हुआ भूमिगत जन-जागरण, वैसे ही

दिग्विजय नारायण सिंह, सुरेन्द्र मोहन, मोहन धारिया तथा इरा चेजियन के प्रकट-अप्रकट प्रयास अपने-अपने स्तरों पर महत्त्वपूर्ण रहे। लो. सं. समिति की अहिंसक भूमिका को अमान्यकर जॉर्ज फर्नांडिस ने बड़ौदा काण्ड के समान कुछ प्रयास किए और सी.जी.के.रेड्डी ने उनको साहसपूर्ण सहयोग दिया। केरल के कैथॉलिक चर्च के एम. एम. थॉमस ने आपात्स्थिति विरोधी जन-शिक्षा का काम किया।

श्रीमती दुर्गा भागवत या गौरीकिशोर घोष के समान साहित्यिक तथा बुद्धिमंत सखारोव का स्मरण दिलाते थे।

रामशास्त्री प्रभुणे की परम्परा चलाने वाले निर्भय, निःस्पृह न्यायमूर्तिगण—जगमोहन लाल सिन्हा, एच. आर. खन्ना, वी. डी. तुलजापुरकर, गोविन्द भट्ट, आर. पी. भट्ट, यू. आर. ललित, वी, आर. कृष्ण अय्यर, डी. पी. मदान, एम. एच. केनिया, वैसे ही उच्च न्यायालयों के 'दंड प्राप्त' ३५ न्यायाधीश जिनमें शामिल थे, 'भूमिपुत्र' केस के सेठ, कुलदीप नैयर केस के रंगराजन तथा आर. एन. अग्रवाल और बंगलौर के चन्द्रशेखर, सदानंद स्वामी। इन सब की भूमिका बहुत गौरवास्पद रही।

समिति के आदेश पर समय-समय पर अनशन करने वाले लोगों के आत्मक्लेशों के अलावा वर्धा के निकट ग्राम में दि. १४.१०.७६ को सर्वोदयी प्रभाकर शर्मा का किया हुआ आत्मदाह सबकी नींद उड़ाने वाला था।

उस घुटन वाली स्थिति में भी कुछ सांसदों ने लोकतंत्र की आवाज संसद में उठायी। अच्युतराव पटवर्धन तथा अशोक मेहता का मार्गदर्शन परिपक्व रहा।

प्रधानमंत्री को कितने ही विचारकों ने पत्र लिखे— जैसे लोकनायक जयप्रकाश नारायण, श्री बालासाहब देवरस, श्रीमती कृष्णाबाई निंबकर, पेजावर मठ के विश्वेशतीर्थ स्वामी जी, मधु लिमये आदि। डा. वसंतराव वर्खेडकर का दि. ९.१२.७६ को राष्ट्रसंघ के डा. कुर्ट वाल्डहैम को भेजा हुआ तर्कशुद्ध पत्र प्रभावी रहा।

सर्वोदय के नेताओं का योगदान अपने ढंग का रहा। उनमें प्रमुख थे, तथाकथित 'अनुशासन पर्व' को 'आतंकपर्व' घोषित करने वाले आचार्य दादा धर्माधिकारी, सर्वसेवासंघ के प्रमुख रा. कृ. पाटिल, सिद्धराज ढड्ढा, आचार्य राममूर्ति, जयप्रकाश जी के सचिव सच्चिदानंद और मित्र रमाकांत पांडेय और इनके साथ तथा आचार्य विनोबा जी के साथ संपर्क रखने वाली पद्मश्री कमला ताई हॉस्पेट।

सुब्रह्मण्यम स्वामी और मकरंद देसाई का विदेशों में किया हुआ कार्य सर्वपरिचित है। श्रीमती लैला फर्नांडिस, श्रीमती रक्षणा स्वामी और श्रीमती अंजली पंड्या का विदेश-कार्य सराहनीय रहा। श्रीमती नयनतारा सहगल तथा रजनी कोठारी ने अमरीका में सहायक कार्य किया। दि. २९ जून, १९७६ को जेठमलानी द्वारा 'कांग्रेशनल कमिटी ऑफ ह्यूमन राइट्स ऑफ अमेरिका' के सामने दी

गयी गवाही सनसनीखेज सिद्ध हुई। बी.बी.सी.के उद्घोषक रत्नाकर भारती,'वाइस ऑफ अमेरिका', उपयुक्त संयुक्त वक्तव्य जारी करने वाले अमरीका के विविध क्षेत्रों के ८० नेताओं के समान प्रकट सहानुभूति रखने वाले विदेशी मित्र,इन सबकी भूमिका संघर्ष के लिए पोषक रही।

इधर देश में संघर्ष को प्राथमिकता देकर ओमप्रकाश त्यागी ने आर्यसमाज का सार्वदेशिक महामंत्री पद छोड़ दिया। विदेशी सांसदों को ठीक जानकारी पहुंचाने का काम दिल्ली के बाहर कच्छ मांडवी के विधायक सुरेश मेहता और बंगलौर के मुल्लूर आननंदराव ने किया। पी.यू.सी.एल.के वी.एम. तारकुंडे ने सी.एफ.डी.के कार्यकर्ताओं को साथ लेकर नागरी स्वातंत्र्य का बिगुल बजाया।

ज्योतिर्मय बसु,मधु दंडवते,समर गुहा,रवि रे प्रभृति जेलों में बंद ७ दलों के ३३ सांसदों की दृढ़ता प्रेरणादायक रही।

शांतिभूषण,वेणुगोपाल,राम जोइस और संतोष हेगडे ने विधिज्ञों का मनोबल बढ़ाया।

चौथी इस्टेट का सहयोग प्रशंसनीय रहा— अ. भा. संपादक सम्मेलन तथा इंडियन एण्ड ईस्टर्न न्यूजपेपर्स एसोसिएशन के कुछ निर्भय सदस्य; प्रतिबंधित रखे गए पत्र-पत्रिकाओं के संपादक,जिनके विज्ञापन पूरे आपात्काल के समय तक या बीच-बीच में रोके गए ऐसे *'स्टेट्समैन'* तथा रामनाथ गोयनका का 'एक्सप्रेस' पत्र-समूह,इनकी श्रेणी के पत्र-पत्रिकाओं के संबंधित लोग,प्रेस परिषद् तथा समचार-समितियों के संबंधित लोग। उल्लेखनीय व्यक्तियों का नाम-निर्देश कहां तक किया जाए। *'आर्गनाइजर'* के के. आर. मलकानी, *'मेनस्ट्रीम'* के निखिल चक्रवर्ती, *'साधना'* के विष्णुभाई पंड्या *'ओपिनियनट'* के गोरवाला, *'फ्रीडम फर्स्ट'* के मीनू मसानी, *'भूमिपुत्र'* के वैद्य तथा नारायण देसाई, *'पाञ्चजन्य'* के भानुप्रताप शुक्ल तथा यादवराव देशमुख, *'क्वेस्ट'* के वी. वी. जॉन,ए. बी. शाह और शीला सिंह, *'सेमिनार'* के रमेश थापर, *'हिम्मत'* के राजमोहन गांधी, *'शंकर्स वीकली'* के शंकर,केरल में *'जन्मभूमि'*, *'राष्ट्रवार्ता'*, *'केसरी'* के संबंधित लोग, *'आनंदबाजार पत्रिका'* के वरुण सेनगुप्त और निशीथ; *'युगांतर'* के असीम कुमार मित्र, *'कलकत्ता'* मासिक के ज्योतिर्मय दत्त, *'गरीकेट रास्ता'* के राजकृष्ण,बांगला *'पंचायत'* के अजित बसु, *'गोलापबाग'* के प्रणव चटर्जी,बांगला *'कालिकाता'* के निर्भय दत्त, शंभ दीक्षित तथा प्रशांत बसु, कर्नाटक के *'लोकवाणी'*, *'प्रजावाणी'*, *'दिव्यवाणी'*, *'अर्थविकास'*, *'विक्रम'*, *चुनावाणी'* आदि के संपादक, आदि।

इनमें राजनीतिक दलों,जनसंगठनों या प्रकल्पों के प्रमुखों का नामोल्लेख नहीं है। कितने कार्य ! कितने व्यक्ति ! यह तो लघु (मिनी) महाभारत हो गया। विविध रंगों के,विविध गंधों के, अनगिनत पुष्पों का मनोहारी हार। और इन सब पुष्पों को गूंथने वाला,किन्तु बाहर से न दिखने वाला एक समन्वयकारी मजबूत धागा।

आपात्कालीन संघर्ष का सर्वंकष इतिहास लिखना उपरिनिर्दिष्ट व्यावहारिक सीमाओं के कारण

असंभव है। किन्तु यह कठिनाई केवल इसी संघर्ष के विषय में नहीं है। विवेकशील इतिहासकार अपने ग्रंथ को भगवान व्यास के समान 'इतिहास ग्रंथ' संज्ञा देने में संकोच करते हैं। एच.जी. वेल्स (H. G. Wells) ने अपने ग्रंथ को संज्ञा दी— 'The Out-line of History', प्रो. ब्रेस्टेड (Professor Bresated) और प्रो. रॉबिन्सन (Prof. Robinson) ने 'The Human Adventure, हेण्डरिक विल्लेम वैन लून (Hendrik Willem Van Loon), ने 'The Story of Mankind', जॉन मेसी (John Mecy) ने The Story of World's Literature', विल ड्यूरांट (Will Durant) ने 'The Story of Philososphy और पं. जवाहरलाल नेहरू ने 'The Glimpses of World History'।

इस इतिहास के दोनों लेखक भी इतने ही विवेकशील हैं। वे इस 'गाथा' को 'Story' मानते हैं 'History' नहीं।

इतिहास-लेखन केवल लेखन-कार्य नहीं है। इस लेखन में लेखक के व्यक्तित्व का प्रतिबिंब भी पाया जाता है। प्रबुद्ध वाचक इतिहास-ग्रंथ से दोनों बातें समझ लेता है— उसमें ग्रथित इतिहास और उसके लेखक का व्यक्तित्व।

स्थलाभाव, मूल्यनिर्धारण आदि व्यावहारिक सीमाओं का लेखन पर एक प्रकार का प्रभाव पड़ता है, लेखक के व्यक्तित्व का दूसरे प्रकार का। पहली बात का प्रभाव पृष्ठ-संख्या पर, दूसरी बात का लेखन की गुणवत्ता पर।

*　　*　　*　　*

वस्तुनिष्ठ इतिहास-लेखन दुष्कर कार्य है। लेखक स्वयं वस्तुनिष्ट रहा तो उसकी धारणा पर कुछ बातों का प्रभाव होना स्वाभाविक है। लेखनकाल तक उपलब्ध हुई जानकारी; लेखन-समाप्ति तक विभिन्न निहित स्वार्थों का चलाया हुआ आत्मनिष्ठ प्रचार; लेखनकाल में जनसाधारण की मनःस्थिति, दृष्टिकोण, मान्यताएं; लेखक के निकटवर्तियों की सही-गलत मान्यताएं; पूर्वाग्रह, अभिप्राय; वर्ण्य ऐतिहासिक घटना के पश्चात् चले घटनाक्रम का स्वरूप; आदि बातों का परिणाम अनजाने में ही लेखक के मन पर होना मनुष्य स्वभाव-सुलभ है। फिर, किसी भी घटना में नायक या खलनायक की भूमिका निभाने वाले पात्रों के स्वभाव-विशेष सब परिस्थितियों में समान— एक जैसे ही दिखाई देंगे, ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। ऐसे स्वभाव-विशेषों का प्रकटीकरण समरप्रसंग के पूर्व, समरप्रसंग की कालावधि में तथा समर प्रसंग के पश्चात् भिन्न-भिन्न स्वरूप का भी हो सकता है। "**स्वभावो दुरतिक्रम**" यह नियम अलग-अलग व्यक्तियों पर अलग-अलग मात्रा में लागू होता है। तो भी 'दुरतिक्रम' स्वभाव वाले व्यक्ति भी 'आह्वान और प्रतिसाद' (Challenge and Response) के मनोविज्ञान के अनुकूल परिस्थितिजन्य आह्वान का स्वरूप बदलते ही अपने प्रतिक्रियारूप प्रतिसाद का स्वरूप बदल देंगे, यह असंभव नहीं है। वर्ण्य घटना के पूर्व तथा पश्चात् हुए इस तरह के भिन्न-भिन्न

प्रकटीकरणों का प्रभाव लेखक के मन पर वर्ण्य घटना के कालखण्ड का विवरण देते समय होना अस्वाभाविक नहीं है। इन सब प्रभावों से अपने आपको मुक्त रखना वस्तुनिष्ठ लेखक के लिए असंभव नहीं तो भी अति कठिन अवश्य है।

वस्तुनिष्ठताविहीन, पक्षधर लेखकों की बात तो अलग ही श्रेणी की है।

वस्तुनिष्ठ लेखक नयी जानकारी प्राप्त होने के पश्चात् घटनाओं के पूर्व-चिंतित प्रस्तुतीकरण में तथा व्यक्तियों के मूल्यांकन में प्रामाणिक परिवर्तन कर लेता है।पक्षधर लेखक ऐसा नहीं कर सकते।

पूर्व प्रकाशित तथ्य अपूर्ण, पक्षपातपूर्ण या गलत थे, यह ध्यान में आने के पश्चात् भी वे पूर्वग्रह-दोष के कारण अपने ही पहले ही मूल्यांकन पर अड़े हुए रहते हैं। इसके ठीक विपरीत बात भी कभी-कभी दिखाई देती है। कोई नई जानकारी उपलब्ध न होते हुए भी परिस्थितिजन्य बाध्यताओं के दबाव में आकर अपना पूर्व-निश्चित मूल्यांकन बदलने वाले कुछ इतिहासकार हैं। एक जागतिक कीर्ति का इतिहासकार यदि आज किसी ऐतिहासिक पुरुष को "गुमराह देशभक्त' (Misguided Patriot) कहता है और जानकारी का स्तर पूर्ववत रहते हुए ही राजनीतिक बाध्यता के कारण उसी को कुछ वर्ष बाद सुयोग्य मार्गदर्शक महामानव बताता है तो उसके इस प्रस्तुतीकरण को 'वस्तुनिष्ठ' संज्ञा नहीं दी जा सकती। वस्तुनिष्ठ लेखक नई प्राप्त हुई जानकारी की सूचना अवश्य लेता है, विद्यमान परिस्थिति की बाध्यताओं का परिणाम उसके प्रस्तुतीकरण या मूल्यांकन पर नहीं हो सकता।

आखिर इतिहासकार को ही यह तय करना है कि वह अपने इतिहास-लेखन को क्या मानता है ? सत्यान्वेषण की साधना या किसी तात्कालिक स्वार्थ की सिद्धि का सुविधाजनक प्रचार-माध्यम ? पिछले कुछ दशकों में कम्युनिस्ट जगत के इतिहासकारों ने घटनाओं के प्रस्तुतीकरण को तथा व्यक्तियों के मूल्यांकन को जिस ढंग से बार-बार बदल दिया है, वह दूसरी प्रवृत्ति का परिचायक है। किन्तु उस से यह भी दिखता है कि विकृतीकरण के अनेक प्रयासों के बावजूद अन्ततोगत्वा ऐतिहासिक सत्य ही प्रकाश में आता है, उसी की विजय होती है।

इतिहासकार के लिए सबसे पहली महत्त्वपूर्ण बात हो जाती है इतिहास के साधन। ग्रांट डफ तथा उनके मांनस-पुत्रों के प्रचारित किए इतिहास की विकृतियां दूर कर सत्य को प्रकाश में लाने का संकल्प करने के पश्चात् इतिहासाचार्य विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े को अपना सारा जीवन इतिहास के साधन एकत्रित करने में बिताना पड़ा (मराठ्यांच्या इतिहासाची साधने)। बहुचर्चित तथा अतिप्रसिद्धि फ्रेंच राज्यक्रांति के विषय में अब तक भी नए-नए तथ्य प्रकाश में आ रहे हैं, जिनके कारण अब तक सर्वमान्य बने हुए कुछ ऐतिहासिक तथ्यों के विषय में संदेह-निर्माण हो जाता है। भारत-विभाजन तथा स्वराज्य-प्राप्ति से संबंधित नए-नए तथ्य प्रकाशित होना अभी भी जारी है। इतिहास के साधनों की खोज अखण्ड चलने वाली प्रक्रिया है, पूर्णत्व प्राप्त कर सकने वाला कार्य नहीं। इस प्रक्रिया में कभी पूर्ण विराम नहीं हो सकता।

आपात्काल से संबंधित कुछ जानकारी एकत्रित करना तो आसान था लेकिन आपात्काल का समर्थन तथा उसकी सराहना और श्रीमती इंदिरा जी की छवि-निर्माण करने वाला साहित्य प्रकाशित करने में सरकार ने कोई कसर नहीं रखी थी। सरकारी नेताओं का तथा काल्पनिक उपलब्धियों का धुंआंधार प्रचार करने के लिए 'मास-मीडिया' का अनुचित उपयोग किया जा रहा था। कभी-कभी सरकारी वक्तव्यों से विरोधियों की गतिविधियों का भी थोड़ा-बहुत अंदाजा लोग कर सकते थे। देश में समाचार-पत्रों पर 'सेन्सर' था। किन्तु विदेशी समाचार एजेंसियों के कारण, विदेशों में भारत की आंतरिक स्थिति के बारे में समाचार छपते थे। भारत में कार्यरत या भारत के बाहर कार्यरत आपात्काल-विरोधी कार्यकर्ताओं के माध्यम से भी विदेशों में सत्य समाचार पहुंचते रहते थे। बी.बी.सी. की अपनी निजी व्यवस्था थी और उस संपूर्ण अवधि में लोगों की यह राय बनी थी कि भारत की वस्तुस्थिति के विषय में कोई भी सच्ची खबर सबसे पहले और सबसे अधिक अधिकृत बी.बी.सी. से प्राप्त हो सकती है। Friends of India Society-International (F.I.S.I.) के कार्यक्रमों को तो उधर उचित प्रसिद्धि मिलती ही थी, किन्तु उनके माध्यम से विदेशियों को उन बातों का भी पता लगता रहता था, जो भारत सरकार द्वारा देश में दबायी जाती थीं। गुजराती *'साधना'*, *'भूमिपुत्र'*, मराठी 'साधना' तथा अंग्रेजी 'Janata' का प्रकाशन चल रहा था। किन्तु सेन्सर के कारण सर्वोदयी नेताओं के वक्तव्य भी जनता तक नहीं पहुंचते थे। आचार्य विनोबा जी जैसे श्रेष्ठ व्यक्ति के वचनों को भी तोड़-मरोड़ कर प्रकाशित किया जाता था। तो भी अधूरे और विकृत ही क्यों न हो, आचार्य-सम्मेलन की कार्यवाही के थोड़े-बहुत समाचारों को प्रसिद्धि का प्रकाश प्राप्त होता था। उनकी तदनुकूल प्रकट कार्यवाहियों को और एक दल बनाने के लिए हुई बैठकों के विवरण को आकाशवाणी या समाचार-पत्रों में तो स्थान नहीं मिलता था, किन्तु निजी तौर पर उनका वितरण हो सकता था। उमाशंकर जोशी जैसे शिक्षाशास्त्रज्ञ, मावलंकर जैसे संविधान-पंडित, एम. सी. छागला जैसे न्यायशास्त्रज्ञ और विविध बार-एसोसिएशन्स की टिप्पणियों की भी यही बात है। इंटरनेशनल लेबर आर्गनाइजेशन, सोशलिस्ट इंटरनेशनल, अमनेस्टी-इंटरनेशनल, कौंसिल ऑफ वर्ल्ड चर्चेज़, ह्यूमन राइट्स कमेटी आदि अंतरराष्ट्रीय संस्थानों के साथ हुए पत्र-व्यवहार का भी ऐसा ही हाल था। इस तरह के साहित्य के निजी वितरण की व्यवस्था हो सकती थी, किन्तु फिर भी वितरक सरकार की अकृपा के भाजन बनाए जाते थे।

किन्तु लो. सं. समिति के प्रस्ताव और परिपत्रक या इसके नेताओं के संदेश इस श्रेणी में नहीं आते थे। उनका प्रचार करने के लिए की गयी व्यवस्था गुप्त स्वरूप की हो, यह स्वाभाविक था। और इस तरह से प्रचारित, मुद्रित या चक्रमुद्रित साहित्य आसानी से उपलब्ध नहीं होता था। महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अब तक अस्पष्ट रहे हुए संघर्ष के कुछ पहलुओं का उल्लेख इसके पूर्व किया गया है। कुछ पहलू ऐसे भी थे जिनका प्रकाशन तो दूर, उनके विषय में संपूर्ण जानकारी एकत्रित करना भी कठिन कार्य था। जेलों के बाहर तथा भीतर किए अनन्वित अत्याचार या दी गयी अमानुष यातनाएं; जेलों में हुई मृत्युओं का विवरण; जेलों में चलाए गए कार्यक्रमों का वृत; बंदियों का बाहर के लोगों के साथ और

बाहर के लोगों का बंदियों के साथ हुआ उद्‌बोधक पत्र-व्यवहार; लो. सं. समिति की तथा रा. स्व. संघ की भूमिगत बैठकें, उनमें लिए गए निर्णय तथा उन निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए भूमिगत कार्यकर्ताओं के किए हुए प्रयास; संघ के द्वारा निर्मित भूमिगत कार्य तथा परस्पर संपर्क की देशव्यापी व्यवस्था; इन सबकी जानकारी प्राप्त करना सरल बात नहीं थी। नानाजी देशमुख, रवीन्द्र वर्मा तथा यादवराव जोशी की एक के बाद एक हुई गिरफ्तारियां सूचित करती थीं कि सरकार के गुप्तचर विभाग की सतर्कता निरन्तर बढ़ती जा रही है। उनकी सक्रियता जैसे-जैसे बढ़ती गयी, वैसे-वैसे भूमिगत कार्य की गुप्तता भी बढ़ानी पड़ी।

लो. सं. समिति में सम्मिलित राजनीतिक दलों के बहुत नेता गिरफ्तार किए गए थे। किन्तु बाहर भी कई नेता थे और संघर्ष चलाने का दायित्व उन पर ही था। इनमें से अधिकतर लोक-नेतृत्व के गुणों से युक्त थे,—प्रकृति की गंभीरता, बुद्धि की कुशाग्रता, मन का संतुलन आदि गुणों के वे धनी थे। किन्तु इन सब नेताओं के पास भूमिगत कार्य चलाने योग्य संगठन नहीं था। देश के विभिन्न भागों की प्रत्यक्ष जानकारी सब समय एकत्रित करते रहना; इसके आधार पर कार्य की अगली दिशा समय-समय पर निश्चित करना; नियोजित कार्यक्रमों की जानकारी देशभर के कार्यकर्ताओं तक पहुंचाकर उनके द्वारा उनका क्रियान्वयन करवा लेना; ऊपर से नीचे तक तथा नीचे से ऊपर तक की संपर्क-रेखा प्रस्थापित करना तथा उसे मजबूत रखना; उसके लिए कूटभाषा प्रचलित करना; संघर्ष के लिए आवश्यक धन आदि साधन-सामग्री जुटाना और उसका सुयोग्य वितरण करना; जेलों में बंद लोगों के साथ तथा उनके आप्तजनों के साथ संपर्क रखना; आपात्‌काल से पीड़ित परिवारों की सहायता करना, सेवा प्रकल्प चलाना, भूमिगत साहित्य के प्रकाशन-वितरण की व्यवस्था करना; भूमिगत कार्यकर्ताओं के आवास, प्रवास तथा बैठकों की व्यवस्था करना; आपात्‌स्थिति-विरोधी कार्यक्रम— चाहे वे राजनीतिक दलों के हों या पी. यू. सी. एल. जैसे गैर राजनीतिक संस्थाओं के हों— संगठित करने के लिए सक्षम कार्यकर्ताओं की व्यवस्था करना आदि सभी काम ठीक ढंग से करने के लिए सुव्यवस्थित संगठन की आवश्यकता थी। केवल राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के पास ही ऐसा संगठन था। इसलिए भूमिगत कार्य संगठित करने का दायित्व संघ मशीनरी पर ही आ गया।

संघ मशीनरी की दृढ़ता तथा सक्षमता का परिचय इस बात से मिलता है कि इतनी लंबी अवधि तक संघ को कुचलने के हर संभव प्रयास करने के बाद श्रीमती इंदिरा गांधी को यह कहना पड़ा कि "आर. एस. एस. के १० प्रतिशत भी कार्यकर्ता पकड़े नहीं जा सके हैं। वे भूमिगत हो गए हैं। प्रतिबंध लगने पर भी संघ विश्रृंखलित नहीं हुआ है। इसके विपरीत केरल के समान नए-नए क्षेत्रों में वह जड़ें जमा रहा है।" *'दि इंडियन रिव्यू'* के संपादक एम. सी. सुब्रह्मण्यम ने लिखा, "जिन लोगों ने आपात्‌काल के दौरान संघर्ष को वीरतापूर्वक जारी रखा, उनमें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के लोगों का विशेष उल्लेख करना आवश्यक है। सत्याग्रह का सफल संचालन करके संपूर्ण देशभर में संपर्क-सूत्र कायम रखकर आन्दोलन के लिए धन की व्यवस्था कर, गुप्त साहित्य का बिना किसी अवरोध के वितरण की व्यवस्था

जमाकर तथा बिना भेदभाव के सभी बंदियों तथा उनके परिवारों को सहायता जारी रखकर उन्होंने सिद्ध कर दिया कि वे सचमुच में, स्वामी विवेकानंद ने देश के सामाजिक और राजनीतिक कार्य के लिए संन्यासियों की जिस सेना की कल्पना की थी, उसके वे निकटतम उत्तर हैं। उन्होंने अपने व्यवहार से न केवल अपने राजनीतिक सहयोगी कार्यकर्ताओं की प्रशंसा प्राप्त की है वरन् कभी जो उनके राजनीतिक विरोधी थे, उनसे भी आदर प्राप्त किया है।"

डा. शिवराम कारंत ने कहा, "चुनाव की घोषणा होने के बाद स्वातंत्र्य का संदेश सामान्य जनता तक कौन पहुंचाएगा, यह मेरी सबसे बड़ी चिन्ता थी। मेरी इस चिन्ता को दूर किया संघ के कार्यकर्ताओं ने। इसके पहले भी आपात्स्थिति के विरुद्ध संघर्ष की जिम्मेदारियां संभालने वाले और लोकजागृति के लिए संघर्ष करने वालों में ९०% (नब्बे प्रतिशत) लोग संघ के ही थे। इस प्रकार अपने लिए किसी प्रकार की कोई अपेक्षा न रखते हुए ध्येय के लिए सब प्रकार के कष्ट उठाने वाले ऐसे हजारों युवकों को मैंने देखा है। कहीं पर भी रहना, कहीं पर भी सोना, जो मिल जाए वह खाना, इस स्थिति में संघर्षमय जीवन बिताने वाले कई कार्यकर्ताओं को मैंने देखा है।"

राजनीतिक नेताओं की स्थिति भिन्न रहती है। अटलबिहारी वाजपेयी ने उन दिनों में कहा, "यह एक विचित्र बात है कि भयभीत या लोभ से ग्रस्त होने वालों में अधिकांश विधायक या संसद सदस्य हैं। साधारण कार्यकर्ता अपने स्थान पर अडिग है। ऐसा लगता है कि वर्तमान संसदीय राजनीति एक ऐसा सुविधावादी वर्ग तैयार करती है जो अपने स्वार्थ पर छोटी-सी चोट भी सहन नहीं कर सकता और परीक्षा की पहली आंच लगते ही भाग खड़ा होता है। ऐसे लोग इतिहास नहीं बना सकते। उल्टे इतिहास को विकृत करने के प्रयत्नों में सहभागी होकर कलंक बन जाते हैं।"

यह विशेष उल्लेखनीय है कि संघ ने अन्य संस्थाओं के समान संस्थागत अहंकार न रखते हुए लोकसंघर्ष समिति के ही तत्त्वावधान में सारा कार्य किया और विदेशियों से धन की या भौतिक सहायता की याचना न करने के अपने प्रण को निभाया।

: ३ :

आपात्काल के पूर्व भारत के राजनीतिक आकाश में एक ही घोषणा निनादित हो रही थी। वह थी 'समग्र क्रान्ति' की। लोकनायक जयप्रकाश नारायण ने यह नारा पूर्ण श्रद्धा और प्रामाणिकता के साथ दिया था। यह घोषणा उनकी 'आत्मा की आवाज' थी। किन्तु यही बात उन सब नेताओं के लिए लागू नहीं होती थी जो इस नारे को दोहरा रहे थे। उनमें से कई नेताओं का प्रेरणा-स्थान केवल सत्ता-प्राप्ति था और इस नारे को अपनी उद्देश्यपूर्ति के एक समर्थ साधन के नाते वे अपना रहे थे। जैसे महात्मा गांधी के 'सत्य-अहिंसा' पर सिद्धान्त के नाते श्रद्धा रखने वाले उनके राजनीतिक अनुयायियों में बहुत कम लोग थे, किन्तु उनको समरनीति (Strategy) के नाते 'सत्य-अहिंसा' उपयुक्त प्रतीत होती थी।

खैर, क्रान्ति तो दोनों तरह की हो सकती है। सशस्त्र तथा निःशस्त्र, हिंसात्मक और अहिंसात्मक। केवल हिंसाचार के नाते विचार किया तो दोनों क्रांतियों में जमीन-आसमान का अन्तर है। दोनों तरह के क्रान्तिकारियों की मनोवृत्ति में भी उतना ही अन्तर हुआ करता है शस्त्राचार की दृष्टि से। किन्तु अत्याचारी शासन के विरुद्ध जन-जागरण तथा जनशिक्षा करना; जाग्रत लोगों का भूमिगत संगठन खड़ा करना तथा उसका संचालन करना; भूमिगत कार्य के लिए आवश्यक Two-way Communication की श्रृंखला का निर्माण करना तता उसको बाधारहित रखना; भूमिगत कार्यकर्ताओं के लिए आचार-संहिता तैयार करना तथा उसके अनुसार व्यवहार उनके द्वारा करवा लेना, आदि बातें दोनों क्रान्तियों के लिए लगभग समान रूप से लागू होती हैं। इनके विषय में मारिघेला ने शहरी क्षेत्रों के संदर्भ में तथा चे ग्वेवारा ने सर्वसाधारण रूप से उपयुक्त विवरण किया है। वह अनुभवसिद्ध तथा मार्गदर्शक है। किन्तु संघ के प्रथम प्रतिबंध-काल में वह उपलब्ध नहीं था। फिर, उस समय स्थिति अधिक जटिल थी। आपात्काल के समय साधारण जनता तथा बहुतांश राजनीतिक दल शासन -विरोधी थे। प्रथम प्रतिबंध के समय सरकार तथा सरकार द्वारा योजनापूर्वक फैलायी गयी भ्रान्तियों के कारण अज्ञान जनता भी प्रारम्भ में संघविरोधी थी। उस समय भूमिगत कार्य चलाना अधिक कठिन था। किन्तु भूमिगत स्वयंसेवकों ने उस विपरीत परिस्थिति में भी कार्य चलाया और उपरिनिर्दिष्ट सभी विषयों की दृष्टि से कार्यपद्धति तथा आचारसंहिता का विकास अपनी ही प्रतिभा के आधार पर किया। इस अनुभव का उपयोग आपात्कालीन भूमिगत आन्दोलन चलाते समय बहुत हुआ। अन्य लोगों के पास इस तरह का अनुभव नहीं था। इस कारण भूमिगत कार्यवाही में विभिन्न दलों के नेताओं को सम्मिलित कर लेने का दायित्व स्वयंसेवकों को ही निभाना पड़ा। इस परिस्थिति में आपात्कालीन जन आन्दोलन के रीढ़ की हड्डी का काम स्वयंसेवकों ने किया, यह स्वाभाबिक ही था।

ऐसे समय-प्रसंग में काम करने के लिए कुछ विशेष गुणों की आवश्यकता हुआ करती है। ये गुण कार्यकर्ताओं में निर्मित करना आसान नहीं है। विषय स्पष्ट करने के लिए कुछ गुणों की ही यहां चर्चा की जाए।

सभी क्रान्तिकारी संघर्षों में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है— समय। अन्ततोगत्वा किसी शासन का पतन उसके अन्तर्निहित विरोधी के परिपक्व होने पर ही होता है। सत्याग्रह या छापामार लड़ाई उसके परिपक्व होने की गति बढ़ाते हैं, किन्तु प्रक्रिया पूर्ण होने में लम्बा सयम लगता है।

पक्षान्तर्गत स्पर्धा, मतभेद, करदाताओं और राजकोष पर बढ़ता बोझ, कीमतों का बढ़ना, उत्पादन-वृद्धि की गति का गिरना, बेरोजगारी में भयावह वृद्धि, भुगतान-संतुलन की विनाशकारी स्थिति, कानून और व्यवस्था प्रवर्त्तक लोगों में असन्तोष, प्रशासकीय रुकावटें, घोर उपेक्षा, जनता में अशान्ति और विरोध, सेना की तटस्थता और अन्तर्विरोध, अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में शासन की प्रतिष्ठा और साख का पतन आदि बातें अपने समय से ही परिपक्व होती हैं।

राजनीतिक और आर्थिक अन्तर्विरोधों को ऐसी सरकार तो प्रदीर्घ काल तक संभाल सकती है

जिसके पास समर्पित ध्येयनिष्ठ अनुयायी हों, किन्तु जिसके पास ऐसे अनुयायी न हों, ऐसी सरकार इन अन्तर्विरोधों को नौकरशाही के सहारे अधिक समय तक नहीं संभाल सकती। हर स्थिति में 'समय तत्त्व' अनिवार्य है। यशस्वी क्रान्ति के एक नेता ने कहा है, "समय तो लगता ही है। केवल राजनीतिक गतिविधियों के लिए ही नहीं किन्तु संघर्ष के बीच से शत्रु के अन्तर्निहित विरोधों को बढ़ने देने के लिए भी।" एक अन्य क्रान्तिकारी के बारे में कहा गया है, "उनका धैर्य असीम था। वे दूसरों के धैर्य खोकर निष्क्रिय होने और असफल हो जाने तक प्रतीक्षा कर सकते थे।"

इतना धैर्य रखने वाले कार्यकर्ताओं का देशव्यापी जाल 'लोक संघर्ष समिति' में सम्मिलित दलों के पास नहीं था। व्यक्तिगत रूप से धैर्यशील कार्यकर्ता हर एक दल में कम या अधिक मात्रा में अवश्य थे और उनका व्यक्तिगत कार्य प्रेरक तथा प्रशंसनीय भी रहा। किन्तु सभी विभागों में और सभी स्तरों पर ऐसे कार्यकर्ताओं की मशीनरी खड़ी करना केवल संघ के ही लिए संभव था।

पारिवारिक स्वरूप के भावनात्मक संबंधों की दृढ़ता, संघ की विशेषता है। संबंध केवल ड्राइंग रूम तक सीमित नहीं रहते, रसोईघर तक पहुंच जाते हैं। भूमिगत जीवन में यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। संघ-वर्तुल के बाहर के बड़े-बड़े नेताओं के लिए भी भूमिगत रहना असंभव हो गया था। कुछ अवधि तक केवल जॉर्ज फर्नांडिस इसके लिए अपवादभूत रहे। अन्य कई बड़े नेताओं को भूमिगत रखने का दायित्व संघ-जनों को ही निभाना पड़ा। कर्नाटक के एक उच्चपदस्थ पुलिस अधिकारी का कहना था कि हम शेष सभी नेताओं को पकड़ सकते हैं किन्तु संघ वालों को नहीं, क्योंकि ये संघ वाले किसी भी परिवार में इतने घुलिमल जाते हैं कि अन्य परिवारवालों से इनको पृथक पहचान लेना असंभव हो जाता है। भूमिगत कार्य की मशीनरी एवं सम्पर्क-रेखाएं तैयार करने में संघ ही समर्थ हो सका, इसका यह भी एक प्रमुख कारण रहा।

क्रान्ति सशस्त्र हो या निःशस्त्र, उसकी सफलता के लिए आवश्यक हुआ करता है क्रान्तिकारियों का जनता से सुसंवाद और ऐसा सुसंवाद करने की क्षमता रखने वाले कार्यकर्ताओं की पर्याप्त संख्या।

आन्तरिक प्रचार से जनसमर्थन जुटाया जा सकता है, किन्तु केवल प्रचार के आधार पर समर्पित कार्यकर्ता तैयार नहीं किए जा सकते। इसके लिए क्रान्तिकारी जनशिक्षण की जरूरत होती है। हरेक आन्दोलन के दो उद्देश्य होते हैं : स्थापित शासन-व्यवस्था को नष्ट करना और नयी व्यवस्था बनाना। इसमें पहला तो जनप्रशिक्षण के बिना भी कहीं-कहीं सम्भव हो सकता है, किन्तु जनशिक्षण के बिना नयी व्यवस्था गठित करने में पुरानी स्थापित व्यवस्था नष्ट करने की पहली उपलब्धि का लाभ नहीं उठाया जा सकता।

जन-प्रशिक्षण प्रचार से अलग है। प्रचार का उद्देश्य अलग-अलग स्तर पर जनता की सहानुभूति प्राप्त करना तथा कम से कम जनता को उदारतावादी और तटस्थ बना देना होता है। जनप्रशिक्षण लोगों को क्रांति की गतिविधि में बराबर का भागीदार बना सकता है, जबकि प्रचार ऊपर से नीचे तक

सभी को एक दिशा में ही बढ़ाता है। जन प्रशिक्षण सतत वार्तालाप की प्रक्रिया है। नेता निरन्तर लोगों से सीधे मिलते रहते हैं, उनकी समस्याएं समझते हैं, उनको सहयोगी मानकर विचार-विनिमय और लोगों द्वारा भ्रान्ति में कही गयी अस्पष्ट बातों को उन्हें स्पष्ट रूप में समझाते हैं। आन्दोलनात्मक क्रान्तिकारी प्रशिक्षण जनता की सचेत एवं अचेत आवश्यकताओं से प्रारम्भ होता है। जनता की आंतरिक इच्छाओं के प्रति उसे सचेत करना एक बड़ा धैर्य का प्रदीर्घ कार्य है, किन्तु इसका कोई विकल्प नहीं है। यह भी आवश्यक है कि साझे परीक्षण के विषय ऐसे होने चाहिएं जिन्हें लोग नितान्त आवश्यक समझते हों। लोगों को उनकी ही बात ठीक तरह से समझने में सहायता करनी पड़ती है। यह तभी संभव हो पाता है जब नेता उनकी बात ठीक तरह से समझ पाएं, अपनी बात उन्हें स्पष्ट रूप से समझा पाएं और साझे रूप में परिस्थिति की वास्तविकता को समझें। इस घोर सुदीर्घ प्रक्रिया के पश्चात् लोगों का अपने में और नेताओं में विश्वास दृढ़ होता है। जब वे नेताओं का समर्पण और उनकी स्पष्ट दृष्टि देखते हैं तो अनजाने ही उनके ध्येयवाद को अपना लेते हैं।

यह एक बहुत धीमी और धैर्य की प्रक्रिया है। संसदीय प्रजातांत्रिक पद्धति में तुरन्त लोकप्रिय हो जाने की आकांक्षा से प्रभावित लोगों को अपने आपको इस प्रक्रिया में ढालना नितान्त कठिन प्रतीत होगा। इस सन्दर्भ में जनसंख्या का परिमाण, साक्षरता तथा राजनीतिक चेतना का स्तर भी विचारणीय होगा।

क्रान्तिकारी नेता जनता को केवल प्रयोज्य सामग्री नहीं मानते, वे जनता से प्रेम करते हैं और उनके लिए सर्वस्व त्याग करने के लिए सिद्ध रहते हैं। चे ग्वेवारा कहते हैं कि "भले ही यह हास्यास्पद लगे, फिर भी मैं कहता हूं कि प्रेम ही सच्चे क्रान्तिकारी की प्रेरणा होता है। इस गुण के बिना सच्चे क्रान्तिकारी की कल्पना नहीं की जा सकती।"

इस अन्तःप्रेरणा के कारण क्रान्तिकारी नेता लोगों का केवल उपयोग नहीं करते, अपितु उन्हें प्रशिक्षण द्वारा जाग्रत करके संगठित भी करते हैं।

फ्रायर कहते हैं, "जो नेता लोगों से वार्तालाप नहीं करते, अपने निर्णय उन पर थोपते हैं, वे उनका संगठन नहीं, केवल उनका प्रयोग करते हैं। न वे स्वयं मुक्त होते हैं, न लोग। वे तो लोगों को दबाते हैं।

ऐसे नेताओं का लोगों में विश्वास नहीं होता। वे लोगों को स्वभावतः ही निर्बुद्ध और वार्तालाप के लिए अयोग्य समझते हैं और अत्याचारियों की ही सारी प्रक्रियाएं अपनाते हैं। वे भूल जाते हैं कि क्रान्ति न तो नेता जनता के लिए करते हैं, और न जनता नेताओं के लिए। वह तो दोनों ही अभेद्य एकरूपता से काम करने के कारण होती है। यह एकरूपता जनता के साथ नेताओं के नम्र, प्रेमपूर्ण और धैर्यपूर्ण व्यवहार से ही उत्पन्न होती है।

फ्रायर आगे कहते हैं, "क्रान्ति की प्रक्रिया में मेल-मिलाप से विमुख रहने और संगठन करने या शक्ति-संचय के बहाने लोगों से बात न करने का मतलब है स्वतंत्रता से ही डरना। यह डर लोगों में विश्वास न होने के कारण होता है। यदि लोगों में विश्वास ही न हो तो उनकी मुक्ति का क्या औचित्य? ऐसी स्थिति में क्रान्ति जनता के लिए नहीं, जनता द्वारा नेताओं के लिए हुआ करती है। यह तो सम्पूर्ण आत्मनिषेध है। जनता से संवाद सच्ची क्रान्ति की मौलिक आवश्यकता है। इसी के कारण वह सैनिक-सत्तापलट से सर्वथा भिन्न क्रान्ति कहलाती है। क्रान्ति के जो नेता जनता से संवाद नहीं करते, उनमें शासक का भाव बना रहता है। वे इसी अर्थ में क्रान्तिकारी नहीं होते। अपनी भूमिका के बारे में उनकी धारणा गलत होती है। विशिष्टता और भिन्नता की भावना से ग्रस्त ऐसे लोग क्रान्तिकारी नहीं होते हैं। वे भले ही सत्ता में आ जाएं, किन्तु ऐसी संवादहीन प्रक्रिया से आयी क्रान्ति की गुणवत्ता सदैव सन्दिग्ध रहती है।"

दुर्भाग्य से सभी हिंसक क्रान्तियों के नेताओं की निरपवाद रूप से ऐसी ही प्रवृत्ति रही है। इसी कारण हर सफल क्रान्ति के बाद उसके नेताओं का तानाशाही शासन आया, क्योंकि वे नेता बाद में क्रान्तिकारी नहीं रहे थे। अहिंसक क्रान्ति के नेताओं को संवाद की इस प्रक्रिया पर अधिक जोर देना चाहिए, यही उनकी शक्ति का सबसे बड़ा आधार है। संवाद ही उनके विभिन्न कार्यक्रमों का उद्देश्य होता है। गांधीजी का नमक-सत्याग्रह के समय का दांडी मार्च इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। निरन्तर व्यक्तिगत निकटता के कारण क्रान्तिकारी को लोगों और उनकी समस्याओं की प्रत्यक्ष जानकारी होती है यथासमय वह जनता से एकरूप हो जाता है।

दोनों प्रकार की क्रान्तियों की सफलता के लिए अन्तिम अवश्यम्भावी विजय में दृढ़ विश्वास आवश्यक है। चे-ग्वेवारा कहते हैं, "जिसे यह असन्दिग्ध अनुभूति नहीं होती कि जनता के विरुद्ध शत्रु की विजय असम्भव है, वह छापामार योद्धा नहीं हो सकता।" ऐसी अनुभूति के बिना कोई अहिंसक क्रान्तिकारी भी नहीं बन सकता।

४

क्रान्तिकारी भूमिगत आन्दोलन के सैनिकों को असीम धैर्य की कठोर परीक्षा में उत्तीर्ण होना पड़ता है, जिसकी कल्पना भी राजनीतिक नेता नहीं कर सकते। लोकनायक जयप्रकाश जी, बालासाहब देवरस तथा माधवराव मुल्ये के वक्तव्य, लोक संघर्ष समिति के परिपत्रक, वाजपेयी तथा आडवाणी के पत्र आदि के अलावा आपात्काल में कार्यकर्ताओं के मार्गदर्शन के लिए कई दस्तावेज प्रसारित किए गए थे, जैसे 'Our National Commitment,' 'विचारार्थ', 'क्रियान्वयनार्थ', 'संघर्षध्वम्' आदि। उनमें से एक था आयरलैण्ड के हुतात्मा टेरन्स मैक्स्वीनी का ध्येयवादी कार्यकर्ताओं के लिए निम्न मार्गदर्शन :

In the present politicised environment of all-pervading opportunism and careerism, we, the recepients of the Mother's message, are likely to feel diffident, depressed and pessimistic. The healthy advice of Terence Mac Swiny will be of great help to all idealists under these conditions.

"Let the new born enthusiast, just come eagerly to the flag, be warned of hours of depression that seize even the most earnest, the boldest and the strongest.

"Our work is the work of men subject to such vicissitudes as hover around all human enterpise; and every man enrolled must face hard struggles and dark hours. Then the depression rushes down like a horrible, cold, dark mist that obscures every beautiful thing and every ray of hope. It may come from many causes; perhaps, a body not too robust, worn down by a tireless mind; perhaps memory of long years of effort, seemingly swallowed in oblivion and futility; perhaps contact with men on your own side whose presence there is a puzzle, who have no character and no conception of the grandeur of the cause, and whose mean, petty, underhand jealousies numb you – you who think anyone claiming so fine a flag as ours should be naturally brave, straightforward and generous; perhaps, the seemingly overwhelming strength of the enemy, and the listlessness of thousands who would hail freedom with rapture, but who now stand aloof in despair, – and alongwith all this and intensifying it, the voice of our self-complacent 'practical' friend, who has but sarcasm for a high impulse, and for an immutable principle, the latest expendient of the hour. Through such an experience must the soldier of freedom live. But as surely as such an hour comes, there comes also a star to break the darkened sky; let those who feel the battle-weariness at times remember, when in places there may be but one or two to fight, it may seem of no avail.

"Still let them be true and their numbers will be multiplied : Love of truth is infectious. When progress is arrested, don't brood on what is, but on what was once achieved, what has since survived and what we may yet achieve. If some have grown lax and temporise a little, with more firmness on your part, mingle a little sympathy for them. It is harder to live a consistent life than die a brave death. Most men of generous instincts would rouse all their courage to a supreme moment and die for the cause; but to rise to that supreme moment frequently and without warning is the burden of life for the cause, and it is because of its exhausting strain and exacting demands that so many men have failed. We must get men to

realise that to live is as daring as to die. But confusion has been made in our time by the glib phrase: "You are not asked now to die for Ireland, but to live for her". without insisting that the life shall aim at the ideal, the brave and the true. To slip apologetically through existence is not life. If such a mean philosophy went abroad, we should soon find the land a place of shivering creatures, without the capacity to live or the courage to die-a calamity, surely.

"All these circumstances make for the hour of depression; and it may well be in such an hour, amid apathy and treachery, cold friends and active enemies, with worndown frame and baffled mind, you pleading for the old cause, may feel your voice is indeed a voice crying in the wilderness; and it may serve till the blood warms again and the imagination recover its glow, to think how a Voice, that cried in the wilderness thousands of years ago, is potent and inspiring now, where the voice of the 'practical' men sends no whisper across the waste of years.

"We do not set up fine pricniples in a fine conceit that we can easily live up to them, but in the full consiousness that we cannot possible live away from them... An earnest band is more effective than a discreditable multitude."

(राजनीति के रंग में सराबोर वर्तमान वातावरण में अवसरवादिता और स्वार्थ-सिद्धि का चहुं ओर बोलबाला है। हो सकता है कि ऐसे वातावरण में मां का सन्देश ग्रहण करने वाले हम अपने आपको आत्मसंशयी, भग्नमना और निराश अनुभव करें। इन परिस्थितियों में टेरेंस मैक् स्वीनी का स्वस्थ परामर्श सभी आदर्शवादियों के लिए बड़े काम का सिद्ध होगा—

"नए उत्साहीजनों, झण्डे तले एकत्र होने वाले नवागन्तुकों निराशा की उस घड़ी से सावधान, जो सर्वाधिक उत्साही, सर्वाधिक निर्भय और बलवान को भी ग्रस लेती है।

"हमारा कार्य ऐसे लोगों का कार्य है जो उन उतार-चढ़ावों को झेलते हैं जो समस्त मानवीय प्रयास के चारों और मंडराते रहते हैं। भर्ती किए गए प्रत्येक जन को संघर्षों एवं काली घड़ियों का डटकर सामना करना होगा। निराशा तो उस डरावने, ठण्डे, काले कुहरे की भांति आ धमकती है जो हर सुन्दर वस्तु और आशा की प्रत्येक किरण को ग्रस लेता है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं, — संभवतः निर्बल शरीर, जिसे घोर मानसिक श्रम ने जर्जर कर दिया हो; सम्भवतः वर्षों के प्रयास की स्मृति जो विस्मृति और व्यर्थता के भंवर द्वारा निगली जाती दिखाई दे रही हो; संभवतः अपने पक्ष के ऐसे लोगों से संपर्क, जिनकी उपस्थिति एक पहेली हो, जो चरित्रहीन हों और जिन्हें उद्देश्य की महानता का लेशमात्र बोध न हो, जिनके घटिया, तुच्छ और धूर्ततापूर्ण द्वेष-कर्मों से आपके प्राण सिहर उठते हों— जब कि आप सोचते हों कि जो इतने सुन्दर ध्वज को प्रणाम करते हैं जितना कि हमारा है, उन्हें तो स्वतः वीर,

स्पष्टवक्ता और उदार होना चाहिए; सम्भवतः प्रत्यक्षः शत्रु की विराट संख्या और उन सहस्त्रों लोगों का निरुत्साह, जो उन्मत्त होकर स्वाधीनता का स्वागत करने को आतुर रहे हों, पर जो अब निराशा के नद में आकंठ डूबकर एक ओर खड़े हों; तथा इन सब पर 'करेला और नीम चढ़ा'— अपने उस आत्मतुष्ट व्यावहारिक मित्र की वाणी, जिसके पास इस घड़ी के लिए परमावश्यक उच्च आवेग और अविकारी सिद्धान्त के लिए व्यंग्य की बर्छी के अतिरिक्त कुछ न हो। स्वाधीनता के सैनिक को ऐसे अनुभवों की बाढ़ को पार करना होगा। किन्तु यह ध्रुव सत्य है कि जब-जब ऐसी घड़ी आती है तो ऐसे घोर काले आकाश में अंधकार को चीरने वाला कोई तेजोमय नक्षत्र भी उदित होता है। वे जो कभी-कभी युद्ध में थकान का अनुभव करते हैं, स्मरण रखें कि जब रणभूमि में केवल एक या दो ही योद्धा रह जाएं तो हो सकता है कि उन्हें कोई सार्थकता न दीख पड़े।

"फिर भी, उन्हें अपनी निष्ठा पर अडिग रहना चाहिए और फिर उनकी संख्या बढ़ती जाएगी। सत्य का प्रेम संक्रामक बनकर फैलता है। जब प्रगति अवरुद्ध हो जाए तो वर्तमान की मत सोचो, वरन् इस बारे में सोचो की हमने क्या पाया था, क्या कुछ बचा है और क्या कुछ हम अभी प्राप्त कर सकते हैं। यदि कुछ लोग ढीले पड़ गए हैं और थोड़ी अवसरवादिता दिखाने लगे हैं तो अपनी ओर से और दृढ़ता से उनके प्याले में अपनी थोड़ी सी सहानुभूति उड़ेल दो। लड़ते-लड़ते वीरगति प्राप्त करना कठिन कार्य है, पर सतत संघर्ष का जीवन जीना और भी दुष्कर है। उदारवृत्ति वाले अधिकांश लोग सर्वोच्च घड़ी के लिए अपना पूरा साहस बटोर कर लक्ष्य के लिए मर मिटेंगे, किन्तु बारम्बार और बिना चेतावनी के उस सर्वोच्च घड़ी के निमित्त साहस जुटाते रहना महान व्रत के लिए जीवन का दायित्व है और इस महान व्रत की जो यह प्राणों को सुखाने वाली कष्टसाध्य अनिवार्यता है, उसी का प्रभाव है कि अनेक लोग असफल हो गए हैं। हमें ऐसे व्यक्ति चाहिएं जो यह हृदयंगम कर सकें कि जीने में भी उतने ही साहस और वीरता की आवश्यकता है, जितनी कि मरने में। किन्तु हमारे युग में इस सपाट युक्ति ने संभ्रम पैदा कर दिया है: 'अब आपसे यह नहीं कहा गया है कि आप आयरलैंड के लिए मरें, वरन् कहा गया है कि आप उसके लिए जिए।' इसमें यह आग्रह नहीं है कि जीवन का लक्ष्य होगा सच्चा और साहसपूर्ण आदर्श; कायरों की भांति गिड़गिड़ाकर जीना कोई जीना नहीं है। यदि ऐसे घटिया जीवनदर्शन की बात बाहर फैली तो हम शीघ्र ही देखेंगे कि यह देश गीदड़ों का देश बन जाएगा, जिसमें न तो आपदा से दृढ़तापूर्वक लड़ते हुए जीने की और न ही मरने की शक्ति रह जाएगी।

"ये सभी परिस्थितियां निराशा की घड़ी को जन्म देती हैं। और हो सकता है कि ऐसी घड़ी में, भावशून्यता और विश्वासघात के वातावरण में, निष्ठुर मित्रों और सक्रिय शत्रुओं के बीच, आपका तन जर्जर हो जाए, आप किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाएं, आप पुराने महान व्रत का समर्थन करते समय ऐसा अनुभव करें कि आपकी वाणी तो अरण्यरुदन है और हो सकता है ऐसा अवसर आए कि रक्त फिर उबलने लगे, विचारों में फिर तड़प आ जाए और सोचने पर विवश करे कि किस प्रकार एक वाणी, जो सहस्त्रों वर्ष पूर्व अरण्यरुदन प्रतीत होती थी, आज सशक्त और प्रेरक है, जब कि अवसरवादी 'व्यावहारिक' जनों की वाणी काल के गाल में समा गयी।

"इस सुन्दर दंभ के गर्भ में कि हम सहजता से उनका पालन कर सकते हैं, सुन्दर सिद्धान्त निहित नहीं है, वरन् इस पूर्ण सजगता के गर्भ में निहित है कि सम्भवतः हम दूर नहीं रह सकते। मुट्ठी भर सत्यव्रती लोग अपयश का टीका लगाने वाली भीड़ से अधिक प्रभावशाली होते हैं।")

ये सारे सद्गुण कार्यकर्ताओं में निर्मित करने के लिए बहुत समय देने की तथा सतत कठोर परिश्रम करते रहने की आवश्यकता है। दिन-प्रतिदिन की राजनीति में लगे हुए नेताओं के लिए यह संभव नहीं। संघ जैसा संगठन ही पर्याप्त मात्रा में ऐसे संवादक्षम कार्यकर्ताओं का निर्माण कर सकता है।

जेलों के बाहर रहकर काम करने वाले राजनीतिक नेताओं के लिए और भी एक दिक्कत थी। उनमें से अधिकतर लोग पूज्य महात्माजी की परम्परा में पले हुए, उनके जीवन-मूल्यों को लेकर चलने वाले थे और 'प्रगतिशील' यानी व्यक्तिवादी लोगों की संख्या कम थी। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ये ध्येयवादी नेता किन्हीं कारणों से अपना ध्येयवाद, अपने जीवनमूल्य, अपने-अपने दलों के अनुयायियों के हृदयों पर अंकित नहीं कर सके। उनके अनुयायियों के मनों पर 'प्रगतिशील' अर्थात् ध्येयविहीन, व्यक्तिवादी जीवनमूल्यों का ही प्रभाव अधिक रहा। इस कारण सत्याग्रह के आह्वान को प्रतिसाद देने वालों की संख्या उनके दल वालों में कम रही। इस स्थिति में तीन स्तरों पर किए गए सत्याग्रह को सफल बनाने की जिम्मेदारी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर ही आना स्वाभाविक था, क्योंकि उसी के पास ऐसे आदर्शवादी स्वयंसेवक विपुल संख्या में थे।

इन सब तथ्यों का संकलित विचार किया जाए तो यह ध्यान में आएगा कि संघ-जनों के योगदान का उचित आंकलन न करते हुए लिखा गया आपात्कालीन संघर्ष का इतिहास उसी प्रकार होगा जैसे सुन्दरकाण्ड-लंकाकाण्ड विरहित रामायण। किन्तु इसके लिए संबंधित लेखकों को दोषी नहीं माना जा सकता, क्योंकि संघ के कार्यकर्ता सदा ही प्रसिद्धिपराङ्मुख रहे हैं। इस कारण उनके योगदान का विवरण प्राप्त होना भी कठिन ही था। फलतः अब तक प्रकाशित हुए साहित्य में स्वाभाविक रूप में इस दृष्टि से कमी रही है और उस साहित्य से उभरकर आने वाला चित्र भी अपूर्ण तथा अप्रामाणिक रहा है।

शायद इसी कारण दि. १८.७.७६ को बम्बई में विदाई का भाषण करते समय लोकनायक जयप्रकाश नारायण ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ तथा भारतीय जनसंघ के लोकसंघर्ष में दिए योगदान का विशेष उल्लेख (special reference) किया था।

किन्तु इसके कारण यह कहना गलत होगा कि अब तक के लेखकों ने संघ के योगदान का अपर्याप्त उल्लेख कर संघ पर अन्याय किया है। इस प्रचार के युग में संघ की प्रसिद्धिपराङ्मुख वृत्ति उनके ध्यान में आना भी संभव नहीं था। संघ की सम्पूर्ण योजना का अवश्यंभावी परिणाम यह वृत्ति है। इसको समझना तब तक संभव नहीं, जब तक संघ की योजना को ही ठीक ढंग से समझा नहीं जाता।

५

वैसे तो संघ की सुविचारित योजना के अनुसार संघ स्वयं अपने को संस्कार—स्वयंसेवक—संगठन यहीं तक सीमित रखता है। संघ स्वयंसेवकों का निर्माण करे और स्वयंसेवक अपनी रुचि-प्रकृति के अनुकूल राष्ट्र-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रवेश कर, वहां राष्ट्र-पुनर्निर्माणोपयोगी कार्यों की रचना तथा विचारों का विकास संघ-सिद्धान्तों के प्रकाश में करें, यही मूल योजना रही है। आज इस योजना का क्रियान्वयन कुछ मात्रा में होता हुआ हम देख सकते हैं। वैसे ही संघ-स्वयंसेवक व्यक्तिगत रूप से विभिन्न कार्यों में या दलों में भाग ले सकते हैं, किन्तु संघ संघशः किसी में भी भाग नहीं लेगा, यही मूल कल्पना है। इसीलिए सरसंघचालक श्री बालासाहेब देवरस ने कहा था—

"जयप्रकाश जी ने कहा है और लिखा भी है कि संघ के कुछ लोग व्यक्तिगत तौर पर उनके आन्दोलन में हैं, परन्तु संघ संगठन के रूप में आन्दोलन में सहभागी नहीं है। मैंने भी ऐसा ही कहा है।लोक-हितों की रक्षा के लिए आन्दोलन चलते रहेंगे। लोगों को हो रहे कष्टों की प्रतिक्रिया आन्दोलन में होगी। स्वयंसेवक भी तो जनता में सम्मिलित हैं। उन्हें जनता में समझा जाए तो जनता को हो रहे कष्टों की अभिव्यक्ति स्वयंसेवक सबके साथ मिलकर ही करेंगे। उनके जनता के साथ रहने से, संघ आन्दोलन चला रहा है— यह बात तो सिद्ध नहीं होती है।"

संघ ने संघशः किसी भी आन्दोलन में भाग नहीं लिया। समाज के दायित्वपूर्ण अंग के नाते स्वयंसेवकों ने जो उचित समझा, वह सब कुछ किया। जंगल सत्याग्रह हो या जयप्रकाश आन्दोलन हो, हर अवसर पर यही बात दिखाई दी। किन्तु व्यक्तिगत रूप से ही क्यों न हो, स्वयंसेवकों के ऐसा कार्य करने के कारण सरकार की संघ पर अवकृपा हो सकती है, यह चिन्ता भी संघ ने नहीं की। दि. १६ जून, १९७५ को रोहतक संघ शिक्षा वर्ग में सरसंघचालक जी ने कहा था—

"जुलाई १९४९ में संघ पर से प्रतिबंध उठने के बाद से ही पुनः प्रतिबंध लगने की चर्चा शुरू हो गयी थी। वह अभी तक चलती आ रही है। प्रारम्भ में हमने उसे गंभीरता से कम ही लिया था, परन्तु गत जनवरी-फरवरी में उसको लक्ष्य करके मैंने अपना वक्तव्य देना आवश्यक समझकर वैसा दिया भी था। संघ के हजार-दो हजार स्वयंसेवकों को कारागृह में बंद करने से संघ बंद होने वाला नहीं। वह तो वहीं है। प्रतिबंध आएगा अथवा नहीं आएगा, इसको ध्यान में रखकर तो संघ अपना कार्य नहीं कर रहा है। हम दृढ़ निश्चय से संघकार्य को चलाने वाले हैं। प्रतिबंध आने-न-आने की चिन्ता छोड़कर हमें अपना कार्य निर्भयता से करते जाना है। प्रतिबंध आने पर भी उसका उपयोग अपने कार्य के हित में कर लेने की बातें हमें सोचनी होगीं।"

इस मनोवृत्ति के कारण संघ का नेतृत्व संघ पर लगाए गए प्रतिबंध से कभी चिन्तित नहीं था। किन्तु लोकतंत्र की हत्या के कारण संघ के मन में व्यथा थी और उसी की पुनः स्थापना के लिए पूरी

शक्ति लगाकर प्रयास करने का निश्चय संघ ने किया।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को राजसत्ता में रुचि नहीं है। राजसत्ता के हाथी पर नियंत्रण रखने के लिए जाग्रत, सचेत, संगठित जनशक्ति का नित्यसिद्ध अंकुश नैतिक नेतृत्वरूप महावत के हाथ में रहना आवश्यक है, वरना यह हाथी अनियंत्रित अतएव समाजद्रोही बन सकता है, यह संघ की धारणा है। सत्ता भ्रष्ट करती है और अनियंत्रित सत्ता अनियंत्रित भ्रष्टाचार का निर्माण करती है। इस दृष्टि से लोकतंत्र की रक्षा का महत्त्व संघ-नेतृत्व स्वीकार करता है। भारत में विद्यमान लोकतांत्रिक प्रणाली इस भूमि की उपज नहीं है और इस कारण इस देश की परिस्थितियों और आवश्यकताओं की दृष्टि से वह पर्याप्त, अनुकूल तथा समर्थ नहीं है, यह सब मानते हैं। किन्तु इसकी रक्षा से देश तानाशाही से बच सकता है। भारत की परम्परा, प्रकृति तथा परिस्थिति के अनुकूल नयी रचना करने के लिए आवश्यक विचारमंथन तथा कार्यवाही हेतु गुंजायश इस प्रणाली में हो सकती हैं, तानाशाही में यह सब कुछ हो ही नहीं सकता। इस धारणा के कारण आपात्कालजन्य तानाशाही का विरोध करना संघ के लिए स्वाभाविक कर्तव्य ही बन गया था। संघ पर लगाया हुआ प्रतिबंध इसकी तुलना में एक छोटी बात थी। केवल प्रतिबंध हटाने का उद्देश्य आपात्काल में संघ-नेतृत्व के सामने नहीं था, उद्देश्य था तानाशाही को हटाना। इसी कारण प्रतिबंध हटा लेने की दृष्टि के बाद में सरकार की ओर से जब सशर्त सुझाव आया, तब संघ-नेतृत्व ने दृढ़ता के साथ उसको ठुकराया और निःसंदिग्ध शब्दों में सरकार को बताया कि संघ पर से प्रतिबंध हटता है या नहीं, यह हमारे लिए महत्त्व का प्रश्न नहीं है। महत्त्व का प्रश्न है लोकतंत्र की पुनः स्थापना का। बाद में हुए निर्वाचन में संघ ने इस प्रणाली की रक्षा-हेतु खुलकर भाग लिया। वैसे तो डा. हेडगेवार ने स्पष्ट किया था कि "संघ दैनंदिन की राजनीति में भाग नहीं लेता।" (The Sangh does not take part in day-to-day politics.)। संघ-स्थापना के पश्चात् देश में कितनी ही बार निर्वाचन हुए, किन्तु संघ ने किसी में भी भाग नहीं लिया। सन् १९७७ का निर्वाचन इस नियम के लिए एकमात्र अपवाद रहा, क्योंकि उस समय लोकतंत्र के जीवन-मरण के प्रश्न का निर्णय होने वाला था। लोकतंत्र के अंतर्गत मौलिक अधिकार, नागरिक-स्वातन्त्र्य तथा सर्वमान्य मानव-अधिकार सुरक्षित रह सकते हैं। अन्य लोकतांत्रिक संस्थाओं तथा कार्यों के समान ही संघकार्य सुचारु रूप से चले और बढ़े, इसके लिए ऐसे मुक्त वायुमण्डल की आवश्यकता है। संगठन का मौलिक मानव-अधिकार सभी को उपलब्ध हो, यही संघ की भूमिका है।

संघ की धारणा है कि संघ अर्थात् संपूर्ण समाज। परिकल्पना की दृष्टि से संघ और समाज समव्याप्त हैं; मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संघ संपूर्ण समाज के साथ एकात्म है। दल, पंथ, संप्रदाय और संस्था के नाते कार्य करने वाले लोग संघ की मनः स्थिति की कल्पना भी नहीं कर सकते। इसी मनः स्थिति के कारण कांग्रेस के स्वातंत्र्य-प्रस्ताव (लाहौर अधिवेशन) का स्वागत करते हुए कांग्रेस के निश्चित किए हुए दिन सभी शाखाओं में 'स्वातंत्र्य-दिन' मनाने का आदेश डाक्टरजी (के. ब. हेडगेवार) ने दिया। प्रथम प्रतिबंध की कालावधि में हुए अन्याय-अत्याचारों के बावजूद प्रतिबंध हटाने के पश्चात् श्रीगुरुजी ने "वयम् पंचाधिकं शतम्"— इस सूत्र का उच्चारण किया। और आपात्काल तथा संघ-प्रतिबंध समाप्त

होने के पश्चात् बालासाहब देवरस ने कहा, "फार्गेट एण्ड फार्गिव" (भूल जाओ और क्षमा करो) संघ की भूमिका ही ऐसी है। इसमें प्रतिशोध की भावना के लिए स्थान नहीं। प्रतिशोध कौन किसका लेगा? अपने ही दांत और अपने ही ओठ। "**कुपुत्रों जायेत् क्वचिदपि कुमाता न भवति।**"

६

इस पूरी अवधि में स्वयंसेवकों की ओर से संघर्ष के सूत्र-संचालन का कार्य माधवराव मुल्ये ने किया। उन दिनों उनका स्वास्थ्य बहुत खराब हो चुका था। तो भी सतत असह्य परिश्रम करते हुए पूरी क्षमता के साथ उन्होंने नेतृत्व का दायित्व संभाला। इन परिश्रमों के कारण ही बाद में उनकी अकालमृत्यु हुई। भूमिगत रहते हुए, स्वास्थ्य की उस अवस्था में, संघर्षरत माधवराव को उतने कष्ट उठाते हुए देखकर किसी को भी आधुनिक इतिहास के दो वीर पुरुषों का स्मरण होना स्वाभाविक था। इसी तरह व्याधिग्रस्त रहते हुए भी बोलिविया के जंगल में गुरिल्ला युद्ध का नेतृत्व करते हुए शत्रु की गोली का शिकार बनने राले कॉ. चे ग्वेवारा और गिरफ्तारी के समय जिनके पास केवल ऑक्सिजन सिलेंडर मिला, ऐसे नक्सलवाद के प्रणेता कॉ.चारु मजूमदार।

संघ की ५० वर्ष की तपश्चर्या के कारण इतने सारे स्वयंसेवकों की गिरफ्तारी के बावजूद कार्यकर्ताओं की देवदुर्लभ टीम माधवराव जी को उपलब्ध हुई थी। उस समय संघ-कार्य में कुल १३५६ प्रचारक (पूर्णकालिक संगठनकर्ता) कार्यरत थे। इनमें से केवल १८९ प्रचारक जेल में थे। पहले संघ-कार्य की दृष्टि से छः क्षेत्र थे, अब ४ क्षेत्र बनाए गए। माधवराव के सहयोगी भाऊराव देवरस तथा मोरोपंत पिंगले; आपात्काल के लिए नियुक्त संघ के विभिन्न स्तरीय अधिकारी; स्वयंसेवकों द्वारा संचालित जन-संगठनों के प्रमुख; लोकसंघर्ष-समिति के संचालन में सहभागी स्वयंसेवक; इनके अलावा विभिन्न मोर्चों पर संगठक, सहायक या संपर्क-प्रमुख के नाते कार्य संभालने वाले कार्यकर्ता, उदाहरणार्थ, नागरिक-स्वातंत्र्य के मोर्चे के लिए रज्जू भैय्या (प्रो. राजेन्द्र सिंह); आचार्य-सम्मेलन के मोर्चे के लिए डॉ. आबासाहेब थत्ते; विदेश-सम्पर्क के लिए बालासाहेब भिड़े, चमनलाल जी, जगदीश मित्र सूद तथा केदारनाथ साहनी; राजनीतिक क्षेत्र के लिए रामभाऊ गोडबोले, सुंदरसिंह भंडारी, ओमप्रकाश त्यागी तथा उत्तमराव पाटिल; कॉमनवेल्थ कान्फ्रेंस के मोर्चे के लिए जगन्नाथराव जोशी तथा सहयोगी सांसद; कानूनी मोर्चे के लिए डॉ. आप्पा घटाटे; साहित्य-निर्माण के लिए दिल्ली में भानुप्रताप शुक्ल तथा वेदप्रकाश भाटिया और नागपुर में अनंतराव गोखले तथा मधु लिमये; साहित्य-प्रकाशन तथा दिल्ली-केन्द्रित संपर्क के लिए बापूराव मोघे; धर्माचार्य-संपर्क के लिए दादासाहेब आपटे; पत्र-प्रतिनिधियों से संपर्क के लिए जगदीशप्रसाद माथुर; महिलाओं के लिए उपयुक्त कार्यों की दृष्टि से मौसी जी केलकर के संचालकत्व में राष्ट्र सेविका समिति कार्यकर्त्रियां; और इन सबके सहयोग के लिए अपनी जान हथेली पर लेकर दिन-रात दौड़नें वाले हजारों स्वयंसेवक कार्यकर्ता।

इस भूमिगत कार्यकर्ताओं के क्रान्तिकारी कार्य का उल्लेख न करते हुए लिखा गया आपात्कालीन संघर्ष का इतिहास तो वैसा ही होगा जैसे योगेश्वर कृष्ण के मौलिक योगदान का उल्लेख न करते हुए लिखा गया महाभारत,—यद्यपि यह सत्य है कि आज सामान्य लोग राजसिंहासन की ओर अधिक आकृष्ट होते हैं और महाभारतीय युद्ध के पूर्व या पश्चात् श्री कृष्ण हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर नहीं बैठे थे। उनके सारे प्रयास धर्मराज्य की स्थापना के लिए थे, स्वयं राज्य प्राप्त करने के लिए नहीं।

इन सब कार्यकर्ताओं की भूमिगत गतिविधियां, सम्पर्क, पत्रव्यवहार, योजनाएं आदि बातों का विवरण प्राप्त करना साधारण तौर पर असंभव ही था। किन्तु सौभाग्य से कुछ कार्यकर्ताओं को प्रत्यक्ष कार्य करते-करते उसी समय उपरिनिर्दिष्ट सब जानकारी प्राप्त करते रहने का और उसको लिपिबद्ध करते रहने का अभ्यास था। उनमें प्रमुख थे मोरोपंत पिंगले। इतिहास-संकलन उनका स्वभाव ही रहा है। इस कारण न्यून की पूर्ति में लक्षणीय सहायता हुई। दूसरे चमनलाल जी (झण्डेवाला)। उनका भी स्वभाव इस मामले में उद्यमी है। क्षेत्रीय तथा प्रादेशिक स्तर पर भी ऐसे कुछ कार्यकर्ता निकले। विभिन्न प्रदेशों की संघर्षगाथाएं भी प्रकाश में आयीं।

इस तरह इस दिशा में उपयुक्त कार्य हुआ, तो भी एकत्रित की हुई तरह-तरह की विपुल सामग्री पढ़ना और उसकी व्यवस्थित रचना करना बहुत ही परिश्रम का तथा नीरस काम था। प्रारंभिक अवस्था में बंगलौर के नागराज, बम्बई के प्रा. दा. सी. देसाई, तथा अमदाबाद के नरेन्द्र मोदी ने यह काम किया; केरल के आर. बालशंकर ने इस प्रयास को सघन रूप से आगे बढ़ाया और पूना के एस. पी. कालेज के निवृत उप-प्राचार्य प्रो. मा. कृ. उपाख्य भाऊ साहेब परांजपे ने सामग्री की व्यवस्था के प्रदीर्घ तथा रुक्ष काम को अंतिम स्वरूप दिया। इस विषय में सबसे अधिक परिश्रम ७८ वर्षीय युवा भाऊसाहेब परांजपे ने किया। दिल्ली के डा. एस. पी. गुप्त तथा प्रो. सुरेश वाजपेयी और तलेगांवदाभाडे के राजाभाऊ मेहेंदले ने प्रो. भाऊसाहेब को सहायता दी।

भोजन बनाने के लिए आवश्यक ऐसी सभी वस्तुएं एकत्रित कर उनको सुव्यवस्थित रूप से रखा गया, किन्तु सवाल था प्रत्यक्ष रसोई बनाने का। इस कला के विशेषज्ञ भैयाजी (प्र.ग.) सहस्रबुद्धे तथा माणिकचंद जी वाजेपयी ने यह कार्य कुशलतापूर्वक संपन्न किया। इन दोनों को लेखन-कार्य में सहायता करने वाले थे बापूराव वर्हाडपांडे, बाबूराव वैद्य, प्रो. मुनीन्द्रमोहन चतुर्वेदी तथा डा. श्यामबहादुर वर्मा। हो. वे. शेषाद्रि जी और कुप्. सी. सुदर्शन जी ने भी इस कार्य में विशेष रुचि ली।

कविकुलगुरु कालिदास ने कहा है—

"आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।"

(विद्वानों का परितोष जब तक प्राप्त नहीं होता, तब तक मैं अपने प्रयोग-विज्ञान को अच्छा नहीं मानूंगा।)

इस संघर्षगाथा के लेखक-द्वय की यही मनोधारणा है।

इतिहास-प्रकाशन का काम भी इतना सरल नहीं है। ग्रेट ब्रिटेन में ऐसी पद्धित है कि कुछ महत्त्वपूर्ण

अभिलेख (दस्तावेज) ३० साल के बाद प्रकाशित किए जाते हैं। अपने देश में भी कुछ दस्तावेजों के सम्बन्ध में यह नीति अपनायी जाती है। मौलाना अबुल कलाम आजाद के आत्मवृत का एक अंश इसका उदाहरण है। कारण यही रहा है कि इस तरह के तुरन्त सत्य-प्रकाशन के कारण वर्तमान में चल रहे घटनाक्रम पर अनिष्ट तथा अस्वस्थ परिणाम हो सकता है। ३० वर्ष के बाद ऐसे परिणामों की संभावना लगभग समाप्त हो जाएगी, यह आशा रहती है। शायद कुछ तथ्य तो ऐसे रहते हैं कि उनको नष्ट करना ही उपयुक्त माना जाता है। श्रीमंत माधवराव पेशवा ने अपनी अंतिम बीमारी में इस तरह कई कागजात अंगीठी में डालकर जला दिये। उन्होंने कारण यह बताया कि ये कागजात मेरे उत्तराधिकारी के देखने में आएंगे तो कई बड़े-बड़े लोगों के विषय में उसके मन में पूर्वग्रह दोष का निर्माण होगा। इससे अच्छा यही है कि ये सारे दस्तावेज जला दिए जाएं और हर एक के विषय में खुले हृदय से अनुकूल या प्रतिकूल अभिप्राय बना लेने का अवसर उसे प्रदान किया जाए।

दायित्वपूर्ण इतिहास-लेखक इस पहलू को ध्यान में रखता है।

७

अंग्रेजी में कहावत है कि आने वाली घटनाएं अपनी छाया वर्तमान काल पर डालती हैं। वैसे ही यह भी कहा जा सकता है कि वर्तमानकालीन घटनाएं अपनी छाया भविष्य काल पर डालती हैं।

आज पंजाब की आतंकवाद की समस्या के कारण सभी राष्ट्रवादी चिंतित हैं। वे यह भी जानते हैं कि आपात्स्थिति में लोकसंघर्ष समिति का सत्याग्रह समाप्त होने के पश्चात् भी अकाली दल का सत्याग्रह लंबी अवधि तक चलता ही रहा। किन्तु इस घटना का एक पहलू लोगों के ध्यान में नहीं आ सका।

लोकसंघर्ष-समिति का सत्याग्रह समाप्त होने के पश्चात् यह विचार सामने आया कि इसी समय अकाली दल का सत्याग्रह साथ-साथ ही समाप्त होना हितकर होगा, क्योंकि उससे यह दिखेगा कि इन दोनों सत्याग्रहों में आपसी तालमेल है। अर्थात् लोकसंघर्ष समिति और अकाली दल में संघर्ष के लिए परस्पर सामंजस्य है। इससे सरकार पर अधिक दबाव आएगा। जनता का भी मनोबल बढ़ेगा। अकाली दल का सत्याग्रह चलता रहेगा तो सरकार और जनता सोचेगी कि इन दोनों संघर्षकारी तत्त्वों में आपसी सामंजस्य का अभाव है। यह भाव-निर्माण होना हितकर नहीं है। इसलिए प्रयास किया गया कि अकाली सत्याग्रह वापस लेने के लिए दल के उस समय के सर्वाधिकारी संत हरचंद सिंह लोंगोवाल से प्रार्थना की जाए।

लोकसंघर्ष समिति के नेताओं का तर्क संत जी को युक्तिसंगत प्रतीत हुआ। वे राष्ट्रभक्त और लोकतंत्र के समर्थक थे। उनके मन में दलगत अहंकार बिल्कुल नहीं था। किन्तु उस समय स्वर्ण मन्दिर के परिसर में सैकड़ों लोग पड़े हुए थे। उनमें से कुछ सेवानिवृत्त थे और कुछ ऐसे थे कि जिनके परिवार का कारोबार उनके पुत्रों ने संभाल लिया था। किन्तु बहुसंख्य लोग जवान और अधेड़ आयु

के बेरोजगार थे। ये सभी अकाल तख्त के प्रति निष्ठावान थे और संत जी के आदेश पर मर-मिटने को तैयार थे। ध्येयवाद के ही कारण वे संघर्ष में शामिल हुए थे। किन्तु पंजाब की बढ़ती हुई बेरोजगारी का भी दर्शन उस समय स्वर्ण मन्दिर के परिसर में हुआ करता था। इस संख्या का दबाव संत जी पर था। इस कारण वे इच्छा होते हुए भी सत्याग्रह को वापस नहीं ले सके।

हरियाणा, पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश के धनी किसानों को हरित क्रांति के कारण बहुत लाभ हुआ। वे अधिक श्रीमान् हो गए और देश में यह धारणा फैल गयी कि पंजाब में सब ग्रामीण लोग खुशहाल हो गए हैं। वास्तव में कुछ थोड़े धनी लोगों का धन और बढ़ा था और गरीबों की गरीबी तथा बेरोजगारी और बढ़ी थी। किन्तु यह तथ्य सरकारी प्रचार के कारण लोगों के ध्यान में नहीं आया।

आपात्काल में पंजाब में लगभग १५ लाख जमीन (भूमि) पट्टे (Land Holdings) थे। उसके पश्चात् दस वर्ष के अन्दर यह संख्या घटकर लगभग १० लाख हो गयी। अर्थात् भूमि पट्टों की संख्या लगभग ५ लाख घट गयी। ये ५ लाख भूमि पट्टे २ एकड़ से कम भूमि वालों के थे। इसका अर्थ यह हुआ कि इस अवधि में लगभग ५ लाख परिवारों का आजीविका का साधन समाप्त हुआ। इन परिवारों के लोगों की कुल संख्या कितनी होगी ? उनमें जवानों की संख्या कितनी होगी ? इसके ठीक आंकड़े तो उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आपात्काल के समय पंजाब में जो बेरोजगारी थी वह उसके पश्चात् बहुत तेजी से बढ़ी। इस तरह के बेरोजगार युवक किसी भी आन्दोलन के लिए रिक्रूटिंग ग्राउंड बन जाते हैं। खालिस्तान के बजाय और भी कोई दूसरा आन्दोलन छेड़ा जाता तो उसमें भी ये बेकार युवक उतने ही जोश से शामिल हो जाते। यद्यपि केवल समाचार-पत्र पढ़कर देश की स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने वाले सुशिक्षित लोगों को पंजाब में हरित क्रांति की सुखद हरियाली ही दिखाई देती थी, तो भी असंतोष और आन्दोलन की तीव्रता के लिए पोषक स्थितियां खालिस्तान की मांग का उच्चारण होने के पूर्व से ही, आपात्काल में भी विद्यमान थीं। उनका लाभ खालिस्तान के नाम पर विघटनकारी तत्त्वों ने उठाया।

आने वाली घटनाएं वर्तमान काल पर अपनी छाया डालती हैं, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण था अकाली दल का वह दीर्घकालीन सत्याग्रह— जिसको वापस लेना असंभव हो गया था।

जनता पार्टी का शासन कुछ समय तक चलने के पश्चात् लोगों को पता चला कि वह पार्टी 'दोहरी सदस्यता' के प्रश्न पर टूटने जा रही है। लोगों को लगा कि यह प्रश्न नया ही निर्मित हुआ है। किन्तु ऐसी बात नहीं थी। एक दल बनाने की बात जब से प्रारम्भ हुई, तभी से यह दोहरी सदस्यता का विवाद प्रारम्भ हुआ। सन् १९७६ के मध्य में ही चौ. चरण सिंह ने यह मुद्दा उठाया था। उनको बताया गया था कि संघ गैर राजनीतिक संगठन है, संघ का स्वयंसेवक अपनी इच्छा के अनुकूल किसी भी राजनीतिक दल का सदस्य बन सकता है, उस पर बंधन केवल इतना ही है कि वह ऐसे किसी भी राजनीतिक दल में प्रवेश नहीं कर सकता जिसकी निष्ठा देश के बाहर हो और जो हिंसा एवं अन्तर्घात (violence and sabotage) पर विश्वास रखता हो, तथा संघ का कोई भी पदाधिकारी किसी राजनीतिक दल का पदाधिकारी नहीं बन सकता। इस तरह का संघ का संविधान— उसकी इस विषय

से संबंधित धाराएं—चौधरी साहब को दिखायी गयी थीं। वे स्पष्टवक्ता थे। घुमाफिराकर बात करना उनके स्वभाव में नहीं था। उन्होंने उसी समय स्पष्ट रूप से कहा, "संघ के संविधान में क्या लिखा गया है, इससे क्या मतलब ? मैं देश का प्रधानमंत्री बनना चाहता हूं। उसके लिए आवश्यक है कि मैं पर्याप्त संख्या में अपने सांसदों को लेकर दिल्ली पहुंच सकूं। पश्चिम उत्तर प्रदेश के ८ जिले मेरी कार्ययोजना का आधार-क्षेत्र (Base of operation) हैं। इन ८ जिलों के मतदाताओं में १५ प्रतिशत मतदाता मुसलमान हैं। इसलिए मेरी 'कट्टर संघ-विरोधी' छवि का निर्माण होना आवश्यक है। आप मुझे संघ का संविधान दिखा रहे हैं। क्या आप वह चाहते हैं कि मैं राजनीतिक आत्महत्या कर लूं ? (Do you want me to commit political suicide?")

प्रारम्भ से ही अपनी यह भूमिका चौधरी साहब ने निःसंकोच रूप से रखी थी। बाद में इस बात को उछालने में अन्य कुछ व्यवहार चतुर राजनीतिकारों ने भी सहायता दी। किन्तु बात नयी नहीं थी।

लोकसंघर्ष समिति में सम्मिलित दलों में से एक दल विशुद्ध गांधी तत्त्वज्ञान से प्रभावित था। उसके कारण इस दल के सदस्यों से अपेक्षा थी गंभीरता की, अनुशासितता की तथा आचार-संहिता के प्रति श्रद्धा की। यह अपेक्षा लोगों ने प्रायः पूरी की। वैसे ही पूर्वानुभव के प्रकाश में अन्य कुछ नेताओं से अपेक्षा थी व्यक्तिवादी स्वकेन्द्रितता की, अनुशासनहीनता की तथा विघटनकारिता की। यह अपेक्षा उन नेताओं ने भी पूरी की। गांधीवादी-सर्वोदयी नेताओं-कार्यकर्ताओं ने भी इस कार्य में **'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्'** की भूमिका से कुछ योगदान दिया। किन्तु आचार्य विनोबा जी तथा उनके शिष्य अपवादभूत रहे। सर्वसेवा संघ में पहले दरार और बाद में निष्क्रियता उत्पन्न होगी, इसके आसार आपात्काल में स्पष्ट रूप से दिखाई देते थे। अंतिम चरण में विनोबा जी के कुछ प्रमुख शिष्यों ने उनके संदिग्ध मार्गदर्शन के विषय में उनके पास अपना असंतोष प्रकट किया था और कुछ अन्य कार्यकर्ता इस संदिग्धता से अधीर होकर सीधे सरकार के समर्थन के लिए चले गए थे। सारांशः सर्वोदयी आन्दोलन का भविष्यकालीन चित्र आपात्काल में ही दिखने लगा था।.

डा. बाबासाहेब अम्बेडकर के महानिर्वाण के समय उनके अनुयायियों का समूह विशाल और एकसंघ था। किन्तु उनके महानिर्वाण के पश्चात् विभिन्न कारणों से यह समूह विघटित होने लगा और कई गुटों में बंट गया। इनमें से एक, खोबा गड़े गुट आपात्स्थिति का विरोधी था। उनकी रिपब्लिकन पार्टी ने वैसा प्रस्ताव भी पारित किया था। इस बिन्दु पर रिपब्लिकन पार्टी के सभी गुटों को एकत्रित कर कुछ प्रत्यक्ष कार्य किया जाए, ऐसी उनकी कल्पना थी। किन्तु एकत्रीकरण का बिन्दु इतना महत्त्वपूर्ण होते हुए भी वह कल्पना साकार नहीं हो सकी। आपात्काल के पश्चात् भी यह प्रवृत्ति प्रबल होती गयी।

वामपंथियों में सी. पी. आई. (कम्युनिस्ट पार्टी) अकेला दल था जिसने 'एमरजेन्सी' का खुलकर समर्थन किया। एक बार किसी भी नीति का समर्थन करना तय हुआ तो फिर उसके पक्ष में तर्क ढूंढ निकालना आसान रहता है। यह निर्णय सी. पी. आई. ने क्यों लिया, इसके तीन कारण हो सकते हैं। एक, दल के नेताओं की यह प्रामाणिक धारणा रही होगी कि इसी नीति के आधार पर वे अपनी

विचारधारा को अधिक विस्तृत तथा बलशाली कर सकते हैं। दूसरा, यह नीति लेने के लिए मास्को ने उसको बाध्य किया होगा और तीसरा, अवसरवाद। इनमें से किस कारण ने दल की नीति को प्रभावित किया, इसकी प्रत्यक्ष जानकारी उपलब्ध नहीं हुई है। केवल अनुमान के आधार पर हेत्वारोप करना अनुचित होगा। फिर भी यह तो सत्य ही है कि सरकार पर आश्रित होने वाले व्यक्तियों या दलों में जो दोष और दुर्बलताएं स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती हैं, उनका प्रवेश धीरे-धीरे सी. पी. आई. के कार्यकर्ताओं में होना प्रारम्भ हुआ था और उनकी मूल संघर्षशीलता समाप्त होने लगी थी। का. इन्द्रजीत गुप्त जैसे थोड़े से शिखरस्थ नेता ही इस बीमारी से अछूते रहे थे। किन्तु आगे चलकर इस प्रवृत्ति को रोकना उनके लिए भी संभव नहीं हुआ।

सी. पी. एम. तथा उसके विविध क्षेत्रीय जन-संगठन आपात्स्थिति के विरोध में थे, संघर्षेच्छु भी थे। उनके हर एक जन-संगठन की संघर्षक्षमता एक जैसी नहीं थी। सी. पी. एम. परिवार में मजदूर संगठन 'सीटू' अधिक संघर्षक्षम था। किन्तु आपात्काल में सी. पी. एम. के कार्यकर्ता अपनी संघर्ष-शक्ति से संतुष्ट नहीं थे। उनमें से कुछ लोगों को एक बात का आश्चर्य होता था। उनकी दृष्टि से आर. एस. एस. एक 'दक्षिणपंथी, सांप्रदायिक, प्रतिक्रियावादी, दकियानूसी' संगठन था, जिसके पास कोई आर्थिक नीति या कार्यक्रम नहीं था। आर्थिक कार्यक्रमों के आधार पर ही जनसाधारण को संघर्षशील बनाया जा सकता है, यह वामपंथियों की मान्यता रही है। किन्तु प्रत्यक्ष संघर्ष का समय उपस्थित होने पर दिखाई दिया कि संघ जितनी मात्रा में अपने अनुयायियों को संघर्ष के लिए मैदान में उतार सकता है, उतनी मात्रा में वामपंथी नहीं उतार सकते। यह कैसे हुआ? उनकी चिरकालीन मान्यता के विपरीत दृश्य-निर्माण कैसे हो सका? इस पर मौलिक पुनर्विचार करने की आवश्यकता है, यह विचार सी. पी. एम. के कुछ शीर्षस्थ नेताओं के मन में हुआ। आलोचना-आत्मालोचना (criticism-self criticism) की पद्धति में कई वर्षों तक रहने के कारण इस तरह का विचार करने की क्षमता उनके मन में निर्मित हुई होगी।

संगठन की दृष्टि से आपात्काल में सी. पी. एम. की स्थिति केरल तथा बंगाल में एक जैसी नहीं दिखाई दी।

केरल में यह दिखाई देता था कि जिस व्यक्ति को केरल कम्युनिस्ट पार्टी का अखिल-केरल 'नेता' की संज्ञा दी जाए, ऐसे अंतिम व्यक्ति ए. के. गोपालन थे। का. नंबूद्रीपाद का कार्यकर्ताओं के साथ यानी धरती के साथ घनिष्ठ संबंध नहीं रहा। अन्य नेता अपने क्षेत्र के मंडल, तालुका या जिले के पार्टी नेता अवश्य थे, किन्तु गोपालन के अलावा दूसरा कोई भी नेता ऐसा नहीं था कि जिसका शब्द केरल कम्युनिस्ट पार्टी के सभी लोग प्रमाण मानें। किसी नेता का शब्द उसके मंडल के, तो किसी का उसके जिले के एक हिस्से के पार्टी कार्यकर्ताओं को प्रमाणभूत प्रतीत होता था। ऐसा ही दृश्य उस समय था। अखिल-केरल-नेतृत्व का अभाव आने वाले दिनों में अधिकाधिक प्रकट होगा, यह कल्पना आपात्काल में भी की जा सकती थी।

बंगाल सी. पी. एम. की स्थिति भिन्न थी। बंगाल में सी. पी. एम. के संगठन-पक्ष (Oragnisational

wing) को विधानमंडल पक्ष (Legislative wing) से बिल्कुल अलग रखा गया था और संगठन पक्ष सर्वोपरि है, यह मान्यता प्रचलित थी । संगठनात्मक ढांचे के प्रमुख का.प्रमोद दासगुप्ता लौहपुरुष थे ।वे अपनी तपस्या के कारण नैतिक अधिकार के भी धनी थे, जो बात जनता में लोकप्रिय होते हुए भी का. ज्योति बसु को उपलब्ध नहीं थी । जनता में बोलबाला ज्योति बसु का और पार्टी पर पकड़ प्रमोद दासगुप्ता की । का. दासगुप्ता की मृत्यु के पश्चात् कुछ समाचार-पत्रों ने लिखा था कि इतने वर्षों तक वाममोर्चा शासन में रहा, किन्तु का. प्रमोद दासगुप्ता एक बार भी सचिवालय में या किसी मंत्री या मुख्यमंत्री के चेंबर में नहीं गए । संगठनात्मक ढांचे का विधानमण्डल पक्ष (Legislative wing) पर प्रभुत्व था । इस कारण बंगाल की सी. पी. एम. में वे दोष नहीं दिखाई दिए जो विधायक पक्ष के प्रभुत्व के कारण निर्मित होते हैं । विधायक पक्ष (Legislative wing) का प्रभुत्व होने से अस्वस्थ जीवन-मूल्य प्रभावी होते हैं और वे ध्येयवादी कार्यकर्ताओं को धीरे-धीरे पथभ्रष्ट कर सकते हैं । आपात्काल में बंगाल की सी. पी. एम. इस भय से मुक्त थी और का. प्रमोद दासगुप्ता की मृत्यु तक यह स्थिति कायम रही ।

संघर्षशीलता की दृष्टि से बंगाल में सी. पी. एम. के साथ शासन में तथा विरोध में संयुक्त मोर्चा बनाने वाले अन्य वामपंथी दलों की भी स्थिति सी. पी. एम. के समान ही थी । उनके सामने संगठनात्मक या संसदीय प्रभुत्व का प्रश्न नहीं था । किन्तु संघर्ष क्षमता में कमी आ रही थी । फारवर्ड ब्लाक के चित्त बसु या आर. एस. पी. के त्रिदिव चौधरी जैसे नेताओं की संघर्षशीलता व्यक्तिगत रूप से कायम थी ।

केरल में नंबूद्रीबाद ने जिनको प्रसन्न करने के लिए मल्लापुरम् जिले का छोटा पाकिस्तान निर्मित कर दिया, वे इस संघर्ष की ओर उदासीनता की दृष्टि से देख रहे थे । केरल कांग्रेस का भी यही रवैया था । किन्तु संगठन कांग्रेस के कई उच्च पदस्थ ईसाई संघर्ष में सक्रिय रहे । निर्वाचन की घोषणा के पश्चात् महाराष्ट्र व उत्तर प्रदेश के मुसलमानों ने और अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कुछ लोगों ने जनता पार्टी का समर्थन किया ।

हिन्दू-मुस्लिम समस्या के विषय में सब लोग जानकारी रखते हैं । इस विषय में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को अकारण बदनाम करके 'उससे मुसलमानों को भय है और संघ के भय से मुक्ति देने का काम हम ही कर सकते हैं'— ऐसा दावा करके मुसलमानों को हिन्दुओं से अलग रखने की चाल विभिन्न राजनीतिक दलों तथा नेताओं ने प्रारम्भ से चलायी थी । किन्तु जेलों में मुसलमानों का संघजनों से प्रत्यक्ष संबंध आया । संघ तो भारतमाता के सभी सत्पुत्रों को सदैव राष्ट्रीय यानी हिन्दू ही मानता आ रहा है— चाहे उनकी उपासना-पद्धति जो कुछ भी हो । इस कारण स्वयंसेवक वहां अपने संबंध में आने वाले मुसलमानों को अपनी प्रकृति के अनुसार सच्चा प्यार देने लगे । मुसलमान भी इस प्यार की सत्यता की अनुभूति करने लगे । सरसंघचालक बालासाहब देवरस जी के संपर्क में आने वाले मुसलमान बंधु उनके प्रति श्रद्धा तथा आदर रखने लगे । हिन्दू-मुस्लिम एकता, सच्चे निरपेक्ष प्रेम के आधार पर ही हो सकती है, उसका प्रत्यक्ष अनुभव वहां आया । सौदेबाजी से हृदय की एकता नहीं हो सकती, उससे तो दोनों संबंधित पक्ष एक-दूसरे से निरतंर दूर ही जाते रहते हैं । निष्काम स्नेह से ही

सच्ची एकता संभव है। जेलों में यही साक्षात्कार सभी संबंधित लोगों को हुआ। इसका प्रतिबिंब सरसंघचालक जी के आपात्कालोत्तर भाषणों में स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा। संघ की निष्काम भक्ति से ही एकता का निर्माण हो सकता है, यह विश्वास दोनों तरफ बढ़ा। किन्तु भाई-भाई एक दूसरे को गले लगाएं, यह बात राजनीतिक मन्थराओं को जंचना संभव नहीं था। 'फूट डालो और शासन करो'— यही नीति अपनाने वाले कूट-राजनीतिक नेताओं ने सत्ता-पिपासा के कारण फूट डालने वाली सौदेबाजी की प्रलोभनात्मक कार्यवाहियां फिर से प्रारम्भ कीं, और लंबी देर तक प्रलोभन का शिकार न बनने के लिए आवश्यक दृढ़ता सामान्य लोगों में नहीं हुआ करती। कूट-राजनीतिकों की यह चालबाजी आज भी चल रही है। किन्तु जेलों के अनुभव ने यह स्पष्ट किया है कि एकता का सच्चा उपाय पारस्परिक हार्दिक प्रेम ही है, राजनीतिक सौदेबाजी नहीं। और इस तरह का प्रेम दूसरों से करना उनके लिए संभव है जो व्यक्तिगत स्वार्थ या सत्तालिप्सा से दूर हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि कालांतर में मुसलमान भी इस तथ्य को समझ सकेंगे क्योंकि कोई भी नेता, फिर वह कितना भी चतुर हो, सब लोगों को सर्वदा के लिए गुमराह नहीं कर सकता। संघ-स्वयंसेवकों का निरपेक्ष प्रेम ही अन्ततोगत्वा सच्ची तथा स्थायी हिन्दू-मुस्लिम एकता का निर्माण कर सकेगा, यह विश्वास कारावास के जीवन के आधार पर संबंधित लोगों में निर्मित हुआ। यह उल्लेखनीय है कि उस समय स्वस्थ वातावरण में दिल्ली के शाही इमाम मौलना अब्दुल्ला बुखारी ने अपनी पत्रकार-परिषद् में कहा था, "संघ वाले हिंसाचारी हैं, मुस्लिम-द्रोही हैं, यह आरोप बेबुनियाद है।" किन्तु इस तरह का हिन्दू-मुस्लिम सामंजस्य राजनेताओं को सहन होना असंभव था।

उत्तरपूर्वी भारत के नागालैण्ड आदि क्षेत्र संघर्ष में उदासीन रहे। राष्ट्रीय मुख्य प्रवाह से स्वयं अपने को पृथक समझने की उनकी प्रवृत्ति इस उदासीनता का प्रमुख कारण रही। कालान्तर में यह पृथकता का भाव बढ़ता गया, किन्तु उसका स्पष्ट आभास आपात्काल में हो रहा था।

इस संघर्ष में एक और बात प्रकर्ष से सामने आयी। सम्पूर्ण जन-प्रचारमाध्यमों (मास-मीडिया) पर सरकार का शत-प्रतिशत नियंत्रण था। सरकार और सरकारी दल को अनुकूल प्रसिद्धि लगातार मिल रही थी। विपक्षियों के लिए जनता के पास पहुंचने के अधिकृत माध्यम कोई भी उपलब्ध नहीं थे। आपात्स्थिति का और दमननीति का औचित्य देश-विदेश की जनता को समझाने के लिए भारत सरकार की सम्पूर्ण मशीनरी उपयोग में लायी जा रही थी। प्रचार की दृष्टि से विरोधियों की विवशता और सरकार की सर्वसाधन-संपन्नता ! यह वस्तुस्थिति चुनाव करवा लेने के पक्ष में निर्णय होने के लिए बहुत मात्रा में जिम्मेदार थी। सरकारी दल और नेताओं की प्रतिमा उज्ज्वल दिखाने का इतना बृहत् और जन-प्रचार-माध्यमों (मास मीडिया) की दृष्टि से अबाध प्रयास इसके पूर्व कभी भी नहीं हुआ था। फिर भी निर्वाचन के परिणाम विपरीत आए। इससे यह स्पष्ट हुआ कि अवसरों पर 'मास मीडिया' की उपयोगिता है, यह तो सही है, किन्तु वह उतनी अधिक नहीं है जितनी सामान्यतः लोग मानते हैं। एकांगी सरकारी प्रचार का अतिरेक हुआ, फलस्वरूप सामान्यजन भी उसको अविश्वसनीय मानने लगे।

गलत सरकारी नीतियों के कारण असंतोष बढ़ता चला गया यह तो सर्वविदित है, किन्तु बहुत लोग

यह नहीं जानते की इनमें से कुछ नीतियां विदेशी पूंजी के दबाव के कारण मजबूर होकर अमल में लानी पड़ी। कठोरतापूर्वक नसबन्दी के कार्यक्रम के कारण जनता में क्षोभ बढ़ रहा है, इसकी जानकारी सरकार को थी। उनकी ही इच्छा पर मामला छोड़ा जाता तो शायद वे इस कार्यक्रम में नरमी लाते। किन्तु मजबूरी थी। विदेशी पूंजी का आग्रह था। जिनसे पैसा लेना होता है उनकी बातें माननी ही पड़ती हैं।

आपात्स्थिति-विरोधी प्रचार विदेशों में करने में विपक्षी सफल हुए, इसका प्रमुख कारण विरोधी कार्यकर्ताओं की ध्ययेवादी कुशलता और विदेशस्थ भारतीयों की देशभक्ति तथा लोकतंत्र में प्रबल आस्था तो रही ही, किन्तु इसमें बड़ी सहायता इस तथ्य के कारण भी हुई कि हमारे दूतावास सैदव अकार्यक्षम रहे हैं, अपने-अपने कार्यक्षेत्र के भारतीय तथा स्थानीय लोगों से सम्पर्क रखने में वे सदा ही लापरवाही बरतते रहे और अवसर आने पर इस त्रुटि को एकदम दूर करना उनके लिए संभव नहीं हुआ। उस कालखण्ड का अनुभव ध्यान में रखकर बाद में इस दृष्टि से कुछ सुधार हुआ है, ऐसा विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

भूमिगत प्रचार-साहित्य का वितरण करने में ऐसे भी लोगों ने खतरा मोल लेकर सहायता की, जो किसी भी राजनीतिक या गैर-राजनीतिक दल या संस्था से संबद्ध नहीं थे। देश और लोकतंत्र के प्रति निष्ठा ही उनके साहस का प्रेरणास्रोत रहा।

बीच की अवधि में विभिन्न कारणों से उदासीन और निष्क्रिय बने हुए स्वयंसेवक बाकी सब कारणों को भूलकर सक्रिय बन गए और संघर्षकारियों के कंध से कंधा लगाकर खड़े हो गए। संघ पर लगाए गए प्रथम प्रतिबंध के समय जो स्वयंसेवक बाल, किशोर या जीविकोपार्जन-विरहित युवा थे वे आपात्काल के समय गृहस्थाश्रमी जीवन व्यतीत कर रहे थे, इसके भी अपेक्षित परिणाम अनुभव में आ रहे थे।

साथ ही साथ शाखा पर नियमित उपस्थित होने वाले बाल स्वयंसेवकों ने भी जनता को आश्चर्यचकित करने वाले साहसिक कार्य किए। देश की राजधानी में पुलिस की पूरी व्यवस्था रहने के बावजूद बृहती सभा में बाल स्वयंसेवकों द्वारा राष्ट्रपति के सम्मुख किया गया निषेध-प्रदर्शन ऐसे अनेकानेक कार्यों में से एक रहा है। जनमानस पर इस साहसिक प्रदर्शन का अत्यधिक प्रभाव रहा।

८

इस संघर्ष में लोकनायक जयप्रकाश नारायण का स्थान अद्वितीय था। असंतोष बढ़ने के सभी कारण उनके सक्रिय होने के पूर्व भी विद्यमान थे। किन्तु उनके राजनीति-प्रवेश के पश्चात् इस असंतोष को जैसा नया मोड़ मिला, वैसा उसके पूर्व नहीं मिल सका, यद्यपि संघर्ष में सम्मिलित सभी राजनीतिक दल और नेता पहले भी सक्रिय थे। उनके व्यक्तित्व के कारण संघर्ष में समन्वय रहा। इससे स्पष्ट हुआ कि भारत की जनता विशुद्ध नैतिक नेतृत्व का सर्वाधिक सम्मान करती है, उसी में निरपवाद, पूर्ण श्रद्धा रखती है। निर्वाचन के पश्चात् 'प्रधानमंत्री' पद का चयन करने में जयप्रकाश नारायण और आचार्य

कृपलानी को जो भूमिका सर्वसम्मति से प्रदान की गयी थी, वह भी इसी सत्य की परिचायक है। उस पद्धति से प्रधानमंत्री का चयन संसार के इतिहास में कभी भी नहीं हुआ और भारत के बाहर वैसा किसी भी देश में हो नहीं सकता। जब तक जयप्रकाश जी के प्रभाव में राजनेता चलते रहे, तब तक जनता सरकार भी ठीक ढंग से चलती रही। धीरे-धीरे वह प्रभाव कम होने लगा और उसी गति से जनता पार्टी धीरे-धीरे विघटन की ओर बढ़ने लगी। भारत में नैतिक नेतृत्व और राजनीतिक नेतृत्व का यह परस्पर संबंध ध्यान में रखने योग्य है।

'धर्मदण्ड्योऽसि'— इस अनुशासन को केवल भाषालंकार मानने वाले शासकों के विषय में 'राजतरंगिणी' कार कल्हण ने निम्न अभिप्राय प्रकट किया है :

"गर्भवासव्यथां जातः शरीरी विस्मेरद् यथा
प्राप्तराज्यसत्था राजा नियतं पूर्वचिन्तितम्॥"

(गर्भवास की व्यथाएं जन्म प्राप्त होते ही जैसे मनुष्य भूल जाता है, वैसे ही राज्य प्राप्त होने के पूर्व सोची गयी सब बातें राज्यप्राप्ति के पश्चात् राजा भूल जाता है।)

राज्यारोहण-समारोह के लिए शिवाजी महाराज निकले तो उस समय राजसिंहासन की ओर बढ़ने वाले एक-एक कदम पर उन्हें अपने उन सहस्त्रों वीरव्रती सहयोगियों का उत्कट स्मरण हो रहा था जिन्होंने हिंदवी स्वराज्य की स्थापना के लिए अपने प्राण अर्पण किए थे। गेटीस्बर्ग की यात्रा करते समय अब्राहम लिंकन की आंखें शहीदों की स्मृति से सतत अश्रुपूर्ण हो रही थीं। वहां के उनके ऐतिहासिक भाषण का प्रेरणास्रोत हुतात्माओं का भावपूर्ण स्मरण ही था। आपात्काल के पश्चात् शासन की बागडोर हाथ में लेते समय कितने राजनेताओं की मनःस्थिति इस तरह की थी, यह कहना तो कठिन है किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि लोकतंत्र की पुनःस्थापना के लिए जिन असंख्य अज्ञात देशभक्तों ने (अनुक्ता ये भक्ताः) त्याग, सर्वस्वार्पण तथा आत्म-बलिदान किया, उनकी पवित्र स्मृति कृतज्ञ भारतीय जनता के हृदय-पटल पर सदा के लिए अंकित रहेगी।

संघर्ष के सैनिक-सेनापति-हुतात्माओं का स्मरण तो रखा ही जाएगा, किन्तु उन सबको उनके उज्ज्वल कार्य के लिए प्रेरित करने वाले या उस कार्य में उनकी सहायता करने वाले और इस प्रक्रिया में स्वयं अपने को असहनीय दुःख-कष्टों का शिकार बनने देने वाले असंख्य लोगों को हम भूल सकते हैं क्या ? उन्होंने अपनी त्यागमय तथा ध्येयवादी भूमिका का निर्वाह न किया होता तो रण मैदान में पराक्रम करने वाले वीर पुरुषों को अपना वीरव्रत निभाना कठिन हो जाता। संघर्ष-सेना की यह द्वितीय पंक्ति घरों में और रसोईघरों में काम करने वाले लोगों की रही है।हमारी माताएं, बहिनें, भाभियां आदि इस द्वितीय पंक्ति में आती हैं। इनका प्रतिनिधिक स्वरूप का वर्णन स्वयं नाना ढोवले के 'बहिनी' में प्राप्त होता है। अपने वाली पीढ़ियां इनके योगदान को भूल जाएंगी तो वह कृतघ्नता ही मानी जाएगी।

सशस्त्र क्रांतियुद्ध या निःशस्त्र शांतियुद्ध (सत्याग्रह) का शास्त्र न जानने वाले इस बात की अनुभूति नहीं कर सकते कि दोनों युद्धों में यश प्राप्त होने के लिए केवल सैनिकों का कार्य पर्याप्त नहीं होता। तरह-तरह की आपूर्ति की व्यवस्था आवश्यक हुआ करती है। Logistics युद्ध प्रयास का एक

महत्वपूर्ण तथा अपरिहार्य अंग है। इस मोर्चे को संभालने वाले हजारों लोगों को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता।

वैसे ही, कोई भी क्रांति या सत्याग्रह तब तक सफल नहीं हो सकता, जब तक क्रांतिकारियों या सत्याग्रहियों के विषय में उपकारक तटस्थता की वृत्ति रखने वालों की संख्या समाज में बहुत बड़ी नहीं रहती। ये लोग समर्थक या विरोधक की भूमिका में नहीं रहते। तटस्थ ही रहते हैं। किन्तु उनकी यह तटस्थता आन्दोलनकारियों के लिए आन्तरिक सहानुभूति से युक्त रहती है। ऐसे लोगों को तांत्रिक दृष्टि से संज्ञा दी गयी है 'A zone of Benevolent Neutrality'. आपात्काल में जनसाधारण के मन में भय की भावना प्रबल थी, यह सही है। किन्तु यह भी सही है कि उपकारक तटस्थता का क्षेत्र (A Zone of Benevolent Neutrality) भी विस्तृत था। इस क्षेत्र (zone) का अंतिम यश के श्रेय में जो हिस्सा रहा है उसको भूल जाना अन्यायपूर्ण रहेगा।

अनुभवी विद्वानों का निष्कर्ष है कि निम्न दो अर्धसत्यों को मिलाकर एक पूर्ण सत्य बनता है। एक, इतिहास में कोई भी दो घटनाएं या परिस्थितियां बिल्कुल एक जैसी नहीं हुआ करतीं और दूसरा यह कि इतिहास की पुनरावृत्ति होती रहती है। इसी विचार के कारण नेपोलियन ऐतिहासिक समानान्तरों (Historical Parallels) को महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शक मानता था। राष्ट्र के भविष्य के विषय में चिंता करने वाले नीतिनिर्धारकों को इसी तरह सोचना पड़ता है। इसका कारण भी है। यह सत्य है कि कोई भी दो व्यक्ति बिल्कुल एक जैसे नहीं हो सकते। इस अर्थ में हर एक व्यक्ति अनुपम (unique) है। और, हर एक व्यक्ति विनाशी भी है। किन्तु मनुष्य मात्र को प्रेरित करने वाली विभिन्न प्रवृत्तियां चिरकालिक हैं, और उनके प्रभाव के फलस्वरूप विभिन्न कालों के विभिन्न व्यक्तियों के कार्यकलापों का स्वरूप एक जैसा हुआ करता है। चंगेज खान, तैमूर, स्टालिन, हिटलर इनमें से हर एक का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है, और उन विशेषताओं के अनुसार उनके विचारों-आचारों में भिन्नता पायी जाती है। किन्तु इन सब में कुछ प्रवृत्तियां समान हैं। उन प्रवृत्तियों के प्रभाव के कारण होने वाले इन सबके क्रियाकलापों में समानता पायी जाती है। यही बात भगवान बुद्ध, ईसा मसीह और महात्मा गांधी के बारे में भी सही है। श्रीमती इंदिरा गांधी और लोकनायक जयप्रकाश नारायण, ये दो व्यक्तियों के नाम हैं और ये दोनों व्यक्ति नाशवंत हैं। किन्तु ये दोनों ही भिन्न प्रवृत्तियों के प्रतीक के नाते दोनों चिरजीवी हैं, अमर हैं। इस कारण उपर्युक्त दोनों विचार ठीक हैं। एक, गत आपात्काल के समय जो घटनाएं हुईं उनकी वैसी की वैसी पुनरावृत्ति भविष्य में कभी भी हो नहीं सकती। और, दूसरा यह कि उस कालखण्ड में सक्रिय व्यक्तियों की सत्-असत् प्रवृत्तियां चिरजीवी हैं और उनके समयानुकूल आविष्कार भविष्य में होते ही रहेंगे। इस अर्थ में आपात्काल के इतिहास की पुनरावृत्ति स्वाभाविक मानी जानी चाहिए।

ऐतिहासिक समानान्तरों (Historical Parallels) का मार्गदर्शन के लिए महत्त्व इसी कारण स्वीकार किया गया है। इस तथ्य का साक्षात्कार न रहा तो ध्येयवादी व्यक्ति भी धैर्यवादी नहीं बन सकता। उपस्थित समस्या के लिए छेड़े गए संघर्ष में वह तन-मन-धनपूर्वक सक्रिय तो हो जाता है, किन्तु संघर्ष-समाप्ति के पश्चात् कोई भी मूलगामी विचार मन में न होने के कारण वह राहत की तथा आत्मसंतोष की भावना का अनुभव करता है। वह "**गुणाः गुणेशु वर्तन्ते**"— इस रहस्य को समझ नहीं

सकता। बच्चों की कहानियों में प्रेम के त्रिकोण में विजय प्राप्त करते हुए नायक तथा नायिका का मिलन हो जाता है और इसके बाद लिखा रहता है, "और उसके बाद वे सदा-सदा के लिए सुखी जीवन व्यतीत करने लगे।" (And then they lived happily forever and ever and ever.)। किसी भी विजय के पश्चात् अदूरदर्शी कार्यकर्ता के मन में यही सुखद भाव स्थायी हो जाता है क्योंकि किसी भी घटना का अन्वयार्थ समझ लेने के लिए मूलगामी चिंतन की आवश्यकता होती है, यह वह जानता नहीं। और फिर प्रकृति ने उसकी सुखमय अपेक्षा के विपरीत घटनाक्रम का सूत्रपात किया तो वह आश्चर्यचकित हो जाता है, घटनाक्रम के कारण रुष्ट हो जाता है। "**क्षणे रुष्टाः क्षणे तुष्टाः—रुष्टास्तुष्टाः क्षणे क्षणे**"— ऐसी उसकी मनःस्थिति बन जाती है। ऐसे अव्यवस्थितचित्त कार्यकर्ता की प्रसन्नता भी भयंकर मानी गयी है। दिनांक १४ जुलाई, १७८९ को बेस्टिल कारावास तोड़ा गया। दिनांक २-१२-१८०४ को नेपोलियन को 'सम्राट्' घोषित किया गया। पहली घटना के प्रत्यक्षदर्शियों में से बहुसंख्य क्रान्तिकारी दूसरी घटना के समय जीवित होंगे, ऐसा माना जा सकता है। इस तरह से घटनाओं का चक्र (वर्तुल) पूरा होना उनके लिए कितना अनपेक्षित रहा होगा। वॉल्टेअर और रूसो के अनुयायियों की मनः स्थिति कैसी रही होगी ?

इस दृष्टि से यूरोपीय कम्युनिस्ट भाग्यशाली हैं। नवंबर १९१७ (उनकी दृष्टि से अक्तूबर १९१७) में कम्युनिज्म की विजय-यात्रा का प्रारंभ रूस में हुआ और दिसंबर १९८९ में यूरोपीय कम्युनिज्म का अंतिम दुर्ग रूमानिया ढह गया। पहली घटना के प्रत्यक्षदर्शियों में से शायद ही कोई दूसरी घटना देखने के लिए जीवित रहा होगा। किन्तु वर्तुल पूरा करने का काम प्रकृति ने किया ही और मूलगामी चिंतन के आधार पर अन्वयार्थ समझने वाले किसी भी व्यक्ति को यह बात आश्चर्यजनक प्रतीत नहीं हुई।

प्रवृत्तियों का विचार केवल इस आधार पर नहीं हो सकता कि आज कौन किस भूमिका में है, शोषक के या शोषित के ? द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् तीन दशक तक हुई विभिन्न क्रान्तियों का शास्त्रशुद्ध अध्ययन कर, विचारकों के निकाले हुए निष्कर्ष ध्यान देने योग्य हैं। उनमें से एक मि. फ्रायर का निरीक्षण है कि प्रस्थापित शोषक सत्ताधारियों को उखाड़ फेंकने का प्रयास करने वाले क्रान्तिकारी दो प्रकार के हो सकते हैं। एक तो वे, जिनके जीवनमूल्य प्रस्थापितों के जीवन-मूल्यों से बिल्कुल भिन्न हैं और जिनके क्रान्तिप्रयासों का उद्देश्य केवल प्रस्थापित सत्ता को समाप्त करना ही नहीं, अपितु उसके पश्चात् सत्ता हाथ में लेकर अपने भिन्न जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठापना करना हुआ करता हैं। दुर्भाग्य से ऐसे क्रान्तिकारी बहुत कम संख्या में पाए जाते हैं। अधिकतर क्रान्तिकारी ऐसे होते हैं जिनके जीवन-मूल्य प्रस्थापितों के जीवन-मूल्यों के समान ही हुआ करते हैं। प्रस्थापितों को विस्थापित करने के संघर्ष में ये लोग बहुत कुशलता का और तेजस्विता का परिचय देते हैं। किन्तु उनके जीवन-मूल्य ठीक प्रतिस्थापितों जैसे ही होते हैं, इस कारण क्रान्ति सफल होने के पश्चात् इनके हाथों में जब सत्ता आती है तब इनका व्यवहार भी उन्हीं उद्देश्यों को प्रमाण मानकर चलता है जो शोषक-अत्याचारी सत्ताधारियों के अब तक रहे थे। सत्ता-परिवर्तन तो हो जाता है और इसके कारण प्रत्यक्ष में कोई भी अपेक्षित परिवर्तन नहीं होता— शोषण और अत्याचार पूर्ववत् चलते रहते हैं और कभी-कभी तो नए

सत्ताधारी प्रतिशोध की द्विगुणित भावना से द्विगुणित शोषण-अत्याचार करना प्रारंभ कर देते हैं। इस स्थिति में क्रान्तिकार्य में सहयोग देने वाले कार्यकर्ताओं की तथा जनता की मानसिकता कैसी बनती होगी, इसका अनुमान करना कठिन नहीं है।

कभी-कभी इस प्रकार का अनुभव केवल नेताओं के बारे में नहीं वरन् सम्पूर्ण जनसमूह के विषय में भी आता है। ग्वायना-त्रिनिदाद-सूरिनाम के नीग्रों लोगों पर उनके गोरे शासक अनन्वित अत्याचार करते थे, और संसार के सभी सहृदय लोग उनके विषय में सहानुभूति की भावना हृदय में रखते थे। उस क्षेत्र में रहने वाले भारतीय भी उनके प्रति सहानुभूति भावना रखते थे। उनको स्वराज्य प्राप्त होने के पश्चात् गोरे लोगों ने अनपेक्षित रणनीति चलायी। तब तक नीग्रो और भारतीय एक साथ थे। गोरे लोगों ने दोनों में फूट डाली और नीग्रो को भारतीयों के विरुद्ध उकसाया। परिणामस्वरूप नीग्रो लोगों ने भारतीयों पर उतने ही निर्घृण अत्याचार करने प्रारंभ किए जितने स्वराज्य-प्राप्ति के पूर्व उन पर गोरे शासक करते थे। एक कालखण्ड में स्थानीय भारतीयों की सक्रिय सहानुभूति के पात्र बने हुए शोषित नीग्रो दूसरे कालखंड में उनको कुचलने वाले अत्याचारी शोषक बन गए। अभिप्राय यह कि वर्तमान शोषित और शोषक की भूमिका में कौन है, इतना ही देखकर उनकी प्रवृत्तियों के विषय में अनुमान लगाना कभी-कभी गलत भी हो सकता है। मूलभूत संबंधित प्रश्न है प्रवृत्तियों का।

कुछ भौतिकतावादी लोग देश के संविधान को ही सब बातों का आधार मानते हैं। देश के स्थायित्व तथा प्रगति का आधार जन-साधारण की राष्ट्रीय चेतना का स्तर है। यह स्तर ऊंचा रहा तो लिखित संविधान के अभाव में भी राष्ट्र प्रगति करता रहेगा; यह स्तर छोटा रहा तो अच्छे से अच्छा लिखित संविधान भी देश को टूटने से नहीं बचा सकता। राष्ट्रीय चेतना नहीं रही या दुर्बल रही तो संविधान की एक-एक धारा का उपयोग देश को खण्डित करने के लिए किया जाएगा।

खैर, वास्तविकता तो इस तरह की है। किन्तु जो लोग वास्तविकता से अधिक संविधानापेक्षी हैं, जितना संविधान पर ही विश्वास है, जो संविधान के आधार पर अपना राष्ट्र चलाने की इच्छा रखते हैं, उनको भी सांविधानिकता के दुर्बल तथा प्रबल बिन्दुओं की जानकारी नहीं है, ऐसा कहना पड़ेगा। संविधान, फिर वह एक संस्था का हो या देश का हो, या यूनाइटेड नेशन्स का हो— सफल होने के लिए कौन-कौन से सहायक तत्त्व (Attendant Factors) विद्यमान होने की आवश्यकता है, इस विषय में वे अज्ञ हैं। इस कारण देश की आज की मानसिकता जानते हुए भी वे संविधान को आधार मानते हैं।

भारत के संविधान के शिल्पकार डा. बाबासाहब अम्बेडकर ने इन सहायक तत्त्वों (Attendant Factors) पर प्रकाश डाला है। इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व बताया गया है सांविधानिक नैतिकता (Constitutional Morality)। कोई भी संविधान ठीक ढंग से क्रियान्वित हो, इसके लिए अधिमान्यताएं (Ceonveentieons) विकसित होती हैं या करनी पड़ती हैं। ये अधिमान्यताएं संविधान की या किसी कानून की अंगभूत नहीं होतीं। उनका उल्लंघन करने से दंडनीय अपराध होगा, ऐसा माना नहीं जा सकता। तो भी इन अधिमान्यताओं का प्रामाणिकता से पालन स्वेच्छापूर्वक

करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति को बाबासाहब ने 'Constitutional Morality' (सांविधानिक नैतिकता) कहा है। यह स्वाभाविक प्रवृत्ति संविधान की यशस्विता की गारण्टी बन सकती है।

अमरीका के स्वातंत्र्य-संग्राम के अन्तिम चरण में राजनीतिक नेताओं की राष्ट्र-विरोधी व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों को देखकर जॉर्ज वाशिंग्टन के सभीं सहयोगियों ने एक मुख से यह सुझाव दिया था कि देश का भाग्य ऐसे संकीर्ण मनोभाव के नेताओं के हाथों में न सौंपते हुए स्वयं वाशिंग्टन को ही संपूर्ण सत्ता अपने हाथ में लेनी चाहिए। सेना उनका हृदयपूर्वक साथ देगी और सेना को छोड़कर देश में आज दूसरा कोई भी शक्ति-केन्द्र विद्यमान न होने के कारण सत्ता हथियाने का यह प्रयास निर्विघ्न रूप से सफल हो सकता है। किन्तु यह व्यवहार्य होते हुए भी वाशिंग्टन ने इसको स्वीकार नहीं किया और विजय-प्राप्ति के पश्चात् देश का संविधान बनवा लिया तथा उसके अनुसार निर्वाचन करवाया गया। यह बात अलग है कि जनता ने इस निर्वाचन में वाशिंग्टन को ही राष्ट्रपति के नाते चुन लिया।

डा. अम्बेडकर बताते हैं कि उस समय राष्ट्रपति बनने की वाशिंग्टन की कतई इच्छा नहीं थी। फिर भी जनता की इच्छा को उन्होंने स्वीकार किया। किन्तु यह कार्यकाल पूरा होने के पश्चात् दोबारा जब उनको कहा गया तब उन्होंने अस्वीकार किया। उन्होंने कहा कि हमने स्वातंत्र्य-संग्राम क्यों किया था ? इसीलिए न कि इंग्लैण्ड के 'किंग' की एकाधिकारशाही हमें स्वीकार नहीं थी। उस तानाशाही से तो हमने छुट्टी पा ली, और अब आप मुझे उसी स्थान पर बिठाना चाहते हैं। यह तो मूल सिद्धान्त के ही प्रतिकूल है। यह सिद्धान्तहीनता मैं स्वीकार नहीं कर सकता। उनके कड़े विरोध के बावजूद परिस्थिति-विशेष के कारण उनको दूसरी बार राष्ट्रपति पद लेना पड़ा। किन्तु उसी अवधि में उन्होंने यह व्यवस्था कर दी कि उस तरह की परिस्थिति का फिर से निर्माण न किया जाए। और तीसरी अवधि के लिए सब के आग्रहपूर्वक प्रार्थना करने के बाद भी उन्होंने उस प्रार्थना को नहीं माना। यह सांविधानिक नैतिकता यूनाइटेड स्टेट्स (संयुक्त राज्य अमरीका) के प्रथम राष्ट्रपति में थी। यही बड़ा कारण था उस देश में लोकतंत्र सुचारू रूप से चल सकने का।

बाबासाहब दूसरा उदाहरण ग्रेट ब्रिटेन में चली हुई उस राष्ट्रीय चर्चा का देते थे, जो अष्टम एडवर्ड के प्रेम-विवाह के सुझाव के कारण प्रारम्भ हुई थी। उनकी प्रेयसी लेडी सिंप्सन सामान्य वर्ग की, तीन बार की तलाकशुदा, अमरीकन महिला थे। फिर कैथोलिक भी थी ? सत्तारूढ़ कंजर्वेटिव दल के प्रधानमंत्री बाल्डविन ने इस विवाह का विरोध किया, क्योंकि यह विवाह पूर्व-अधिमान्यताओं के विरोध में जाने वाला था। तो भी जनता के एक भाग में एडवर्ड के विषय में सहानुभूति का भाव था। उन्होंने बीच-बचाव के लिए एक सुझाव दिया, जो एडवर्ड ने स्वीकार भी किया। सुझाव यह था कि एडवर्ड को राज्यारोहण करने दिया जाए और प्रेम-विवाह भी करने दिया जाए, किन्तु एक शर्त के साथ। शर्त यह हो कि लेडी सिंप्सन की संतान को राजगद्दी का उत्तराधिकारी नहीं माना जाएगा। किन्तु बाल्डविन इसके लिए भी तैयार नहीं थे, क्योंकि इतने मात्र से पूर्व-अधिमान्याताओं का उल्लंघन पूरी तरह से नहीं टलता था। ऐसे समय विरोधी दल, लेबर पार्टी के नेताओं ने इस अवसर का लाभ उठाकर सत्तारूढ़ दल को जनता में अप्रिय बनाने का अभियान प्रारम्भ किया। जनता के एक भाग एडवर्ड के लिए सहानुभूति थी ही, अतः बाल्डविन की जन-अप्रियता बढ़ाना आसान था। किन्तु उस समय लेबर

पार्टी के ही एक नेता प्रो. हेराल्ड लास्की ने एक लेखमाला लिखकर अपने दल के नेताओं से प्रश्न किया कि 'आप यह क्या कर रहे हैं ? देश में शताब्दियों तक लोकतंत्र की स्थापना के लिए संघर्ष चला था। जनता का अर्थात् पार्लियामेण्ट का नियंत्रण राजा पर रहे, यह उपलब्धि उसी में से प्राप्त हुई थी। इस समय जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व प्रधानमंत्री बाल्डविन कर रहे हैं। उनकी नियंत्रण-शक्ति को चुनौती देकर राजा की अनियंत्रतता का क्षेत्र बढ़ाना लोकतंत्र के मूल सिद्धान्त पर ही कुठाराघात करने वाली बात होगी। पार्टी के तात्कालिक स्वार्थ के लिए इस प्रकार की मौलिक रूप से लोकतंत्र-विरोधी नीति अपनाना उचित होगा क्या ? इसके बाद लेबर पार्टी ने अपना बाल्डविन विरोधी प्रचार बंद किया।

सांविधानिक नैतिकता (Constitutional Morality) का विचार सर्व-साधारण नैतिकता से पृथक नहीं किया जा सकता, क्योंकि दोनों का आधार एक ही है— समाज में प्रचलित जीवन-मूल्य। सन् १९२६ में चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने लिखा था कि ब्रिटिश पद्धति की निर्वाचन-प्रणाली भारत में आयी तो उसके कारण भ्रष्टाचार बढ़ जाएगा और नैतिकता गिर जाएगी। यह तो सर्वमान्य तत्त्व है कि समाज-व्यवस्था का परिणाम मनुष्य के मन पर होता है और मनुष्य के मन का परिणाम समाज-व्यवस्था पर होता है। दोनों एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते रहते हैं।

यद्यपि भगवान ने मनुष्य के मन को ही इच्छा-शक्ति प्रदान की है, वह दोनों में अधिक निर्णायक हुआ करता है, किन्तु महत्त्व दोनों का ही है। समाज-रचना संस्था-संसार (Institutional Framework), समाज की प्रकृति, परंपरा तथा परिस्थितियों के अनुकूल रही तो स्वस्थ जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठापना तथा संवर्धन सरल हो जाता है। रचना इनके प्रतिकूल रही तो प्रचलित स्वस्थ जीवन-मूल्य शिथिल हो जाते हैं और नए अस्वस्थ जीवन-मूल्यों का निर्माण होता है। हमारे संविधान की फलश्रुति इसी प्रकार की रही है। संविधान के स्वरूप के विषय में बहुत पहले से विचारकों ने देश को सचेत किया था। महात्मा गांधी ने अपने 'हिन्द स्वराज्य' में स्पष्ट रूप से लिखा था कि 'वेस्ट मिन्सटर मॉडेल' हमारे देश के लिए अनुकूल नहीं रहेगा। द्रष्टा अरविन्द ने यही विचार प्रकट करते हुए कहा था कि भारत के लिए उपयुक्त रचना 'हितो की प्रतिनिधि सरकार' (Government of Interests) की रहेगी। विपिनचन्द्र पाल ने विस्तृत रूप से रचना के विषय में अपनी कल्पना प्रकाशित की थी। स्वराज्य-प्राप्ति के पूर्व मानवेन्द्र नाथ राय ने राजनीतिक दल (Political Party) संस्था तथा प्रतिनिधिक सरकार की व्यवस्था, दोनों के कारण उत्पन्न होने वाले दोषों की चर्चा करते हुए कहा था कि भारत में सार्वजनिक शिक्षा का स्तर बहुत निम्न होने के कारण वेस्टमिन्स्टर मॉडेल यहां ठीक ढंग से काम नहीं कर सकेगा। श्रीगुरुजी ने कहा कि यह संविधान भारत की भूमि की उपज नहीं है, इसलिए यह हमारे अनुकूल नहीं है। पूरक व्यवस्था के नाते उन्होंने 'व्यावसायिक प्रतिनिधित्व' आदि सुझाव भी दिए। लोकनायक जयप्रकाश नारायण और आचार्य विनोबा भावे ने दल रहित लोकतंत्र (Partyless Democracy) का प्रतिपाद किया। और आश्चर्य की बात यह कि संविधान-निर्माताओं में से कुछ प्रमुख व्यक्तियों ने भी उसके विषय में समय-समय पर अपना असंतोष प्रकट किया। इन महानुभावों में डा. सच्चिदानंद सिन्हा, डा. राजेन्द्रप्रसाद और स्वयं डा.बाबासाहेब अम्बेडकर भी

शामिल हैं।

यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि संसदीय प्रणाली के प्रबल समर्थकों ने भी उसको निर्दोष नहीं बताया। उन्होंने कहा कि वह 'प्रणाली 'कम से कम दोषयुक्त' है। फ्रेंच राज्य- क्रान्ति के पूर्व एक प्रमुख नेता राबेस्पियर ने कहा था कि यदि संसद के निर्वाचित प्रतिनिधि आपस में वैसा षड्यंत्र करें तो जनता को अंधेरे में रखकर वे तानाशाही का निर्माण कर सकते हैं। यह सब जानते हैं कि मतपेटी में से ही हिटलर के सर्वेसर्वातंत्र का उदय हुआ था। सन् १९७५ की आपात्स्थिति पर संसद की अनुमति ले ली गयी थी। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् राजनीतिक, औपचारिक स्वतंत्रता प्राप्त करने वाले तृतीय विश्व के देशों के सामने और भी एक संकट है। ऐसे देशों में तानाशाही स्थापित हो, ऐसी इच्छा कुछ प्रबल विदेशी तत्त्वों की है। ये तत्त्व हैं— 'अंतरराष्ट्रीय स्तर पर साहूकारी करने वाले पूंजीपति और सरकारें, निरंतर नवीन तांत्रिकी के लिए दक्षिणी देशों में 'मार्केट' की खोज करने वाला उत्तरी देशों का तंत्रज्ञान, और भीषण नरसंहार करने की क्षमता रखने वाले अस्त्र-शस्त्र के निर्माता, जिनको संज्ञा दी गयी है— 'मृत्यु के व्यापारी'।

इन सबकी कार्य-सिद्धि के लिए नवस्वतंत्र देशों की तानाशाही अधिक सुविधाजनक है, बनिस्पत लोकतंत्र के, क्योंकि सर्वेसर्वाशाही वाले देशों में थोड़े और निश्चित व्यक्तियों को खरीदने से उनके इरादे पूरे हो जाते हैं। इन सब कारणों से नवस्वतंत्र देशों में लोकतंत्र की नींव अधिक पोली हो जाती है।

जो लोग बचपन से ब्रिटिश लोकतांत्रिक प्रणाली से ही परिचित हैं, उनको लगता है कि दुनिया में एक ही तरह की लोकतांत्रिक प्रणाली हो सकती है और वह है ब्रिटिश पद्धति। वस्तुतः उसके अलावा और कितने ही प्रकार की लोकतांत्रिक प्रणालियां हो सकती हैं और आज दुनिया में चल भी रही हैं। खैर, अब ब्रिटेन का विचार किया जाए तो लगता है कि उस देश में सन् १२१५ (मैग्नाचार्टा वर्ष) से कई शताब्दियों तक लोकतांत्रिक अधिकारों के लिए जो अविरत संघर्ष चला, उसके परिणामस्वरूप उस प्रणाली के लिए अनुकूल स्वभाव लोगों का बना और इसके पश्चात् वहां लोकतांत्रिक संस्थाएं बनीं। हमारा ऐतिहासिक विकास क्रम भिन्न रहा। उस प्रकार का संघर्ष इतिहास-काल में भारत में नहीं हुआ। इस कारण उस प्रकार का जनस्वभाव भी यहां नहीं बना। ब्रिटेन में क्रम रहा— प्रथम अनुकूल जनस्वभाव और बाद में संस्थाएं। भारत में उस प्रकार के जनस्वभाव के अभाव में ही संविधान-समिति ने जनता पर ब्रिटिश पद्धति की संस्थाएं थोप दीं। भारत में भी लोकतंत्र की परंपरा रही है, हजारों वर्षों से रही है, और उसके अनुकूल भारत का जनस्वभाव आसानी से बनाया जा सकता है। किन्तु भारतीय लोकतांत्रिक प्रणाली अन्य प्रकार की रही है। उसकी प्रकृति ब्रिटिश लोकतांत्रिक प्रणाली से भिन्न है।

ग्रेट ब्रिटेन की स्थिति और भारत की स्थिति दो प्रकार का अन्तर है। यहां ४४ करोड़ लोग पूर्णरूपेण निरक्षर हैं और १२ करोड़ अर्ध-साक्षर हैं। ५० से ६० प्रतिशत लोग गरीबी की रेखा के नीचे हैं। निरक्षरता और गरीबी जहां इतनी भीषण मात्रा में हो, वहां ब्रिटिश माडल घोर भ्रष्टाचार के लिए ही कारण हो सकता है।दूसरी बात यह है कि भारत का समाज वैविध्यपूर्ण (Pluralistic) है। 'विविधता में एकात्मता' का सूत्र भी किन्तु यह विविधता निहित स्वार्थों द्वारा समय-समय पर गहरी

बनायी जा सकती है। अमरीका (यूनाइटेड स्टेट्स) में पारंपरिक एकात्मता-विरहित अनेकत्व (Pluralsim) है। ग्रेट ब्रिटेन का समाज विविधतापूर्ण (Pluralistic) नहीं है। ऐसी बात नहीं कि वहां राष्ट्रजीवन के विभिन्न क्षेत्रों में मतभेद रखने वाले समूह नहीं है। मतभेद हैं, किन्तु केवल आर्थिक क्षेत्र को छोड़कर दूसरे किसी भी क्षेत्र में मतभेदों का स्वरूप ऐसा नहीं है कि उनको कोई भी निहित स्वार्थ तीक्ष्ण और गहरा बना सके। आर्थिक क्षेत्र में मतभेदों का स्वरूप तीक्ष्ण और गहरा रहा है। इसी कारण वहां के दलों का विभाजन वामपंथी (Leftist) दक्षिण पंथी (Rightist) और मध्यमार्गी (Centrist) की परिभाषा में किया जा सकता है। पश्चिमी यूरोप में जिनको Ideological Parties (विचारधारित दल) कहा जाता है वे आर्थिक विचारधारा पर आधारित हैं भारत में इस प्रकार के मतभेद, जिनको तीक्ष्ण और गहरा बनाया जा सकता है, केवल आर्थिक क्षेत्र तक सीमित नहीं। अन्य क्षेत्रों में भी ऐसे मतभेद पाए जाते हैं। इसी कारण डा. बाबासाहेब अम्बेडकर कहते थे कि यूरोप के समाज की Haves and Have nots (सम्पन्न और विपन्न) की कसौटी के आधार पर भारतीय समाज को विभाजित मानने वाले भारतीय कम्युनिस्टों ने भारतीय समाज के वास्तविक स्वरूप का आंकलन ही नहीं किया है। वैविध्य (Pluralism) की दृष्टि से भारतीय समाज ब्रिटिश समाज से एकदम भिन्न है। इस कारण जो माडल वहां उपयुक्त तथा कार्यक्षम है वह भारत में वैसा ही उपयुक्त और कार्यक्षम हो नहीं सकता। यहां की प्रकृति और परम्परा से निकला हुआ प्रतिमान (माडल) ही यहां इच्छित फल दे सकता है। यद्यपि यह आवश्यक है कि ऐसी रचना का विचार करते समय नव-संविधान- निर्माताओं को संसार के सभी देशों के संविधानों का एवं द्वितीय औद्योगिक क्रान्त्युत्तर (Post-Second Industrial Revolution) कालखण्ड की विशेषताओं का सर्वंकष तथा गंभीर अध्ययन करना चाहिए। श्री गुरुजी ने ठाणा सम्मेलन में यह दिशा स्पष्ट शब्दों में दी थी।

समाच-रचना, समाज का संस्था-संसार (Institutional Frame work) अनुकूल रहा तो उससे उचित जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठापना करने में सहायता होगी और स्वस्थ जीवन-मूल्य सुप्रतिष्ठित हुए, तो समाज में सर्वसाधारण नैतिकता प्रभावी होगी जिसका एक अंग सांविधानिक नैतिकता (Constitutional Morality) है।

किन्तु इस बात को आंखों से ओझल नहीं किया जा सकता कि बाह्य-रचना का योगदान महत्त्वपूर्ण होते हुए भी, वह सहायक शक्ति (auxiliary force) के स्वरूप का है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है समाज का सर्वसाधारण व्यक्ति। उसके संस्कार ठीक रहे तो क्वचित् त्रुटिपूर्ण संविधान के दुष्परिणामों को भी कम किया जा सकता है। वह ठीक नहीं रहा तो उत्कृष्ट संविधान भी सफलतापूर्वक कार्यान्वित नहीं हो सकता। डा. अम्बेडकर की भी यही मान्यता थी। इसी कारण शायद कहा गया कि Every People gets the Government it deserves (जनता को उसी के योग्य सरकार मिलती है)। बाह्य समाज-रचना (Institutional Frame work) और सामान्य नागरिक के संस्कारों का अन्योन्य संबंध किस प्रकार का है ? प्रसिद्ध इतिहासकार इिल ड्यूरांट कहते हैं :—

Afterall when one tries to change institutions without having changed the nature of man, that unchanged nature will soon resurrect those institutions. (आखिर, मनुष्यों का स्वभाव न बदलते हुए संस्थाओं में परिवर्तन लाने का प्रयास जब

किया जाता है तब अपरिवर्तित मनुष्य-स्वभाव परिवर्तित संस्थाओं का पुनरुज्जीवन कर देता है ।)

तात्पर्य :—

सनातन धर्म के
शाश्वत, अपरिवर्तनीय सिद्धान्तों के प्रकाश में
अखंड परिवर्तनशील
युगानुकूल समाजरचना
और
इस युगाधर्मानुकूल
व्यक्ति-व्यक्ति की सुसंस्कारित मनोरचना,
इसी का अर्थ है
धर्माधिष्ठित समाजरचना
और
धर्मप्रवण मनोरचना,
इसी के फलस्वरूप
धर्मसंस्थापना ।
इसी में आश्वासन है
व्यक्ति—राष्ट्र—मानवजाति के
सुख—संतुष्टि—समृद्धियुक्त
गौरवशाली
परम वैभव का ।

भीष्म ने कहा है—

"प्रभवाय हि भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यत्स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥

(भूत मात्र के परम वैभव के लिए धर्म-प्रवचन किया गया है । जो परम वैभव से युक्त रहता है वही धर्म है ।"

(आपतकालीन संघर्ष गाथा की प्रस्तावना)

* * * * *